गीता-परिक्रमा

खण्ड-३

विष्णुकान्त शास्त्री

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

प्रतिष्ठित साहित्यकार, प्राध्यापक एवं आलोचक, मूर्द्धन्य शिक्षाविद्, धर्म-संस्कृति एवं अध्यात्म के गहन अध्येता तथा व्याख्याता, जनप्रिय राजनेता के रूप में अखिल-भारतीय ख्याति।

जन्म : २ मई १९२९, कोलकाता।

शिक्षा : एम. ए., एल-एल. बी.।

वृत्ति : १९५३ से १९९४ तक कलकत्ता विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्राध्यापक।

मौलिक कृतियाँ : कवि निराला की वेदना तथा अन्य निबंध, कुछ चंदन की कुछ कपूर की, चिन्तन मुद्रा, अनुचिन्तन (साहित्य समीक्षा), तुलसी के हिय हेरि (तुलसी केन्द्रित निबन्ध), बांग्लादेश के सन्दर्भ में (रिपोर्ताज), स्मरण को पाथेय बनने दो, सुधियाँ उस चन्दन के वन की (संस्मरण एवं यात्रा वृत्तान्त), अनंत पथ के यात्री : धर्मवीर भारती (संस्मरण), भक्ति और शरणागति (विवेचन), ज्ञान और कर्म (ईशावास्य प्रवचन), जीवन पथ पर चलते-चलते (काव्य), पर साथ-साथ चल रही याद (संस्मरण), आधुनिक हिन्दी साहित्य के कुछ विशिष्ट पक्ष (आलोचना), गीता-परिक्रमा-खण्ड-१ एवं २ (गीता प्रवचन)।

गतिविधियाँ : साहित्यिक स्तर पर देश भर के विश्वविद्यालयों में व्याख्यान, देश-विदेश की साहित्यिक संगोष्ठियों में भागीदारी, भक्ति साहित्य के अधिकारी विद्वान, विविध साहित्यिक सम्मानों एवं पुरस्कारों से समादृत। १९४४ से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से सम्बद्ध, १९७७ से सक्रिय राजनीति में प्रवेश। जनता पार्टी के सदस्य के रूप में पश्चिम बंगाल विधानसभा के विधायक (१९७७-१९८२), पश्चिम बंगाल प्रदेश भाजपा के दो बार अध्यक्ष, भाजपा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष (१९८८-१९९३), संसद सदस्य - राज्यसभा (१९९२ से १९९८), २ दिसम्बर १९९९ को हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल नियुक्त, २४ नवम्बर २००० से २ जुलाई २००४ तक उत्तरप्रदेश के राज्यपाल।

१७ अप्रैल २००५ को निधन।

श्री नन्दलाल शाह एवं उनके आत्मज श्री किसलय शाह, कोलकाता
के आर्थिक सौजन्य से प्रकाशित

गीता-परिक्रमा

(खण्ड-३)

(श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय १३ से १८ पर केन्द्रित आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री के श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के मंच से दिए गए प्रवचन एवं संपूर्ण गीता की श्लोकानुक्रमणिका)

गीता-परिक्रमा

खण्ड - ३

(श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तिम ६ अध्यायों की प्रवचनपरक व्याख्या)

आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री

सम्पादक

डॉ० नरेन्द्र कोहली

सहयोग

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

प्रकाशक :

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय

१-सी, मदनमोहन बर्मन स्ट्रीट, कोलकाता-७

टेलिफैक्स : २२६८-८२१५

ई-मेल : kumarsabha@kumarsabha.org

प्रकाशन समिति :
श्री महावीर बजाज (संयोजक)
श्री जुगलकिशोर जैथलिया
श्री कृष्ण स्वरूप दीक्षित
श्री मोहनलाल पारीक

प्रथम संस्करण : कार्तिक पूर्णिमा, सं. २०६८ वि.
१० नवम्बर, २०११ ई०
११०० प्रतियाँ

मूल्य : ₹ ४००/-

ISBN : 81-902967-0-1 (Set)
ISBN : 978-81-902967-3-1 (Vol-III)

आवरण :
श्री श्रीजीव अधिकारी

मुद्रक :
संजय नोपानी
'एस्केज'
८, शोभाराम बैसाख स्ट्रीट
कोलकाता-७०० ००७

Geeta-Parikrama : Vol-3 / Acharya Vishnu Kant Shastri
[lectures based on Shrimad Bhagwadgita, Chapter 13 to 18]
Price : Rs. 400/-

डॉ. मुरली मनोहर जोशी
संसद सदस्य (लोक सभा)
अध्यक्ष
लोक लेखा समिति

51, संसद भवन
नई दिल्ली-110 001
दूरभाष : 2303 4605
2301 7564

सत्यमेव जयते

दि. 29 अक्टूबर 2011

प्रियवर जैथलिया जी,

गीता विश्व के उन ग्रंथों में है जिन्होंने मानव जीवन को सभी जटिल परिस्थितियों में मार्ग ढूंढ सकने की सामर्थ्य प्रदान की है। गोमाता स्वरूप उपनिषदों का गोपाल नन्दन भगवान श्रीकृष्ण द्वारा दोहन किये जाने पर प्राप्त अमृतोपम गोरस रूपी यह ग्रंथ विश्व को भारत का अद्वितीय उपहार है और आचार्य विष्णुकान्त जी की गीता-परिक्रमा की यह ग्रंथावली तो उस गोरस का नवनीत ही है जिसका रसास्वादन इस प्रकाशन द्वारा हम सब करेंगे।

आचार्य विष्णुकान्त जी उन विभूतियों में से थे जिन्होंने गीता में वर्णित निरहंकार एवं स्थितप्रज्ञ भाव को अत्यन्त सहजता से जीवन एवं व्यवहार में आचरण द्वारा सिद्ध किया था। अतः उनके व्याख्यान एक सिद्ध एवं साधक की भाववाणी के रूप में श्रोताओं को दिव्यानुभूति प्रदान करते थे। यह ग्रंथावली उनकी यशःकाया के रूप में उन्हें सदा हमारे मध्य उपस्थित रखेगी।

आप और कुमारसभा पुस्तकालय तथा अन्य सभी सहयोगी मित्र अभिनन्दन के पात्र हैं जिन्होंने विष्णुपदलीन आचार्य विष्णुकान्तजी शास्त्री की गीता-परिक्रमा के सभी खंडों का प्रकाशन किया है। गीता ज्ञान यज्ञ का यह शुभ फलदायी प्रसाद वितरण करने पर आप सब महत् पुण्य के भागी रहेंगे।

भवदीय,

(मुरली मनोहर जोशी)

श्री जुगल किशोर जैथलिया
कोलकाता-700 007

आवास : 6, रायसीना रोड, नई दिल्ली-110001 दूरभाष : 2371 8444/1144 फैक्स : 23711772
फ्लेट नं. 4, भूमि तल, बी-ब्लॉक, विराट विला, महमूरगंज, वाराणसी-221010 (उ.प्र.)
दूरभाष : (0542) 2222377 फैक्स : 2226377 ई-मेल : murli@sansad.nic.in

गुलाब खंडेलवाल
साहित्य-वाचस्पति
अध्यक्ष, अ.भा.हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

५६, जय अपार्टमेंट
१०२, आई. पी. एक्सटेन्सन
पटपड़ गंज, दिल्ली-११००९२

दि. ६ अक्टूबर २०११

प्रिय श्री जुगल जी,

यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की गीता-परिक्रमा का तीसरा एवं अंतिम खंड शीघ्र ही लोकार्पित होने जा रहा है। मैं भी इसकी प्रतीक्षा में था।

शास्त्री जी 'विद्या ददाति विनयं' के मूर्तिमान स्वरूप थे। उनके रूप में ही दिव्यता नहीं थी, वाणी में भी अमृत का मिठास था। उनकी स्मरण शक्ति भी विलक्षण थी तथा नीर-क्षीर विवेचन करने वाली उनकी बुद्धि के साथ उसके मणि-कांचन संयोग का स्फुरण गीता प्रवचनों की इस परिक्रमा में भी सहज ही परिलक्षित है।

शास्त्री जी ने आजन्म साहित्य की सेवा की है और बहुत कुछ ऐसा लिखा है जो उनके मौलिक चिन्तन को दर्शाता है परन्तु ईशोपनिषद् और विशेषकर गीता पर दिये गये उनके प्रवचनों की शृंखला का उसमें सदैव विशिष्ट स्थान रहेगा। ये प्रवचन अपनी सहजता, सरलता और संप्रेषणीयता के वैशिष्ट्य के कारण समाज को सदैव प्रेरणा देते रहेंगे। प्रचारित और प्रसारित होकर ये प्रवचन भी संत विनोबा के गीता-प्रवचनों के समान ही लोकमानस में आदर पा सकेंगे ऐसा मेरा विश्वास है क्योंकि इन प्रवचनों में बौद्धिक व्यापार या चिन्तन का चमत्कार न होकर सात्विक दैवी विभूति-सम्पन्न एक निर्मल भक्त हृदय से उठी ऐसी भाव-तरंगें हैं जो सुधी पाठक को सहज ही आप्लावित करती हैं।

भगवद्गीता के साथ जुड़कर शास्त्रीजी ने तो अमरत्व पा ही लिया है हम सब को भी इस माध्यम से सार्थक और अमृतमय जीवन जीने की प्रेरणा दी है। इस प्रकाशन हेतु पूरे पुस्तकालय परिवार को मेरी हार्दिक बधाई।

भवदीय,

गुलाब खंडेलवाल

(गुलाब खंडेलवाल)

स्थायी पता : ३४७७, हंटिंग रन रोड, मडाइना (MEDINA), ओहायो-४४२५६ (यू.एस.ए.)
दूरभाष : ००१-३३०-७२२-८८८६

....यह पुस्तक

यदि शास्त्री जी आज अपने शरीर में होते तो कहते कि राम जी की बहुत कृपा है कि 'गीता प्रवचन' के तीसरे खंड का कार्य पूर्ण हो गया है। मैं भी उन्हीं की शैली में कह रहा हूँ कि राम जी की असीम कृपा ही है कि हम लोग उनके प्रवचनों को पुस्तकाकार प्रस्तुत करने में सफलता के निकट पहुँच गए हैं। पाठक निरंतर हमारे संपर्क में हैं और उनकी जिज्ञासाएं हमारे कानों में गूंज रही हैं। वे शीघ्रातिशीघ्र इस तीसरे और अंतिम खंड को प्राप्त करने के लिए आतुर हैं।

अपनी योजना के अनुसार हमने शास्त्री जी के प्रवचनों को गीता के अध्यायों के अनुसार विभाजित किया था। अट्ठारह अध्यायों को छः छः अध्यायों के रूप में तीन जिल्दों में बांधा था। उसी योजना के अनुसार हम यह तीसरी जिल्द ले कर प्रस्तुत हो रहे हैं। गीता के अंत तक आते-आते भगवान् अर्जुन को यहाँ तक कह देते हैं कि यदि और कोई मार्ग न सध सके तो सब कुछ मुझे समर्पित कर दो और मेरी शरण में आ जाओ। ...सारे धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आ जाओ।

श्री अरविन्द को पढ़ते हुए कुछ बातें मेरे मन में रेखांकित हुई थीं। उन्होंने किसी का नाम नहीं लिया था; किंतु यह संकेत अवश्य किया था कि वे उन लोगों से सहमत नहीं हैं, जो गीता को नीति-शास्त्र अथवा हिन्दू नीतिशास्त्र (हिन्दू एथिक्स) की पुस्तक मानते हैं। उनका कहना है कि यदि गीता नीति-शास्त्र की पुस्तक होती तो उसे धर्मग्रंथ नहीं, समाज-शास्त्र की पुस्तक माना जाना चाहिए। और यहाँ कृष्ण कह रहे हैं कि सब धर्मों को त्याग कर मेरी शरण में आ जाओ। इस दृष्टि से यह भक्ति का ग्रंथ है।

इस खंड की भूमिका लिखते हुए यह तथ्य भी मेरे मन में जाग्रत है कि मुझे इस खंड में आए विषयों[१] की कुछ चर्चा करनी चाहिए थी। किंतु इन विषयों की चर्चा तो

१. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, प्रकृति-पुरुष, ज्ञान की महिमा और प्रकृति-पुरुष से जगत् की उत्पत्ति, तीनों गुणों का परिचय, भगवत-प्राप्ति के उपाय, गुणातीत पुरुष के लक्षण, संसार वृक्ष का वर्णन, जीवात्मा का स्वरूप, प्रभावसहित परमेश्वर के स्वरूप का विषय, क्षर, अक्षर पुरुषोत्तम का विषय। दैवी और आसुरी संपदा का वर्णन, शास्त्र के अनुकूल और शास्त्र के प्रतिकूल आचरण के परिणाम, श्रद्धा और शास्त्र-विपरीत घोर तप करने का क्षेत्र, त्याग, कर्म और सांख्य-सिद्धांत, तीनों गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म और कर्ता इत्यादि के भेद, फल सहित वर्ण-धर्म का विषय, भक्ति सहित निष्काम कर्मयोग का विषय और अंततः गीता के माहात्म्य की चर्चा।

शास्त्री जी ने अपने प्रवचनों में विस्तार से की है। ऐसे में उन्हें दोहराने का क्या लाभ ? निश्चित रूप से मेरा कथन शास्त्री जी के कथन से श्रेष्ठतर नहीं हो सकता। यही कारण है कि मैंने इस अवसर का लाभ एक अन्य रूप में उठाया है। गीता के संबंध में अनेक विद्वानों ने अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं और उनके आधार पर एक राष्ट्रीय नीति बनाने का प्रयत्न किया है। मैं चाहता हूँ कि शास्त्री जी के विचारों के साथ हम उन अन्य विद्वानों के विचारों पर भी चर्चा कर लें ताकि गीता का फलक कुछ और व्यापक हो सके।

****

नार्वे की राजधानी ओस्लो में महाभारत विषयक एक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी थी। मुझे उसमें 'महाभारत की प्रासंगिकता' विषय पर पत्र-वाचन करना था। अपने पत्र में उपयुक्त अवसर पर मैंने कहा कि महाभारत के युद्ध के आरंभ में अर्जुन ने अपना गांडीव फेंक दिया और कहा कि वह भिक्षा मांग कर जीवन-यापन कर लेगा; किंतु अपने आत्मीय जनों के रक्त से सना हुआ राज्य ग्रहण नहीं करेगा। परिणामतः वह युद्ध करने से इंकार कर रथ के पिछले भाग में आ बैठा। अर्जुन के पथ-प्रदर्शक, सारथी तथा गुरु कृष्ण ने उस समय अर्जुन के उस युद्ध-विरोध का समर्थन नहीं किया। उन्होंने उसे शांति का संदेश नहीं माना, उन्होंने उसे कर्तव्य से पलायन और क्लीवता ही माना। उन्होंने अर्जुन को आदेश देते हुए कहा— "क्लीवता त्याग और युद्ध कर।"

एक नार्वेजियन प्रोफेसर ने प्रश्न किया, "आप कहना चाहते हैं कि गीता हिंसा का प्रचार करती है, जबकि गांधी जी अहिंसा का मंत्र देते हैं।"

मैं जानता हूँ कि आज का भारत (कृष्ण की अपेक्षा कहीं अधिक) गांधी का भारत है। यहाँ सरकार भी गांधी के नाम पर चलती है; और सरकार का विरोध भी गांधी के नाम पर ही होता है। गांधी वाक्य, वेद वाक्य हो गया है। स्थिति यह है कि गांधी के विरुद्ध कोई बात कही जाए, अथवा गांधी की आलोचना की जाय तो वह राष्ट्रद्रोह और ईश निंदा जैसा अपराध मान लिया जाता है। इस देश में कोई बात किसी से मनवानी हो तो कहना पड़ता है कि गांधी जी भी यही कहते, मानते और चाहते थे।

मैंने उस नार्वेजियन प्रोफेसर को उत्तर देते हुए कहा कि गांधी गीता को 'गीता माता' कहते थे। वे प्रायः प्रतिदिन गीता का पारायण करते थे। उन्होंने कहा है कि जीवन में जब कभी कोई समस्या आई, उसका समाधान उन्हें गीता से ही मिला है। अतः हम मानेंगे कि गांधी गीता के विरोधी नहीं थे और उनको कृष्ण का मार्ग मान्य था।

बातें और भी हुईं; किंतु वे उस संगोष्ठी के लिये थीं। आज महत्त्वपूर्ण यह है

कि उस वार्तालाप ने उस समय मेरे मन में जो अनेक प्रश्न आरोपित कर दिये थे, वे अब विकसित हो उठे हैं। वे आज भी मुझ से चर्चा और समाधान मांगते हैं। मेरी दृष्टि से वे प्रश्न हर युग के लिये उपयोगी हैं; अतः उनके विषय में चर्चा आवश्यक है।

गांधी ने कृष्ण से सामंजस्य ही नहीं पूर्ण तादात्म्य कर लिया; किंतु हम कृष्ण की गीता और गांधी की अहिंसा का सामंजस्य कैसे करें ? कृष्ण क्षत्रिय थे, योद्धा थे; और उनके लिए 'धर्म-युद्ध' स्वर्ग का खुला द्वार था। कृष्ण योद्धा तो थे किंतु क्या वे हिंस्र भी थे और गांधी अहिंसा प्रेमी होते हुये भी उनको अपना आराध्य मान रहे थे ? गांधी को राम भी प्रिय थे। वे एक प्रकार से उनके उपास्य ही थे। किंतु राम भी धनुर्धारी थे। तुलसी ने उनके मुख से कहलवाया है— *"निसिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ प्रन कीन्ह।।"*

गांधी के मन में यह हिंसा और अहिंसा एक कैसे हो गये हैं? वे एक हो गये हैं, क्योंकि शायद गांधी धर्म का मर्म समझ रहे थे। प्रश्न है कि क्या हम धर्म का मर्म समझ रहे हैं? क्या हम 'हिंसा' और 'अहिंसा' का ठीक-ठीक अर्थ समझ रहे हैं? क्या व्यक्ति, समाज और देश के संदर्भों में हिंसा का एक ही अर्थ होता है? हम गीता को अपना राष्ट्रीय धर्मग्रंथ मानते हैं, उसमें भारतीय चिंतन का सार संग्रह है, और उसका हमारी राष्ट्रीय नीति में कोई स्थान नहीं है ? क्या हमारे लिए गांधी और कृष्ण दो विरोधी पक्ष हैं, जबकि गांधी ने जीवन भर गीता-माता का दूध पीकर अपनी नीतियां निर्धारित की।

गांधी और कृष्ण विरोधी पक्ष नहीं हैं; किंतु हमको उनके मध्य का समान सूत्र खोजना है। वह सूत्र है धर्म और हमको जानना है कि धर्म क्या है। मुझे लगता है कि विभिन्न संदर्भों में हिंसा और अहिंसा के अर्थ बदल जाते हैं। अर्थ बदलते नहीं हैं, उनकी व्याख्याएं भिन्न हैं। हमारी रूढ़ मान्यताएं हमें ठीक अर्थ तक पहुँचने नहीं देतीं, जैसे जड़ता और रूढ़ियों ने भीष्म को धर्म के उस तत्त्व पर नहीं पहुँचने दिया था, जहाँ कृष्ण पहुँचे हुए थे। कृष्ण अर्जुन से हिंसा करने के लिए नहीं कह रहे। हिंसा को रोकने के लिये तो वे स्वयं भी शांतिदूत बनकर हस्तिनापुर गये थे। किंतु यहाँ वे अर्जुन को अपना धर्म समझाने और उसका आचरण करने को कह रहे हैं। वे अधर्म द्वारा किए गए, सशस्त्र आक्रमण को रोकने के लिए और धर्म की रक्षा करने के लिए शस्त्र और बल के प्रयोग का समर्थन अवश्य कर रहे हैं। उसका उपदेश भी दे रहे हैं और आदेश भी।

अब देखना यह है कि क्या हिंसा और बल-प्रयोग समान कृत्य है ? गांधी केवल हिंसा का विरोध कर रहे हैं या आत्मरक्षा के लिए बल-प्रयोग का भी ? वे दूसरों पर आक्रमण का विरोध कर रहे हैं या आत्म-रक्षा का भी ? वे अपने सत्याग्रह के दिनों

में पुलिस की लाठियों का उत्तर देने को मना कर रहे थे अथवा देश पर आक्रमण होने की स्थिति में विदेशी आक्रांताओं से भी युद्ध करने को भी निषिद्ध मानते थे। ... और यदि किन्हीं परिस्थितियों में हमें गांधी और कृष्ण परस्पर विरोधी दिखाई पड़ते हैं, हमें दोनों में से किसी एक का ही चयन करना है, तो हम किसका पक्ष ग्रहण करेंगे। कृष्ण का अथवा गांधी का? चंद्रगुप्त मौर्य का अथवा राजा शिवि का? १९६२ ई. में चीन के साथ युद्ध के पश्चात् क्या हमने गांधी को पहले के ही समान अब तक अपना आदर्श मान रखा है ?

किन्हीं कारणों से हम गांधी के भारत में 'हिंसा' को एक निन्दनीय शब्द और त्याज्य कृत्य मान चुके हैं। चारों ओर अहिंसा की धुंध छाई हुई है; इसलिए हमें सोचना यह है कि क्या आत्म-रक्षा अथवा धर्म-रक्षा के लिए आततायियों के विरुद्ध बल का प्रयोग सचमुच हिंसा है ? यह भी विचारणीय है कि क्या आततायियों को हिंसा और बलप्रयोग की अबाध अनुमति दे कर, स्वयं को धर्म के नाम पर बल-प्रयोग के अधिकार से वंचित रखना उचित है ? क्या हमें अपने देश की पाकिस्तान और चीन से मिलती हुई सीमाओं पर से अपनी सेनायें हटा लेनी चाहिएं? हमारे 'आदर्श' एक उदात्त जीवन जीने के लिए होते हैं, स्वयं को बांध कर अपनी शक्ति को सीमित करने के लिए नहीं। ऐसे आदर्श, जो प्रकृति के नियमों के प्रतिकूल होते हैं, किसी भी देश अथवा राष्ट्र के पतन के ही कारण बनते हैं।

वन के उन पशुओं को, जो स्वयं से निर्बल जीवों को मार कर खा जाते हैं, हम हिंस्र पशु कहते हैं; किंतु धर्म, देश, समाज की रक्षा करने वालों को हम कभी भी 'हिंस्र' नहीं मानते। वे बल-प्रयोग करते हुए भी हिंस्र नहीं हैं। वे क्षत्रिय हैं। अपने शरीर पर क्षत सहन कर देश को क्षत से त्राण देते हैं। वे हमारे जीवन और हमारे धर्म के रक्षक हैं।

अमर्त्य सेन ने भारतीय संसद में भाषण करते हुए इसी संदर्भ में कहा था कि कृष्ण धर्म की स्थापना के लिए युद्ध कर रहे थे। उनको इस बात की चिंता नहीं थी कि उस युद्ध में कितना विनाश होगा। यदि असंख्य अधर्मियों का वध कर भी धर्म की स्थापना होती है, तो उस वध की अनुमति देते हैं; किंतु अमर्त्य सेन कृष्ण का समर्थन करने के पक्ष में नहीं हैं। वे कृष्ण की इस नीति को स्वीकार नहीं करते। वे अधर्म के विनाश और मनुष्य के विनाश की स्थिति में मनुष्य की रक्षा करेंगे, चाहे उससे धर्म का विनाश हो जाए और अधर्म की सार्वकालिक स्थापना हो जाए।

मेरी समझ यह कहती है कि धर्म की स्थापना मानवता की स्थापना के लिए और मानवता की स्थापना मनुष्य की रक्षा के लिए है। धर्म ही जीवन को धारण करता

है; अधर्म की रक्षा कर हम जीवन और जीव की रक्षा नहीं कर सकते। भीष्म ने दुर्योधन की रक्षा करने के प्रयत्न में सारे कौरवों को मरवा दिया और अपने भी प्राण दे दिए। तो प्रश्न यह है कि क्या गांधी की अहिंसा, धर्म की रक्षा के लिए थी अथवा अधर्म की रक्षा के लिए। अमर्त्य सेन का मानव-प्रेम, धर्म की स्थापना से बल पाएगा या अधर्म की रक्षा से ? हमारे देश और समाज का परिवेश कुछ ऐसा हो गया है कि आततायियों के विरुद्ध भी बल प्रयोग की चर्चा से हम कांप उठते हैं। हमारी सरकार देश के भीतर और सीमाओं पर खड़े योद्धाओं को भी बल-प्रयोग की अनुमति देने से कांपने लगती है। अतः हमारी छवि एक दुर्बल देश की सी है।

इसी संदर्भ में मुझे १२ सितंबर २०११ ई. के 'अमर उजाला' में प्रकाशित निबंध "दंड का भय" में सी. बी. आई. के पूर्व निदेशक जोगिन्दर सिंह की ये पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं। उन्होंने लिखा है, "चाहे वह सामान्य अपराध हों या आतंकवाद, जब तक अपराधी को कठोरतम दंड का भय नहीं होगा, तब तक अपराधों में कमी नहीं आएगी। दुर्योग से हमारे देश के प्रति अपराधियों और आतंकवादियों के बीच यही (दुर्बलता वाली) भावना घर कर गई है। सोफोक्लीज़ ने कभी यह कहा था— 'उस सरकार के प्रति मेरे मन में अवमानना का ही भाव पैदा होता है, जो सही रास्ता जानने के बावजूद किसी वजह से सही कदम उठाने से डरती है। इस महान यूनानी नाटककार और दार्शनिक के इस कथन पर हमारी सरकार को जरूर गौर करना चाहिए।"

"वे कौन लोग हैं, जो पूर्व प्रधानमंत्री, राजीव गांधी के हत्यारों और संसद पर हमला करने वालों की माफी चाहते हैं ?"

यदि हम अधर्म के विरुद्ध भी बल-प्रयोग नहीं करना चाहते, तो हम अपनी सशस्त्र सेनाओं को क्या मुंह दिखाएंगे। क्या हम एक देश और राष्ट्र के रूप में अपनी रक्षा कर पाएंगे ? पाकिस्तान, चीन अथवा किसी और आक्रांता के आक्रमण से अपनी रक्षा कैसे कर पाएंगे ? या हम पुनः विदेशी आक्रांताओं के पैरों तले दबे रह कर केंचुए के समान जीवन व्यतीत करेंगे। आवश्यक है कि हम व्यक्तिगत जीवन और राष्ट्र के जीवन का अंतर समझें। धर्म और अधर्म का अंतर समझें। हिंसा और बल-प्रयोग का अंतर समझें। हिंसा से अधर्म की स्थापना होती है और अधर्म के विनाश के लिए अनासक्त बल-प्रयोग होता है। गीता और गांधी दोनों को उनके उपयुक्त, धर्म-संगत परिप्रेक्ष्य में समझें और कृष्ण की नीति के अनुसार धर्म और देश, दोनों की रक्षा करें।

****

विनोबा ने कहा है कि "हिंसा मन का धर्म है।" यह ठीक है; किंतु राजधर्म का

एक अंग युद्ध भी है। महाभारत एक ऐसा ग्रंथ है, जिसके केन्द्र में सर्वप्रमुख घटना कौरवों और पांडवों का युद्ध है। अतः महाभारत को एक प्रकार से युद्ध का ग्रंथ ही माना जाता है। किंतु रोचक तथ्य यह है कि कौरवों और पांडवों के मंच से हट जाने के पश्चात् अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए जनमेजय, एक नागयज्ञ करता है, जिसमें चुन-चुन कर नागों को जलाया जा रहा है। उस कथा की भूमिका स्वरूप डुंडुभ की कथा में अहिंसा को परम धर्म के रूप में स्थापित किया गया है।[1] उसी संदर्भ में आस्तीक की कथा भी है, जो नागों के पक्ष से जनमेजय से वर मांग कर नागों की रक्षा करता है।[2] वेदव्यास अपने शिष्यों के साथ यज्ञ-स्थल पर पहुँचते हैं। वे भी जनमेजय को इस युद्ध के लिए प्रोत्साहित नहीं करते। वे मानते हैं कि युद्ध से किसी समस्या का समाधान नहीं होता। जनमेजय के पूर्वजों ने युद्ध किया था; किंतु विनाश के अतिरिक्त कुछ प्राप्त नहीं हुआ। अहिंसा को व्यास ने भी परम धर्म माना है। ध्यातव्य है कि जनमेजय सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली है और वह नागों का संहार कर रहा है, फिर भी उसे निर्बलों और निरीह नागों को मार कर अपना प्रतिशोध लेने के लिए समर्थन नहीं मिलता।

आज, हमारे युग में भी संसार की सबसे बड़ी और भीषण समस्या भयंकर युद्धों की है। दो विश्व महायुद्धों की विभीषिका देख लेने के पश्चात् संसार के शांतिप्रिय चिंतकों ने इस विषय में बहुत सोचा-विचारा है। इसलिए हमारे लिए व्यास का चिंतन बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। युद्ध किसी समस्या का समाधान नहीं है। आज से पांच सहस्र वर्ष पूर्व भी मनुष्य यह जानता था और आज भी जानता है। तो भी संसार में निरंतर कहीं न कहीं युद्ध हो ही रहे हैं। वे क्यों हो रहे हैं; और उनका समाधान क्या है? महाभारत इन दोनों ही प्रश्नों का उत्तर देने वाला प्रामाणिक और प्रासंगिक ग्रंथ है।

यह सत्य है कि महाभारत में एक महायुद्ध का भयंकरतम वर्णन किया गया है; किंतु युद्ध का पक्ष कहीं नहीं लिया गया। उसे मनुष्य की समस्याओं के समाधान के रूप में स्थापित नहीं किया गया है। अहिंसा को ही सदा उच्चतम धर्म का स्थान दिया गया है; किंतु न्याय, दुष्ट-दलन तथा आत्मरक्षा के लिए आपात् स्थिति में युद्ध की अनिवार्यता को भी मान्यता दी गई है। युद्ध संबंधी विभिन्न पक्षों पर जितना विचार महाभारत में किया गया है, शायद ही कहीं किया गया हो। युद्ध के कारण, उसके दुष्परिणाम, युद्ध-त्याग की नीति के दुष्परिणाम, विनाश के मूल्य पर भी उसकी अनिवार्यता इत्यादि

१. १२-१९/११, आदिपर्व, महाभारत।
२. आस्तीक पर्व/आदिपर्व, महाभारत।

अनेक प्रश्न आज भी इतने प्रासंगिक हैं कि लगता ही नहीं कि हम पांच सहस्र वर्ष पूर्व के चिंतन को पढ़ रहे हैं। महाभारत व्यक्तिगत जीवन की सुख-शांति के लिए सांसारिक प्रलोभनों के मध्य संयम को महत्व देता है। काम-क्रोध, लोभ-मोह का विरोध करता है और धर्म की स्थापना करता है, ताकि वह व्यक्ति, समाज के लिए अशांति का कारण न बने।

द्यूत में पराजय की सारी शर्तों को धर्मपूर्वक पूर्ण कर पांडव, दुर्योधन से अपना राज्य वापस मांगते हैं; किंतु दुर्योधन उनका राज्य लौटाने से स्पष्ट इंकार कर देता है। इन तेरह वर्षों में जब असहाय पांडव वन तथा विराटनगर में तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे, दुर्योधन संसार भर की दुष्ट शक्तियों को एकत्रित कर, युद्ध की तैयारी कर चुका था। बलपूर्वक दूसरों के धन, संपत्ति और राज्य पर अधिकार कर लेना उसकी नीति थी। बलप्रयोग और हिंसा उसके उपकरण थे।

पांडव युद्ध नहीं चाहते, अतः द्रुपद अपने पुरोहित को शांतिदूत के रूप में दुर्योधन के पास भेजते हैं; किंतु दुर्योधन शांतिवार्ता को अस्वीकार कर देता है। कृष्ण पांडवों की सहायता की चर्चा करते हैं तो उनके अपने ही बड़े भाई बलराम उनके प्रस्ताव के विरोधी हो जाते हैं। कृष्ण भी उपप्लव्यनगर से उठकर द्वारका आ जाते हैं; किंतु सैन्य-संग्रह का काम उससे रुकता नहीं। पांडवों से पहले दुर्योधन ही कृष्ण से सैन्य-सहायता प्राप्त करने आ जाता है। उसकी स्पष्ट घोषणा है कि युद्ध कर के राज्य ले सकते हो, तो ले लो। शांतिपूर्वक राज्य लौटाया नहीं जाएगा।

युद्ध की सारी तैयारियां हो जाने पर भी कृष्ण युद्ध रोकने के लिए, अंतिम प्रयत्न करने के लिए, शांतिदूत के रूप में स्वयं हस्तिनापुर जाते हैं। यह वह समय है, जब पांडव अपने पूरे राज्य के स्थान पर केवल पांच ग्राम ले कर भी संधि कर लेने को सहमत हैं। दुर्योधन सूई की नोक बराबर भूमि देनी ही स्वीकार नहीं करता; उसके विपरीत वह शांतिदूत कृष्ण को बंदी करने का प्रयत्न भी करता है।

दुर्योधन के कामुक अहंकार ने द्रौपदी को भरी सभा में निर्वस्त्र करने का प्रयत्न किया और स्वतंत्र भारत में तमिलनाड की विधानसभा में जयललिता का उसी प्रकार का अपमान करने का प्रयत्न किया गया। धृतराष्ट्र अपने पुत्र के मोह में किस प्रकार पाप में लिप्त होता रहा — यह हम जानते हैं; और स्वतंत्र भारत के एक प्रधानमंत्री नरसिंहा राव को जब बताया गया कि उनका पुत्र यूरिया-कांड के संदर्भ में धन के लोभ में भ्रष्ट आचरण कर रहा है, जो देश के प्रति अपराध भी है, तो उन्होंने उसे सत्य मानने

से इंकार कर दिया। मुझे अंधे धृतराष्ट्र और नरसिंहा राव में कोई अंतर दिखाई नहीं देता। ... और अब तक तो अनेक राजनेताओं ने अपने अंधत्व का प्रमाण दे दिया है।

****

यह महाभारत का यथार्थ है। राजसभाओं में दस्यु, अपराधी और गुंडे आ बैठे और मनुष्य की हीनवृत्तियां शक्तिशाली हो उठीं। पाप और भ्रष्ट आचरण राजसिंहासन पर आसीन हो गए; और धर्म को भूखे-प्यासे नंगे पैरों वन-वन भटकना पड़ा। किंतु कृष्ण निरंतर धर्म की स्थापना में लगे रहे। दुर्योधन की तृष्णा, मोह, अहंकार और राक्षसी महत्वाकांक्षा ने पांडवों का राज्य लौटाने से इंकार कर दिया। महाशक्तियों के अपने ही नियम होते हैं। वे न्याय और समता पर आधृत न हो कर उनकी शक्ति और सुविधा से प्रेरित होते हैं। महाभारत का कहना है कि युद्ध में नियमों का पालन केवल दुर्बल पक्ष करता है। भारत में पाकिस्तानी आतंकवाद कितना भी संहार करता रहे, अमरीका उसे मानने को तैयार न था, न है; किंतु 'वर्ल्ड ट्रेड सेंटर' पर एक आक्रमण के पश्चात् वह अलकायदा से लड़ने के लिए सारी अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं को भूल कर अफगानिस्तान और अंततः लादेन को मारने पाकिस्तान तक पहुँच जाता है। अपने एक संदेह मात्र के कारण वह इराक को ध्वस्त कर देता है। दुर्योधन भी अपने समय की ऐसी ही महाशक्ति है।

जब अधर्म, अन्याय और राक्षसी अहंकार इस सीमा तक बढ़ जाए तो युद्ध हो या न हो? वस्तुतः महाभारत इसी प्रश्न पर विचार करता है। चीन यदि तिब्बत में से अपनी सेनाएं नहीं हटाता, तो तिब्बत क्या करे ? असमर्थ है तो अपमान और दासता की पीड़ा भोगता रहे; किंतु यदि किसी समय वह समर्थ हो जाए, तो क्या तब युद्ध को रोका जा सकता है, या रोका जाना चाहिए ?

महाभारत युद्धशास्त्र नहीं है, किंतु धर्मशास्त्र वह अवश्य है; और कृष्ण धर्म के प्रतिनिधि हैं। जहाँ कृष्ण हैं, वहीं धर्म है।[१] इसलिए पांडवों द्वारा दुर्योधन के अधर्म और अत्याचार को स्वीकार नहीं किया जाता। वस्तुतः पांडव निर्बल होने के कारण धर्म की बात नहीं कर रहे। वे समर्थ होकर भी धर्म का मार्ग नहीं छोड़ते। न्याय प्राप्त करने के लिए, धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में सेनाएं सज जाती हैं। अर्जुन अपने मित्र, गुरु और सारथी कृष्ण से कहता है कि वे उसका रथ ले जा कर दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा कर दें, ताकि वह एक बार देख ले कि उसके विरुद्ध, पापी दुर्योधन के पक्ष से लड़ कर अपने प्राण गंवाने कौन-कौन आया है। कृष्ण वैसा ही करते हैं। अर्जुन दोनों सेनाओं के मध्य खड़ा होकर

१. महाभारत।

देखता है कि दोनों पक्षों में संसार भर के योद्धाओं में उसके अपने सगे संबंधी भी खड़े हैं। युद्ध की विभीषिका उसके मन को फिर से सम्मोहित कर देती है– युद्ध हुआ तो ये सारे जन मारे जाएंगे। परिणामतः अर्जुन शांति का अंतिम प्रयत्न करता है।

गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ् छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुंजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान।।[1]

"धन की इच्छा से गुरुओं की हत्या कर, उनके रक्त से भीगे भोगों से तो अधिक श्रेयस्कर, इस लोक में भिक्षा मांग कर जी लेना है।" अर्जुन की यह उक्ति, उन लोगों का पक्ष है, जो किसी भी मूल्य पर शांति चाहते हैं। इससे शांति तो बनी रह सकती है; किंतु तब धर्म, न्याय, समता-समानता और आत्मरक्षा के अधिकार का क्या होगा ? धर्म के राज्य का क्या होगा ? अर्जुन युद्ध के परिणाम की कल्पना से ही इतना विचलित है कि वह निश्चय करता है कि अपने अधिकारों के लिए, सत्य-न्याय और धर्म के लिए भी, वह युद्ध नहीं करेगा। युद्ध से बचने का एक मार्ग यह भी है। किंतु धर्म-संस्थापक श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रस्ताव से सहमत नहीं है।

महाभारत के नायक युधिष्ठिर हैं; किंतु कृष्ण एक ऐसे महानायक हैं कि उनकी उपस्थिति ही नहीं, चर्चा भी उन्हें सर्वप्रमुख पात्र बना देती है; और नायकत्व के जितने गुण उनमें हैं, वे कहीं और खोज सकना संभव ही नहीं है। वे ही कृष्ण युद्ध की मूल प्रेरणा हैं। जिस युधिष्ठिर के राज्य के लिए यह युद्ध होना था, वे युधिष्ठिर ही युद्ध के पक्ष में नहीं हैं। जिस अर्जुन के बल पर पांडवों को यह युद्ध लड़ना था, वह अर्जुन अपना गांडीव त्याग, हताश होकर बैठ चुका था। उसे युद्ध नहीं करना था। जिन यादवों का सबसे बड़ा सहारा था, उन यादवों में से, एक सात्यकि को छोड़, लड़ने के लिए कोई नहीं आया। न कृष्ण के पुत्र, न कृष्ण के भाई। तो महाभारत का युद्ध कौन लड़ रहा था ? कृष्ण ? अकेले कृष्ण ? जिनके हाथ में अपना कोई शस्त्र नहीं था ? वे कृष्ण हिंसा के नहीं, प्रेम के पुंजीभूत स्वरूप हैं; किंतु वे जहाँ हिंस्रत्व का विरोध करते हैं, वहीं क्लीवता को भी धिक्कारते हैं। इसलिए उनका उत्तर है—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।[2]

---

१. भगवद्गीता २/५
२. भगवद्गीता २/२-३

"अर्जुन, इस कठिन समय में अनार्य आचरण वाला, नरक और अपकीर्ति देने वाला, यह मोह तुममें कहां से उत्पन्न हो गया है। क्लीव मत बन। यह तुम्हारे योग्य नहीं है। हे परंतप, हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को त्याग कर उठ खड़ा हो।"

धर्म के लिए गीता ने गांडीव उठाने का संदेश दिया है। आत्मरक्षा धर्म है; किंतु युद्ध का यह आह्वान केवल आत्मरक्षा तक ही सीमित नहीं है। यह अन्याय और अधर्म के विरुद्ध युद्ध है। इसलिए इसमें अधर्म और अन्याय के पक्षधर अपने रक्त-संबंधियों का भी विरोध है। यह रक्त-संबंध को भूल कर धर्म के लिए युद्ध है। यह भी ध्यातव्य है कि युद्ध के मूल में घृणा, ईर्ष्या या वैर नहीं, धर्म और न्याय का भाव है। युद्ध का लक्ष्य धर्म-स्थापना की आकांक्षा है।

स्पष्ट है कि युद्ध न करने के जितने उपाय हो सकते थे, पांडवों के पक्ष से वे सब हो चुके थे; किंतु दुर्योधन के हठ के कारण युद्ध रुक न पाया। महाभारत का स्पष्ट संकेत है कि धर्मभीरु लोग, युद्ध से जितना बच सकते हैं, बचते हैं; किंतु अधर्मी, अन्यायी और अत्याचारी पक्ष, प्रेम और संधि की भाषा नहीं समझता। ऐसे में मानवता के पास दो ही उपाय हैं— अधर्म और अन्याय के सम्मुख सिर झुका दे तथा अपना सर्वस्व त्याग कर भिक्षुक या दास हो जाए; या फिर युद्ध के लिए शस्त्र उठा ले।

कृष्ण अर्जुन को गांडीव उठाने को कहते हैं। युद्ध करने को कहते हैं। उन परिस्थितियों में शांति की इच्छा को मोह और क्लीवता कहते हैं। धर्म की स्थापना के लिए वह शांति श्रेयस्कर नहीं है, जो न्याय के शव पर खड़ी हो। ऐसे समय में युद्ध ही श्रेयस्कर है। कायरता को हम शांति की कामना नहीं मान सकते है। अतः हम कह सकते हैं कि महाभारत, अहिंसा को उच्चतम और चरम धर्म मानते हुये भी, अन्याय और अधर्म को स्वीकार करने वाली कायरता का पक्ष नहीं लेता।

विनोबा भावे इस सारे संदर्भ को एक नए रूप में देखते हैं। वे कहते हैं कि यह केवल स्वजनासक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, बंधु और आप्त सामने न होते, तो उसने शत्रुओं के मुंड गेंद के समान उड़ा दिए होते। किंतु इस आसक्तिजनित मोह ने उसकी कर्तव्यनिष्ठा को ग्रास लिया और तब उसे तत्वज्ञान याद आया। कर्तव्यनिष्ठ मनुष्य को मोहग्रस्त होने पर भी नग्न - खुल्लमखुल्ला - कर्तव्यच्युति सहन नहीं होती। वह कोई सद्विचार उसे पहनाता है। यही हाल अर्जुन का हुआ। अब वह झूठ-मूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध ही वास्तव में एक पाप है। युद्ध में कुलक्षय होगा, धर्म का लोप होगा, स्वैराचार मचेगा, व्यभिचारवाद फैलेगा, अकाल आ पड़ेगा, समाज पर तरह-तरह के संकट आएंगे आदि अनेक दलीलें देकर वह कृष्ण को ही समझाने लगा।

यहाँ मुझे एक न्यायाधीश का किस्सा याद आता है। उसने सैकड़ों अपराधियों को फाँसी की सजा दी थी। किंतु एक दिन स्वयं उसी का पुत्र खून के जुर्म में उसके सम्मुख पेश किया गया। बेटे पर खून का जुर्म साबित हुआ और उसे भी फाँसी की सजा देने की नौबत न्यायाधीश पर आ गई। तब वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद बघारने लगा — "फाँसी की सजा बड़ी अमानुषी है। ऐसी सजा देना मनुष्य को शोभा नहीं देता। इससे अपराधी के सुधरने की आशा नष्ट हो जाती है। खून करने वाले ने भावना के आवेश में, खून कर डाला। परंतु उसकी आँखों पर से जुनून उतर जाने पर उस व्यक्ति को गंभीरतापूर्वक फाँसी के तख्ते पर चढ़ा कर मार डालना, समाज की मनुष्यता के लिए बड़ी लज्जा की बात है, बड़ा कलंक है।" ... यह दलील वह देने लगा। यदि अपना लड़का सामने न होता, तो जज साहब बेखटके जीवन भर फाँसी की सजा देते रहते। किंतु वे अपने लड़के के ममत्व के कारण ऐसी बातें करने लगे। उनकी वह बात आंतरिक नहीं थी। वह आसक्तिजनित थी।[1]

विनोबा भावे की इस कथा से हमारे वर्तमान की कई कथाओं के भूत जाग उठते हैं। जो लोग आतंक के नाम पर असंख्य निर्दोष लोगों को मार चुके थे, उनमें से तीन को राजीव गांधी की हत्या के अपराध में फाँसी का दंड सुनाया गया तो तमिलनाड के अनेक राजनीतिक दल केवल इसलिए मानवता का प्रचार करने लगे, क्योंकि वे आतंकी तमिल थे। कश्मीर के मुख्यमंत्री को भी स्मरण हो आया कि संसद पर आक्रमण करने वाला अफ़ज़ल गुरु कश्मीरी है। और पंजाब में भी सुगबुगाहट होने लगी कि भुल्लर पंजाबी है। अभी कोई पाकिस्तानी आतंकवादी मो० कसब के पक्ष में नहीं उठा है; किंतु वह दिन दूर नहीं कि उसका भी कोई सहायक उठ खड़ा होगा। यह 'स्वजनासक्ति' है, जिसे अनेक मोहक तर्कों और सिद्धांतों में छिपा कर प्रस्तुत किया जा रहा है। हम इन आतंकियों को सुधारने की बात तो करते हैं; किंतु यह भूल जाते हैं कि हमारी यह आसक्ति अथवा कोमलता ही ऐसे अपराधों और अपराधियों को जन्म भी देती है। इसी से हमारे देश की छवि एक कोमल ही नहीं, भीरु देश की बनती है; और भीरु देश के विरुद्ध अपराध करने से कोई संकोच नहीं करता।

महाभारत में, और स्पष्ट कर कहें, तो भगवद्गीता में वहाँ से एक नया अध्याय आरंभ होता है जहाँ अर्जुन का मोह दूर करने के लिए कृष्ण उसे अपना विराट रूप दिखाते हैं। वे अर्जुन के सम्मुख पहली बार प्रकट करते हैं कि वे सामान्य मनुष्य न होकर, स्वयं नारायण हैं। वे यह भी कहते हैं कि वे महाकाल हैं और इस समय

१. विनोबा साहित्य, भाग-३, पृष्ठ-१०, संस्करण १९९४ ई., परधाम प्रकाशन, पवनार, वर्धा।

विनाशोन्मुखी हैं। उन्होंने कौरवों के सारे योद्धाओं को पहले ही मार दिया है। आततायी अपने पाप से मारा जाता है, अतः दैवी नियम, मृत्यु का क्षण पहले ही निर्धारित कर देते हैं। अर्जुन को केवल निमित्त ही बनना है। यहाँ दैवी नियमों का हस्तक्षेप होता है।

अपने शत्रुओं के विरुद्ध लड़ने के लिए, अर्जुन को दिया गया कृष्ण का आदेश स्वाभाविक सांसारिक नियम है। उसमें कुछ भी असाधारण नहीं है। किंतु महाभारत की विशेषता यह है कि कृष्ण कह रहे हैं कि मैं इन सब लोगों को पहले ही मार चुका हूँ, तुम केवल निमित्त हो। इन्हें मारो और यश प्राप्त करो। अर्जुन अपने सामने खड़े उन योद्धाओं को महाकाल के दाँतों तले पिसते हुए देखता है। यह न सांसारिक तर्क है, न व्यावहारिक स्थिति है। आज के एक साधारण बौद्धिक तार्किक व्यक्ति के लिए इसको स्वीकार कर पाना कठिन होगा।

तो पहले हम महाभारत की बात समझें। महाभारत के अनुसार यह सारी सृष्टि ऋत् के नियम के अधीन है। यह सिद्धांत कहता है कि 'आततायी अपने पाप से मारा जाता है।' जब पाप मर्यादाओं का उल्लंघन करने लगता है, तो प्राकृतिक नियमों के अंतर्गत उसके नाश का समय आ जाता है। उसके लिए निमित्त चाहे कोई बने।

हमारी बुद्धि इसके लिए प्रमाण मांगती है। प्रमाणों की कमी नहीं है। किसने सोचा था कि भारत में ऐसा शक्तिशाली मुगल साम्राज्य अंत में दिल्ली के लाल किले तक सीमित हो जाएगा और अंग्रेज अंतिम मुगल सम्राट बहादुरशाह ज़फर के राजकुमारों के सिर काट कर थाली में सजा कर उसके सम्मुख प्रस्तुत कर देंगे। किसने सोचा था कि जिस ब्रिटिश साम्राज्य में कभी सूर्यास्त नहीं होता था, वह अंततः इस प्रकार सिमटता जाएगा और स्वयं अंग्रेज ही अपने देश में रहना पसंद नहीं करेंगे। आज उसी इंग्लैंड के अध्यापक अपना इतिहास अपने बच्चों को पढ़ाने में लज्जा का अनुभव करते हैं। हम इतिहास पर दृष्टि डालें। सोवियत रूस आधी शताब्दी तक संसार की एक महाशक्ति था; और फिर एक दिन जैसे अपने ही बोझ से दब कर गिर गया और समाप्त हो गया। नेपोलियन हो या हिटलर, उनका अंत होने पर आया तो चुटकियों में जैसे स्वतः ही हो गया। मैं ईरान के शाह के अंतिम दिनों की बात सोचता हूँ। इतना शक्तिशाली सम्राट् देश से निष्कासित हुआ और उसके पक्ष से एक गोली भी नहीं चली, एक सैनिक भी नहीं लड़ा। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण हमारे सामने हैं, जहाँ किसी शक्तिशाली व्यक्ति अथवा राष्ट्र को धराशायी होते हुए देख कर आश्चर्य होता है कि ऐसा संभव कैसे हुआ? ताजा उदाहरण लीबिया के गद्दाफी का है। इसी प्रक्रिया को समझने के लिए हमें श्रीकृष्ण की उस उक्ति पर विचार करना होगा। आततायी अपने पाप से मारा जाता है। उसका

पाप उसको मार चुका होता है; और प्रकृति का निमित्त बन कर, अथवा बहाना बनकर, कोई भी साधारण सी शक्ति उसे नष्ट कर देती है। कोई भी घटना पहले सूक्ष्म रूप से घटित होती है और फिर उसका स्थूल रूप प्रकट होता है।

****

युद्ध की समस्या से निबटने अथवा मानवता को विनाश से बचाने के लिए महाभारत का स्पष्ट संदेश है कि उस स्थिति के आने को रोकने के लिए, व्यक्ति और समाज के धरातल पर ऐसा कोई कर्म न किया जाए, जो अधर्म हो, जो किसी और को वंचित और पीड़ित करता हो। अतः संयम, संतोष, समता, न्याय इत्यादि का शिक्षण और संस्कार मनुष्य को उसके शैशव से ही दिया जाना चाहिए। पांडव हिमालय में ऋषियों के आश्रय में पले थे, अतः उनका व्यवहार संयत और मर्यादित था। वे बिना राज्य के भी संतुष्ट थे। अपने अधिकार से कम पा कर भी वे मानव-रक्त बहाना नहीं चाहते थे। शक्तिशाली होने पर भी वे बल-प्रयोग करने को आतुर नहीं थे। युद्ध होने पर, आज के परमाणु शस्त्रों के समान शक्तिशाली देवास्त्रों के स्वामी होते हुए भी, उन्होंने कभी उनका प्रयोग नहीं किया। अर्जुन जब शस्त्रास्त्रों के महान् ज्ञाता और निर्माता महादेव शिव से पाशुपतास्त्र लेकर लौटा है; और उसके भाई उसका प्रदर्शन देखना चाहते हैं, उस समय भी ऋषियों के आदेश पर उसका प्रदर्शन स्थगित कर दिया जाता है; क्योंकि प्रदर्शन भी विनाश ही करता, जैसे आज भी परमाणु अस्त्रों के प्रयोग प्रकृति को आहत ही करते हैं। पांडवों ने अन्य भी किसी युद्ध में इन दिव्यास्त्रों और देवास्त्रों का प्रयोग नहीं किया। महाभारत के युद्ध में भी भीष्म, द्रोण और अश्वत्थमा के द्वारा भयंकर रूप से विनाशकारी अस्त्रों के प्रयोग करने पर भी पांडवों की ओर से उनका प्रयोग नहीं किया गया। 'नारायणास्त्र' के सामने भी वे शांत ही रहे। युद्ध के अंत में जब अश्वत्थामा ने ब्रह्मशिर का प्रयोग किया तो उसको काटने के लिए अर्जुन ने ब्रह्मास्त्र प्रकट किया; किंतु तत्काल की ऋषियों ने उपस्थित होकर उसे लौटा लेने के लिए कहा। अर्जुन ने तनिक भी विरोध नहीं किया और अपना ब्रह्मास्त्र लौटा लिया; जबकि अश्वत्थामा ने अपना शस्त्र लौटाने में अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। द्वितीय महायुद्ध में अमरीका ने जापान पर ऐटम बम गिराए और मानवता की आत्मा कांप उठी। तब से आज तक सब लोग यही सोच रहे हैं कि कोई भी राष्ट्र ऐसा राक्षसी कृत्य न करे। अश्वत्थामा आज तक अपनी राक्षसी हिंसा का परिणाम क्षत-विक्षत पशु के रूप में भुगत रहा है; हमें देखना है, कि अमरीका से उसका इतिहास कब प्रतिशोध लेता है।

आसक्ति, भोग, मोह, लोभ, अहंकार इत्यादि की कथा शांतनु से ही आरंभ हो

जाती है। शांतनु की कामुकता के कारण भीष्म विवाह से वंचित हुए, और घटनाक्रम में धृतराष्ट्र जैसा मोहासक्त और पाप का मूल व्यक्ति उत्पन्न हुआ। उसने अपने पुत्रों को अधर्म के मार्ग पर चलने से कभी नहीं रोका। उसके विपरीत वह उनकी दुष्टताओं को देख-देख कर प्रसन्न होता रहा और उनकी सफलता की कामना करता रहा। फलतः उसके पुत्र अपनी राक्षसी वृत्तियों का विकास करते रहे। उसका परिणाम था, महाभारत का युद्ध और अंततः उन सबका सर्वनाश।

हमें आज अपना युग कितना भी भिन्न क्यों न प्रतीत होता हो; किंतु प्रकृति के नियम और मनुष्य का स्वभाव आज भी वही है। हम त्रिगुणात्मक प्रकृति के तमोगुण और रजोगुण से मुक्त नहीं हुए हैं। महाभारत की स्पष्ट मान्यता है कि धर्म, नैतिकता अथवा ऋत् का नियम – परोक्ष रूप से हमारी रक्षा करते हैं। वे प्रकट नहीं होते; किंतु घटनाओं के प्रवाह अथवा उनके परिणामों से हम प्रकृति के संकेत को पहचान सकते हैं। अधर्म का सदा-सर्वदा सर्वनाश होता है। इसलिए युद्धों से चाहे मानव की समस्याओं का समाधान न होता हो, किंतु यदि हम धर्म और संयम का मार्ग नहीं अपनाएंगे तो युद्ध की स्थिति आएगी ही और मानवता बड़े से बड़ा नरसंहार देखेगी।

****

अब प्रश्न यह है कि यह कैसे संभव है कि जो योद्धा सामने जीवित खड़े हैं, उन्हें अर्जुन कृष्ण के द्वारा मार दिया गया मान ले? अर्जुन को समझाने के लिए, कृष्ण सृष्टि के अनेक सत्यों का स्पष्टीकरण करते हैं। ये ही सत्य पहले उपनिषदों में भी वर्णित हैं। जीवन के तात्विक रूप को स्पष्ट करते हुए कृष्ण बताते हैं कि मूल और शाश्वत तत्त्व— अविकारी आत्मा है। वह न मरती है, न मारती है। शरीर, जो मन-बुद्धि-अहंकार जैसे अनात्म (जड़ तत्त्व) से निर्मित है, वस्तुतः विकारी है, वही परिवर्तित होता है, अतः वही नश्वर भी है। जन्म भी वही लेता है, मरता भी वही है। वही मारता है, वही मरता है। युद्ध के क्षेत्र में सामने खड़े उन शरीरों का अंत कृष्ण सूक्ष्म धरातल पर पहले ही कर चुके हैं।

आत्मा मरती नहीं और शरीर (विकार, अनात्म अथवा जड़ तत्त्व) के मरने-मारने के मूल में प्रकृति का कर्म-सिद्धांत कार्य कर रहा है। कर्म-सिद्धांत कार्य-कारण सिद्धांत का ही सूक्ष्म और परिष्कृत रूप है। आज के भौतिक विज्ञान में उसी का एक अत्यंत स्थूल रूप न्यूटन का 'एक्शन-रि-एक्शन' का सिद्धांत है। एक्शन ही कर्म है; और रि-एक्शन ही फल या परिणाम है। किंतु प्रकृति का विधान है कि कार्य फिर से कारण बन कर पुनः अपने कार्य को जन्म देता है। कर्म तथा फल को, कार्य और

कारण की अनन्त शृंखला है; और वही कर्म-फल मनुष्य को बाँधता है। इसे हम कर्म-बंधन कहते हैं। उसी शृंखला में बंधा जीवन, यह सांसारिक जीवन है, जिसे हम जानते है और उसी को यथार्थ मानते हैं।

कर्म-बंधन की इस शृंखला को तोड़ कर, जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने का प्रयत्न ही आध्यात्मिक जीवन है। प्रासंगिकता के प्रश्न को लेकर यहाँ एक समस्या है। हम सामान्य मानव, जो केवल अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर निर्भर हैं, वही देखते, जानते और समझते हैं, जो प्रत्यक्ष हमारे सामने है; अर्थात् हम अपने चर्म-चक्षुओं से केवल स्थूल घटनाओं को ही देख सकते हैं। हम तो अपने रक्त में तैरते कीटाणुओं और अपने आस-पास कार्य करती विभिन्न प्रकार की तरंगों को भी नहीं देख सकते। तो ऐसे में इस सूक्ष्म आध्यात्मिक जीवन की हमारे लिए क्या प्रासंगिकता है ? यह आपत्ति अपने स्थान पर एकदम उचित ही है। किंतु मेरे मन में एक उदाहरण है।

मैं जब विद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहा था तो मेरे मन में गणित के संदर्भ में अनेक प्रश्न थे, जिनका कोई उत्तर मुझे नहीं मिलता था। संख्याओं और उनके जोड़-घटाव, गुणा-भाग में कोई समस्या नहीं थी। उनकी उपयोगिता तो प्रतिदिन प्रमाणित होती थी। पैसे का लेन-देन किसको समझ में नहीं आता। अपनी चीज़ों की भी गिनती करनी ही होती थी; किंतु अलजबरा, त्रिकोणमिति तथा ज्यामिति जैसे विषय क्यों पढ़ाए जाते हैं? वे सूत्र और थ्योरम क्यों रटाए जाते हैं ? उनकी उपयोगिता क्या है ? हमारे जीवन में उनकी प्रासंगिकता क्या है ?

आज सोचता हूँ तो समझ में आता है कि जो लोग स्कूली पढ़ाई से आगे नहीं बढ़े अथवा उसके पश्चात् विज्ञान के विषय न पढ़ कर अन्य दिशाओं में बढ़ गए, उनके लिए अलजबरा और त्रिकोणमिति का शिक्षण निश्चित रूप से अनावश्यक था। किंतु जो लोग आभियंत्रिकी अथवा विज्ञान संबंधी अन्य विषयों के विभिन्न क्षेत्रों में उच्च अध्ययन के लिए गए, उनके लिए गणित की ये शाखाएं बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं। यदि वे गणित के उन विषयों में पारंगत न होते तो न वे कंप्यूटर का आविष्कार कर पाते, न उसे समझ सकते और न ही उसपर जटिल कार्य कर सकते।

प्रासंगिकता का संबंध यद्यपि तात्कालिकता से जोड़ा जाता है; किंतु ध्यातव्य यह है कि यदि सारे काम तात्कालिक दृष्टि से ही किए जाएंगे, तो मनुष्य का कोई भविष्य नहीं होगा, उसका विकास नहीं होगा, उन्नति नहीं होगी, उच्चतर जीवन नहीं होगा। अध्यात्म को भी जब तक हम समझ नहीं लेते, उसकी आवश्यकता का अनुभव नहीं कर लेते, उसकी स्थिति आठवीं कक्षा में पढ़ने वाले बच्चे को पढ़ाए जाने वाले

अलजबरा के समान ही है। निश्चित रूप से वह मनुष्य के जीवन के भविष्य के विकास के लिए है। वैसे तो हमारी मान्यता है कि वह समस्त जीवों का भविष्य और अंतिम लक्ष्य है; किंतु मैं यह मानता हूँ कि उसका महत्व विकसित मस्तिष्क और विकसित आत्मा को ही समझ में आता है। प्रकृति के तीन गुण— सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण में जीव बंधा है। उस शृंखला को तोड़, रजोगुण और तमोगुण को विलीन कर सतोगुण में स्थित होना ही आध्यात्मिक जीवन का आधार है। वही हमें मोक्ष देता है। वही हमें आत्मसाक्षात्कार कराता है, वही हमें जन्म-मरण के चक्र से मुक्त करता है। वस्तुत: यह प्रकृति के अपने खोए हुए संतुलन को प्राप्त करने का ही प्रयत्न है; जीवात्मा का अपने मूल अविकृत रूप – आत्मा – को प्राप्त करने का संघर्ष है; और यह प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश में, प्रत्येक जीव के लिए प्रासंगिक है।

****

भारतीय मनीषा की मान्यता है कि यह सृष्टि ऋत् के नियम के अधीन चलती है। इसे अध्यात्म के क्षेत्र में ईश्वर का नियम कह सकते हैं। सामान्य भाषा में इसे प्रकृति के नियम कहा जाएगा। ये वे नियम हैं, जिनका आविष्कार हमारे ऋषियों ने सहस्रों वर्ष पूर्व किया था। आज उनका आविष्कार करने वाले लोग उन्हें वैज्ञानिक नियम कहते हैं। हमारी मान्यता है कि न तो कभी प्रकृति के नियम परिवर्तित होते हैं, न मनुष्य का स्वभाव परिवर्तित होता है। किंतु संसार का परिदृश्य प्रतिदिन बदलता है। यहाँ कुछ भी अपरिवर्तनीय नहीं है। सत्य यह है कि यह सृष्टि दो तत्वों से मिल कर बनी है। वे तत्व हैं— आत्म (चैतन्य) और अनात्म (जड़)। आत्म अनश्वर है, अतः अविकारी है। अनात्म नश्वर है, अतः निरंतर परिवर्तनीय है।

इस पृष्ठभूमि में प्रासंगिकता भी दो प्रकार की हो जाती है— तात्कालिक प्रासंगिकता और शाश्वत प्रासंगिकता। यात्रा करनी हो तो आने-जाने के लिए विमान की टिकट चाहिए, अतः विमान कंपनियों की प्रासंगिकता बढ़ जाती है। व्याख्यान देना हो तो माइक्रोफोन की प्रासंगिकता बढ़ जाती है। ये सामयिक और तात्कालिक प्रासंगिकताएं हैं। शाश्वत प्रासंगिकता धर्म की है, जो सारी मानवता और मानवेतर प्राणियों के लिए त्रिकाल का सत्य है। वे प्रासंगिकताएं धर्म की प्रासंगिकताएं हैं। उन्हें हम अपने दैनन्दिन जीवन में प्रायः भूल जाते हैं, किंतु समय आने पर उनका स्मरण हो ही जाता है।

****

महाभारत का तीसरा धरातल अध्यात्म का है। वैसे तो वह महाभारत की सारी घटनाओं और चरित्रों में बिखरा हुआ है, किंतु घनीभूत होकर वह भगवद्गीता में

ही आया है। यदि संक्षेप में कहें तो श्रीकृष्ण ने इसके माध्यम से ब्रह्म, प्रकृति, सृष्टि, आत्मा, जीवात्मा, जीवन और मोक्ष के संबंध में स्पष्ट रूप से अपने सिद्धांत प्रस्तुत किए हैं। कर्म-सिद्धांत उन में प्रमुख है और अनासक्त भाव से निष्काम कर्म करना उसकी कुंजी है। विनोबाभावे मानते हैं कि अपने स्वभाव पर चलना ही निष्काम कर्म करना है। यही कर्म को अकर्म में परिवर्तित करने का सीधा मार्ग है। कृष्ण ने कर्म-योग, भक्ति-योग तथा ज्ञान-योग का प्रतिपादन किया। कर्म के लिए कर्म, भक्ति के लिए भक्ति और ज्ञान के लिए ज्ञान। उनका अन्य कोई लक्ष्य नहीं होना चाहिए। इन्हीं सिद्धांतों के प्रतिपादन के कारण भगवद्गीता को संसार के महान् ग्रंथों में से एक माना गया।

जो लोग अध्यात्म के क्षेत्र में अपना विकास कर ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं — ये सिद्धांत उनके लिए अत्यंत प्रासंगिक हैं। वस्तुतः भारतीय चिंतन मनुष्य के लिए चार पुरुषार्थों को स्वीकार करता है। जब तक हम पारिवारिक, सामाजिक तथा सांसारिक जीवन तक सीमित रहते हैं, तब तक हमारे लिए धर्म, अर्थ और काम ही प्रासंगिक हैं; किंतु जब हम उनसे आगे बढ़ कर आध्यात्मिक जीवन को अंगीकार करते हैं और मुमुक्षु हो जाते हैं, तब हमारे लिए केवल अध्यात्म ही प्रासंगिक रह जाता है - शेष सब कुछ अनावश्यक हो जाता है।

****

युद्ध की विभीषिका के पश्चात्, उस भयंकर नर-संहार के पश्चात् महाभारत अपनी मूल कथा की ओर लौटता है। कृष्ण को साथ लेकर पांडव भीष्म के पास आते हैं। यद्यपि भीष्म शिखंडी और अर्जुन के बाणों से धराशायी हुए हैं, किंतु उन दोनों के संबंधों में कहीं शत्रुता तो दूर, कटुता भी नहीं है। भीष्म उन्हें राजनीति संबंधी बृहत् ज्ञान देते हैं। अपने जीवन का सार तत्व उन्हें समर्पित करते हैं। स्पष्ट है कि विरोधी पक्षों में होते हुए भी भीष्म जानते हैं कि कृष्ण और पांडव धर्म के मार्ग पर हैं। भीष्म ने अपनी कुछ परिस्थितियों, मान्यताओं और नीतियों के कारण हस्तिनापुर की सेना का नेतृत्व अवश्य किया, किंतु वे भी समझते हैं कि वे पाप को संरक्षण दे रहे थे। यही कारण है कि कृष्ण ने उनके वध का आग्रह किया। यदि भीष्म और द्रोण का वध न किया जाता तो दुर्योधन के पाप और अधर्मपूर्ण राज्य को समाप्त नहीं किया जा सकता था। अधर्म को संरक्षण देने वाला भी अधर्म का भागी है, अतः वह भी दण्डनीय है। अब पाण्डव उस मोड़ पर आ खड़े हुए हैं, जहाँ वे स्वर्गारोहण भी कर सकते हैं और संसारारोहण भी। प्रत्येक चिंतनशील मनुष्य के जीवन में एक वह स्थल आता है, जब उसका बाहरी

महाभारत समाप्त हो जाता है और वह अस्तित्व के उच्चतर प्रश्नों के आमने सामने आ खड़ा होता है।

महाभारत का स्वप्न धर्म-राज्य की स्थापना है। अतः धर्मराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ कर धर्म राज्य की स्थापना करते हैं। ज्ञातव्य है कि पांचों पांडव और कृष्ण अपने जीवन भर के शत्रु दुर्योधन के माता-पिता – धृतराष्ट्र और गांधारी – से भी मिलने जाते हैं। उनका कोप सहन करते हैं। उसपर भी युधिष्ठिर अपने ताऊ धृतराष्ट्र से कहते हैं कि राज्य पहले भी उनका ही था, अब भी उनका ही है। वे चाहें, उसे स्वयं ग्रहण करें, अथवा किसी और को दे दें। स्पष्टतः कोई युद्ध-विजेता ऐसा प्रस्ताव नहीं कर सकता; किंतु महाभारत की प्रासंगिकता उसकी आदर्श आचार-संहिता में है। राज्य महत्त्वपूर्ण नहीं है; महत्त्वपूर्ण है धर्म। संपूर्ण राजनीति का निचोड़ यही है। युधिष्ठिर अपने ताऊ और ताई को अपने घर ले जाते हैं; और उनकी देख-भाल करते हैं। किंतु रजोगुणी भीम को यह बात तनिक भी प्रीतिकर नहीं है; और उसके कटु वचनों से पीड़ित होकर धृतराष्ट्र वनवास करने का निश्चय करता है।

महाभारत ही नहीं, संपूर्ण भारतीय चिंतन ही मानव जीवन को चार चरणों में विभक्त करता है, जिन्हें हम आश्रम कहते हैं। उस योजना में गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम है। इसका अर्थ है, संसार के आकर्षणों और भोगों को स्वेच्छा से त्यागने का प्रयत्न, ताकि अंत में वृद्धावस्था और मृत्यु जब बलात् वह सब किसी से छीन ले, जो उसे प्रिय है, तो उसे उसका कष्ट न हो। यह धृतराष्ट्र का स्वैच्छिक वानप्रस्थ नहीं है; किंतु परिस्थितियों की बाध्यता में वह उसे स्वीकार करता है।

इस वनवास में विदुर और कुंती भी उनके साथ वन में चले जाते हैं। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह कुंती, जिसने आजीवन धृतराष्ट्र-गांधारी तथा उनके पुत्रों के हाथों मरणांतक कष्ट पाया था, वह अपने पुत्रों के विजय के क्षण में उनके राजसी भोगों का सुख भोगने को उनके साथ नहीं रहती, वह अपने जेठ और जेठानी की सेवा करने के लिए उनके साथ वनवास करती है। यह जीवन का आदर्श रूप है, जहाँ वह अपने शत्रुओं को उनके सारे अत्याचारों के लिए क्षमा ही नहीं कर देती, उनकी सेवा को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेती है। आत्मा के उत्थान के लिए ऐसा आदर्श अन्यत्र कहीं भी खोजना अत्यंत कठिन है। महाभारत घृणा, वैर, प्रतिशोध जैसे मानवीय गुणों को भी अनावश्यक घोषित कर देता है। और इसी क्रम में अंततः जनमेजय भी आस्तीक को वर देकर अपने घोरतम शत्रु तक्षक को भी क्षमा कर देता है। किंतु ध्यातव्य है कि यह समर्थ लोगों द्वारा दिया गया क्षमा का दान है। दुर्बलता,असहायता

अथवा असमर्थता में संत बनने का प्रयत्न नहीं है। भारत को भी पहले उतना शक्तिशाली और समर्थ बनना होगा और तब अपनों को क्षमा करना होगा। स्वयं को अहिंसा के आदर्श में बांध कर आक्रांताओं के पैरों तले कुचले जाने में न धर्म है, न कोई गौरव। इस प्रकार महाभारत समर्थ और शक्तिशाली बन कर जीवन को धर्मपूर्वक जीने की कला सिखाता है। यदि हम उसकी प्रासंगिकता को समझ सकें तो हम आज भी अपने संसार को कहीं अधिक सुखी और सुंदर बना सकेंगे।

आज हमारे हाथ में गीता है, अधरों पर अहिंसा का मंत्र है; और हम स्वयं ही अपने हाथ बांध कर एक कोमल और भीरु राष्ट्र के रूप में खड़े हैं। ऐसी स्थिति में क्या हमारा धर्म गांधी की अहिंसा हो सकता है ? यहाँ हमें कृष्ण के साथ स्वामी विवेकानन्द को भी स्मरण कर लेना चाहिए, जिन्होंने कहा कि हमें शक्ति चाहिए – शक्तिशाली शरीर, शक्तिशाली हृदय और शक्तिशाली मस्तिष्क। उसके पश्चात् चाहे हम सारे संसार को अपने हृदय का प्रेम बांटते फिरें।

(नरेन्द्र कोहली)

१७५, वैशाली, पीतमपुरा,
दिल्ली ११००३४
गोपाष्टमी, २०६८ विक्रम
३ नवम्बर, २०११ ई.

जिसको हम और आप जीवन कहते हैं, यह जीवन और कुछ नहीं है— यह पाप और पुण्य का युद्ध है। पुण्य देवता है, पाप असुर है। प्रत्येक हृदय में—मेरे, आपके, सबके हृदय में देवासुर संग्राम चल रहा है। इस देवासुर-संग्राम में हम देवता के पक्ष में कैसे हों? अपने हृदय के इस संग्राम को कैसे पुण्य के रूप में जीतें? किन गुणों के कारण हम दैवी-सम्पदा से युक्त होंगे? किन गुणों के कारण हम 'सत्यमेव जयते' के सिद्धांत को वस्तुतः अपने जीवन में सत्य साबित कर सकेंगे और किन दुर्गुणों के कारण हम असुर हो जायेंगे, राक्षस हो जायेंगे— इसकी सही-सही जानकारी होनी चाहिए।

अगर हममें अच्छे गुणों का विकास हुआ तो हम देवताओं के पक्ष में जा रहे हैं, हमारी दैवी-संपदा विकसित होगी और हमारे भीतर का असुर हारेगा। अगर हम बुराई की ओर जा रहे हैं, तो हमारा आसुरी स्वभाव विकसित होगा और हमारे भीतर का देवता हारेगा। इस देवासुर संग्राम में हमको देवताओं के पक्ष में लाने के लिए ही प्रभु ने गीता के १६वें अध्याय में दैवी-संपदा एवं आसुरी स्वभाव का विस्तृत वर्णन किया है।

(विष्णुकान्त शास्त्री)

यह प्रकाशन....

गीता धर्म, दर्शन और अध्यात्म-चिन्तन का सार है। यह भक्ति, ज्ञान और कर्मयोग की त्रिवेणी है। देश, काल तथा सम्प्रदाय की सीमाओं से ऊपर उठकर मानव-समाज को शाश्वत सुख, शांति और आनन्द का मार्ग दिखाती है गीता। हमारे जीवन की कठिनाइयों का सम्यक् उत्तर गीता में है। निराशा, अवसाद एवं अकर्मण्यता के क्षणों में गीता-माता हमारा समुचित मार्गदर्शन करती है। कवि-सम्राट गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही' की पंक्तियाँ हैं—

कामना रहित कर हरि की शरण देती,
भवसिंधु तरना सिखाती हमें गीता है।
आत्म तत्त्व-बोध से अमरता प्रदान कर,
मृत्यु से न डरना सिखलाती हमें गीता है।।
क्या है करणीय और क्या है अकरणीय,
श्रेय कर्म करना सिखाती हमें गीता है।
जीवन-मरण की समस्या हल करती है,
जीना और मरना सिखाती हमें गीता है।।

जीवन-समर में संघर्षरत हर व्यक्ति को गीता-माता सुमार्ग दिखाती है। कर्म रूपी कुरुक्षेत्र में आज का मानव-समुदाय अर्जुन की ही भाँति चिंता, भय, शोक, मोह आदि से ग्रस्त है। जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सदुपदेश देकर उसके विश्वास को जागृत किया था, उसी प्रकार आज भी गीता का मर्म और उसके सूत्र हमें जीवन के अंधेरे में प्रकाश प्रदान करते हैं। कविवर अरुण प्रकाश अवस्थी की भावपूर्ण पंक्तियाँ हैं—

गीता तो यदुवंश-शिरोमणि वासुदेव की वाणी है,
यह आचार-संहिता पावन सुरसरि सी कल्याणी है।

जीवन रण में विजय दिलाने वाली यह जगदम्बा है,
स्वर्ग और अपवर्ग इसी में यह हीरक अवलंबा है।
गीता कर्म-ज्ञान का संगम यह तम में दिनमान है,
गीता के आदर्श ग्रहण कर जीवित हिन्दुस्तान है।

यह भी सुखद संयोग है कि जब गीता-प्रवचन का संपादन कार्य चल रहा था तब मुझे आचार्य शास्त्री के स्नेहभाजन प्रतिष्ठित ग़ज़लकार शिवओम अम्बर ने एक ग़ज़ल लिख भेजी। तीसरे खंड के प्रकाशन पर मैं उसे प्रस्तुत करते हुए उम्मीद करता हूँ कि यह रचना साहित्यरसिक पाठकों को प्रीतिकर एवं उत्साहवर्द्धक लगेगी। पंक्तियाँ हैं—

लफ्ज़ों में चिंगारी रख, लहज़े में खुद्दारी रख
जीने की ख्वाहिश है, तो मरने की तैयारी रख
सम्राटों के आंगन में, कविता की किलकारी रख
दरबारों से रख दूरी, फुटपाथों से यारी रख
सब के सुख में शामिल हो, दुख में हिस्सेदारी रख
श्रीमद्भगवद्गीता पढ़, युद्ध निरंतर जारी रख।

ऐसे दिव्य ग्रंथ के मर्म को, भगवान् की अमृतोपम वाणी की महिमा को अपनी सहज-प्रभावी भाषा एवं अनुपम शैली में व्याख्यायित कर आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री ने श्रोताओं को जिस गीतामृत का पान कराया वह अविस्मरणीय है। अगस्त १९९५ से फरवरी २००० तक गीताजी पर केन्द्रित ५५ व्याख्यान 'मासिक प्रवचन' के अन्तर्गत पुस्तकालय कक्ष में ही दिए गए— यह हमारा परम सौभाग्य है। साहित्यिक-सामाजिक-राजनीतिक घोर व्यस्तताओं के बीच भी आचार्य शास्त्री ने प्रवचनों का क्रम भंग होने नहीं दिया—यह उनके दायित्व-बोध एवं गीता-निष्ठा को दर्शाता है। अन्तिम तीन प्रवचन तो उन्होंने हिमाचल-प्रदेश के राज्यपाल का गुरुतर दायित्व सम्हालने के बाद दिए।

जटिल एवं असंभव-सा प्रतीत होनेवाला कार्य जब पूर्ण होता है तब जिस प्रकार के आनन्द की प्रतीति होती है, वैसी ही अनुभूति गीता-परिक्रमा खंड-३ के प्रकाशन के अवसर पर हमें हो रही है। इस खंड के प्रकाशन के साथ हमारे संकल्प का प्रथम चरण पूरा हुआ — यह हमारे लिए परम संतोष की बात है। लेकिन शास्त्रीजी के अन्य अप्रकाशित साहित्य को प्रकाशित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य अभी बाकी है — उनके महत्त्वपूर्ण व्याख्यान, अप्रकाशित निबन्ध, विशिष्ट साहित्यकारों द्वारा शास्त्रीजी को लिखे गए महत्त्वपूर्ण पत्र — इन सभी को पुस्तकाकार प्रकाशित करने के उपरान्त ही हमारा सत्संकल्प पूरा होगा। 'गीता परिक्रमा' के दो खंडों के प्रकाशन से सुधी

पाठकों की जो सकारात्मक प्रतिक्रिया हमें प्राप्त हुई है उससे ऊर्जा प्राप्त कर हम इस दिशा में सार्थक कदम उठा पायेंगे — ऐसा हमारा विश्वास है। वस्तुतः हमारी इच्छा है कि शास्त्री जी के संपूर्ण रचना संसार को 'समग्र' के रूप में साहित्य जगत् के सामने लाया जा सके।

कैसेट से लिपिबद्ध किए गए इन गीता-प्रवचनों को संयोजित-संपादित करने तथा उनके उद्धरणों को खोज कर शुद्ध रूप में प्रस्तुत करने के परिश्रम-साध्य कार्य में मुझे निष्ठापूर्वक सहयोग दिया है पुस्तकालय के मार्गदर्शक श्री जुगल किशोर जैथलिया ने। पुस्तकालय के व्यवस्थापट्ट मंत्री श्री महावीर बजाज का समर्पण भाव इन तीनों खंडों के प्रकाशन में बार-बार परिलक्षित होता रहा है। इस खंड की प्रेस-पांडुलिपि तैयार करने में कदम-कदम पर आनेवाली तकनीकी एवं व्यावहारिक कठिनाइयों के हम तीनों साक्षी रहे हैं। लेकिन आज जब यह 'तृतीय खंड' प्रकाशित हो रहा है, 'गीता-परिक्रमा' की प्रकाशकीय परिक्रमा पूरी हो रही है — आचार्य शास्त्री से सुनी एक पंक्ति बार-बार याद आ रही है — *'क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते'* यानी 'किसी बड़े काम को सम्पन्न करने हेतु मिला कष्ट फल-प्राप्ति के उपरान्त पुनर्नवता में रूपान्तरित हो जाता है; क्लेश ताज़गी में बदल जाता है।' यह ताज़गी आगामी योजनाओं के लिए प्रेरक बने—भगवान् से यही प्रार्थना है।

ग्रंथ-सम्पादक डॉ० नरेन्द्र कोहली ने अपनी तमाम व्यस्तताओं-सक्रियताओं के बावजूद 'गीता-परिक्रमा' के तीनों खंडों के प्रकाशन के दौरान अपना आन्तरिक सहयोग, परामर्श एवं संपादकीय स्पर्श प्रदान किया है। दूसरे खंड के आरंभ में डॉ० कोहली के संपादकीय को पढ़कर अनेक सुधी पाठकों की उल्लासपूर्ण प्रतिक्रिया हमें प्राप्त हुई है। इस खंड में भी कोहलीजी ने विद्वत्तापूर्ण सम्पादकीय लिखकर ग्रंथ की महिमा को बढ़ाया है। पुस्तकालय परिवार की ओर से डॉ० कोहली के सक्रिय सहयोग के प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

पुस्तकालय की ओर से डॉ. उषा द्विवेदी (अब दिवंगता), श्रीमती स्नेहलता बैद तथा श्रीमती रेणु गोरीसरिया की निष्ठा के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करना हमारा कर्त्तव्य है जिन्होंने कैसेट से प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का अत्यन्त जटिल कार्य सम्पन्न कर प्रकाशन को सुगम बनाया।

हम विशेष आभारी हैं आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री की विदुषी सुपुत्री डॉ. भारती शर्मा के, जिनका सद्भाव पुस्तकालय परिवार को सदैव प्राप्त होता रहता है।

हम आभारी हैं प्रतिष्ठित समाजसेवी तथा अनन्य साहित्यानुरागी श्री नन्दलाल

शाह तथा उनके अमेरिका-प्रवासी सुपुत्र श्री किसलय शाह के, जिन्होंने पिछले दो खंडों की तरह इस तीसरे खंड के प्रकाशन हेतु भी आर्थिक सौजन्य प्रदान किया है।

तमाम सावधानियों एवं विशेष सजगता के बाद भी ग्रंथ में त्रुटियों का रह जाना अस्वाभाविक नहीं है, आशा है सुधी पाठक इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करेंगे ताकि पुनः मुद्रण के समय हम उसे ठीक कर सकें। प्रथम खंड में रह गयी कतिपय त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया था जिसे हमने दूसरे संस्करण में सुधार लिया है।

ग्रंथ की उपादेयता बढ़ाने हेतु हमने इस खंड के अंत में अध्याय १३ से १८ तक का मूल पाठ जोड़ा है तथा संपूर्ण गीता की श्लोकानुक्रमणिका भी प्रस्तुत की है। आशा है गीता-प्रेमियों एवं शोधकर्त्ताओं, सभी के लिये यह बहुत उपयोगी सिद्ध होगी क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता भारत के अध्यात्म जगत् में ही नहीं विश्व-साहित्य में भी सर्वाधिक उद्धृत होने वाला भारतीय ग्रंथ है।

हमें विश्वास है कि कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की शृंखला में इस ग्रंथ को भी पाठकों का स्नेह-समादर प्राप्त होगा।

निवेदक

प्रेमशंकर त्रिपाठी

कार्तिक पूर्णिमा, सं० २०६८ वि.
१० नवम्बर, २०११ ई०

(प्रेमशंकर त्रिपाठी, *अध्यक्ष*)
श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय, कोलकाता

अनुक्रम

प्रवचन - ३७ : क्षेत्र और ज्ञान १
त्रयोदश अध्याय (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग) : श्लोक संख्या १ से ११

प्रवचन - ३८ : क्षेत्रज्ञ की ज्ञेयता एवं पुरुष-प्रकृति विवेक २७
त्रयोदश अध्याय (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग) : श्लोक संख्या १२ से २३

प्रवचन - ३९ : आत्म दर्शन के विविध मार्ग ४७
त्रयोदश अध्याय (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग) : श्लोक संख्या २४ से ३४

प्रवचन - ४० : त्रिगुण ही बन्धन के कारण ६४
चतुर्दश अध्याय (गुणत्रय विभाग योग) : श्लोक संख्या १ से १३

प्रवचन - ४१ : त्रिगुणातीत : कौन और कैसे ? ८३
चतुर्दश अध्याय (गुणत्रय विभाग योग) : श्लोक संख्या १४ से २७

प्रवचन - ४२ : जगत् और जीवात्मा का स्वरूप १०६
पंचदश अध्याय (पुरुषोत्तम योग) : श्लोक संख्या १ से ११

प्रवचन - ४३ : पुरुषोत्तम का स्वरूप १२५
पंचदश अध्याय (पुरुषोत्तम योग) : श्लोक संख्या १२ से २०

प्रवचन - ४४ : दैवी सम्पदा १४७
षोडश अध्याय (दैवासुर सम्पद् विभाग योग) : श्लोक संख्या १ से ३

प्रवचन - ४५ : आसुरी सम्पदा १७१
षोडश अध्याय (दैवासुर सम्पद् विभाग योग) : श्लोक संख्या ४ से १२

प्रवचन - ४६ : आसुरी सम्पदा के दुष्परिणाम और उनसे बचने का मार्ग १८८
षोडश अध्याय (दैवासुर सम्पद् विभाग योग) : श्लोक संख्या १३ से २४

प्रवचन - ४७ : श्रद्धात्रय एवं तदनुरूप आहार तथा यज्ञ २११
सप्तदश अध्याय (श्रद्धात्रय विभाग योग) : श्लोक संख्या १ से १३

प्रवचन - ४८ : तप, दान, ब्रह्मनिर्देश में श्रद्धा की भूमिका २३३
सप्तदश अध्याय (श्रद्धात्रय विभाग योग) : श्लोक संख्या १४ से २८

प्रवचन - ४९ : संन्यास और फल त्याग की सीमाएँ २५४
अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या १ से १२

प्रवचन - ५० : कर्म के हेतु, प्रेरक ज्ञान, प्रकार एवं कर्त्ता २७४
अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या १३ से २८

प्रवचन - ५१ : बुद्धि, धृति एवं सुख के त्रिविध भेद २९७
अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या २९ से ४०

प्रवचन - ५२ : स्वकर्म से प्रभु-पूजन द्वारा ब्रह्म लाभ की योग्यता ३११
अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या ४१ से ५३

प्रवचन - ५३ : ब्राह्मभूत के लक्षण एवं ईश्वर-शरणागति ३३५
अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या ५४ से ६३

प्रवचन - ५४ : प्रभु शरणागति ३५५
अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या ६३ से ७८

श्रीमद्भगवद्गीता मूल (संस्कृत) पाठ ३७९
(अध्याय १३ से १८)

गीता श्लोकानुक्रमणिका ३९१

प्रवचन-३७

क्षेत्र और ज्ञान

भाष्यकारों ने गीता के अठारह अध्यायों को छः-छः अध्यायों के तीन षटकों में बाँट दिया है— कर्म, भक्ति एवं ज्ञान। इसके अनुसार आज हम तीसरे षटक में प्रवेश करेंगे।

इस अध्याय से गीता में ज्ञान प्रधान विषयों का विवेचन आरंभ होता है जो अठारहवें अध्याय तक यानी गीता की पूर्णता तक चलता है। इस अध्याय का नाम है क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग। इसमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ (देह-आत्मा), प्रकृति-पुरुष एवं ज्ञान और ज्ञेय के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना हुई है।

इस अध्याय के आरम्भ के बारे में एक सवाल उठाया गया है कि अर्जुन ने कोई प्रश्न नहीं किया है लेकिन श्रीकृष्ण बोल रहे हैं। इसकी संगति कोई और होती तो अच्छा होता। द्वादश अध्याय में भक्ति-योग का निरूपण है। त्रयोदश अध्याय में ब्रह्मज्ञान और जो परम ज्ञेय तत्त्व है, उसकी विवेचना है। तो १२वें अध्याय से १३वें अध्याय में जाने के लिये अगर कोई और आधार होता तो यह ज्यादा संगत होता, ऐसा कुछ लोग मानते हैं।

कश्मीरी शैव परम्परा में गीता का जो पाठ है उसमें एक श्लोक उद्धृत किया गया है— अर्जुन के प्रश्न के रूप में। राधाकृष्णनजी ने अपने संस्करण में उसको उद्धृत किया है। लेकिन इसमें भी उन्होंने कहा कि शंकराचार्य ने, रामानुजाचार्य ने इस श्लोक को प्रामाणिक नहीं माना है, इसलिये उन्होंने उसमें इसकी संख्या नहीं दी। परन्तु 'इस्कान' ने अपने प्रकाशन में इसकी संख्या १ देकर इस अध्याय में ३४ की जगह ३५ श्लोक दिए हैं। यह मान्यता है कि गीता सप्तशती[1] है। सात सौ श्लोकों का इसमें

[1] 'इस्कान' द्वारा प्रकाशित गीता में भी श्लोक संख्या को ७०० ही रखने हेतु प्रथम अध्याय के श्लोक संख्या २६ एवं ३६ में तीन-तीन पंक्तियाँ शामिल कर अध्याय के श्लोकों की संख्या ४७ की जगह ४६ रखी है।

* त्रयोदश अध्याय (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग) : श्लोक संख्या १ से ११

समुच्चय है। अगर इस श्लोक को मान्यता दी जायेगी तो इसमें सात सौ एक श्लोक हो जायेंगे। इसलिये बहुत से लोग इस श्लोक को स्वीकार नहीं करते। यह श्लोक है–

'प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव।।'

अर्जुन ने पूछा कि मैं प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय को जानना चाहता हूँ। हे श्रीकृष्ण! आप बताइये। स्पष्ट लगता है कि तेरहवें अध्याय का जो विषय है उस विषय को जान कर यह श्लोक रचा गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस श्लोक, इस प्रश्न के उत्तर में १३वां अध्याय कहा गया है।

आचार्यों का कहना है कि प्रश्न किया जाये और तभी बोला जाये ऐसा हर समय नहीं होता। जो अपना अत्यन्त स्नेहभाजन है, अत्यन्त प्रिय है, जिसके मंगल की हमको कामना है, उसको उसके हित की बात बिना पूछे भी बतायी जाती है। माता-पिता अपने पुत्र को, गुरुजन अपने शिष्य को, उसके मंगल के लिये उसके सवाल के बिना भी हितकर बातें बताते हैं। इसलिये यह कोई बड़ा व्यवधान नहीं है कि प्रभु बिना पूछे बोल रहे हैं। यह हुई एक बात। दूसरी बात— यह मानना भी ठीक नहीं है कि १२वें अध्याय में जो कहा गया है उसके साथ १३वें अध्याय की संगति नहीं बैठती है। बिल्कुल संगति बैठती है। अब आप देखिये— १२वें अध्याय में कहा गया है कि भक्ति-योग बहुत ही श्रेष्ठ योग है। भगवान् को प्राप्त करने के लिये उत्तम साधन के रूप में भक्तियोग का निरूपण है। जिसकी भक्ति की जानी चाहिये उसके स्वरूप का भी निरूपण होना चाहिये। अतः द्वादश अध्याय में जिसकी भक्ति का निर्देश है, त्रयोदश अध्याय में उसके स्वरूप का निरूपण है। भजनीय का जो स्वरूप है; तत्त्वतः उस स्वरूप को निरूपित किया है त्रयोदश अध्याय में। कुछ लोग यह कहते हैं कि द्वादश अध्याय में भगवान् के निर्गुण-निराकार रूप का केवल दो श्लोकों में संकेत है इसलिये उसको कुछ विस्तार से इसमें बताया गया है। लेकिन एक बात और भी है। इस पूरे अध्याय से १८वें अध्याय तक — जो कुछ १२वें अध्याय तक कहा गया है उसे उसकी पूर्णता को पहुँचाया जायेगा। भजनीय का जो स्वरूप है वह तो बताया ही जायेगा, यह भी बताया जायेगा कि भक्त और भजनीय एक ही हैं *'तत् त्वं असि'*।

मेरे गुरुजी ऐसा कहते हैं कि पहले अध्याय से छठे अध्याय तक— *'त्वं'* पदार्थ प्रधान निरूपण है— यानी अर्जुन का समाधान करने के लिये आत्मा को प्रधानता देते हुए उसका निरूपण किया गया है। आत्मा का स्वरूप क्या है? जीव का स्वरूप क्या है? साथ ही अर्जुन को जो भय लग गया था कि वह मरेगा, कि मारेगा— उसके इस

भय का निराकरण किया गया है। बताया गया है कि जो ज्ञाता है वह तो मार कर के भी नहीं मारता, वह मरता ही नहीं, वह तत्त्व जरा-मरण, जन्म-मृत्यु के परे है। तो 'त्वं' पदार्थ का निरूपण पहले ६ अध्यायों में है। दूसरे छह अध्यायों में 'तत्' पदार्थ की प्रधानता है, यानी भगवत्सत्ता का निरूपण सातवें से बारहवें अध्याय तक है। 'तत्' प्रधान और 'त्वं' प्रधान इन दोनों की एकता का निरूपण १३वें से १८वें तक है।

आपलोगों ने छान्दोग्य उपनिषद् का वह प्रसिद्ध वाक्य सुना होगा— *'तत्त्वमसि'। तत्* – जो परमात्मतत्त्व है। *त्वं* – तुम जो हो, एक ही हो। तुम्हीं वह हो। वह और तुम, तुम और वह— दोनों अभेद हैं। इस अभेदता का निरूपण इसमें किया गया है। तो *त्वं* पदार्थ और *तत्* पदार्थ का निरूपण कर देने के बाद, दोनों की एकता का निरूपण जो अभीष्ट है, वह भगवान् अर्जुन को समझा रहे हैं। और इसको समझाने के लिये उन्होंने यह भी बताया है कि हमें अपने भीतर की बातों को ठीक-ठीक जानना चाहिये। भीतर की बातों को जानने के लिये वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेक कह रहे हैं। विवेक शब्द को मैंने कई बार समझाया होगा। सच और झूठ मिला हुआ है तो सच क्या-क्या है, झूठ क्या-क्या है, इसको अलग कर लेना विवेक है। सत् और असत् का, चित् और अचित् का, जड़ और चेतन का विवेक कर लेना, उसको अलग-अलग करके समझ लेना– यह बहुत आवश्यक है। जैसे खिचड़ी सूखी हो तो दाल-दाल अलग कर ली, चावल-चावल अलग कर लिया तो वहाँ चावल और दाल का विवेक है। हमलोग अपने को भ्रान्ति के कारण क्या मानते हैं? हमलोग अपने को यह शरीर मानते हैं। क्या हमलोग यह शरीर हैं? अगर यह शरीर हम नहीं हैं तो हम क्या हैं– यह शरीर क्या है? इस बात को इसमें बहुत अच्छी तरह से अधिकारपूर्वक समझाया गया है। श्रीभगवानुवाच–

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। (१३/१)

हमलोग अपना अनुभव कैसे करते हैं? हमलोग अपना अनुभव इस शरीर के माध्यम से करते हैं और इसका एक नाम भी है। यह शरीर क्या है? भगवान कहते हैं- *– इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम् इति अभिधीयते* – हे कौन्तेय! हे कुन्ती के पुत्र! हे अत्यन्त प्रतिभाशाली, मेधावी बुद्धिमान् अर्जुन! इस बात को भलीभाँति तू समझ कि – *इदं शरीरं क्षेत्रम्* – यह शरीर क्षेत्र है ऐसा कहा जाता है। *अभिधीयते* माने, अभिधान के द्वारा नाम देकर इसके विषय का अनुभव किया जाता है। क्या बताया? पहली बात बताई कि यह *'इदं'* है। जो इदं है वह दृश्य है। जो द्रष्टा है– देखनेवाला है वह दृश्य से

अलग है। द्रष्टा चेतन है, दृश्य जड़ है। *इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रम्* – यह जो शरीर है यह शरीर क्षेत्र है। शरीर क्यों कहा? *शीर्णते यत्*। जो शीर्ण होता रहता है, जो बदलता रहता है। शरीर की छः स्थितियाँ होती हैं– जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति। *जायते* – बच्चा पैदा हुआ। *अस्ति* – है – हम भी अस्ति हैं। *वर्धते* — फिर बच्चा बड़ा होता है। छोटे बच्चों को आप देखिये – प्रत्येक क्षण वर्धमान— फिर *विपरिणमते* – फिर वह अपने रूप में परिणाम को प्राप्त करते हैं। शिशु – शिशु से किशोर होते हैं, किशोर से तरुण होते हैं, तरुण से युवा होते हैं, युवा से प्रौढ़ होते हैं – वे परिणाम को प्राप्त हुए। *अपक्षीयते* – उसके बाद वे धीरे-धीरे क्षीण होते हैं। वृद्ध हो गये। और फिर *विनश्यति* – श्री राम नाम सत्य है – उनका नाश हो जाता है। इस प्रकार शरीर की छः स्थितियाँ होती हैं। तो यह जो बदल रहा है यह क्षेत्र है। क्षेत्र की परिभाषा है– *क्षयात् क्षेत्रम्*, जो नष्ट होगा वह क्षेत्र है। *क्षतत्राणात् क्षेत्रम्* – जो क्षरण करता रहता है। शरीर से क्षरण होता रहता है – पसीना, मल-मूत्र आदि-आदि निकलते ही रहते हैं। *क्षयात् त्रायते क्षीणोति इति क्षेत्रम्* — जो क्षीण कर देता है वह भी क्षेत्र और जो क्षत से रक्षा करता है वह भी क्षेत्र।

अब आप देखिये— क्षेत्र खेत को भी कहते हैं। जैसे खेत में बीज बोया जाता है और बीज अंकुरित होता है, फल मिलता है वैसे यह शरीर भी खेत है। इसमें हम अच्छे-बुरे कर्मों का बीज बोते हैं और उन अच्छे-बुरे कर्मों का फल भोगते हैं। तो क्षेत्र क्यों कहा है इसको ? इसके कई अर्थ बताये गये हैं, इसकी कई व्युत्पत्तियाँ बताई गई हैं। इनमें से दो-तीन व्युत्पत्तियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। *क्षीणीति*– ये क्षेत्र हमको क्षीण कर देता है। कैसे क्षीण करता है? सीमित करके, परिछिन्न करके। कैसे सीमित-परिछिन्न करता है? हम अपने को इस साढ़े तीन हाथ के शरीर के साथ एक कर लेते हैं तो हम साढ़े तीन हाथ के हो जाते हैं। हम जो व्यापक हैं, हम जो अजर-अमर हैं, हम अपने को सीमित कर लेते हैं, परिछिन्न कर लेते हैं। लेकिन यही शरीर हमारे लिये *'साधन धाम, मोच्छ कर द्वारा'* (रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड ४२/६) है। इसलिये हमारे क्षत का वह त्राण करता है। इसलिये हमारे लिये मंगलकारी भी है। यह शरीर एक ही साथ हमको परिछिन्न भी करता है, छोटा भी करता है, बाँधता भी है और एक ही साथ यह सुविधा भी देता है कि इससे हमारा परम मंगल हो सके, हमको मुक्ति तक प्राप्त हो सके। यह एक ही साथ भोगायतन भी है और साधन-धाम भी है। हम असंख्य पूर्व जन्मों में जो अच्छे-बुरे कर्म करते रहे हैं — उन असंख्य पूर्व जन्मों के जो बीज बोये गये हैं, उनका फल हमको मिलेगा। तो ये जो हम अच्छे-बुरे कर्मों का, बीज का फल

काटेंगे; जैसे खेत में बीज बोकर काटते हैं, वह भी है; और अगर हम इसमें साधन कर सकें, परम गुरु की कृपा से, तो इसमें हमारा मंगल भी हो सकता है। यह हमको केवल सीमित नहीं करता, साधना की भूमिका भी इसी शरीर से होकर है। इसलिये यह एक ही साथ भोगायतन भी है और साधन-धाम भी। अतः क्षेत्र अनेक अर्थों से महत्त्वपूर्ण है लेकिन यह जड़ है। यह दृश्यमान है। यह 'मैं' नहीं हो सकता। क्यों नहीं हो सकता ? इसके और भी कारण अभी बतायेंगे। तो यह मैं कौन हूँ? *'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः'।* विद् माने जानना। विद् धातु का अर्थ होता है जानना। इसीसे 'वेद' बना है – ज्ञान। *तद्विदः* – क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों को जो जानते हैं। तो क्षेत्र हुआ शरीर और क्षेत्र को जो जानने वाला है वह क्षेत्रज्ञ है। क्षेत्रज्ञ जानने वाला है, ज्ञाता है, चैतन्य है। यह जड़ नहीं हो सकता। शरीर जड़ है, दृश्य है। क्षेत्रज्ञ उसको जानने वाला – ज्ञाता है, चेतन है, द्रष्टा है।

इन दोनों के अन्तर को भलीभाँति समझना चाहिये। इस अन्तर को भूल जाने के कारण, कई बार हम, चैतन्य के गुण को क्षेत्र पर आरोपित करते हैं। जो क्षेत्र का गुण है वह चैतन्य पर आरोपित करते हैं। एक उदाहरण देकर बात समझाता हूँ। समझिये – लोहे का गोला है। लोहे का गोला तो काला-कलूटा, ठंडा, गोल आकार का। उसको आपने आग में डाल दिया। तो लोहे का गोला दहकने लग गया - लाल लाल। अब वह दहकता हुआ लोहे का लाल गोला प्रकाश भी दे रहा है। प्रकाश तो लोहे के गोले का धर्म नहीं है, प्रकाश तो अग्नि का धर्म है। अब उस लाल दहकते हुए लोहे के गोले को आप छुएँ तो आपका हाथ जल जायेगा। दाहकता तो लोहे का नहीं अग्नि का धर्म है और लोहे का गोला गोल है और हमको आग गोल दिखाई दे रही है। गोल होना तो आग का धर्म नहीं है। गोल होना तो लोहे का धर्म है जो आग पर आरोपित हो गया है। यानी दाहकता और प्रकाश – जो लोहे के गोले के धर्म नहीं हैं, लेकिन अग्नि के संयोग के कारण, जो अग्नि के धर्म हैं वे लोहे के गोले में आ गये हैं। गोल होना अग्नि का धर्म नहीं है लेकिन लोहे के गोले के संयोग के कारण अग्नि गोल दिखाई दे रही है। इसी प्रकार चैतन्य यानी क्षेत्रज्ञ की चेतना का प्रभाव शरीर पर, क्षेत्र पर आता है और जो क्षेत्र की सीमा है, क्षेत्र की जो परिछिन्नता है, जो कटा-छँटा छोटा सा है, उसकी सीमा चैतन्य – असीम चैतन्य पर आरोपित हुई है। क्या हम केवल शरीर मात्र हैं ? क्षेत्र क्या छोटा ही है? केवल एक शरीर? क्या इसीको क्षेत्र कहते हैं? भगवान् ने इस भ्रम को दूर करने के लिये आगे कहा है–

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। (१३/२/१)

केवल एक क्षेत्र नहीं, इस सृष्टि में जितने भी क्षेत्र हैं, केवल एक मनुष्य या केवल मेरा शरीर नहीं, ये जो सब लोग बैठे हैं, इन सबका शरीर, सारी सृष्टि का सारी दुनिया के लोगों का शरीर, ये सारा का सारा विश्व ब्रह्माण्ड— व्यापक, हजार-हजार नक्षत्रों वाला, हजार-हजार आकाशगंगा वाला – यह जो विराट ब्रह्माण्ड है, यह भगवान् का शरीर है, उनका क्षेत्र है; भगवान् इन सबके शरीर हैं और भगवान् ही इन सबके क्षेत्रज्ञ हैं। क्या भगवान् का और क्षेत्रज्ञ का पार्थक्य है? नहीं-नहीं। *'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि'* – दूसरे ही श्लोक में कहते हैं— मुझको ही क्षेत्रज्ञ समझो। देखो! क्षेत्रज्ञ की दो भूमिकाएँ हैं। एक— क्षेत्रज्ञ जब जड़ के साथ अपने को जोड़ता है तो सीमित हो जाता है। क्षेत्रज्ञ जब इस शरीर के साथ अपने को जोड़ता है – मैं विष्णुकान्त शास्त्री, मेरा यह नाम, मेरा यह शरीर — तो क्षेत्रज्ञ रूपी जो चैतन्य मेरे भीतर है, वह चैतन्य जब इस नाम और इस रूप के साथ अपने को जोड़ता है तो वह अपने को सीमित अनुभव करता है। वही क्षेत्रज्ञ, वही चैतन्य जब प्रभु के साथ, ब्रह्म के साथ अपने को जोड़ता है तो अपने को असीम अनुभव करता है। तो क्षेत्रज्ञ का एक पक्ष उसको सीमाबद्ध करता है, जड़ के साथ जोड़ कर; और दूसरा पक्ष परम चैतन्य के साथ जोड़कर उसको असीम बनाता है।

क्या क्षेत्रज्ञ अलग-अलग है? इस पर बहुत बड़ा शास्त्रार्थ है। भगवान् शंकराचार्य ने १३वें अध्याय के आरम्भ में लम्बा विवेचन करके यह सिद्ध करना चाहा है कि क्षेत्रज्ञ अलग-अलग प्रतीत होते हुए भी वास्तव में एक ही है। उनका कहना है कि ये जो तमाम क्षेत्र हैं, ये क्षेत्राभास हैं। वह जो विश्वब्रह्माण्ड है वह भी क्षेत्राभास मात्र है और ये अलग-अलग दृष्टि से अलग-अलग शरीरों में जो क्षेत्रज्ञ प्रतीत होते हैं— ये वास्तव में एक ही हैं। ये अलग-अलग क्यों प्रतीत होते हैं? जैसे घटाकाश और मठाकाश और महाकाश। हमारे भीतर भी एक कोरापन है उसको हम घट का आकाश कहते हैं, जो इस घट से, इस शरीर से सीमित है। अब इस मठ की चहारदीवारी— अगर कोई मठ हो, आंगन हो, उसकी चहारदीवारी है तो मठ के भीतर से जो आकाश दिखता है, वह कितना दिखता है? छोटा दिखता है। वह मठाकाश। और वह जो महाकाश है – क्या मठाकाश और महाकाश अलग-अलग हैं? मठ की उपाधि के कारण वह मठाकाश छोटा दिखता है लेकिन वह मठाकाश तो महाकाश से अभिन्न है। कबीरदास का दोहा है—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना, यह तथ कथ्यो गियानी।।

नदी में घड़ा है, घड़े में पानी है। तो जो पानी नदी का है वही घड़े का है। घड़े की अलग सीमा से वह पानी अलग प्रतीत होता है। उस सीमा से क्या दोनों पानी अलग-अलग हो जायेंगे? वह सीमा झूठी है। सीमा टूटी कि दोनों पानी एक हैं। ठीक इसी तरह से हमने जो अपने को सीमित मान रखा है वह घटाकाश, या अपने मकान से जो हम देख रहे हैं, आकाश का जो छोटा सा हिस्सा वह मठाकाश, उसी महाकाश का अभिन्न अंश है। वह महाकाश ही है जो मठाकाश और घटाकाश के रूप में हमको परिछिन्न, सीमित सा प्रतीत होता है। शंकराद्वैत के अनुसार जगत् के ये विभिन्न क्षेत्र, अपने अधिष्ठान में अपने अभाव में भास रहे हैं। यह बड़ा कठिन शब्द है— इसे समझना चाहिये। जैसे आप अन्धेरे में एक रस्सी को देख रहे हैं और आपको अंधेरे के कारण वह रस्सी साँप सी लग रही है। आपको साँप उसी रस्सी में दीख रहा है। तो साँप का अधिष्ठान क्या है? वह रस्सी है। जो रस्सी है वह साँप तो है नहीं। तो साँप अपने अधिष्ठान रस्सी में दिख रहा है, प्रतीत हो रहा है— अपने अभाव में भी। साँप का अभाव है, लेकिन अधिष्ठान है रस्सी। अधिष्ठान में, अभाव में साँप दिख रहा है, इसलिये वह साँप मिथ्या है। परमचैतन्य प्रभु में जो ये असंख्य क्षेत्र भासित हो रहे हैं, सब मिथ्या हैं। सत्य है चैतन्य। जैसे सत्य है रस्सी। रस्सी रूपी अधिष्ठान में अज्ञान के कारण अपने अभाव में साँप दिखाई पड़ रहा है, पर वहाँ साँप नहीं है, साँप का अभाव है। जैसे ही मालूम पड़ेगा कि वहाँ रस्सी है, साँप नहीं है, तो जैसे ही हमको यह मालूम पड़ता है कि परम चैतन्य ही एकमात्र तत्त्व है तो ये असंख्य जो क्षेत्र हैं ये क्षेत्राभास होकर मिथ्या हो जाते हैं और क्षेत्रज्ञ ब्रह्म ही हो जाता है — शांकर-अद्वैत इसको स्थापित करता है और उसमें वे कहते हैं — *क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि* — इसका मतलब हुआ कि क्षेत्र भी मैं हूँ, क्षेत्रज्ञ भी मैं हूँ और ब्रह्म भी मैं हूँ। अपने अधिष्ठान के अभाव में ही ये समस्त क्षेत्र दिखते हैं, इसलिये मिथ्या हैं। उन्होंने बड़ा लम्बा-चौड़ा विवेचन किया है।

रामानुजाचार्य ने भी अपने गीता-भाष्य में विस्तृत विवेचन किया है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि यह जड़ नहीं है अचित् है। शंकराचार्य कहते हैं— जड़ है, द्रष्टा चेतन है, अपने अधिष्ठान के अभाव में जड़ दिखता है, इसलिये जड़ मिथ्या है और एक ही अद्वैत तत्त्व है। रामानुजाचार्य कहते हैं कि नहीं, यह जगत् जो है यह अचित् तत्त्व है-- चेतन इसका दिखाई नहीं पड़ता, अचित् है। और जीव, जो क्षेत्रज्ञ है, वह चित् तत्त्व है, चेतन है। ये दोनों चित् और अचित् मिल कर प्रभु के शरीर हैं। चित्-अचित् विशिष्ट होकर अद्वैत प्रभु हैं। वे भी अद्वैत कहते हैं लेकिन कहते हैं— विशिष्टाद्वैत।

विशिष्टाद्वैत माने? जो विशेषण से युक्त होता है उसको कहते हैं विशिष्ट। तो चित्-अचित् विशेषण से जो विशिष्ट है – चित् और अचित् के शरीर-रूपी विशेषणों को धारण करने वाला वह चैतन्य ब्रह्म, चित् और अचित् उसके शरीर को धारण किये हुए हैं, इसलिये वह चित् और अचित् से युक्त एक ही परम तत्त्व विशिष्टाद्वैत है। जैसे कहा – नीलकमल। तो कमल से नीलिमा अलग है क्या? कमल से रहित नीलिमा कोई दिखा सकता है? जैसे नीलिमा कमल का ही अनिवार्य रूप है, अनिवार्य-अभिन्न अंग है, वैसे ही परमात्मा से अलग कुछ चित्-अचित् नहीं है। ये चित्-अचित् परब्रह्म परमात्मा का शरीर है और यह सत्य है। जितने भी वैष्णव हैं वे रामानुज को इस स्थापना को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि यह जो जगत् है, जिसको क्षेत्र कहते हैं— विराट् क्षेत्र – यह भगवान् का लीलाधाम है – यह भी असत्य नहीं है; यह भी सत्य है और एक-एक उसमें जो जीव है वह भी सत्य है और जो परमात्मा है वह भी सत्य है। परमात्मा परब्रह्म चित् और अचित् से विशिष्ट होकर एक है। खैर, दोनों बड़े आचार्य हैं, मैंने दोनों की ही थोड़ी-थोड़ी बात आपको बताई है, लेकिन मूल बात दोनों सिर्फ यह बताते हैं कि हम अपने को क्षेत्र न मानें। हम क्षेत्र नहीं हैं। क्षेत्र जो है, यह चाहे जड़ है चाहे अचित् है, हम जो चेतन हैं, इससे अलग हैं और इसलिये कहा कि—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । (१३/२/१)

और समस्त क्षेत्रों में प्रभु ही क्षेत्रज्ञ हैं। समस्त क्षेत्रों के ज्ञाता प्रभु हैं। समस्त जीवों के अन्तर्यामी प्रभु हैं। अचित् शरीर की आत्मा – क्षेत्रज्ञ। और क्षेत्रज्ञ की आत्मा? प्रभु। तो क्षेत्रज्ञ की भी जो आत्मा हैं, वे प्रभु हैं। वे परम क्षेत्रज्ञ, सारे संसार का रहस्य जानने वाले, उसके वास्तविक ज्ञाता प्रभु हैं। सब क्षेत्रों में वे ही एक हैं, ऐसा प्रमाणित करने के बाद यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, यह मेरा ज्ञान है। जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को समझ लेगा वह मुझको भी समझ लेगा। क्षेत्र को समझो, क्षेत्रज्ञ को समझो और मुझको समझो। सप्तम अध्याय में भगवान् ने कहा कि यह अपरा प्रकृति है। पाँच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार— ये आठ अपरा प्रकृति हैं और जीव जो है यह परा प्रकृति है। *'ययेदं धार्यते जगत्'* जिसके द्वारा जगत का धारण होता है और प्रभु जो हैं वे पुरुषोत्तम हैं। इस बात को और विस्तार से १५वें अध्याय में समझाया जायेगा – अभी केवल उसकी भूमिका है। प्रभु कहते हैं कि जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान है, वह मेरा ही ज्ञान है इसलिये इसको भलीभाँति समझना चाहिये।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम। (१३/२/२)

इसको भली-भाँति समझाने के लिये प्रभु कहते हैं–

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।। (१३/३)

समास माने थोड़े में। व्यास कहते हैं– फैला कर बोलना। तो प्रभु यहाँ कह रहे हैं कि मैं समास में, थोड़े में, संक्षेप में समझाऊँगा। इसको ध्यान से सुनो। क्या-क्या समझाऊँगा – *तत्क्षेत्रं यच्च* – वह क्षेत्र जो है। *यादृक्च* – जैसा है। *यद्विकारि* – उसके जो-जो विकार हैं। *यतश्च यत्*— जिससे जो वह होता है। *स च यो यत्प्रभावश्च* - और उस क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र का जो प्रभाव है– सब मैं थोड़े में बताऊँगा। क्या-क्या बतायेंगे? क्षेत्र कैसे बनता है, क्षेत्र का स्वरूप क्या है, क्षेत्र में विकार क्या है, क्षेत्र का स्वभाव क्या है? ये सब बतायेंगे। प्रभु यह नहीं कहते कि मैं जो समझूंगा वह बताऊँगा। एक बात पर आप फिर ध्यान दें। हमलोगों की परम्परा यह नहीं है कि मुझको अलल्टप जो भी ज्ञान हो गया और मैंने जो कहा, वह आप मान लें। ऐसा नहीं है। अगर वह ज्ञान है तो ज्ञान की परम्परा होती है। उस स्थिति को कोई भी समझ सकता है – आप भी समझ सकते हैं– हमारे पुरखों ने भी समझा – श्रीकृष्ण ने भी समझा, और अगर हम सद्गुरु की कृपा प्राप्त करें तो हम भी उसे समझ सकते हैं। यह निरूपित ज्ञान है। युक्तियुक्त ज्ञान है। मैं इस ज्ञान की साक्षी देता हूँ। जैसे कबीरदास साक्षी देते हैं कि गुरु ने जो बताया, उसकी गवाही दे रहा हूँ। भगवान् कहते हैं कि यह बात जो मैं तुम्हें बताने जा रहा हूँ– यह पहले-पहल मुझे ही ज्ञात हुई है, ऐसा नहीं है। यह दीर्घ परम्परा है। उस परम्परा-सम्मत ज्ञान को मैं बताने जा रहा हूँ। परम्परा है—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।। (१३/४)

यह ज्ञान, *छन्दोभिः विविधैः पृथक्,* अलग-अलग छन्दों में यह ज्ञान उल्लिखित है। यह वैदिक ज्ञान है। इसको नाना ऋषियों ने विविध शास्त्र ग्रन्थों में भी प्रमाणित किया है। और फिर जो वेदों में कहा गया, उपनिषदों में कहा गया या फिर दूसरे शास्त्रीय ग्रन्थों में कहा गया– उसकी एक-वाक्यता का निर्वाह करने के लिये ब्रह्मसूत्र पदों में युक्तियुक्त ढंग से उसको समझाया है। ब्रह्मसूत्र माने? *सूचनात्सूत्रम्।* ब्रह्म का जो सूचन करने वाले पद हैं उसको कहते हैं ब्रह्मसूत्र पद। भगवान् वेदव्यास ने ब्रह्मसूत्र की भी रचना की, भगवान् वेदव्यास ने महाभारत की भी रचना की। उसीका अंग है यह गीता। तो भगवान् श्रीकृष्ण जब यह निरूपित कर रहे थे, तब तक ब्रह्मसूत्र की वेदव्यास रचना कर चुके थे। तो उन्होंने कहा कि जो वेदों में बताया गया, उपनिषदों में

बताया गया– उसकी एक-वाक्यता करने के लिये ब्रह्मसूत्र रचे गये — जो बहुत ही युक्तियुक्त हैं, तर्क संगत ढंग से जो सत्य है, उसका निरूपण किया गया है, उसको मैं संक्षेप में तुमको समझा रहा हूँ। तो यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस महत्त्वपूर्ण ज्ञान की जो प्रक्रिया है वह पारम्परिक है, उसका अनुभव किया जा सकता है। उस ज्ञान का निरूपण करने के बाद तुम भी उसका अनुभव करो। ज्ञान केवल बौद्धिक सन्तोष के लिये नहीं है, यह केवल शाब्दिक जमा-खर्च नहीं है। यह जो बताया जा रहा है, यह जीवन में उतरना चाहिये, अनुभव में आना चाहिये और उस अनुभव के अनुरूप हमको अपना आचरण निर्धारित करना चाहिये।

पहली बात है – कारण क्षेत्र। जैसे हमारा-आपका छोटा-छोटा शरीर है वैसे ही विश्व-ब्रह्माण्ड है। *'यत्पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे'*। यानी जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। पिण्ड में सीमितरूप से हम एक क्षेत्रज्ञ की बात कहते हैं, जब वह अपने को सीमित मान लेता है। ब्रह्माण्ड में, उस विशाल शरीर के क्षेत्रज्ञ प्रभु हैं। तो जो ब्रह्माण्ड में है वह भी क्षेत्र है, जो ब्रह्माण्ड है वह भी क्षेत्र है और जो पिण्ड है वह भी क्षेत्र है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही बात है– इस बात को बार-बार सावधान करके समझाया गया है। तो क्या है जो ब्रह्माण्ड का भी मसाला है और इस पिण्ड का भी मसाला है? कोई मसाला है जिससे परमात्मा ने यह पिण्ड भी बनाया और ब्रह्माण्ड भी बनाया। वे हैं–

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।। (१३/५)

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त प्रकृति – ये आठ तो हैं क्षेत्र का कारण। इनसे यह क्षेत्र बनता है और फिर *'इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः'* – ये क्षेत्र जिनमें काम करना है, जिनके माध्यम से काम करना है, वे हैं दस इन्द्रियाँ। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। बाहर की चीजों को भीतर लाने वाला जो हमारा यन्त्र है वह है ज्ञानेन्द्रिय। रूप को आँख देखती है, शब्द को कान सुनता है, गन्ध को नाक ग्रहण करती है, स्पर्श को त्वचा ग्रहण करती है और स्वाद को रसना ग्रहण करती है। तो ये पाँच जो विषय हैं इन्द्रियों के— शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध – उनको ग्रहण करने वाली पाँच इन्द्रियाँ और जो भीतर का निर्णय होता है उसको क्रियान्वित करने वाले – पाँच औजार – जिनको हम कर्मेन्द्रिय कहते हैं वे हैं— हाथ, पाँव, वाणी और मल-मूत्र त्याग करने के स्थान।

आप इस बात पर ध्यान दीजिये। आँख केवल रूप ही देख सकती है। आँख गन्ध नहीं सूँघ सकती। नाक केवल गन्ध सूँघेगी लेकिन देख नहीं सकेगी। त्वचा स्पर्श

पा सकेगी लेकिन सुन नहीं सकेगी। यानी एक-एक विषय, एक-एक तन्मात्रा पंचमहाभूत की एक-एक इन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय को प्राप्त हुई है। परन्तु मन में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अपंचीकृत रूप में, अपने मूल रूप में हैं, इसलिये मन एक-एक करके पाँचों विषयों को सुनता है, जानता है। मन आँख से देखता है, लेकिन जब वह मन आँख से देखता है तब वह सूँघता नहीं है। मन एक समय एक ही काम कर सकता है। या तो वह देखता है या सूँघता है या स्पर्श करता है या स्वाद लेता है। हमको लगता है हम सब एक साथ कर रहे हैं। नहीं। मन की इतनी तीव्र गति है कि हमको वह एक साथ जैसा लगता है, लेकिन वास्तव में मन एक-एक इन्द्रिय से एक-एक विषय को एक समय ग्रहण करता है। तो दस इन्द्रियाँ हैं, और एक मन, ग्यारहवां और फिर *पंच चेन्द्रिय गोचराः* — इन्द्रिय के जो पाँच विषय हैं। हमारे ऋषियों ने कहा है कि यह पाँच विषयों में सीमित है। इसमें शब्द है, स्पर्श है, रूप है, रस है, गन्ध है। इतने विशाल ब्रह्माण्ड में कोई छठा विषय नहीं है। या तो आँख से हम रूप देख रहे हैं, या कान से उसका शब्द सुन रहे हैं, रसना से उसका स्वाद ले रहे हैं, नासिका से गंध सूंघ रहे हैं और त्वचा से स्पर्श पा रहे हैं। ये सब एक-एक गुण हैं। आकाश का गुण है- शब्द। वायु का गुण है— स्पर्श। अग्नि का गुण है— रूप। जल का गुण है—रस और पृथ्वी का गुण है—गंध। तो एक-एक तत्त्व का एक-एक गुण विषय बन कर हमको दिखाई पड़ता है। ठीक है, गुलाब में रूप भी है, गन्ध भी है, स्पर्श भी है। लेकिन आँख केवल उसके रूप को देखेगी, नासिका केवल उसकी सुगंध सूंघेगी, त्वचा उसको केवल स्पर्श ही करेगी। तो ये जो पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच तन्मात्राएँ। इस प्रकार कुल चौबीस तत्त्व द्वारा यह शरीर या क्षेत्र बना। ये चौबीस इस क्षेत्र के उपादान बने। इनका विकार क्या होता है? यह आगे बताते हैं—

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।। (१३/६)

ये जो हमको शरीर मिला, इस शरीर में हमको जो ये उपकरण मिले, इन उपकरणों के द्वारा जो विषय हम देखते हैं— इनमें, हमारे मन में कुछ पाने की इच्छा होती है। इच्छा यानी राग। जो हमको सुखकर अनुभव हुआ है उसको पाना चाहते हैं। उसके प्रति हमको राग होता है — यह इच्छा है। जो हमको दुखद अनुभव हुए हैं, उनसे हम बचना चाहते हैं, उनको हम दूर करना चाहते हैं, उनसे हमको द्वेष है। इच्छा के अनुकूल चीज मिलती है तो सुख है, इच्छा के प्रतिकूल स्थिति होती है तो दुःख है। संघात कहते हैं इन सबों को मिलाना। ये जितने भी घटक हैं उन घटकों का जो समुदाय

है, समवाय है, उसको कहते हैं—संघात। ये अलग-अलग पाँच महाभूत हैं, ये अलग-अलग पाँच विषय हैं, ये अलग-अलग दस इन्द्रियाँ हैं, ये अलग-अलग मन है, बुद्धि है, अहंकार है; इन सबको मिला कर इनका जो सामूहिक, समन्वित रूप है वह संघात है। जड़ क्षेत्र में जो चेतना है, प्राण है, जो हलचल है, जो क्रिया है यह आत्मा का धर्म नहीं है। यह क्षेत्र का विकार है। यह कैसा विकार है? यह चेतन होते हुए वास्तव में चैतन्य नहीं है। तो यह क्या है? चिदाभास है। आपलोगों ने बचपन में खेल किया होगा जहाँ धूप आती हो वहाँ अगर शीशा रखा जाये तो शीशे का प्रतिबिम्ब घर के भीतर चला जाता है। तो छोटे बच्चे कभी-कभी माँ को सताने के लिये उसकी आँख में शीशे का बिम्ब फेंकते हैं। अब वह जो भीतर प्रकाश गया, वह क्या है? वह सूरज नहीं है। वह शीशे के ऊपर उसका बिम्ब प्रकाश है। यह चिदाभास है। जैसे अग्नि का गुण दाहकता है और उसका गुण प्रकाश लोहे के गोले में आ गया। वैसे यह जो भीतर क्षेत्रज्ञ है, भीतर जो आत्मा है, भीतर जो चैतन्य है, उस चैतन्य का आभास शरीर पर पड़ गया और शरीर हलचल करने लगा, शरीर काम करने लगा। शरीर में प्राण आ गये। जैसे सूरज का, चन्द्रमा का आभास जल में पड़े तो वह सूर्य-चन्द्रमा तो नहीं है लेकिन वह भी प्रकाश थोड़ा देता है। यह चैतन्य तो नहीं है लेकिन ब्रह्मचैतन्य के सान्निध्य के कारण वह एक हलचल उत्पन्न कर देने में समर्थ हो गया, प्राणवत्ता आ गई, यह चेतना है। यह चेतना भी क्षेत्र का विकार है, यह भी जड़ का अंश है। वह चैतन्य, वह ब्रह्म, वह आत्मा का धर्म नहीं है।

'धृतिः' – केवल रामानुजाचार्य ने चेतना और धृतिः को एक किया है। धृतिः माने, इन सबको धारण करने वाला। महात्मा गांधी ने बताया कि ये सारे अणुओं-परमाणुओं को युक्त करने वाली क्षमता है। रामानुजाचार्य ने कहा कि *'धृतिः'* शब्द नहीं है *'आधृतिः'* है। चेतना धृतिः यदि एक साथ हो तो चेतन + आधृतिः – तो चेतनाधृतिः – आधृतिः माने आधार। सबको एक ही साथ जोड़ लेने वाला तत्त्व। लेकिन शंकराचार्य ने और दूसरे विद्वानों ने यह भी बताया कि धृतिः का मतलब भी धारण करना होता है। धृतिः का मतलब धैर्य भी और धृतिः का मतलब धारण करना भी। धर्म का मतलब भी धारण करना, धृतिः का मतलब भी धारण करना। तो ये सारी चीजें मिल कर एक हो गईं। सारे घटकों को मिलाकर एक करने वाला संघात यानी समवाय और वह धृति के कारण एक है। वह गुण जो इन तमाम अलग-अलग पंचमहाभूतों को, दसों इन्द्रियों को, पाँचों विषयों को, मन को, बुद्धि को, अहंकार को और अव्यक्त को मिला कर क्षेत्र में एक कर देता है वह धृति है।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।

संक्षेप में यह २४ तत्त्वों वाला क्षेत्र हो गया। आप गिन लीजिये– अव्यक्त–एक, अहंकार–दो, बुद्धि–तीन, मन–चार, फिर पाँच महाभूत कुल–नौ। इनमें दस इन्द्रियाँ जोड़ दीजिए–उन्नीस। फिर पाँच इन्द्रियों के विषय मिलाकर कुल २४ तत्त्व हुए। और २५वां तत्त्व है— प्रभाष, आत्मा या क्षेत्रज्ञ। सांख्य में, वेदान्त में, आत्मा को ही प्रधानता दी गई है। तो यह जो क्षेत्र है वह अपने विकारों के साथ युक्त है। विकार क्या हैं? इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना, धृति– ये सब विकार हैं। अब अगर हमको यह समझ में आये कि राग और द्वेष का, सुख और दुःख का द्वन्द्व विकार मात्र है, यह सच्चा नहीं है, यह वास्तविक नहीं है, यह विकृति है, तो हम इससे उबर सकते हैं। तो इन विकारों के साथ यह क्षेत्र है। इस क्षेत्र को जानने वाला जो है क्षेत्रज्ञ। क्षेत्र को जानना उतना कठिन नहीं है। समझा दिया गया है। क्षेत्रज्ञ को जानना बहुत कठिन है और इसलिये क्षेत्रज्ञ को समझने के लिये कुछ आधारभूत गुण आवश्यक हैं। उन आधारभूत गुणों को ज्ञान कहा गया है। ज्ञान क्यों कहा गया है? *'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्'* — जिससे जाना जाये वह ज्ञान है। यह करण की व्युत्पत्ति है। तो ज्ञान के साधन को भी ज्ञान कह देते हैं। वास्तव में ये ज्ञान के साधन हैं। ये होंगे तो ज्ञान होगा। ज्ञान प्राप्त करने के लिये कुछ साधन आवश्यक हैं। जैसे, अगर हम अणु को देखना चाहें तो क्या खाली आँख से देख सकते हैं? नहीं देख सकते। इसके लिये बड़े उपकरणों की आवश्यकता होती है। बिना उन उपकरणों के हम अणु को न तो देख सकते हैं, न उसको खंडित कर सकते हैं और न उसके द्वारा आणविक शक्ति का निर्माण कर सकते हैं। यानी तमाम उपकरण आवश्यक होते हैं अणु को देखने या खंडित करने के लिये। इसी तरह से–अणु तो बहुत दूर की बात है, रक्त में जो विकार है– इसे क्या हम खाली आँख से देख सकते हैं? लेकिन माइक्रोस्कोप से जब देखते हैं तब मालूम पड़ता है। इसी तरह से ज्ञान है। कुछ लोग कहते हैं हमने परमात्मा को नहीं देखा। अरे, तुम परमात्मा को ऐसे ही देख लोगे? किसी ने मुझसे पूछा, आपने परमात्मा को देखा है? मैंने कहा, नहीं देखा है। 'तो आप कैसे मानते हैं परमात्मा ? मैंने भी परमात्मा को नहीं देखा।' मैंने कहा– परमात्मा को देखने के लिये जो ज्ञान अपेक्षित है, वह है तुममें ? परमात्मा को जानने के लिये जो साधन अपेक्षित हैं, वे हैं तुममें ? कुछ किया न धरा और परमात्मा तुमको दिख जायेंगे। ऐसा कभी होता है? अतः क्षेत्रज्ञ को समझने के लिये जो गुण अपेक्षित हैं, अब उनका वर्णन हो रहा है।

सातवें श्लोक से ग्यारहवें श्लोक तक बीस गुणों का निरूपण है। इन बीस गुणों

के द्वारा ही हममें वह पात्रता आती है, जिस पात्रता से, जिस योग्यता से हम क्षेत्रज्ञ को समझ सकें। मैंने ईशावास्योपनिषद् का विवेचन करते समय बताया था कि आप ईशावास्योपनिषद् पढ़ लें तो समझ जायेंगे — ऐसा संभव नहीं होता। उसके लिये षट्-सम्पत्ति आपको अर्जित करनी पड़ेगी। तब आप उसे समझ सकेंगे। वैसे ही क्षेत्रज्ञ के ज्ञान को समझ पाने के लिये जिन आधारभूत गुणों की आवश्यकता है उनको दो तरह से देखा गया है — ये गुण होंगे तो आप क्षेत्रज्ञ को समझने की पात्रता प्राप्त कर सकेंगे, ज्ञानी हो सकेंगे, एक दृष्टि यह है। दूसरी दृष्टि यह भी है कि जो ज्ञानी होते हैं उनमें ये गुण होते हैं। ये ज्ञानियों के गुण हैं। ये बीस गुण बिना अर्जित किये, यानी जब तक ये बीस गुण नहीं आयेंगे तब तक हम ज्ञान को समझ नहीं सकेंगे। अगर हम ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, ज्ञान को समझना चाहते हैं तो हमको श्रद्धा के साथ इन बीस गुणों को समझना चाहिये, अर्जित करना चाहिये, और अपने जीवन में इन बीस गुणों को विकसित करना चाहिये। सातवाँ श्लोक है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।। (१३/७)

सबसे पहला गुण है— (१) *अमानित्वम्*— विष्णु सहस्रनाम में भगवान् का एक लक्षण यह भी बताया गया है *'अमानी मानदो मान्यो'*— भगवान् स्वयं तो हैं अमानी, दूसरे को मान देते हैं, और बड़े मान्य भी हैं। वे खुद अमानी हैं लेकिन सारी सृष्टि उनको मान देती है— मान्य करती है। तो जो सच्चा ज्ञानी होगा वह खुद होगा अमानी। अमानी शब्द के अर्थ को गम्भीरता से समझिये। अमानी शब्द का एक अर्थ तो हुआ— मान सम्मान की इच्छा नहीं है। मान को प्राप्त करने के लिये कोई छटपटाहट, कोई व्याकुलता नहीं है। इसलिये कहते हैं ये बड़े निरभिमान हैं, ये अमानी हैं। अमानी का अर्थ खाली इतना नहीं है। मान किसको कहते हैं? मान कहते हैं माप को। कहते हैं न मानदण्ड! तो मानदण्ड माने मान। किसका? आपका बड़ा मान हुआ। बड़ा मान हुआ माने किसी क्षेत्र में आपकी नाप-जोख आप जितने हैं उससे ज्यादा बड़ी हो गई। आपका कद बड़ा हो गया। विद्या के कारण, धन के कारण, कुलीनता के कारण, शील के कारण, रूप के कारण — अनेक कारणों से मान होता है। लेकिन किसी भी कारण से मान जो होता है वह आपको नाप-जोख करके सीमित कर देता है। चैतन्य जो है, अमानी है — उसकी नाप-जोख नहीं हो सकती। तुलसीदासजी ने कहा है, *'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं'* — ज्ञान की कोई मर्यादा, कोई माप नहीं है। अगर किसी भी मान में आप बँध गये तो आप अज्ञानी हैं। अपने अनुयायियों से आप चाहे जितनी माला पहन लें—

क्या आता-जाता है? आप अपने मान को पाकर फूल कर कुप्पा हो रहे हैं, ज्ञानी हँस रहे हैं कि आपने अपने को सीमित कर दिया है। वास्तविक ज्ञान तो असीम है, इसलिये किसी भी प्रकार का कोई भी मान वहाँ नहीं चलेगा।

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवम् ।
मानं चैव सुरापानं, त्रयं त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।।

प्रतिष्ठा तो शूकरी-विष्ठा के समान तुच्छ है, गौरव तो घोर रौरव नरक है, मान तो शराब पीने का नशा मात्र है— यह तो तुमको बाँधेगा, छोटा करेगा, सीमित करेगा। तुम तो अमानी हो। तुम्हारी कोई नाप-जोख नहीं हो सकती। तुम किसी सीमा में बँधे नहीं हो— *'अमानित्वम्'*। जब तुम अपने को सीमा में बाँध कर रखोगे तो तुम ज्ञानी नहीं हो सकते। ज्ञान का पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है कि अपने को किसी भी मान से बँधने मत दो। *अमानित्वम्।* असीम का ज्ञान तुमको असीम बनायेगा। असीम की ओर उन्मुख व्यक्ति किसी भी छोटे मान से अपने को बाँधे नहीं। मान पाने की लालसा मनुष्य के पतन की लालसा है। गार्हस्थ्य में रहते हुए मान आप तभी प्राप्त कर सकेंगे जब आप समाज के कल्याण के लिये कुछ करें। लेकिन यहाँ क्षेत्रज्ञ के ज्ञान का साधन बता रहे हैं। ब्रह्म ज्ञान का साधन बता रहे हैं। ब्रह्मज्ञान के साधन के रूप में किसी भी सीमा को स्वीकार करना अपने को छोटा बना देना, बौना बना देना है। कोई माप-जोख नहीं। ये साढ़े तीन हाथ का शरीर मैं नहीं। ये काले-पीले-नीले रंग वाला मैं नहीं। यह भाषा का ज्ञान रखने वाला मैं नहीं। नारायण! नारायण! सब प्रकार के मान, सीमाओं से परे, मैं असीम हूँ—*अमानित्वम्*। जो अमानी है, उसका लक्षण मुझमें हो।

(२) *अदम्भित्वम्।* दम्भ किसको कहते हैं? जो हम नहीं हैं लेकिन हम दिखाना चाहते हैं— उसको कहते हैं दम्भ। बहुत से लोग होते हैं न — सबके सामने पूजा करने लगते हैं। जब सब लोग देख रहे हैं तो ध्यान लगाये बैठे हैं। बगुला भगत। बगुला एक पाँव पर खड़ा है। बड़ा शुभ्र, स्वच्छ है, ध्यानमग्न है। लेकिन मछली को देखते ही गप। लोकदिखावे के लिये अगर आप ध्यान लगा रहे हैं, लोकदिखावे के लिये अगर आप ज्ञान का प्रवचन कर रहे हैं, लोकदिखावे के लिये अगर आप तिलक लगा रहे हैं, विभूति रमा रहे हैं, जोगिया-वस्त्र पहन रहे हैं— यह सब दम्भ है। दम्भ से भगवान् नहीं रीझ सकते। दम्भ से भगवान् का ज्ञान नहीं होगा। दम्भ, दिखावा, पाखण्ड, यह ज्ञान का साधन नहीं है, यह अज्ञान का साधन है। तो क्या होना चाहिये – *अदम्भित्वम्।* दम्भ का बिल्कुल अभाव। कुछ दिखाने के लिये हम न करें। सहज रूप से करें। विश्वास से करें। हम कोई कार्य कर रहे हैं — कोई आ जाये — देख ले, तो हम उसको छोड़ दें?

इतना डरेंगे नहीं। डरना — यह ज्ञान का लक्षण नहीं है। लेकिन हम सहज भाव से अपना कार्य कर रहे हैं। प्रदर्शन करने के लिये कुछ भी नहीं करेंगे। जो हम नहीं हैं वह नहीं बतायेंगे, जो हैं वह भी नहीं बतायेंगे। किसी भी सीमा में बँधेंगे नहीं, किसी भी सीमा में अपने को बाँधेंगे नहीं, अपने को ज्ञानी, सुन्दर, शक्तिशाली, गुणी — यह सब बता कर अपने को छोटा नहीं करेंगे और किसी भी प्रकार का दिखावा नहीं करेंगे।

(३) *अहिंसा*— फिर इस बात को याद रखिये। ये सब बातें किसको कह रहे हैं। ये साधक के लक्षण हैं। अहिंसा का क्या मतलब होता है? दूसरे को किसी भी प्रकार क्लेश न देना। न मानसिक क्लेश पहुँचाना, न वाचिक, न कायिक। बहुत से लोग अहिंसा का मतलब समझते हैं, किसी की हत्या न करना। और कड़वा बोलते रहना? यह अहिंसा है? शान्तं पापम्। कड़वा बोलना भी हिंसा है। दूसरे की चीज को अन्याय से ले लेना भी हिंसा है। किसी को मनसा-वाचा-कर्मणा क्लेश न पहुँचाना यह अहिंसा है। एक बात पर ध्यान दीजिये। गीता में बार-बार अहिंसा की महिमा बताई है और गीता युद्ध करने की भी प्रेरणा देती है। क्या इसमें विरोध है? नहीं, इसमें विरोध नहीं है। यह जो अहिंसा है यह साधक का लक्षण है। जो सिद्ध होता है उसके लिये हिंसा-अहिंसा दोनों समान हैं। वह दोनों से ऊपर है। इसलिये, आपका ध्यान एक बात पर आकर्षित करना चाहता हूँ कि अहिंसा बड़ा गुण है लेकिन अहिंसा अन्तिम तत्त्व नहीं है। गीता या वैदिक साधन का अन्तिम तत्त्व क्या है? अन्तिम तत्त्व है– सर्वभूतहित। इस बात को समझिये। जैन-साधना में अहिंसा सर्वोपरि तत्त्व है। बौद्ध-साधना में करुणा सर्वोपरि तत्त्व है। वैदिक साधना अहिंसा और करुणा को बहुत महत्त्व देती है लेकिन सर्वोपरिता नहीं देती। गीता में बार-बार क्या कहा गया है— *सर्वभूत हिते रताः।* सब प्राणियों के हित में रत। 'हित' तत्त्व ही सबसे बड़ा है। अगर अहिंसा से 'हित' हो तो अहिंसा, और अगर हिंसा से हित हो तो हिंसा। करुणा से हित हो तो करुणा और कठोरता से हित हो तो कठोरता भी। लेकिन यह हित करने वाला सिद्ध होना चाहिये। यह नहीं कि अपने लिये तो हिंसा कर ली और ऐसे अहिंसा का उपदेश दें। ऐसा नहीं। हिंसा और अहिंसा दोनों का जो अतिक्रमण करके सिद्ध हो जाये उसके लिये हिंसा-अहिंसा दोनों समान है। वह दोनों के परे है। वह हित के लिये हिंसा का भी साधन अपना सकता है। सबके लिये यह बात नहीं है। अभी तो यह साधक की बात है। मैंने बताया, ये ज्ञान के साधन हैं। इनको ज्ञान क्यों कहा गया? क्योंकि इनकी प्राप्ति से ज्ञान प्राप्त होता है। इसके सब उदाहरण हैं। नवधा भक्ति को नवधा भक्ति क्यों कहा गया? क्योंकि नवधा भक्ति करेंगे तो भक्ति प्राप्त होगी। नवधा भक्ति क्या है? साधन-भक्ति

है और जो परा-भक्ति है वह साध्य-भक्ति है। लेकिन *श्रवणं, कीर्तनं, विष्णुस्मरणं, पादसेवनं, अर्चनं, वन्दनं, दास्यं, सख्यं, आत्मनिवेदनम्* ये जो साधन-भक्ति है, वही अपने परिपाक की स्थिति में (नवधा) परा-भक्ति हो जाती है। तो यह साधन ही साध्य में रूपान्तरित हो सकता है। जब कहा, यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान और समाधि, तो समाधि तो वास्तविक योग है, लेकिन यम से ध्यान तक योग को —अष्टांग योग कहते हैं। योग के आठों अंग कहते हैं। तो क्यों इनको कहते हैं योग– क्योंकि ये समाधि के साधन हैं। तो जिस तरह से यम–नियम–आसन–प्रणायाम–प्रत्याहार-धारणा-ध्यान को भी हम योग कहते हैं, जिस तरह से *श्रवणं-कीर्तनं-विष्णोः स्मरणं - पादसेवनं - अर्चनं - वन्दनं - दास्यं - सख्यं - आत्मनिवेदनम्* को भी हम भक्ति कहते हैं, वैसे ही इन सबको हम ज्ञान कहते हैं, जबकि ये ज्ञान के साधन हैं। ज्ञान के साधन को भी महिमा देकर ज्ञान कहा जा रहा है।

(४) *क्षान्तिः।* क्षान्ति माने क्षमा। क्षमा वीरों का गुण है। किसी ने हमारा अपकार किया, अपराध किया। हममें उसे दण्ड देने की पात्रता है। लेकिन हमने कहा, मूर्ख आदमी है– जाने दो। वह मूर्ख हो गया तो हम भी मूर्खता करें। व्यक्तिगत स्तर पर, अगर उससे मेरा केवल व्यक्तिगत नुकसान हो रहा है तो क्षमा करो। लेकिन अगर वह समष्टिगत नुकसान करेगा तो– *'जौं नहिं दण्ड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा।'* (रामचरित मानस/उ. ११६/४) तो श्रुतिमार्ग की रक्षा करने के लिये अपराधी को दण्ड देना भी आवश्यक हो सकता है लेकिन व्यक्तिगत रूप से क्षमा करो। साधक हर छोटे-बड़े अपराध का अगर दण्ड देने लगेगा तो साधना छूट जायेगी। दिनकर की पंक्तियाँ हैं :-

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो ।
उसको क्या जो दन्तहीन विषहीन विनीत सरल हो ।।

कायर की क्षमा, क्षमा नहीं है। यह तो कायरता है। वीर की क्षमा, दण्ड देने की पात्रता होते हुए भी क्षमा। यह बहुत बड़ा गुण है, ज्ञान है।

(५) *आर्जवम्।* सरलता होनी चाहिये। *'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'* जो आर्जव है, सरलता है, वह ब्रह्म का पद है। तुलसीबाबा ने कहा है—

सुधे मन, सुधे वचन, सुधी सब करतूति।
तुलसी सुधो सकल विधि, रघुवर प्रेम प्रसूति।

रामजी के प्रेम से जो उत्पन्न होंगी वे सब बातें सीधी होंगी। सब चीज सरल होनी चाहिये। ज्ञानी सरल होता है। भक्त सरल होता है। कुटिल व्यक्ति संसारी होता

है। यह कुटिलता संसार से बंधने का, अज्ञान का साधन है। सरलता— यह ज्ञान का साधन है।

(६) *आचार्योपासनम्*— बिना गुरु की कृपा के कुछ नहीं होता। *आचार्योपासनम्* का मतलब ठीक-ठीक समझिये। एक तो सीधा अर्थ हुआ कि आचार्य जी की उपासना, आचार्य जी की पूजा आवश्यक कर्त्तव्य है। आचार्य जी की कृपा के बिना हमको कुछ मालूम ही नहीं पड़ता। आचार्य की उपासना, गुरु की पूजा करनी चाहिए। यह हमारी श्रद्धा है जो हमको ज्ञान प्राप्त करने की पात्रता प्रदान करती है। *'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'*। अगर हम आचार्यजी की पूजा करेंगे तो हममें श्रद्धा विकसित होगी। लेकिन खाली *'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'* नहीं हो सकता। दो और बातें हैं इसके साथ – *'तत्परः संयतेन्द्रियः'*, मनुष्य को तत्पर होना चाहिये और अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण होना चाहिये। तो एक अर्थ तो यह हुआ कि आचार्य की हम श्रद्धा करें, उपासना करें, पूजा करें। लेकिन यही अर्थ नहीं है। उपासना का वास्तविक अर्थ क्या है? *उप* माने निकट, *आसना* माने बैठ जाना। अपने गुरु के निकट बैठ जाना। गुरु के निकट बैठ जाने का मतलब क्या है? गुरु जी जहाँ बैठे हैं वहीं हमने आसन लगा लिया और उनके पास बैठ गये सट कर। नहीं-नहीं। गुरुजी ज्ञान की जिस भूमिका पर हैं, मुझे उस भूमिका पर जाना है। गुरु भक्ति की जिस भूमिका पर हैं, मुझे उस भूमिका पर जाना है। *'आचार्योपासनम्'* – आचार्य जहाँ बैठे हुए हैं, मेरी भी स्थिति वहीं होनी चाहिये। है न? पारस में और गुरु में बहुत अन्तर है। *'पारस तो कंचन करे, गुरु करे आपु समान'*। पारस तो लोहे को सोना बना सकता है, लेकिन सोना बना हुआ लोहा— वह दूसरे को सोना नहीं बना सकता। गुरु क्या करता है? *गुरु करे आपु समान*। गुरु जहाँ बैठा हुआ है, शिष्य को वहीं बैठा देता है। ज्ञान की जिस भूमिका पर गुरु है शिष्य उस भूमिका पर चला जाता है– यह है आचार्योपासना। आचार्य की भूमिका के निकट जाकर वहीं उसी भूमिका पर बैठना। जब तक उस भूमिका को हमने प्राप्त नहीं किया, हमने वास्तव में आचार्य की उपासना नहीं की। आचार्य ज्ञान को प्राप्त कराता है– *'बिन गुरु होइ कि ज्ञान'* – बिना गुरु आज तक किसी को ज्ञान नहीं हुआ। रामजी को वशिष्ठ के पास जाकर योग-वाशिष्ठ का पूरा उपदेश सुनना पड़ा। हम आप क्या राम से बड़े हैं? कृष्ण को जाना पड़ा सन्दीपनी के पास। लीला के लिये ही सही, लेकिन लीला में अगर उनको भी गुरु के पास उपदेश श्रवण करना पड़ा तो हम लोग क्या बिना गुरु के ही ज्ञान प्राप्त कर लेंगे? अतः *आचार्योपासनम्*।

(७) *शौचम्*— बाह्याभ्यन्तर शुचिता। पवित्रता। केवल शरीर को साबुन से

धोकर हम पवित्र हो गये? नहीं। बहुत ही बढ़िया, छोटी सी कहानी सुना दें– महाभारत के युद्ध के बाद, पाण्डव सब तीर्थों में गये। तीर्थयात्रा करके आये। कृष्ण के पास तीर्थ का जल ले आये और बोले, महाराज इतना पाप हुआ था तो तीर्थ से पाप-क्षालन हो गया। कृष्ण तो ठहरे महाछलिया महाराज! तुम्बिका जिसमें लाये थे जल, उसको उन्होंने तोड़ कर कहा– अरे! अरे! आपने इस तुम्बी को नहीं स्नान कराया? पाण्डव बोले, हाँ-हाँ कराया। तो बोले, अरे यह तो अब भी कड़वी है। तुम्बा तो कड़वा ही होता है। अगर इसका कड़वापन नहीं गया तो आपका पाप कैसे गया? अब तो सब स्तब्ध। युधिष्ठिर को उन्होंने उपदेश दिया—

'आत्मानदी संयम पूर्णतीर्थाः सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः।
तत्राभिषेकं कुरु पाण्डु पुत्रः न वारिणा शुद्धति चान्तरात्मा।।'

हे पाण्डुपुत्र! हे युधिष्ठिर! केवल वारि से आत्मा शुद्ध नहीं होती है, मन बुद्धि शुद्ध नहीं होते हैं। *आत्मा नदी*– आत्मा एक नदी है। *संयम पूर्णतीर्थाः* – संयम उसके तीर्थ हैं। *सत्योदका* – सत्य उसका जल है। *शीलतटा* – उसके जो किनारे हैं वे शील के हैं। *दयोर्मिः* – उसमें जो तरंगें उठती हैं, वे दया की हैं। क्या तुम्हारे जीवन में वह सत्य है? क्या तुम्हारे जीवन में संयम है? क्या तुम्हारे जीवन में शील है? क्या तुम्हारे जीवन में दया है? तुम्हारे जीवन में अगर सत्य, संयम, शील, दया नहीं है तो केवल पानी से शरीर धो लेने से क्या तुम पवित्र हो जाओगे? *'न वारिणा शुद्धति चान्तरात्मा'* केवल जलमात्र से आत्मा शुद्ध नहीं होती। उसको तो तुम्हें सत्य से, दया से, शील से, संयम से शुद्ध करना पड़ेगा। तो बाह्याभ्यन्तर शौच। शरीर भी हमारा स्वच्छ होना चाहिये और भीतर जो हमारा मन है, भीतर जो हमारी बुद्धि है, उसको भी पवित्र करना चाहिये।

(८) *स्थैर्यम्* – स्थिरता। किसमें स्थिरता? पाप में स्थिरता। नहीं-नहीं। ज्ञान का साधन है *स्थैर्यम्* – मतलब गुरु ने जो उपदेश दिया है उस ज्ञान-निष्ठा में दृढ़ता। उसमें किसी तरह हम विचलित नहीं होंगे। जो हमने स्वीकार किया है, जो निष्ठा हमने ग्रहण की है, उस निष्ठा को हम नहीं बदलेंगे। निष्ठा एक ही होनी चाहिये। इनके पास गये– रामजी का मन्त्र ले लिया। उनके पास गये– कृष्णजी का मन्त्र ले लिया। उनके पास गये – दुर्गाजी का मन्त्र ले लिया। यह विचलित निष्ठा का प्रमाण है। *स्थैर्यम्* – जो मेरी निष्ठा है। अपने गुरु की कृपा से अपनी वृत्ति को समझ कर, अपनी पात्रता को समझकर जो मैंने स्वीकार किया है उसपर अविचलित निष्ठा – वह स्थैर्य है।

(९) *आत्मविनिग्रहः* — अपने मन को और अपनी बुद्धि को विशेष रूप से नियन्त्रित करना। भगवान् ने गीता में बार-बार कहा है—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। (६/५/२)

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।

अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। (६/६)

अपना मन ही अपना सबसे बड़ा मित्र है, अपना मन ही अपना सबसे बड़ा शत्रु है। जिसने अपने मन को, अपनी बुद्धि को वश में कर रखा है, उसका मन उसका मित्र है, उसकी बुद्धि उसकी मित्र है। जो मन के अधीन हो गया है, उसका मन उसका शत्रु है, दुश्मन है। मन ही ले जाकर गड्ढे में गिरा देता है। आठवाँ श्लोक है–

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।। (१३/८)

(१०) *इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्* – इन्द्रियों के जो विषय हैं– शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध– इनमें वैराग्य होना चाहिये। इनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये। इनके पीछे पागल नहीं होना चाहिये। इन्द्रियों के प्रति– जो देखा है, सुना है, सबके प्रति वितृष्णा जो है, यह वशीकार संज्ञा वैराग्य है। जो कुछ दिख रहा है, प्रलोभन का, आकर्षण का कारण – उसके भीतर दुःख ही दुःख है।

यह चमकीली दुनिया झूठी, सिर्फ राख की ढेरी।

ऊपर भोगों का मधु दिखता, भीतर विपति घनेरी।।

तो भोगों के मधु के पीछे विष है। जो बाँध देते हैं वे विषय हैं। जो विष की ओर ले जाते हैं वे विषय हैं। हम शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, – इनका भोग करें सहाय रूप से, कर्त्तव्य के रूप में, लेकिन उनके पीछे पागल हो जायें? मछली को केवल चारा दिखता है, कटिया नहीं दिखती। अगर हम विषयासक्त हो जायेंगे तो हम भी वैसे ही हो जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे। इसलिये *इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्।* अर्थ माने विषय। इन्द्रियों के विषयों के प्रति लोलुपता नहीं होनी चाहिये, आसक्ति नहीं होनी चाहिये। वैराग्य होना चाहिये। जो सहज प्राप्त है, वह बहुत है। जीवनधारण करने के लिये कुछ तो खाना पड़ेगा। जीवनधारण करने के लिये कुछ तो पहनना पड़ेगा। लेकिन मलमल ही होना चाहिये – नये-नये, अच्छे कपड़े होने चाहिये। यह नहीं। शीत और ग्रीष्म जिससे दूर हो जाये, बस। नग्नता जिससे ढक जाये, काफी है। पेट जिससे भर जाये, काफी है। तो वह है– *इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्।*

(११) *अनहंकार एव च*– अनहंकार। यानी मैं-मैं-मैं से दूर।

मैं मैं बड़ी बलाय है, सकै तो निकसौ भागि।

कह कबीर कब लगि रहे, रुई लपेटी आगि।।

कबीर ने कहा है– मैं-मैं करने पर तो बकरी का बेचारी का क्या हाल हो गया बताओ। उसकी खाल काढ़नी पड़ी। खाली मैं-मैं-मैं – अनहंकार। विनम्रता होनी चाहिये। देखिये! पहले कहा *अमानित्वम्* और अब – *अनहंकार*। वहाँ अमानित्वम् का मतलब हुआ है, नाप-जोख के भीतर न आना और यहाँ अनहंकार का मतलब हुआ– – विनम्रता। अहंकार, दम्भ नहीं होना।

(१२) *जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्*– इस बात को समझिये। हमलोगों का जीवन आरम्भ से ही दुःखमय है। जन्म कैसे हुआ? माता के रज, पिता के वीर्य के संयोग से, जिसको अशुचि माना जाता है। माता के गर्भ में नौ महीने रहे। यह बहुत ही दुःखद है। हाथ–पाँव बँधे हुए हैं। तीसरे महीने से चेतना आ जाती है। मल-मूत्र, रक्त, मेद, मज्जा, चर्बी उसके साथ जुड़े हुए हैं। श्रीमद्भागवत् में तो आता है कि उस समय प्रार्थना करने लगे कि भगवान्, हमको इसमें से निकालो तो हम तुमको याद करते रहेंगे। भगवान् ने निकाला तो उसे ही भूल गये। तो जन्म भी दुःख से है। अशुचि से उत्पन्न हैं। अशुचि स्थान में पले हैं नौ महीने। अत्यन्त दुःख से रहे हैं और मृत्यु में तो दुःख ही दुःख है। जन्म-मृत्यु। मृत्युकी पीड़ा का कितना वर्णन किया जाय। सबसे बड़ा डर मृत्यु का है। इसीको कहते हैं अभिनिवेश, यानी मरण-भय-जनक अज्ञान जो पाँच बड़े क्लेश हैं– अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। अभिनिवेश माने, जो भीतर घुसा हुआ बैठा है मौत का डर। मर जायेंगे तो क्या होगा? संतों ने मौत के डर को जीत लिया। मेरे गुरुजी को मारकेश था। बताया गया कि तुम्हारी अल्प वय में मृत्यु हो जायेगी। वे भागे अपने घर से। बड़े-बड़े सन्तों के पास गये। सन्तों ने कहा कि देखो शान्तनु! (उनका नाम था शान्तनु) मृत्यु को तो नहीं टाल सकते; किन्तु मृत्यु का भय टाल सकते हैं। तुमको वह विद्या देंगे, जिससे तुम मृत्यु से अभय हो जाओगे, और गुरुजी अभय हो गये। सन्तों ने मृत्यु को कहा कि यह तो भगवान् का रूप है। मृत्यु से डरना क्यों ? भगवान् ने गीता में कहा है– *'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'*। (९/१९) – मैं ही अमृत हूँ, मैं ही मृत्यु हूँ। भगवान् ने गीता में कहा ही है– *'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'* (१०/३४)– सब हरण करलेने वालों में मैं मृत्यु हूँ। भगवान् मेरी उन्नति के लिये, मेरे कल्याण के लिये मृत्यु का रूप धारण करके आये हैं। मृत्यु तो महोत्सव है, यह तो आनन्द का विषय है। सन्तों ने ही कहा है–

सुन्दर संसय को नहीं, महामहोत्सव एह।
आतम परमातम मिल्यो, देह खेह की खेह।। (सुन्दरदास)

देह तो मिट्टी की मिट्टी है। लेकिन हम लोग जो पामर लोग हैं जो विषयी लोग

हैं, ये मृत्यु के भय से संत्रस्त हैं। जन्म, मृत्यु, जरा, बुढ़ापा– *'जान से अच्छी जवानी जायेगी / मौत से बदतर बुढ़ापा आयेगा।'* सबका आयेगा। हमलोगों का तो खैर आ ही गया; लेकिन किसी को छोड़ेगा नहीं। और उस बुढ़ापे का दुःख—जब जर्जर देह के साथ दण्ड लेकर चलने लगोगे तो कोई बात भी न पूछेगा। तो यह बुढ़ापा आने ही वाला है। जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि—बीमारियाँ–नारायण! *'शरीरं व्याधिमन्दिरम्'*—हमलोग तो बड़ी भक्ति से, श्रद्धा से कहते हैं कि शरीर जो है, देवालय है। इसमें नारायण आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित हैं। यह तो अच्छी बात है। यह तो भक्ति की बात है, ज्ञान की बात है। लेकिन देखने की बात तो यह है कि *शरीरं व्याधिमन्दिरम्*—इतनी बीमारियाँ—नारायण! जैसे-जैसे दवा करते हैं, बीमारियाँ और बढ़ती ही चली जाती हैं। *दुःखदोषानुदर्शनम्।* यह भी दुःख हैं और इनके अलावा भी दुःख आते हैं और अनेक प्रकार के दोष हैं– इनको भली भाँति देख लेना। पीछे से रह कर इनको पहचान लेना। जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, अपमान-नुकसान, प्रिय-वियोग आदि के दुःख अज्ञान के दोष के कारण होते हैं। बराबर इस बात को आप गाँठ बाँध लीजिये, बिना दोष के दुःख नहीं होता। ये जो सारे दुःख हैं, हमारे अज्ञान रूपी दोष के कारण हैं। अज्ञान रूपी दोष क्या है? इस बात को समझिये।

मैंने गुरुजी से सुनी है यह बात। गुरुजी की बात बता रहा हूँ। गुरुजी ने कहा, देखो! जो दाहक है, पीड़क है, कष्टप्रद है, दुःखप्रद है, उसको तुम सुखद और रमणीय मानते हो। जो नश्वर है, क्षणभंगुर है, परिवर्तमान है, मिथ्या है उसको तुम सत्य और स्थायी मानते हो। अब अगर तुम दाहक, पीड़क, दुःखप्रद, कष्टप्रद, नश्वर, क्षणभंगुर को सत्य, सुखद, रमणीय मानोगे—तो अज्ञान का जो दूसरा प्रबल रूप है काम, तुममें जागेगा कि नहीं जागेगा? तो तुम उसे पाने की इच्छा करोगे। वह अगर मिल भी जायेगा तो भी तुमको जलायेगा और नहीं मिलेगा तो भी जलायेगा। तो ये जो अज्ञान के कारण जो दाहक है, पीड़क है, कष्टप्रद है, दुःखप्रद है, उसको तो हमने सुखद और रमणीय मान लिया। अज्ञान के कारण जो नश्वर है, क्षणभंगुर है, परिवर्तमान है उसको तो हमने सत्य और स्थाई मान लिया। तो इन दोनों को मिलाओगे तो दुःख ही दुःख है। इस अज्ञान रूपी दोष का वह सारा का सारा अंजाम है। *जन्म मृत्यु जरा व्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्।* इसका अनुदर्शन करो। इसको अच्छी तरह से सोचो। इस पर विचार करो और जो मूलभूत दोष है अज्ञान– उससे अलग हो जाओ। यह जन्म-मृत्यु जरा व्याधि दुःख दोष का विचार करना, यह ज्ञान का साधन है। जब तक इसके दोषों को तुम नहीं समझोगे, इसके दुःखों को नहीं समझोगे। इससे अलग तुम कैसे होगे भाई? इसलिये इसके

वास्तविक रूप को समझो। अज्ञान से जो तुमने समझ रखा है वह ठीक नहीं है। नौवें श्लोक में भगवान् कहते हैं—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।। (१३/९)

(१३) *असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु* — सक्ति माने चिपक जाना। असक्ति माने न चिपकना। इसीको जरा और बढ़ा करते हैं तो आसक्ति। आसक्ति माने चारों तरफ से चिपकना और उसमें अन् लगाते हैं तो '*अनासक्ति*' हुई। गीता का जो व्याख्यान बापू ने, महात्मा गाँधी ने किया उसका नाम रखा – अनासक्ति योग। वे कहते थे कि हमको अनासक्त होना चाहिये। अनासक्ति का ही छोटा अर्थ है असक्ति। असक्ति माने भी अनासक्ति। अनासक्त होना चाहिये। चिपकना नहीं चाहिये। गुरुजी कहते थे कि हमलोगों को दर्पण के समान होना चाहिये। सर्वश्रेष्ठ अनासक्त का उदाहरण दर्पण है। दर्पण के सामने खड़े हो जाओ – अच्छा दर्पण क्या करेगा? जैसे हो – ज्यों का त्यों तुमको झलका देगा। और जब वहाँ से चले जाओगे, तो कुछ रहेगा वहाँ? कुछ नहीं रहेगा। ऐसे ही, कोई कार्य जब तुम्हारे सामने आ गया तो ज्यों का त्यों करो, पूरी लगन से करो। जैसे दर्पण का प्रतिबिम्ब बिल्कुल प्रामाणिक होता है, वैसे ही कर्त्तव्य प्राप्त कर्म को तुम पूरी प्रामाणिकता के साथ करो। पूरा हो गया – उससे चिपके मत रहो। सुखद हो तो भी मत चिपको, दुखद हो तो भी मत चिपको।

(१४) *अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।* हमलोगों का सबसे अधिक तादात्म्य अपने पुत्र से, अपनी पत्नी से, या अपने पति से, अपने घर से होता है। अपने पुत्र से, अपनी पत्नी से, अपने पति से, अपने घर से— ये तादात्म्य दुःख की जड़ है। उसको कोई दुःख हुआ तो हम दुखी हैं। ऐसा नहीं होना चाहिये। यह जो तादात्म्य है, यह हमको बन्धन में डाल देगा, बाँध लेगा। पुत्र-दारा-गृह से अनासक्ति का तात्पर्य उनके प्रति निष्ठुर होना नहीं है। अपने घर-परिवार के प्रति जो हमारा कर्त्तव्य है, उसका तो निर्वाह होना चाहिये, लेकिन उससे तादात्म्य करके, उससे अभिभूत होकर उससे चिपके ही रहना – यह बन्धन है। हम ऋणी हैं। हमारे पिता ने हमको पाला-पोसा, हमको पढ़ाया-लिखाया, हमको मनुष्य बनाया। पितृऋण से कैसे मुक्त होंगे? माता-पिता की सेवा करके और अपने पुत्र को योग्य बनाकर हम पितृऋण से मुक्त होंगे। बराबर याद रखिए। लेते हम किसी से हैं, चुकाते किसी और को हैं। सीखा हमने गुरु से। अपने गुरु से सीखा हुआ आपको सुना रहे हैं। यह क्या कर रहे हैं? यह गुरुऋण से उऋण होने की चेष्टा कर रहे हैं। मेरा रोम-रोम आजन्म ऋणी रहेगा गुरुजी का। मैं उससे उऋण

भी नहीं होना चाहता। लेकिन गुरुजी से जो सीखा-समझा, वह अगर आप लोगों को न सुनाऊँ, न समझाऊँ, न बताऊँ तब तो मैंने तो अयोग्य शिष्य का काम किया। योग्य शिष्य का लक्षण क्या है – गुरु से सीखो, दूसरों को समझाओ। माता-पिता ने हमको मनुष्य बनाया तो हम अपने पुत्र को मनुष्य बनायेंगे, यह तो है कर्त्तव्य कर्म, लेकिन हम उसीके साथ चिपक जायेंगे? नहीं। मैं आँखों देखी बात आपको बताता हूँ। निन्दा नहीं कर रहा हूँ। लेकिन महापुरुष भी कैसे मोहासक्त होते हैं, यह बताता हूँ।

जीवन भर विवाह तो नहीं किया सुमित्रानन्दन पन्त ने। बुढ़ापे में उन्होंने एक बिल्ला पाला। अब बिल्लाजी आप ऊपर से कूदेंगे तो आपको चोट लगेगी तो वे एक दरी लेकर उसपर रुई बिछाकर रखें कि बिल्लाजी आप इस पर कूदिये। बिल्लाजी कहाँ कूदेंगे इसके लिये भी एक व्यवस्था। यह *अभिष्वङ्ग* है। यह *तादात्म्य* है, यह बन्धन है। कर्त्तव्य के रूप में कर्म करना – यह अलग है, और अभिष्वंग के रूप में अपने को उससे चिपटाये रखना, यह अलग है। चरैवेति सूत्र में कहा है– *'पापो नृषद्वरो जनः'*। श्रेष्ठ व्यक्ति भी जो केवल अपने घर से चिपटा हुआ है, पापी है। *चरैवेति, चरैवेति।* चलते रहो, रहो चलते ही। घर से बँधा श्रेष्ठ भी पापी। क्या घर का काम नहीं करेंगे? घर का काम करेंगे। घर का जो उत्तरदायित्व है, उसका निर्वाह भी करेंगे। लेकिन घरघुस्सू हो जायेंगे? नहीं, अभिष्वङ्ग नहीं होना चाहिये। तादात्म्य करके भगवान् की ओर, चैतन्य की ओर जायेंगे। अपनी प्रगति को खंडित नहीं होने देना चाहिये– इसलिये पुत्र में, पत्नी में, गृह में, जो अभिष्वंग है, तादात्म्य है, वह नहीं होना चाहिये। *अनभिष्वङ्ग* होना चाहिये। ज्ञान का साधन है *अनभिष्वङ्ग* और अज्ञान का साधन है अभिष्वङ्ग।

(१५) *'नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु'*। इष्ट की प्राप्ति हुई। अनिष्ट की प्राप्ति हुई। कभी इष्ट होगा, कभी अनिष्ट होगा। दोनों में समता होनी चाहिये। कभी कोई ऐसा पैदा नहीं हुआ जिसको केवल सुख ही सुख मिला हो। कभी कोई ऐसा पैदा नहीं हुआ जिसको केवल दुःख ही दुःख मिला हो। सुख भी आयेगा, दुःख भी आयेगा।

सुख की बदली दुःख का चन्दा, जीवन की सच्चाई दोनों,
सुख-दुःख में सम रहे अगर, तो देंगे वे गहराई दोनों।

सुख और दुःख दोनों में यदि सम रह सके तो दोनों गहराई देंगे। सुख-दुख, अनुकूलता-प्रतिकूलता को धैर्यपूर्वक सहन करने का सदुपदेश गीता माता देती है। यह तब होगा जब एकाग्र योग द्वारा अखंड और अनन्य भक्ति का आचरण किया जाएगा। दसवें श्लोक में इसी बात को आगे बढ़ाते हुए भगवान् कहते हैं—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्त-देश-सेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।। (१३/१०)

(१६) भगवान् कहते हैं कि अनन्य योग द्वारा मेरे प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति करो— *'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'। 'अव्यभिचारिणी'* शब्द पर ध्यान दीजिए। अव्यभिचारिणी भक्ति वह है जिसमें इष्टदेव के अतिरिक्त किसी अन्य का विचार नहीं होता— यानी ऐसी अनन्या भक्ति जो कभी डिगती नहीं। अपने सारे संबंधों को त्यागकर केवल भगवान् से संबंध रखना *'अव्यभिचारिणी भक्ति'* है। साधन भी भगवान् हों और साध्य भी भगवान् हों— यही अनन्य योग द्वारा भगवान् में अव्यभिचारिणी भक्ति का होना है। कृष्ण भक्त सूरदास की पंक्ति है—

नाहिन रह्यौ हिय महँ ठौर
नंद नंदन अछत कैसे आनिये उर और।

कृष्ण के अतिरिक्त किसी दूसरे को हृदय में स्थान न देने की अनन्यता अत्यन्त मार्मिक है। अनन्ययोग द्वारा आचरण करने वाले भगवद् परायण व्यक्ति बुरी-संगति से, विषय-वासनाओं से दूर रहते हैं। वे शुद्ध और एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव विकसित कर जनसमूह में रहने की आसक्ति त्याग देते हैं— *'विविक्त देशसेवित्वमरतिर्जन संसदि'* (१३/१०/२)।

(१७) *विविक्तदेशसेवित्वं*— एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव। यानी पर्वत, तीर्थ, वन आदि पवित्र स्थानों में एकान्तवासी हो। एकान्त में रहकर ईश्वरीय चिन्तन-भजन की स्वाभाविक अभिलाषा ही 'विविक्तदेश सेवित्व' है। परन्तु एकान्त की सुविधा न हो तो भी संसार में रहकर लौकिक आकर्षणों से दूर रहकर परमात्म चिन्तन, भजन, स्मरण किया जा सकता है। एकान्त स्थान में जाकर भी मन यदि संसार में अनुरक्त रहा तो क्या लाभ ?

(१८) *अरतिर्जनसंसदि।* अरति माने प्रीति का न होना। *जनसंसदि*— जनसमूह में। यानी बाहरी विषयी जनसमूह के प्रति वितृष्णा हो, ताकि भक्ति में बाधा न पड़े। यहाँ मानव समुदाय से सांसारिक प्रपंचों एवं विषयों की बातों को सुनने की इच्छा न रखने का परामर्श है लेकिन परमात्म-तत्त्व का विचार करने वाले पुरुषों की संगति का निषेध नहीं है। संसार के दुखों के कारणों तथा उसके निराकरण के उपायों पर श्रेष्ठ पुरुषों से विचार-विमर्श आवश्यक है। तात्पर्य यह कि समुदाय के प्रति आसक्ति तो वर्जित है परन्तु गुणी पुरुषों का सान्निध्य किया जा सकता है।

ज्ञानी के अन्य गुणों को भगवान् अगले श्लोक में बता रहे हैं—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ।। (१३/११)

(१९) *अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं* —यानी आध्यात्मिक ज्ञान का निरंतर संचय करना और (२०) आत्मा-परमात्मा के तत्त्वानुधान में निमग्न रहना यही ज्ञान है और इसके विपरीत सब अज्ञान है।

भगवत्तत्त्व को समझ कर भक्ति-परायण हो जाना ही ज्ञान है। विनम्रता *(अमानित्वं)* से साक्षात् आत्मदर्शन तक की संपूर्ण साधना ही यहाँ ज्ञान शब्द द्वारा लक्षित है। केवल बुद्धि से जानना ही ज्ञान नहीं होता; वह ज्ञान सारे जीवन में व्याप्त, हृदय में संचरित एवं कर्म द्वारा आचरित होना चाहिए। ये बीस गुण ज्ञानियों के लक्षण हैं। इन गुणों से संपन्न होकर ही भगवान् को समझ पाने की पात्रता अर्जित होती है। ज्ञान को समझने के लिए हमें अपने जीवन में इन बीस गुणों को विकसित करना चाहिए। भगवान् की कृपा से ये गुण हमारे, आपके, सबके हृदय में प्रतिष्ठित हों। ●

प्रवचन-३८*

क्षेत्रज्ञ की ज्ञेयता एवं पुरुष-प्रकृति विवेक

श्रीमद्भगवद्गीता का यह ज्ञान यज्ञ अव्याहत रूप से चल रहा है इसके लिये हम सब भगवान् को बड़ी कृतज्ञता के साथ प्रणाम करते हैं। तुलसीबाबा ने कहा है–

रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई।
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।।
प्रीति बिना नहिं, भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।

(रामचरितमानस, उत्तर काण्ड/८८/६-८)

भगवान् की कृपा आप पर है, मुझ पर भी है, नहीं तो हमलोग प्रवचन सुनने-सुनाने क्यों आते। बिना राम की कृपा के हे गरुड़जी! राम की महिमा को समझा नहीं जा सकता— *राम कृपा बिनु सुनु खगराई; जानि न जाइ राम प्रभुताई।*

राम की महिमा, राम की प्रभुता को जानने के लिये भी प्रभु कृपा अनिवार्य है। जानने की बात कह रहे हैं, मानने की नहीं। इस बात पर ध्यान दीजिये, अधिकांश भक्त मान लेते हैं और भक्ति करते हैं। तुलसीदास कहते हैं कि मानने वाली बात कच्ची है। जानने वाली बात पक्की है। *'जाने बिनु न होइ परतीती'* – जिसकी भक्ति करनी है, जो भजनीय है, उसके स्वरूप का ज्ञान अगर नहीं हुआ है तो हमें विश्वास भी नहीं होगा। *'जाने बिनु न होइ परतीती – बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती'* – अब जिसका विश्वास ही नहीं होगा उससे प्रेम कैसे होगा? जिस पर आप विश्वास नहीं करते उससे प्रेम कर सकते हैं? कभी नहीं। अब, *'प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई'*— भक्ति तो प्रेम से ही दृढ़ होती है– *'सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा अमृतस्वरूपा च'।*

नारद के अनुसार भगवान् में परम प्रेम हो और वह भी अमृत स्वरूप हो तो ही भक्ति है। लौकिक प्रेम और भक्ति का मौलिक अन्तर यही है। लौकिक प्रेम अमृत स्वरूप नहीं है। नश्वर के प्रति है और स्वयं भी नश्वर है। भक्ति अमृत के प्रति है और स्वयं भी अमृत है, अमृतत्वदायी है। शाण्डिल्य ने भी कहा, *"सा परानुरक्तिः*

* त्रयोदश अध्याय (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग) : श्लोक संख्या १२ से २३

ईश्वरे।" ईश्वर में परम अनुरक्ति को ही भक्ति कहते हैं। तो प्रीति तब होगी जब हम भजनीय के स्वरूप को जानेंगे। उसे जानने के बाद उस पर विश्वास करना चाहिये। विश्वास के बाद ही प्रीति होगी और प्रीति जब सान्द्र होगी, घनी होगी तब वह भक्ति में रूपायित होगी। तो भक्ति का निरूपण करने के बाद स्वाभाविक रूप से यह प्रयोजन था कि भजनीय का निरूपण किया जाये। बिना भजनीय के निरूपण के भक्ति के निरूपण की सार्थकता नहीं है। स्वरूप के सम्यक् ज्ञान के लिये, भजनीय को ठीक-ठीक समझ लेने के लिये यह आवश्यक है कि भजनीय और अभजनीय का अन्तर समझ लें। इसलिये १२वें अध्याय के बाद १३वाँ अध्याय। कई बार हमलोग उसका भजन करने लगते हैं; जिसका भजन नहीं किया जाना चाहिये और जिसका भजन किया जाना चाहिये उसका ज्ञान न होने के कारण हम उसका भजन नहीं करते। अच्छा आप छाती पर हाथ रखकर बताइये कि हमलोग सचमुच किसका भजन करते हैं? हमलोग भजन करते हैं संसार का; हमलोग भजन करते हैं शरीर का। इसको खिलाओ, पिलाओ, चिकना बनाओ और रँगो, अच्छा कपड़ा पहनाओ। यह मैं हूँ, इसकी जयजयकार होनी चाहिये, इसके चित्र छपने चाहियें, इस संसार की जो अधिक से अधिक सुविधा है, सुख है, वह प्राप्त होना चाहिये। व्यवहार में हमारा भजनीय यह संसार है, यह शरीर है। जो भगवान् हैं, उनका तो ज्ञान ही नहीं है। हाँ! मान लेते हैं, मान लेने के बाद प्रणाम भी कर लेते हैं, लेकिन उनसे भी चाहते यही हैं कि संसार का हमको कुछ मिल जाये। भगवान् से हम क्या चाहते हैं? नौकरी मिल जाये, पैसा मिल जाये, यश मिल जाये, अधिकार मिल जाये यानी भगवान् हमको संसार की कोई वस्तु दे दें। तो वास्तविक स्वरूप भजनीय का हमलोगों के लिये, हम साधारण लोगों के लिये, संसार है और अपना शरीर है। वास्तविक भजनीय को बताने के लिये यह भी बताना जरूरी है कि क्या भजनीय नहीं है ? किसका भजन नहीं करना चाहिये ? इसलिये क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का निरूपण, इसलिये प्रकृति-पुरुष का विवेक। हमलोग व्यवहार में क्षेत्र को ही भजनीय माने बैठे हैं। पिछले प्रवचन में बताया गया कि क्षेत्र शरीर को, सीमित अर्थ में और पूरे ब्रह्माण्ड को व्यापक अर्थ में कहते हैं। यह शरीर भी क्षेत्र है–

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। (१३/१/१)

इसी शरीर को क्षेत्र कहते हैं, व्यक्तिसीमा में; और यह सारा का सारा ब्रह्माण्ड भी, प्रकृति की सृष्टि – ये सारा का सारा जगत् भी, क्षेत्र ही है। जो क्षेत्र है वह भजनीय नहीं है। जो क्षेत्रज्ञ है, क्षेत्र का जो ज्ञाता है वही भजनीय है। पिछले प्रवचन में ग्यारहवें श्लोक तक मूलतः दो बातें बताई गईं कि क्षेत्र क्या है? बताया गया कि सीमित रूप में

यह शरीर क्षेत्र है, और वृहत् रूप में सारा ब्रह्माण्ड, सारा जगत् क्षेत्र है। फिर यह बताया गया कि क्षेत्रज्ञ को जानने का साधन क्या है। उसको ज्ञान कहा गया। बीस गुण बताये गये। ज्ञान तो है निराकार। ज्ञान को समझाना बहुत कठिन है। जो निराकार है, उसका निरूपण करना, विवेचन करना और उसको बोधगम्य करा देना बहुत कठिन है।

ज्ञेय के दो अर्थ हैं। एक अर्थ होता है कि जो जानने योग्य है, जिसको जानना चाहिए। हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसको जानें। ज्ञेय का दूसरा अर्थ होता है कि वह हमारे लिए ज्ञान का विषय है। जब प्रभु को ज्ञेय कहा जाता है तो प्रभु क्या माला की तरह ज्ञेय हैं? प्रभु माला की तरह ज्ञेय नहीं हैं। प्रभु का वास्तविक ज्ञान जब होता है तो त्रिपुटी का लय होता है। इस बात को समझिये। जब हम प्रभु को जानते हैं तो किस रूप में जानेंगे। अपने से भिन्न जानेंगे तो वे जड़ हो जायेंगे और वे परिच्छिन्न हो जायेंगे, कट-छँट जायेंगे। इसलिये प्रभु को, ब्रह्म को, परमात्मा को अपने से परे जड़ के रूप में नहीं जाना जाता। प्रभु को कैसे जाना जाता है? प्रभु को ज्ञेय क्यों कहा जाता है– *'ज्ञेयम् यत्तत्प्रवक्ष्यामि'*, जो ज्ञेय है मैं उसका विनिरूपण कर रहा हूँ— जब यह कहा जाता है तो ज्ञेय का किस रूप में निरूपण कर रहे हैं। ज्ञेय का मतलब क्या है? ज्ञेय का मतलब है— जो जानने योग्य है, जिसको जानना हमारा कर्त्तव्य है, जिसको जाने बिना हमारा जीवन व्यर्थ हो जायेगा। अगर इसको तुमने नहीं जाना तो तुम्हारा विनाश होगा और अगर इसको जान लिया तो अमृतत्व की प्राप्ति होगी। तो यह जो ज्ञेय है, यह ज्ञेय अपने से भिन्न नहीं है। यह ज्ञेय वस्तु के रूप में ज्ञेय नहीं है और इस ज्ञेय में न ज्ञाता रहता है, न ज्ञेय रहता है, केवल ज्ञान ही रह जाता है। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म हो जाता है—

'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई / जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।' (अयो./१२६/३)

रामजी को जानने का मतलब रामजी हो जाना है। रामजी हमारा अपना आपा हैं, रामजी हमारी अपनी आत्मा हैं, इस रूप में जानना। ज्ञेय और ज्ञाता का यहाँ विलय हो जाता है। यहाँ केवल ज्ञान ही रह जाता है। इसीलिये हमलोग परमात्मा को ज्ञान ही नहीं कहते, हमलोग परमात्मा को ज्ञानस्वरूप कहते हैं। तो परमात्मा का जब वर्णन किया जा रहा है ज्ञेय के रूप में, तो बताया यह जा रहा है कि परमात्मा को जानना हमारा परम कर्त्तव्य है। जिसको जाने बिना हमारा जीवन व्यर्थ हो जायेगा और जिसको जान लेने मात्र से हमारा जीवन अमृतत्व को प्राप्त कर लेगा— यह अर्थ है ज्ञेय का, इस बात को आप ध्यान में रखें।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते । (१३/१२/१)

अद्‌भुत बात है। जिसके जानने मात्र से तुम अमृत हो जाओगे। फिर ध्यान दीजिये– *'ज्ञेयम् यतत् प्रवक्ष्यामि'।* जो जानने योग्य है, जिसको जानना हमारा कर्त्तव्य है उसका मैं विशेष रूप से वर्णन कर रहा हूँ। केवल बोल नहीं रहा हूँ, वचन नहीं है, प्रवचन है। प्रकृष्ट रूप से, निर्दोष रूप से, निर्भ्रान्त रूप से कह रहा हूँ।

जानने मात्र से तुम अमृत हो जाओगे – इसका मतलब क्या हुआ? जानते ही, जानने के साथ-साथ। ज्ञान कुछ बनाता नहीं है। बनाने का काम कर्म करता है। जो अमूर्त्त है, उसको बनाने का काम भावना करती है। जो जैसा है ज्ञान उसको वैसा उजागर करता है। याद रखें, कर्म कर्तृ-तत्त्व है और ज्ञान वस्तु-तत्त्व है। ज्ञान अगर किसी चीज का हुआ तो वह जैसा है, वैसा ही आपको प्रतीत होगा। *'ज्ञात्वामृतमश्नुते'*, जिसको जानते ही तुम अमृत हो जाओगे इसका क्या मतलब? इसका मतलब यह कि तुम अमृत हो। तुमने अपने को अमृत जाना नहीं है, तुमने जैसे ही उसको जाना, तो वही हो गये। *'तद्‌पश्यत् तद् भवत् तदासीत्'* — *तद् पश्यत्* यानी उसको देखा, *तद् भवत्* यानी उसको देखते ही वही हो गया। क्यों हो गया ? *तदासीत्*, क्योंकि वह वही था। जो था, उस रूप में उसने अपने को नहीं जाना था। जो वह था, उस रूप में उसने अपने को नहीं देखा था। उसने अपने को दूसरे रूप में जाना था, दूसरे रूप में देखा था। इसलिये वह अपने को दूसरा मानता था। जब उसने अपने को अपने वास्तविक रूप में देखा तो वह वही हो गया, क्योंकि वह वही था। इस बात को कई बार मैंने कहा होगा, फिर एक बार कहता हूँ — कर्ण अपने को राधा का पुत्र मानता था, अपने को राधेय कहता था। था वह कुन्ती का पुत्र, कौन्तेय। कर्ण को कौन्तेय हो जाने के लिये क्या होना पड़ा ? क्या करना पड़ा ? हिमालय जाना पड़ा ? यज्ञ करना पड़ा? ध्यान लगाना पड़ा ? नहीं। केवल उसको जान लेना पड़ा कि वह राधा का पुत्र नहीं है, कुन्ती का पुत्र है; और वह कौन्तेय हो गया। क्यों! क्योंकि वह कौन्तेय था। अपने अज्ञान के कारण वह अपने को वह नहीं मानता था। जिस दिन उसका सही-सही ज्ञान हो गया, वह वही हो गया। इसलिये जो ज्ञेय तत्त्व है, उसको जानना हमारा कर्त्तव्य है। हमारे जीवन का जो लक्ष्य है, उसको हमने ठीक-ठीक जाना तो हम अमृत हो जायेंगे। *'यज् ज्ञात्वामृतमश्नुते'* जिसके जानने मात्र से हमको अमृतत्व की प्राप्ति हो जायेगी, उसको प्राप्त कर लेना, उसको जान लेना हमारा कर्त्तव्य है कि नहीं? यह हमारा परम कर्त्तव्य है इसलिये ज्ञेय है। पहली ही पंक्ति में उन्होंने इस गूढ़ सत्य को जानने के लिये हमारे आपके मन में तीव्र उत्कण्ठा प्रकट की है ; हमको आपको सावधान किया है। मेरे गुरुजी बीच बीच में कहते थे, *'साधु सावधान!! दीजै अवधान'*। अवधान माने ध्यान। सावधान माने

अवधान के सहित। जब कोई कठिन विषय आता है तो गुरु या वक्ता उस कठिन विषय को समझाने के लिए सावधान करता है। भई, आलस छोड़ दो, तन्द्रा हो तो छोड़ो, सावधान हो जाओ, सजग हो जाओ। बहुत बड़ी बात, बहुत गम्भीर बात, बहुत सूक्ष्म बात, बहुत कठिन बात बताई जा रही है। अपने को एकाग्र करो। इसलिये पहली पंक्ति है– *'ज्ञेयम् यत्तत् प्रवक्ष्यामि'*। जिसको जानना हमारा आपका परम कर्त्तव्य है, उसका मैं वर्णन करने जा रहा हूँ। उसको जानते ही तुम अमृत प्राप्त करोगे, अमृत हो जाओगे इसलिये सावधान, ध्यान से सुनो। क्या बताते हैं—

'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते'। (१३/१२/२)

ज्ञान का लक्ष्य वह परम ब्रह्म है जो अनादि है। वह न सत् है न असत्। अच्छा एक बात पर ध्यान दें। ब्रह्म *'अवाङ्मनसगोचर'* है; वह वाणी, मन और इन्द्रियों के परे है। जो वाणी, मन और इन्द्रिय के परे है, उसको वाणी, मन, इन्द्रिय का विषय बनाया जा रहा है।

एक असम्भव कार्य को सम्भव करने की चेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण केवल कृपा-परवश होकर कर रहे हैं। केवल हमारे-आपके ऊपर कृपा करने के लिए कर रहे हैं। परमात्मा, ब्रह्म जाति, क्रिया, गुण, सम्बन्ध, रूढ़ि – सबसे परे है। जो सबसे परे है वह शब्दों का विषय नहीं है; इसलिये वह शब्दातीत है। इसलिये वह भाषातीत है। अब उस शब्दातीत को, भाषातीत को समझा रहे हैं। समझाने में उन्होंने संसार के कई जाने-पहचाने विषयों का उदाहरण दिया है। देखिये, हमलोग सारी बातें जानते हैं– कि जिस चीज का आरम्भ होता है उस चीज का अन्त भी होता है। कोई आदमी पैदा हुआ है तो मरेगा भी। *'आये हैं सो जायेंगे राजा रंक फकीर।'* हो ही नहीं सकता कि कोई पैदा हुआ तो उसकी मृत्यु न हो। अब ब्रह्म को बता रहे हैं तो और सारा संसार कैसा है? और सारा संसार है *आदिमत्*। *आदिमत्* मतलब? जिसका आरम्भ है। *आदिमत्* माने आदिवाला। मैं यह शंकराचार्य के आधार पर बतला रहा हूँ। तो *आदिमत्* माने जिसका आरम्भ है। जिसका आरम्भ है तो उसका अंत भी है, उसका मध्य भी है। है न? तो *आदिमत्* हुआ संसार या संसार की वस्तुएँ। परमात्मा कैसा है? *अनादिमत्*। जिसका आरम्भ नहीं होता है। संसार से विलक्षण है। तो परमात्मा संसार से अलग है, संसार से विलक्षण है, इसको बताने के लिये उन्होंने बताया– *अनादिमत्*। रामानुजाचार्य इसको नहीं मानते। शंकराचार्य *अनादिमत्* कहने के बाद कहते हैं कि वह परमब्रह्म है। रामानुजाचार्य कहते हैं— नहीं, वह अनादि है। अनादि माने? जिसके आगे नहीं है और वह *मत्परम्* है। *मत्परम्* का मतलब रामानुजाचार्य बताते हैं, मैं जिसका पर हूँ, मैं

जिसका स्वामी हूँ, वह मेरा शेष है। क्षेत्रज्ञ को सीमित अर्थ में बता रहे हैं। तो *मत्परम्* का अर्थ हुआ कि वह क्षेत्रज्ञ सीमित अर्थ में मेरा अंश है। लेकिन शंकराचार्य कहते हैं, कि इसमें पूरे ब्रह्म का ही वर्णन है। इसलिये *'मत्परम्'* यानी मैं जिससे परे हूँ, मैं उसका शेषी हूँ, मैं उसका स्वामी हूँ वह मेरा शेष है, वह मेरे द्वारा नियाम्य है यह अर्थ नहीं होना चाहिये ? तो अनादिमन्, माने संसार आदिमन् है और वह अनादिमन् है, वह परमब्रह्म है, उससे परे और कुछ भी नहीं। वह सबसे बड़ा है, सबसे परे है। *न सत्तन्नासदुच्यते।* न उसको सत् कहा जा सकता है न उसको असत् कहा जा सकता है। आप अगर ध्यान दें, गीता में इस बात को तीन तरह से समझाया गया है—

अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन । (९/१९/२)

मैं ही अमृत हूँ, मैं ही मृत्यु हूँ, मैं ही सत् हूँ, मैं ही असत् हूँ। एक बार प्रभु कहते हैं कि मैं ही सत् हूँ, मैं ही असत् हूँ। एक बार कहते हैं—

'त्वमक्षरं सदसत् तत्परं यत्' । (११/३७)

वह सत् भी है, असत् भी है और उसके परे भी। और अब कह रहे हैं वह न सत् है न असत्। उसको सत् भी नहीं कहा जा सकता, उसको असत् भी नहीं कहा जा सकता। तो वह क्या है? वह निर्विशेष है। क्यों नहीं सत् कहा जा सकता? क्योंकि सत् माने होना, और असत् माने न होना। कभी-कभी लोगों ने कहा सत् माने व्यक्त, जो दिखाई पड़े। असत् माने जो अव्यक्त है, दिखाई नहीं पड़ता, सूक्ष्म है। लेकिन वह है और नहीं है, इन दोनों का ज्ञाता है। जिसको कहते हैं नहीं हैं उसमें भी 'है' है। तो परमात्मा को 'है' यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह नहीं भी है और उसको 'नहीं है' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह है। तो 'है', 'नहीं है' — दोनों नहीं है इसका मतलब हुआ कि निर्विशेष है। उसमें कोई भी विशेषता नहीं बताई है। विशेषता बताने से उसको सीमित किया जाता है। जैसे कहा गया, काली गाय। तो गायों में केवल काली गाय। सादी गायें छँट गईं। तो विशेषता बना देने से सीमित होती है वस्तु, और जो निर्विशेष है वह निस्सीम है। वह असीम है, इसलिये न वह सत् है न असत्। *'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते'।* यह कहा गया तत्त्व ज्ञान के आधार पर। अब इसे, तत्त्वज्ञान के, व्यवहार के आधार पर समझाते हैं। देखिये, इस बात को भी समझिये। जब वे कहते हैं—

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।। (१३/१३)

तो क्या कह रहे हैं? कि जितने हाथ पाँव हैं, जितनी आँखें हैं, जितने सिर हैं,

जितने मुख हैं, जितने कान हैं इस लोक में, सब उसीके हैं। इसमें दो बातें समाहित हैं। एक तो इसमें पुरुषसूक्त का जो पहला मन्त्र है, *"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्"* उसका भाव लिया गया है। यह जो सारा व्यक्त जगत् है यह परमात्मा का ही रूप है; इसलिये वह असंख्य हाथ-पाँव, सिर, नाक, कान वाला है। एक तो व्यावहारिक रूप से, और व्यवहार के पीछे सच्चाई क्या है? व्यवहार के पीछे सच्चाई यह है कि इस नाना रूप वाले जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म है। रूप नाना हैं, लेकिन इन नाना रूपों वाले जगत् का जो अधिष्ठान है, जो आश्रयस्थल है वह ब्रह्म है। कैसे? इसको समझिये। जैसे सोने से जितने गहने बने, सोने का हाथी बना लीजिये, सोने का घोड़ा बना लीजिये। जैसे दीवाली में हलवाई के यहाँ चीनी की सारी चीजें बनती हैं। चीनी का हाथी, चीनी का घोड़ा, चीनी का सिपाही, चीनी का साधु आदि नाना रूप। लेकिन उन नाना रूपों के भीतर, बाहर, मध्य में क्या है? चीनी है। सोने के जितने गहने हैं, उन सारे सोने के गहनों के बीच में क्या है? सोना है। ये जो हमारी करोड़ों-अरबों आँखें हैं, सिर हैं, हाथ हैं, पाँव हैं; ये जो हाथ, पाँव, सिर वाले लोग हैं ये उसी अधिष्ठान में चित्रित, कल्पित हैं। इन सारे हाथ पाँव वाले मनुष्यों, सारे विश्व-ब्रह्माण्ड के नाना रूपों का जो अधिष्ठान है, आधार है वह वही ब्रह्म है। इसलिये कहा गया—

'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि-शिरोमुखम्'।

यह जो सब कुछ विश्व-ब्रह्माण्ड में दृष्टिगोचर हो रहा है, ये उसी का व्यक्त रूप है। वही झलक रहा है। उसका अधिष्ठान, उसका आधार, उसका आश्रय-स्थल एक ही परब्रह्म है। इसको व्यवहार में *'सर्वं खल्विदं ब्रह्मः'* कहा है। एक बार कहा कि वह सबसे सूक्ष्म है, दूसरी बार कहा कि वही सबकुछ है। जो वह सबकुछ है, तो ये सारे हाथ पाँव नाक, ये सारे शरीर, ये सारे रूप उसी के हैं, इस रूप में इस (ब्रह्म) को ग्रहण करना चाहिये। देखिये ईशावास्योपनिषद् में भी कहा है— *'सर्वमावृत्य तिष्ठति"* ये सबको ढाँक के स्वयं विद्यमान है। *'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।'* जो भी जड़-जंगम, चर-अचर है, सबको भगवान् की भावना से आच्छादित कर दीजिये। तो ये जो *'सर्वमावृत्य तिष्ठति'* इसको ढाँक कर, वही एकमात्र विराजमान है, इस बात को समझना चाहिये। ये अलग-अलग रूप हमको दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु इस नानात्व में *'नेहनानास्ति किञ्चन'*, इसमें नानात्व व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं है। *'सर्वं खल्विदं ब्रह्मः'*, यह व्यावहारिक सत्य है, जिसका आधार यह है कि सबका अधिष्ठान परमात्मा है। दूसरी बात समझने की है—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।। (१३/१४)

वह परमात्मा सब इन्द्रियों से रहित है, फिर भी इन्द्रियों के गुणों का उसमें आभास है। वह अनासक्त है, फिर भी सबको धारण कर रहा है। वह निर्गुण है, फिर भी सब गुणों का भोक्ता है। परस्पर विरोध के द्वारा। ईशावास्योपनिषद् में भी इसका मतलब यही लिया गया है। *'तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके'* यह बात इसमें भी कही गई है। यानी परस्पर विरोध के द्वारा जो बात समझाई जा रही है, वह यह है कि जो हमारी समझ में जैसा आ रहा है वह वैसा ही नहीं है, वही परम रूप नहीं है। उससे भिन्न जो है वह भी परमात्मा है और इसलिये परस्पर विरोधी कथन के द्वारा उस सत्य का बोध कराया जा रहा है। परमात्मा को सब कुछ ज्ञात होता है। लेकिन परमात्मा के ज्ञान का आधार ये इन्द्रियाँ नहीं हैं। *'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'*। परमात्मा में हमारे आपकी तरह कोई इन्द्रियाँ नहीं हैं। हम क्योंकि जड़, प्रकृति के कार्य हैं, इसलिये आँख से देखते हैं, नाक से सूंघते हैं, कान से सुनते हैं, रसना से स्वाद लेते हैं। ये ज्योतियाँ हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, इनको ज्योति कहा जाता है। परमात्मा क्या किसी दूसरी इन्द्रिय के ऊपर आधारित है? निर्भर है? नहीं। *बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।* (बा./११७/५) बिना इन्द्रियों के वह सब कार्य करता है। बिना पैर के चलता है, बिना हाथ के करता है, बिना कान के सुनता है, बिना आँख के देखता है क्योंकि वही ज्ञानस्वरूप है। किसी दूसरी इन्द्रिय, किसी दूसरे करण, किसी दूसरे के सहारे नहीं जानता क्योंकि वह सब जानता है इसलिये *'सर्वेन्द्रियगुणाभासम्'*, उसमें समस्त इन्द्रियों का आभास है। जिन इन्द्रियों के द्वारा हमको जानकारी होती है वे सारी जानकारियाँ उनको होती हैं और इसलिये वे सभी इन्द्रियों के ज्ञान के विषय को जानते हैं। *'सर्वेन्द्रियविवर्जितम्'* बिना किसी इन्द्रिय के होते हुए भी वे किसी दूसरी इन्द्रिय के ऊपर आश्रित नहीं हैं ज्ञान के लिये– यह बताया गया। बिना दूसरे करण के, बिना दूसरे के सहारे के, वे सब जानते हैं इसलिये *'सर्वेन्द्रियगुणाभास'* हैं और इसलिये वे सब इन्द्रियों से विवर्जित हैं, रहित हैं। फिर *'असक्तम्'* – सबसे अनासक्त हैं, निर्लिप्त हैं, लेकिन सबका भरण-पोषण वे ही करते हैं– *'सर्वभृच्चैव'*। अगर परमात्मा की शक्ति न हो तो हम आप शक्तिमान होंगे? परमात्मा की सत्ता न हो तो हमारी आपकी सत्ता होगी? हमारी आपकी सत्ता, हमारी आपकी स्थिति, गति ये सब परमात्मा की स्थिति पर निर्भर है इसलिये हमारा भरण-पोषण परमात्मा करते हैं, यद्यपि वे सबसे अनासक्त हैं। इसलिये किसीकी मृत्यु होती है तो वे रोते नहीं। क्यों नहीं रोते ? क्योंकि वह उसी में है– गया कहाँ?

'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' – किसका शोक? किसका मोह?

इसलिये वे अनासक्त हैं। किसी से मोह नहीं क्योंकि उनके सिवा और कोई है ही नहीं। इसलिये किसी का शोक नहीं क्योंकि उनके सिवा और कुछ होता ही नहीं। तो इसलिये वह अनासक्त होते हुए सबका भरण-पोषण करते हैं। *'निर्गुणं गुणभोक्तृ च'*। वे सत्, रज, तम– इन तीनों गुणों के परे हैं। वे त्रिगुणातीत हैं, निर्गुण हैं। लेकिन इन गुणों के द्वारा जो कुछ भोग किया जा सकता है उसका उपभोग भी करते हैं। कैसे करते हैं? जीव कैसे करता है, परमात्मा कैसे करता है ? दोनों की दृष्टि में अन्तर है। जीव उससे सुखी-दुःखी होता है। परमात्मा उसका बोध करता है। उससे न सुखी होता है, न दुःखी होता है। तो ये निर्गुण होते हुए भी, त्रिगुणातीत होते हुए भी, त्रिगुणों के जो कार्य हैं उन त्रिगुणों के कार्यों को जानने वाले हैं।

ज्ञातृत्वं भोक्तृत्वं, ज्ञातृत्वमें उपलब्धृत्वम्

शंकराचार्य कहते हैं– भोग क्या है? जानना मात्र भोग है। यह खट्टा है, यह मीठा है, यह तीता है, यह कड़ुवा है– इस बात की जानकारी ही उसका भोग है। परमात्मा चूंकि सबकुछ जानता है इसलिये सबकुछ उसको उपलब्ध है। इसलिये वह सबका भोक्ता भी है और किसीका भी भोक्ता नहीं है। गुणातीत होते हुए भी, गुणों के द्वारा जो कुछ रचा गया है, उसका उसको ज्ञान है, उसकी उपलब्धि उसको है इसलिये वह गुणभोक्ता भी है। सीमित अर्थ में कैसे गुणभोक्ता होता है इसको मैं आगे बताऊँगा।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ।। (१३/१५)

अर्थात् वह परम ब्रह्म सब प्राणियों के बाहर भी है और भीतर भी है। वह अचर भी है और चर भी है। अत्यन्त सूक्ष्म होने से वह ज्ञानातीत है और वह दूर भी है तथा पास भी है। इसको कैसे समझाया जाये? इसको समझाया गया है कि जैसे घटाकाश है, मठाकाश है और महाकाश है। अपने घर के आंगन से आप आकाश को देखें, तो आपको आकाश कितना दिखता है? छोटा दिखता है। आपके आंगन के चारों तरफ मकान हैं, उसके ऊपर से, छत से, आपने जो खाली जगह रखी है, उससे आकाश देखा तो थोड़ा सा आकाश दिखा। तो उसको कहा गया 'मठाकाश'। मठ का आकाश या घर का आकाश। अपने शरीर के भीतर, घड़े का आकाश और भी छोटा है। घड़े के आकाश से घर का आकाश बड़ा है। लेकिन घड़े का आकाश और घर के आकाश और महाकाश में कोई अन्तर है क्या? अपने घर के आंगन से जो हम आकाश देख रहे हैं– यह बड़े आकाश का छोटा टुकड़ा है यानी वह बड़ा आकाश ही

है– हमने उसे अपनी सीमा से छोटा सा देखा है। वास्तव में मठाकाश के कारण आकाश में कोई भेद नहीं होता। आकाश का कोई विभाजन नहीं होता, विभाजन-सा लगता है। विभक्त-सा लगता है लेकिन वह अविभक्त रहता है। क्या आकाश के टुकड़े हो जाते हैं? जैसे आकाश के टुकड़े नहीं होते, लेकिन हर आंगन से आकाश अलग-अलग, छोटा-छोटा दिखता है, वैसे ही हर शरीर में वह अलग-अलग दिखता तो है, लेकिन शरीर के भीतर रहने पर वह बाहर भी है। वह शरीर और बाहर के अन्दर और बाहर से बंटा हुआ नहीं है। इसलिये वह—

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।। (१३/१६)

समस्त प्राणियों में वह पूरा का पूरा है; लेकिन हमको अपनी सीमा के कारण, अपनी अज्ञता के कारण, अपनी नासमझी के कारण वह बँटा हुआ सा लगता है। दूसरी पंक्ति बहुत ही महत्वपूर्ण है– *'भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च'*। पहले प्रभविष्णु से शुरू करें। भव माने होना। प्रभविष्णु माने, सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला। और जब उत्पन्न हो गई तो उसका पालन-पोषण कौन कर सकता है? *'भूतभर्तृ'* वही सबका पालन-पोषण करता है। उत्पत्ति का हेतु भी वही, स्थिति का हेतु भी वही। और फिर सबका ग्रास कौन कर जाता है? सबका नाश कौन करता है? वही– *ग्रसिष्णुच।* ग्रसिष्णु माने सबको ग्रस लेने वाला। सबको खा जाने वाला। वही सबका उत्पादक है, वही सबका रक्षक है, वही सबका संहारक है। ब्रह्म के रूप में हम उसको पालनकर्त्ता मान लेते हैं, रुद्र के रूप में हम उसको संहारकर्त्ता मान लेते हैं। लेकिन ये उत्पादक, पालक और संहारक अलग-अलग तीन नहीं हैं। ये तीन सत्ताओं की कल्पना हमने उसी एक परमात्मा में की है।

हमलोग मानते हैं कि आपने किस नाम रूप में इष्टदेव की पूजा की, इससे कुछ आता जाता नहीं। तत्त्व से आप उसको क्या मानते हैं? जैसे पार्वती जी की वन्दना की, तो कहा– *'भव-भव विभव पराभव कारिनि'* (मानस, बालकाण्ड-२३४/८)। इस संसार को पैदा करने वाली तुम, इस संसार को पालन करने वाली तुम, इस संसार का नाश करने वाली तुम। तो संसार का उत्पादन, पालन और नाश करने वाली पार्वती हैं। और सीताजी क्या हैं? *'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीं, सर्व श्रेयष्करीं सीतां'* (मानस, प्रारंभ श्लोक-५)। वे भी वही हैं और शिवजी क्या करते हैं? वे भी वही करते हैं। यानी इष्टदेव के नाम-रूप आप अपनी इच्छा के अनुसार रख सकते हैं, लेकिन आपका इष्टदेव, चाहे उसका नाम कुछ भी हो, चाहे उसका रूप कुछ भी हो,

वह सृष्टि की स्थिति और लय का सामर्थ्य रखता है कि नहीं ? वह ज्ञानस्वरूप है कि नहीं ? वह भक्तस्वरूप है कि नहीं ? वह आनन्दस्वरूप है कि नहीं ? अगर आप उसको उत्पत्ति, स्थिति और लय में समर्थ सच्चिदानन्द स्वरूप मानते हैं, तो आप उसको चाहे राम कह लें, चाहे कृष्ण कह लें, चाहे दुर्गा कह लें, चाहे सरस्वती कह लें, हमको कोई आपत्ति नहीं। तत्त्वतः गुण सबमें समान होने चाहिये और इसलिये शंकराचार्यजी ने कहा, *'सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति'*, किसी भी देवता के प्रति तुमने नमस्कार किया, तो अगर उसको ब्रह्म के रूप में जान कर नमस्कार किया तो तुमने राम को किया, कृष्ण को किया, काली को, सरस्वती को, लक्ष्मी को, किसी को भी नमस्कार किया तो भी ब्रह्म को ही किया। तो असली लक्षण क्या है? *'भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च'* – उत्पत्तिकर्त्ता वही है, पालनकर्त्ता वही है और संहारकर्त्ता भी वही है। अगला श्लोक है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।। (१३/१७)

अर्थात् वह ज्योतियों की ज्योति है, अंधकार से परे है। वही ज्ञान है, ज्ञान का लक्ष्य भी है और ज्ञान के द्वारा ही वह जाना जा सकता है। वही सबके हृदय में विराजमान है।

अभी अंधकार हो गया। बत्तियाँ चली गईं। तो क्या बत्तियाँ ज्योति हैं ? ये ज्योति, किसकी ज्योति से ज्योतिष्मती हैं? हमारी इन्द्रियाँ — इनको भी ज्योति कहते हैं। किसकी ज्योति से ये इन्द्रियाँ विषय का प्रकाश करती हैं। ये बल्ब, कहीं न कहीं एक डायनामो है, पावरहाउस है, वहाँ से अगर बिजली न आये तो ये न चलें। सारी सृष्टि का पावरहाउस कौन है? सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र – इनको कौन प्रकाश देता है? *'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिरतमसः परमुच्यते'* सब प्रकार के अज्ञान के अन्धकार के परे, परमज्योतिस्वरूप परब्रह्म। 'स्वयंप्रकाश्य प्रकाशक रामू'। 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू' (मानस, बालकाण्ड ११६/७)। सारा संसार तो है प्रकाश्य– *'जगत प्रकाश्य'*– तुलसी बाबा बोल रहे हैं। *'प्रकासक रामू'*, सबको प्रकाशित करने वाले राम हैं, ब्रह्म हैं। वे ही *'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'* वे ही ज्ञानस्वरूप हैं, वे ही ज्ञेयस्वरूप हैं और ज्ञान के द्वारा उन्हीं को समझ कर वैसा ही मनुष्य हो जाता है। वे ही सबके हृदय में, अन्तःकरण में स्थित हैं। *विष्ठितम्* – प्रतिष्ठितम्। वे सबके हृदय में प्रतिष्ठित हैं। तुलसीबाबा बोल रहे हैं– *'दुरि न सो हितू हेरि हियें ही है। छलहि छाँड़ि सुमिरें, छोहु कियें ही है'* (विनयपत्रिका-१३५/३)। रामजी कोई दूर हैं ? नहीं-नहीं, देखो! अपने हृदय में, वह हमारा परम

हितैषी, वह हमारा राम, हमारा सर्वस्व हमसे दूर नहीं है। *'हेरि'* – ज्ञान की आँख से देखो। *'हिये ही है'* – अपने हृदय में ही है। *'छलहि छाँड़ि सुमिरे'* – छल को छोड़ कर याद करने पर *छोह किये ही है।* वे तो कृपा किये हुए हैं। हमीं अपने अज्ञान का, अपनी दुष्टता का, अपनी निर्बुद्धिता का छाता लगा लेते हैं तो उसकी कृपा का जल हमको छू नहीं पाता। *'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं'* ज्ञानस्वरूप हैं, वे ही जानने योग्य हैं। ज्ञान के द्वारा, जो बीस गुण बताये उनके द्वारा उनको समझा जा सकता है। वे ही हमारे आपके सबके हृदय में प्रतिष्ठित हैं। आगे कहा है—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।। (१३/१८)

अक्लमंद को इशारा काफी है। अर्जुन भी बुद्धिमान था और आप सब भी बुद्धिमान ही हैं। फिर इसलिये उन्होंने कहा, *'ज्ञेयं चोक्तं समासतः'।* समास में मैंने कहा। *समास* माने, थोड़े में, संक्षेप में। क्या-क्या बताया। पहले बताया क्षेत्र। क्षेत्र क्या है? *'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते'* (१३/१)। ये शरीर क्षेत्र है। क्यों क्षेत्र है? क्योंकि जैसे किसान खेत में बीज बोता है और उसके फल काटता है, तो हम जैसा अच्छा-बुरा काम करते हैं, उसका फल इसी शरीर में भोगते हैं। यही शरीर क्षेत्र है। यही कर्मक्षेत्र है, यही धर्मक्षेत्र है। यही सब कुछ है। यह सारा विश्व-ब्रह्माण्ड भी भगवान् का पूरा क्षेत्र है। तो यह शरीर और यह जगत् – यह क्षेत्र है और वे जो बीस गुण कहे हैं, जो ज्ञानी के लक्षण हैं, जिनके कारण हम भगवान् को समझ पाने की पात्रता उत्पन्न करते हैं, वह है ज्ञान। जो परब्रह्म है, जिसको जानना हमारा कर्त्तव्य है वह है ज्ञेय। इसको मैंने समास में, थोड़े में बताया।

जो ज्ञान की पराकाष्ठा है वह भक्ति है और इसी तरह कहा गया कि जो भक्ति की पराकाष्ठा है वही ज्ञान है। कौन जान सकता है ? *'मद्भक्त एतद्विज्ञाय'* जानने का अधिकारी मेरा भक्त है। *'भक्त्या माम् अभिजानाति'* (१८/५५/१)। बार-बार गीता में कहते हैं, जबतक प्रेम नहीं होगा तब तक ज्ञान नहीं होगा। माँ अपने बच्चे को जितना जानती है, दाई उतना जान सकती है? हम आप जान सकते हैं? माँ अपने बच्चे को कैसे जानती है? क्यों जानती है? क्योंकि माँ अपने बच्चे को पूरा प्यार करती है। इतना प्यार करती है कि उसको मालूम है कि कब उसको भूख लगती है, वह क्यों रो रहा है? वह जो बोल रहा है उसका मतलब क्या है ? शब्द जो कहते हैं उसका अर्थ कुछ और होता है। क्या अर्थ है? माँ जानती है। क्यों जानती है? प्रेम से जानती है। *'भक्त्या माम् अभिजानाति'*। बिना भक्ति के, बिना भगवान् से प्रेम किये, भगवान् को जानना

सम्भव नहीं है। इसलिये *'मद्भक्त'*, मेरा भक्त, *'एतत् विज्ञाय'*, इसको जानकर – जानकर क्या होगा? *"मद्भावायोपपद्यते"* अद्भुत बात है। जैसे ही मेरा भक्त इसको जानता है मेरे ही भाव को प्राप्त हो जाता है, मेरा स्वरूप हो जाता है, मुझसे अभिन्न हो जाता है। भक्त कर रहा है भक्ति। भक्ति करते-करते वह मेरे भाव को प्राप्त हुआ। *'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर्नाम वपु एक'*, भक्ति, भक्त, भगवान् और गुरु – ये नाम तो चार हैं; लेकिन वास्तव में इनकी सत्ता एक ही है। भक्त और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है। भक्त जैसे ही इसको जानता है, जानते ही वह मेरे भाव को प्राप्त कर लेता है– *'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'* (अयो./१२६-३)।

तभी सफल आराधन होता जब आराधक अपना रूप।
धीरे-धीरे तजता जाता बन जाता आराध्य स्वरूप।।

आराधना की सफलता आराध्य से एक हो जाने में है। हम भगवान् की ऐसी भक्ति करें कि भगवान् से अभिन्न हो जायें। फिर भी भक्ति के लिये भेद बनाये रखें। भगवान् से अभिन्न होकर भी रस के लिये, आनन्द के लिये भेद बनाये रखें और उसकी भक्ति करते रहें।

द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया ।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतं अद्वैतादपि सुन्दरम् ।।

बोध ज्ञान की प्राप्ति के पहले जो द्वैत है वह बाँधता है– *'द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक्'* – ज्ञान के पहले द्वैत, मोह का, बन्धन का कारण है। *'प्राप्ते बोधे'*– ज्ञान प्राप्त हो जाने पर *'मनीषया'* – मनीषा के द्वारा, बुद्धि के द्वारा, *'भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतम्"* – भक्ति के लिये जो हमने द्वैत की कल्पना की *'अद्वैतादपि सुन्दरम्'* – वह तो अद्वैत से भी सुन्दर है। जैसे हनुमान जी से राम जी ने पूछा कि हनुमान बताओ तुम कौन हो ? अरे !! हनुमान जी सावधान हो गये। राम जी मेरी परीक्षा ले रहे हैं। वे *'ज्ञानिनामग्रगण्यम्'* – वे तो ज्ञानियों में अग्रगण्य हैं। उन्होंने कहा कि आप किस दृष्टि से पूछ रहे हैं प्रभु, मुझको मालूम नहीं पड़ता है।

देहदृष्ट्यातु दासोऽहं, जीवदृष्ट्या त्वदंशकः ।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहं, इति मे निश्चिता मतिः ।।

दोनों पाठ हैं, कहीं-कहीं *देहदृष्ट्या* है, कहीं *देहबुद्धया* है। जो पाठ लीजिये। कहा– *देहबुद्धया तु दासोऽहम्।* अगर आप देह की दृष्टि से पूछ रहे हैं, देहधारी मैं हूँ, देहधारी आप हैं। तो आप स्वामी हैं, मैं सेवक हूँ। *'जीवबुद्धया त्वदंशकः'*। अगर आप जीव की दृष्टि से पूछ रहे हैं तो मैं आत्मा हूँ, आप परमात्मा हैं। मैं आपका अंश हूँ।

अगर पारमार्थिक दृष्टि से, ज्ञान दृष्टि से आप पूछ रहे हैं, *'त्वमेवाहम्'*। तो जो आप हैं, वही मैं हूँ। *'इति मे निश्चिता मतिः'* यह मेरी निश्चित की हुई बुद्धि है। तो, हनुमान जानते हैं कि *'त्वमेवाहम्'* जो रामजी हैं वही मैं हूँ लेकिन मैंने देह धारण की है, मैं हनुमान के शरीर में हूँ। वे राम के शरीर में हैं। वे मेरे स्वामी हैं, मैं उनका सेवक हूँ। तो ये जो बात है कि, *'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते'*। मेरे भक्त को इसका ज्ञान होते ही वह हो तो जाता है मेरे भाव से अभिन्न; लेकिन चीनी न होकर चीनी खाने वाली चींटी बना रहना चाहता है। चींटी चीनी से अलग रह कर चीनी खाती रहेगी तो उसको स्वाद मिलता रहेगा और अगर चीनी ही हो जायेगी तो उसको अलग स्वाद नहीं आयेगा, यद्यपि यह कहने का एक ढंग है। भगवान् के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जाता। लेकिन भगवान् ने कहा है कि भक्त अगर मुझको ठीक-ठीक जान लेगा तो वह मेरा ही स्वरूप हो जायेगा। मेरे ही भाव को प्राप्त कर लेगा। यहाँ तक कहा गया क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की दृष्टि से।

अब इसके बाद आगे के श्लोक में वह प्रकृति पुरुष की दृष्टि से कह रहे हैं। क्यों कह रहे हैं ? क्योंकि वे वेदान्त और सांख्य को मिलाना चाहते हैं। दर्शन की दो धारायें हैं। एक धारा वेदान्त की है उसमें क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विचार होता है। एक धारा सांख्य की है और उसमें क्षर और अक्षर का विचार होता है। अक्षर है पुरुष और क्षर है प्रकृति। सांख्य के और सारे जो तत्त्व हैं वे तो स्वीकार करते हैं श्रीकृष्ण। आपको मैंने बताया कि जब उन्होंने २४ तत्त्व से क्षेत्र बताया तो पुरुष, अव्यक्त प्रकृति, अव्यक्त प्रकृति से बुद्धि, बुद्धि से अहं, अहं से पंचमहाभूत, पंचमहाभूत से पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ और पाँचों विषय – ये जो २४ तत्व बताये, ये सांख्य के अनुरूप हैं। लेकिन गीता सांख्य को वेदान्त में विलीन करती है। गीता सांख्य के अनुसार यह नहीं मानती कि द्वैत है। गीता सांख्य के सृष्टि-विवेक को मान कर यह कहती है कि प्रकृति और पुरुष दोनों मेरे अधीन हैं। सांख्य में प्रकृति स्वतन्त्र है, अनादि है, अनन्त है। गीता में प्रकृति को अनादि तो कहा है, अनन्त नहीं कहा। परमात्मा भी अनादि है इसलिये अनादि परमात्मा किसी पर शासन करेगा तब न ईश्वर होगा? कोई ईशीतत्व होगा तब तो ईश्वर होगा। कोई श्रोता होगा तब न वक्ता होंगे। श्रोता नहीं होगा तो मैं क्या हवा में बोलूं? तो वक्ता की उपस्थिति से श्रोतृत्व के कारण वक्तृत्व की सत्ता होती है। वैसे ही जिसपर शासन किया जायेगा उसके कारण शासक की सत्ता होती है। परमात्मा शासक है, ईश्वर है, शासन करने वाला है। तो ईशीतत्व कौन है? शासन किसपर करता है? प्रकृति पर करता है, संसार पर करता है। तो परमात्मा को,

प्रकृति को अनादि मानने में वेदान्त को कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन वे एक बात और कहते हैं कि वह अनन्त नहीं है और स्वतन्त्र भी नहीं है।

'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' (९/१०/१)

यह गीता है और यहीं वे सांख्य का विलय वेदान्त में करते हैं। प्रकृति सृष्टि का विस्तार कैसे करती है? स्वतन्त्र रह कर? नहीं, *'मयाध्यक्षेण'* मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चराचर जगत् का निर्माण करती है। तो जो सांख्य का प्रकृति-पुरुष विवेक है वह वेदान्त के क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विवेक से अभिन्न है। इसके लिये वहाँ पर फिर प्रकृति-पुरुष है। बात समझ में आ रही है? सांख्य को गीता ने वेदान्त का अभिन्न अंग प्रतिपादित कर दिया। और इसलिये कहा—

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। (१३/१९)

प्रकृति और पुरुष, इन दोनों को तुम अनादि मानो। समस्त विकारों तथा तीनों गुणों (सत्, रज, तम) को तू प्रकृति का ही परिणाम समझ। पुरुष, जो प्रकृति में स्थित होकर अपनी सीमा में अपने को जीवात्मा, अपने को अज्ञानी मान लेता है, उसको गीता परा प्रकृति कहती है। आपने देखा होगा कि गीता में दो प्रकृतियाँ बताई गई हैं, एक अपरा प्रकृति और एक परा प्रकृति। जो अपरा प्रकृति है वह तो है अष्टधा — पाँच महाभूत और बुद्धि, मन और अहंकार। जो परा प्रकृति है वह है जीव। तो सांख्य जिसको पुरुष कहता है गीता उसको परा प्रकृति, श्रेष्ठ प्रकृति कहती है, क्योंकि उसमें चैतन्य का अंश है ; और सांख्य जिसको प्रकृति कहता है उसको अपरा प्रकृति के रूप में गीता में स्वीकृति मिली है। तो प्रकृति और पुरुष, यानी, प्रकृति और जीवात्मा, ये दोनों अनादि हैं और इन दोनों पर शासन करने के कारण ईश्वर, ईश्वर है। तो ईश्वर की अनादिता ईशीतत्व की अनादिता पर निर्भर करती है। इसलिये प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्। (१३/१९/२)

जो क्षेत्र आदि विकार हैं और जो गुण हैं, सत्, रज, तम — जिनसे हमारी इन्द्रियाँ बनती हैं, जिनसे ये भोग्य विषय बनते हैं, इनको तो तुम प्रकृति से उत्पन्न मानो। प्रकृति क्या करती है? क्षेत्र और उसके विकारों को और तीनों गुणों को निर्मित करती है, उत्पन्न करती है और इसलिये—

कार्यकरण कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। (१३/२०/१)

कार्य माने यह शरीर। कार्य माने यह ब्रह्माण्ड। कार्य माने यह विश्व। और

करण माने हमारे शरीर के भीतर की इन्द्रियाँ। तो यह शरीर और शरीर की इन्द्रियाँ, इनकी रचयित्री तो है प्रकृति। इनके हेतु, इनका कारण तो है प्रकृति। कहीं-कहीं रामानुजाचार्य ने पाठ स्वीकार किया है— कार्य, कारण, कर्तृ। करण माने इन्द्रिय और कारण का मतलब है उस कार्य का जो कारण है, जिसके कारण वह कार्य बना। शरीर और उसका कारण। ये अव्यक्त प्रकृति, कारण है और यह व्यक्त शरीर, यह कार्य है। तो कार्य-करण और कार्य-कारण – इन दोनों के हेतु में तो प्रकृति को प्रधानता दी जाती है। *'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'।* (१३/२०/२)

सुख दुःख का भोग करने का कारण पुरुष है। देखिये आप अगर सतही नजर से देखेंगे तो आपको लगेगा कि इसमें भगवान् के द्वारा एक गलत वक्तव्य दे दिया गया है। अखण्डनीय सिद्धान्त है कि जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। ऐसा नहीं हो सकता कि राम करे और श्याम उसका फल भोगे। जो कर्त्ता है वही भोक्ता है। यहाँ भगवान् क्या कह रहे हैं— कि कर्त्ता तो है प्रकृति और भोक्ता है पुरुष। तो यह तो अनर्थ हो गया। नहीं-नहीं। अनर्थ नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? इसे आगे कहा है— *'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।'* (१३/२१/१) प्रकृति में स्थित होकर पुरुष प्रकृति के गुणों को भोगता है। हमारे शरीर में प्रकृति और पुरुष दोनों हैं। प्रकृति से हमारा शरीर बना है, हमारी इन्द्रियाँ बनी हैं और इसमें जो चैतन्य है वह है पुरुष। लेकिन यह चैतन्य अपने को इस शरीर से एक कर देता है तो प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति के गुणों को भोगता है। दो-तीन उदाहरणों द्वारा बात समझी जा सकती है। सूरज या चन्द्रमा जब उगता है और नदी में जब उसकी लहर आती है, उसकी छाया पड़ती है तो आपने ध्यान दिया होगा कि लहर जैसे चंचल होती है तो सूर्य या चन्द्रमा का बिम्ब चंचल होता है। दूर तक उसकी झलक दिखाई देती है। तो क्या सूर्य चंचल है? चन्द्रमा चंचल है? सूर्य और चन्द्रमा चंचल नहीं हैं। सूर्य और चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जिस पर पड़ रहा है वह जल चंचल है। जल की चंचलता का गुण प्रतिबिम्ब ने अपने में स्वीकार कर लिया इसलिये प्रतिबिम्ब चंचल लगता है। एक और उदाहरण मैं आपको देता हूँ। आप लोग ट्रेन पर तो चढ़ते हैं। तो चल कौन रहा है? ट्रेन चल रही है या आपका शरीर चल रहा है? चल तो रही है ट्रेन। यान पर, गाड़ी पर, ट्रेन पर, हवाई-जहाज पर, जो यानस्थ है, जो यान पर बैठा है, उसकी गति क्या है? यानस्थ की वही गति है जो यान की गति है। यान अगर ६० मील प्रति घंटे की गति से चल रहा है तो यानस्थ कितने मील प्रति घंटे की गति से चल रहा है? और अगर वह ६०० मील प्रति घंटे की चाल से हवाई जहाज में उड़ रहा है तो ६०० मील की गति से शरीर चल नहीं रहा है लेकिन शरीर ने अपने

को यान से एक कर दिया है। यान के भीतर है तो यान की गति यानस्थ में आ गई। एक अन्य उदाहरण है लोहे का काला गोला। लोहे का काला गोला कैसा है? काला-कलूटा है, गोल है, ठंडा है। लोहे के काले गोले को आप धधकती आग में डाल कर तपाइये। वह एकदम लाल-लाल धधकने लगेगा। उस धधकते हुए लोहे के गोले को आप छुएंगे तो आपका हाथ जलेगा। दाहकता तो लोहे के गोले में नहीं थी। अग्नि का गुण लोहे के गोले में आ गया और वह धधकता हुआ, दहकता हुआ लोहे का गोला प्रकाश भी देता है। प्रकाश क्या लोहे का गुण है? नहीं है। वह अग्नि का गुण है। अग्नि का गुण प्रकाश, अग्नि का गुण दाहकता— ये गुण लोहे के गोले में आ गये। जब लोहे के गोले को हम देखते हैं तो आग गोल-गोल दिखाई देती है। क्या आग गोल होती है? आग गोल नहीं होती। लोहे के गोले का गुण आग में आ गया। इसी तरह से प्रकृति का गुण 'कर्तृत्व' हमने अपने में आरोपित कर लिया। कौन बोल रहा है? विष्णुकांत बोल रहा है। विष्णुकांत का शरीर बोल रहा है, विष्णुकांत का कण्ठ बोल रहा है। विष्णुकांत के भीतर जो आत्मा है, वह नहीं बोल रहा है ? लेकिन इस शरीर में रहकर हमारा यह चैतन्य है, इस शरीर के साथ एक होकर, इस शरीर की गति को अपनी गति मान कर, इस शरीर की इन्द्रियों का उपयोग कर अपने को अभिव्यक्त कर रहा है। जब आत्मा अपने को इस शरीर से अभिन्न मान लेता है, जब हम अपने को इस नाम-रूप से एक कर देते हैं, तो इस नाम-रूप के द्वारा जो भोग करते हैं उसके सुख का अनुभव करके हम अपने को सुखी कहते हैं, उसके दुःख का अनुभव करके हम दुःखी कहते हैं — यह जीव का अज्ञान है कि उसने अपने को प्रकृति के साथ एकरूप कर दिया है। अब आगे देखिये, ध्यान दीजिये–

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्। (१३/२१/१)

यानी प्रकृतिजन्य देहों का आधार लेकर ही पुरुष प्रकृति के गुणों को भोग रहा है। ये गुण किसके हैं? प्रकृति से उत्पन्न गुण हैं। भोग क्यों रहा है पुरुष? क्योंकि पुरुष ने अपने को प्रकृतिस्थ कर दिया है। प्रकृति के साथ एक कर दिया है। हमारा शुद्ध स्वरूप क्या है? हमारा शुद्ध स्वरूप तो सच्चिदानन्द-स्वरूप है। हम तो आनन्द-स्वरूप हैं, हम तो ज्ञानस्वरूप हैं, हम तो सत्स्वरूप हैं। हमारा तो नाश नहीं हो सकता। हमको तो शोक दुःख छू नहीं सकता। हमको शोक दुःख क्यों छू रहा है? हम क्यों अपने को शोकार्त मानते हैं। हम क्यों अपने को दुःखी मानते हैं? हम क्यों अपने को सुखी मानते हैं? क्योंकि हमने अपने को इस नाम-रूप से, इस शरीर से एक कर दिया है और इस शरीर के जो गुण-दोष हैं उनको हमने अपने ऊपर आरोपित कर लिया है। बेटा पास

होता है तो हम खुश होते हैं। बेटा फेल होता है तो हम दुःखी हो जाते हैं। तस्वीर छपती है तो खुश हो जाते हैं। कोई गाली देता है, निन्दा करता है तो दुःखी हो जाते हैं। यह क्या बात हुई? जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, वह तो आनन्दस्वरूप है। हम इस शरीर के साथ अपने को उसी प्रकार एक कर रहे हैं जैसे आग गोल हो गई है और वह लोहे का गोला चमक रहा है। लोहे का गोला जला रहा है। विष्णुकांत का शरीर बोल रहा है। बोल रहा है विष्णुकांत का शरीर चैतन्य के कारण। चैतन्य का गुण आ गया है। और जब विष्णुकांत अपने को सुखी-दुःखी मानता है तो वह प्रकृति का आरोपण हम पर है। बात समझ में आ रही है? भगवान् की अध्यक्षता में, कार्य करने वाली है प्रकृति, और उस प्रकृति के साथ जब हम अपना तादात्म्य कर लेते हैं तो प्रकृति का जो गुण है, कार्य करना, वह हम अपना कार्य मान लेते हैं और प्रकृति का जो सुख-दुःख भोग करने का अंश है उसे हम अपना मान लेते हैं और हम सुखी-दुःखी होते हैं। इस बात को याद रखिये– प्रकृति के गुणों का उपभोग पुरुष प्रकृति में स्थित होकर करता है। अगर वह अपने को प्रकृति से अलग मान ले, तो न वह सुखी है न दुखी है, वह आनन्द स्वरूप है। इसलिये जो कर्त्ता है वही भोक्ता है– यह नियम खण्डित नहीं होता। प्रकृति में स्थित होकर, प्रकृति के गुण-दोषों को अपने ऊपर आरोपित कर हमारा जो चैतन्य-स्वरूप आत्मा है, वह अपने को सुखी-दुःखी मानता है, अपने को अज्ञानी मूर्ख मानता है, भोग करता है।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु। (१३/२१/२)

और जब वह गुणों में आसक्त होता है, तो जिस गुण में आसक्त होगा, जिसमें जिस गुण की प्रधानता होगी उसको वैसी ही अच्छी-बुरी योनि मिलेगी। जिसमें सत्व गुण की प्रधानता होगी उसको देवयोनि मिलेगी – वह ऋषि होगा, वह विद्वान होगा, महापुरुष होगा। जिसमें रजोगुण की प्रधानता होगी – वह प्रतिस्पर्धी होगा, सबों को हराने वाला होगा, रजोगुणी काम करने वाला होगा। जिसमें तमोगुण की प्रधानता होगी वह अज्ञ होगा। ज्यादा तमोगुण होगा तो तिर्यक योनि में जायेगा, पशु-पक्षी बनेगा, और भी ज्यादा तमोगुण की प्रधानता होगी तो जड़ हो जायेगा। सत्व-रज-तम तीनों में रहेंगे। प्रधान क्या है? सत्व गुण की प्रधानता से ज्ञान आता है। रजोगुण की प्रधानता से कर्मठता आती है, क्रिया आती है, तेजस्विता आती है, दबंगता आती है, दूसरों को हरा कर जीतने की इच्छा आती है और तमोगुण की प्रधानता से आलस्य आता है, निद्रा आती है, निकम्मापन आता है। तो इन त्रिगुणों में जिस गुण के साथ आपने अपनी आसक्ति दिखाई, जिसके साथ आप चिपक गये वही गुण जीवात्मा को अच्छी-बुरी योनि में जन्म लेने का कारण बनता है। चौदहवें अध्याय में कहा गया है–

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।। (१४/१८)

सतोगुणी लोग निरन्तर ऊँचे उठते हैं, रजोगुणी मध्यम जीवन व्यतीत करते हैं और तमोगुणी अधोगति को प्राप्त करते हैं। अतः जघन्य गुण वृत्ति में अगर रहोगे तो पशु-पक्षी बनोगे। इसलिये सत्त्वगुण में जाओ। सत्त्वगुण में जाने वाला ही त्रिगुणातीत हो सकता है। तो अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेना भी हमारे इस शरीर के द्वारा किये गये कर्म पर निर्भर करता है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। (१३/२२)

इसी शरीर में रहने वाला वह परमात्मा देखिये दूर से कैसे निकट आ रहा है। *'उपद्रष्टा'* – पहली भूमिका है – द्रष्टा नहीं उपद्रष्टा। हमारा जो आत्मा है, चैतन्य, वह अन्तःकरण के पास रह कर अन्तःकरण के द्वारा किये गये और कराये गये सब काम देखता है। काम जो कर रहा है वह अन्तःकरण – हमारा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार हमारी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से कराता है। आत्मा क्या है? आत्मा अन्तःकरण के पास रह कर उससे असक्त रहता हुआ उसको देखता है। परमात्मा उपद्रष्टा के रूप में, अन्तःकरण के रूप में देखता है। अन्तःकरण के पास बैठ कर उसके किये हुए सब कामों को देखता है। पर उससे युक्त नहीं होता। लिप्त नहीं होता। *'अनुमन्ता'*, उसका विरोध नहीं करता। जो करता है करे। तो इसलिये वह अनुमति देता हुआ सा लगता है। *'भर्ता'*, अगर परमात्मा नहीं होगा तो यह शरीर जड़ हो जायेगा। इसलिये इस शरीर को धारण करने वाला, भरण-पोषण करने वाला है। *'भोक्ता'*, भोग तो रहा है अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य। लेकिन उसकी उपस्थिति में रह कर के, कभी-कभी जब वह उसके साथ तादात्म्य करेगा तो भोक्ता भी हो जायेगा। और वह सबका शासक है। लेकिन उपद्रष्टा से महेश्वर तक, कुछ न कुछ आसक्ति, कुछ न कुछ स्थिति अन्तःकरण के साथ जुड़कर शरीर के साथ लिप्तता की रहती है। *'परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः'*, और जब वह परमात्मा होता है तो सबके अन्तरंग में रहकर वह बिल्कुल सबके परे भी होता है। वह इस शरीर में रहने वाला परम पुरुष *'देहेऽस्मिन्पुरुषः परः'*, वह जिससे परे कोई नहीं है। वह परमात्मा, उपद्रष्टा के रूप में, अनुमति देने वाले के रूप में, भरण-पोषण करनेवाले के रूप में, भोक्ता के रूप में, शासक के रूप में हमारे ही शरीर में रहता है। लेकिन वह इन सबसे अलिप्त है। वह परमपुरुष, परमात्मा – उसको जिसने इस तरह से जान लिया–

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह । (१३/२३/१)

जिसने पुरुष और प्रकृति को उनके गुणों के साथ जान लिया; जान लिया कि प्रकृति सत्-रज-तम त्रिगुणात्मिका है, जान लिया कि प्रकृति हमको बराबर कर्म करने में बांधे रखती है, और उसका फल भोगने के लिये हमको विवश बना देती है; जान लिया कि पुरुष अनासक्त है, सत् स्वरूप है, चित्स्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। इस तरह जो पुरुष और प्रकृति को उनके गुणों के साथ जान लेता है, और पुरुष तथा प्रकृति को जानकर प्रकृति से अपने को अलग कर लेता है और पुरुष को जान कर पुरुष के साथ अभिन्न हो जाता है, चैतन्य हो जाता है। और—

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते। (१३/२३/२)

जो व्यक्ति पुरुष को, प्रकृति को उनके गुणों के साथ भलीभांति जान लेता है, वह व्यक्ति 'सर्वथा'— सब प्रकार के काम करते हुए भी — सब प्रकार से व्यवहार करते हुए भी, युद्ध करते हुए भी, मारते हुए भी वह मारता नहीं है। वह कोई काम करते हुए भी उस काम से लिप्त नहीं होता — *'सर्वथा वर्तमानोऽपि'*, सब प्रकार से काम करते हुए भी, *'न स भूयोऽभिजायते'*, फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता। क्योंकि वह तो मुक्त हो गया। क्योंकि उसको तो मोक्ष मिल गया। एक अत्यंत गूढ़, बहुत महत्त्वपूर्ण ज्ञेय, जिसको जान लेना हमारे जीवन का कर्त्तव्य है उसे भगवान् ने हमें बताया है। जिसको हम अपने से अलग विषय के रूप में नहीं जानते, जिसको जान कर हम वही हो जाते हैं। जिसको जानकर हम अमृत हो जाते हैं, उस परमात्मा को, उस क्षेत्रज्ञ को, उस ब्रह्म को प्रकृति के भेदों के साथ बहुत थोड़े में किन्तु बहुत ही सटीक शब्दों में, निश्चित किये हुए अर्थों में भगवान् ने हमको बताया है। वे कहते हैं कि इस तरह प्रकृति को और प्रकृति के गुणों को समझ लो; इस तरह अपने को समझ लो और इस शरीर में रहते हुए भी अपने को प्रकृति से अलग कर लो। जबतक तुम प्रकृति से अपने को अलग नहीं करोगे, जबतक तुम प्रकृति में स्थित रह कर करोगे तो तुम सुखदुःख भोगते रहोगे, तुम सुखी-दुःखी रहोगे। तो तुम कभी मनुष्य बनोगे, कभी चूहा, बिल्ली, केंचुआ बनोगे तो कभी पत्थर बन जाओगे। तो अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का तुम्हारा यही कारण है। जिस गुण के प्रति तुम आसक्त हो, जिस गुण का तुमने विकास किया है उसी के अनुरूप तुमको जन्म मिलेगा। अगर गुणों से तुमने खुद को अलग कर लिया है, अगर तुमने परमात्मा के साथ अपने आपको एक कर लिया है तो तुम्हारा पुनर्जन्म नहीं होगा। ●

प्रवचन-३९*

आत्म दर्शन के विविध मार्ग

भगवान् की कृपा है कि गीता के ज्ञान-यज्ञ का क्रम अबाध चल रहा है। त्रयोदश अध्याय कई दृष्टियों से कठिन अध्याय है। इसका मर्म हम-आप समझें अतः भगवान् ने इसमें कई बार फलश्रुति कही है। सामान्यतः फलश्रुति एक बार ही कही जानी चाहिए। जब माता-पिता की इच्छा होती है कि बच्चे यह काम अवश्य करें तो बच्चों को प्रेरणा देने के लिए, उत्साह देने के लिए कई बार वे उनकी पीठ थपथपाते हैं। उन्हें यह बताते हैं कि देखो यह करोगे तो यह मिल जाएगा। बार-बार फलश्रुति का कथन इस बात का प्रमाण है कि प्रभु स्वयं जानते हैं कि यह विषय कठिन है और इस कठिन विषय में लोगों की रुचि जागृत हो, लोग उसको ठीक-ठीक समझ लें, इसके लिए बार-बार प्रोत्साहन की आवश्यकता है। इसे इसी रूप में लेना चाहिए।

हमलोग यह मानते हैं कि ज्ञान प्राप्त होते ही आत्म-साक्षात्कार हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

सोइ जानइ, जेहि देहु जनाई।
जानत तुम्हहि, तुम्हइ होइ जाई।। (अयोध्याकांड/१२६-३)

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' — ब्रह्म को जानते ही ब्रह्म हो जाता है। ज्ञान मात्र से जो प्राप्त होता है, वह पहले से था। केवल अज्ञान के कारण वह अप्राप्त-सा प्रतीत होता था। ज्ञान होते ही वह प्राप्त हो गया क्योंकि वह पहले से था। अब इस बात को भगवान् ने इस अध्याय में कई बार कहा है। क्यों कहा है ? इसलिए कहा है कि ज्ञान होते ही उसको आत्म-साक्षात्कार हो जाता है, जिसको संशय-विपर्यय नहीं रहता। संशय-विपर्यय से रहित जो शुद्ध अंतःकरण है, शुद्ध चित्त वाला है; उसका श्रवण मात्र से कल्याण हो जाता है। अगर संशय हो तो मनन करना पड़ता है और अगर विपर्यय भी हो तो फिर निदिध्यासन करना पड़ता है। इस अध्याय में तीन क्रम बहुत स्पष्ट हैं। आपने ध्यान दिया होगा तो पहले क्रम में इसको कहा गया है— *'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग*

* त्रयोदश अध्याय (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग) : श्लोक संख्या २४ से ३४

योग'। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विभाग कर रहे हैं। शरीर में, पिण्ड में जो है वही ब्रह्माण्ड में है। इस शरीर को क्षेत्र कहा गया है और इस शरीर का जो ज्ञाता है, वह क्षेत्रज्ञ है। इसीलिए महान् काली भक्त साधक रामप्रसाद ने कहा है—

मन रे कृषि काज जानो ना।
एमन मानवजमि रइलो पतित
आबाद करले फलतो सोना।

अर्थात् यह शरीर रूपी खेत तुमने बिना कृषि किये बंजर छोड़ दिया। अगर शरीर रूपी खेत में तुम ठीक से खेती करते तो इसमें तो सोना फल जाता, तुम्हें ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती। क्षेत्र का सीधा अर्थ लेकर साधक रामप्रसाद ने यह पद कहा है। भक्त रामप्रसाद की मानवजमि (मानव-जमीन) ही गीता में क्षेत्र के रूप में वर्णित है। अब उस क्षेत्रज्ञ के मात्र ज्ञान से क्या होता है, इसकी पहली बार प्रभु ने फलश्रुति कही है— बारहवें श्लोक में— *ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।* (१३/१२/१)

मैं तुम्हें ज्ञेय के बारे में, क्षेत्रज्ञ के बारे में बता रहा हूँ— *यद्ज्ञात्वा*— जिसको जानते ही, *अमृतमश्नुते*—तुम अमृतत्व को प्राप्त हो जाओगे। अगर तुम्हारे, भीतर संशय विपर्यय नहीं है तो *'यद्ज्ञात्वा अमृतमश्नुते'*— उस परम सत्य को, उस परम ज्ञान की अनुभूति होते ही तुम्हें साक्षात्कार हो जाएगा। फिर २३वें श्लोक में भी फलश्रुति कहते हैं—

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।। (१३/२३)

जो इस प्रकार पुरुष को जान लेता है और गुणों के साथ प्रकृति को जान लेता है— जब गुणों के साथ प्रकृति को जानकर वह प्रकृति को अपने से पृथक् और अपने को शुद्ध पुरुष मान लेता है तो *'सर्वथा वर्तमानोऽपि'* — सब प्रकार से व्यवहार करते हुए भी चाहे वह राम और जनक के समान राज्य करे, चाहे कृष्ण के समान रास रचाए, चाहे वसिष्ठ के समान उपदेश दे, चाहे अलमस्त रह जाए, फक्कड़, अवधूत रह जाए भरत की तरह, *'सर्वथा वर्तमानोऽपि'* यानी सब प्रकार से व्यवहार करते हुए भी वह पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता, उसका मोक्ष हो जाता है।

उनको लगा कि संशय के बाद भी कुछ रह गया है। शायद विपर्यय भी हो तो? विपर्यय किसको कहते हैं? विपर्यय कहते हैं विपरीत प्रत्यय को। जो उचित नहीं है जो संगत नहीं है उस विश्वास, उस बोध के भिन्न इसका विपरीत अगर कोई प्रत्यय हो तो वह विपर्यय होता है और विपर्यय के निराकरण के लिए निदिध्यासन करना पड़ता है। अब इसके बाद चौबीसवाँ, आज का प्रकरण शुरू होता है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।। (१३/२४)

इसमें उन्होंने चार रास्ते बताए हैं। आत्म-दर्शन के दो रास्ते वे बता चुके हैं। आत्म-दर्शन का सर्वश्रेष्ठ प्रकरण वह है जब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के वियोग का, विभाग का ज्ञान हो जाए तो क्षेत्रज्ञ के स्वरूप से अपने को एक मानते ही मुक्ति हो जाएगी। फिर उन्होंने प्रकृति और पुरुष का विवेक किया और कहा कि जो प्रकृति में स्थित पुरुष है, जो अपने को प्रकृति से एक कर देता है वही कर्ता-भोक्ता होता है, वही बँधता है इसलिए अपने को प्रकृति में स्थित न मानो। प्रकृति से मुक्त मानो, प्रकृति तुमको स्पर्श नहीं कर सकती। क्यों नहीं कर सकती? क्योंकि प्रकृति तो जड़ है, पुरुष तो चेतन है। जड़ और चेतन की गाँठ नहीं पड़ती। लेकिन दुर्भाग्य से पड़ी हुई-सी लगती है। रामचरितमानस में कहा है—

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई।
जदपि मृषा छूटत कठिनई।। (मानस उ०/११६-४)

जैसे फूलों की माला से या किसी डोरी से हम हवा को नहीं बाँध सकते क्योंकि दोनों की सत्ता अलग-अलग है, वैसे ही जड़ से चेतन को नहीं बाँधा जा सकता। लेकिन हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम अभ्यास के कारण उससे बँध गए से लगते हैं। अभ्यास माने ? जो न होते हुए भी निकट रहने के कारण अपना उसमें अनुभव करने लगे। जैसे आप लोगों को मैंने बताया था कि अगर कोई स्फटिक है तो उसमें तो कोई वर्ण नहीं है, निर्वर्ण है। उसके पीछे अगर एक लाल गुलाब रख दिया जाए, उसके पीछे अगर एक जवा पुष्प रख दिया जाए तो वह स्फटिक मणि लाल दिखती है कि नहीं? स्फटिक मणि लाल न होते हुए भी लाल जवा पुष्प की सन्निधि के कारण, निकटता के कारण लाल दिखाई पड़ती है और अगर वह अपने को लाल मान ले तो बँध जाएगी। ठीक इसी तरह जड़ प्रकृति की सन्निधि के कारण आत्मा अपने को उससे अभिन्न मान लेता है, जब हम अपने को यह शरीर मान लेते हैं।

पुरुष जब इस प्रकृति के बनाए हुए शरीर को अपना आपा मान लेता है, उसमें स्थित हो जाता है तो वह बँध जाता है। अपना आपा यह शरीर नहीं है। हम शुद्ध, निर्गुण, शुद्ध सत्य, सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं— यह कैसे प्राप्त हो? शंकराचार्यजी और उनके अनुयायी कहते हैं कि अगर तुम्हारे मन में विपर्यय रह गया है तो तुमको उसके लिए निदिध्यासन करना होगा। यहाँ दो उपाय पहले बता दिए गए। सबसे श्रेष्ठ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग, उसके बाद प्रकृति-पुरुष विवेक। संशय का उच्छेद हो गया हो तो उसके

साथ ही मुक्ति होगी। अगर संशय के बाद विपर्यय भी है तो शंकराचार्य और उनके अनुयायी, टीकाकार मानते हैं कि तब तुमको निदिध्यासन करना होगा।

निदिध्यासन किसको कहते हैं ? *'ध्यातुं इच्छा दिध्यासा'*। ध्यान करने की इच्छा को कहते हैं दिध्यासा। और नितराम् दिध्यासा को कहते हैं निदिध्यासन। निदिध्यासन क्या हुआ? निदिध्यासन यानी अपने वास्तविक स्वरूप के संबंध में तैलीय धारा की तरह अविच्छिन्न। जैसे तेल की धारा बिना रुके गिरती रहती है। कोई व्याघात न हो, कोई रुकावट न हो। सजातीय प्रत्यय का प्रवाह होता रहे। मैं चैतन्य-पुरुष हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं यह जड़ नहीं हूँ। यह जड़, यह प्रकृति, यह शरीर—यह मैं नहीं हूँ। मैं शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ। इस प्रकार का जो अविच्छिन्न विचार, अविच्छिन्न आत्म-चिन्तन—वह निदिध्यासन है। तो शंकराचार्य और उनके अनुयायी मानते हैं कि—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना'। (१३/२४)

'केचित्'— केचित माने कुछ लोग। कौन से कुछ लोग? वे कुछ लोग नहीं जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग को नहीं समझ पाए। वे कुछ लोग नहीं जो प्रकृति-पुरुष विवेक को हृदयंगम नहीं कर पाए। वे कुछ लोग जो ध्यान के द्वारा (ध्यान का मतलब यहाँ—वेदान्त का ध्यान, निदिध्यासन। निदिध्यासन के द्वारा तैल धारावत् अविच्छिन्न रूप से) मैं सच्चिदानन्द-स्वरूप, मैं चैतन्य, मैं परब्रह्म—इस प्रकार की प्रत्यय-धारा को निरन्तर अनुचिन्तन के द्वारा उपलब्ध करते हैं। साथ ही तमाम विपरीत प्रत्यय (मैं जड़ प्रकृति हूँ, मैं यह शरीर हूँ) का निराकरण कर देते हैं—उनको उस निदिध्यासन के द्वारा भगवान् कहते हैं कि अपनी ही आत्मा को वे अपनी आत्मा से देखते हैं। अपने में अपने आपे को अपने-आप देखते हैं। अब इसमें अपना अपना दो-तीन बार आया है। शंकराचार्य ने बताया कि इसका मतलब यह हुआ कि वे अपने अंतःकरण में, अपनी शुद्ध बुद्धि में निर्मल मन के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप, अपने ब्रह्म-स्वरूप, अपने आत्म-स्वरूप का अनुभव कर लेते हैं। यही हुआ अपने आपे के द्वारा अपने आपको अपने में देखना। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि यह बुद्धि और मन भी क्यों लाया जाता है? बुद्धि और मन भी जड़ है। अंतःकरण जड़ है। इसलिए शुद्ध आत्मा ही अपने आप को अपने आप से अनुभव करती है। यह एक कदम और आगे जाता है। मेरे गुरु स्वामी अखंडानन्द जी सरस्वती महाराज कहते हैं कि ठीक है, शंकराचार्य जी महाराज ने जो कहा, वह भी सही है कि शुद्ध बुद्धि में शुद्ध निर्मल मन के द्वारा आत्मा का अनुभव हो जाता है। लेकिन और भी सूक्ष्मता से यदि विचार किया जाए तो वह आत्म-तत्त्व अपने-आप अपने को उपलब्ध कर लेगा। इसका मतलब हुआ कि—

'केचिदात्मानमात्मना आत्मनि ध्यानेन पश्यन्ति'।

देखिए— अधिकरण आत्मा है अपने में, करण आत्मा है अपने से, कर्म आत्मा है अपने को। अपने में, अपने से, अपने को उपलब्ध कर लेना। अब अपने में—इसका व्यापक अर्थ कि अपनी शुद्ध बुद्धि में; अपने से—अपने शुद्ध मन से अपने आत्म-स्वरूप की उपलब्धि कर लेना। या आत्मा के ही द्वारा आत्मा का नितान्त शुद्ध अनुभव होना— यह पहली बात हुई। जो आत्म-चिन्तन के, आत्म-दर्शन के अन्य मार्ग हैं उन दोनों मार्गों के अलावा उसमें यह पहली बात है कि निदिध्यासन के द्वारा उसकी उपलब्धि करो।

अगर निदिध्यासन करने की क्षमता न हो तो क्या करो? देखिए कितने कृपालु हैं श्रीकृष्ण। अधिकारी-भेद के अनुकूल साधना होती है। सब धान बाईस पसेरी नहीं होते। प्रभु ने एक ही रास्ता क्यों नहीं बताया? भगवान् श्रीकृष्ण जानते हैं कि अनेक स्तर हैं श्रोताओं के, अनेक स्तर हैं साधकों के। जो जिस स्तर का साधक है, उसको उस स्तर की साधना बताई जाती है। अगर तुम निधिध्यासन न कर पाओ तो फिर—

'अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे'। (१३/२४/२)

'सांख्येन योगेन' सांख्य-योग के द्वारा तुम उसकी उपलब्धि करो। शंकराचार्य यहाँ सांख्य का अर्थ कपिल निरूपित सांख्य-शास्त्र लेते हैं और वे कहते हैं कि सांख्य का एक अर्थ ज्ञान भी होता है। तो ज्ञान-योग तो सर्वोत्कृष्ट है— यह आगे भी बता दिया। तो यह सांख्य-योग क्या है? इसमें वे बताते हैं कि तुम, जो अनात्मा है उससे अपने को काटते चलो। शरीर—यह अनात्मा है इसको छोड़ो। शरीर से सूक्ष्म हैं इन्द्रियाँ। इन्द्रियाँ भी जड़ हैं—उनको छोड़ो। इन्द्रियों से सूक्ष्म है मन। मन भी जड़ है—उसको भी छोड़ो। मन से सूक्ष्म है बुद्धि—उसको भी छोड़ो। आप देखिए! तृतीय अध्याय में यह बात बताई गई है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥ (३/४२)
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना। (३/४३/१)

अर्थात् क्रमशः अंतर्मुखी होते चले जाओ और जो भी जड़ है, जो भी अनात्मा है—उसका परित्याग करते जाओ। मैं यह शरीर नहीं हूँ। मैं ये इन्द्रियाँ नहीं हूँ। मैं यह मन नहीं हूँ। मैं यह बुद्धि नहीं हूँ, इस प्रकार क्रमशः जो शुद्ध चैतन्य तत्त्व है उस पर अपने को स्थिर करो। आत्मा सांख्य में भी अकर्त्ता है लेकिन अकर्त्ता होते हुए भी सांख्य यह मानता है कि प्रकृति उसके लिए भोगों की रचना करती है और अगर आत्मा

भोगों से विमुख हो तब तो उसको अपवर्ग की प्राप्ति होती है पर अगर वह भोगों में अनुरक्त हो जाए तो उसको भोगों की प्राप्ति होती है। वेदान्त की आत्मा भोगों की प्राप्ति करने वाली आत्मा नहीं है। उन्होंने कहा कि चलो अगर तुम वेदान्त की आत्मा के द्वारा श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा *'तत्त्वमसि'* — तुम ही वह परम तत्त्व हो — इसको उपलब्धि नहीं कर पाते तो फिर सांख्य योग के सहारे तुम अनात्मा का त्याग करो। अनात्मा का त्याग करने के बाद तुम फिर वही आत्मा हो जाओगे। इसका उत्तरदायित्व भी प्रभु का ही है। यह समझ लो और संकल्प करो। इस संकल्प के अनुसार मैं कर्म करूँ और उनका कर्म करने के बाद जो फल मिले उसे उनको ही अर्पित करूँ। संकल्प राम का, कर्म भी राम का और फल भी राम को ही समर्पित— इस प्रकार कर्म करते हुए चित्त की पूर्ण शुद्धि होकर परमात्मा की प्राप्ति होगी। यह तीसरी भूमिका बताई। यह भी कोई न कर सके तो? इन तीनों में कुछ-न-कुछ ज्ञान अपेक्षित है। निदिध्यासन में भी, सांख्य-योग में भी और कर्म-योग में भी। अगर कोई इन तीनों से रहित हो तो ? क्या उसके लिए कोई रास्ता नहीं है? हाँ। उसके लिए भी रास्ता है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।। (१३/२५)

अगर वे ज्ञानी न हों, तो फिर उनमें श्रद्धा तो होनी चाहिए। उनमें श्रुतिपरायणता तो होनी चाहिए। किसी योग्य गुरु के पास जाकर, जिसको ज्ञान की उपलब्धि हो चुकी हो उसकी बात सुनकर, उसके बताए हुए रास्ते पर जो श्रद्धापूर्वक चलेगा, उसका भी कल्याण हो जाएगा। यह मैंने आपको शंकराचार्य और उनके अनुयायियों के द्वारा व्याख्यायित दृष्टि बतायी। रामानुजाचार्य यहाँ अपने आप को थोड़ा भिन्न करते हैं। रामानुजाचार्य कहते हैं कि ध्यान का मतलब यहाँ निदिध्यासन नहीं है। ध्यान का मतलब अपने इष्टदेव का ध्यान है। भक्ति का ध्यान अपने इष्टदेव के नाम, रूप, लीला, धाम का अनुशीलन करना है। भक्त जब ध्यान करता है तो क्या करता है ? पहले अपने हृदय धाम को देखता है। पहले अपने मन में चित्रकूट को लाओ। चित्रकूट में फिर राम को देखो, फिर सीता को देखो। फिर लक्ष्मण को देखो। फिर सोचो कि राम लक्ष्मण सीता क्या कर रहे हैं? फिर उसमें अपना मन लगाओ तो ध्यान के द्वारा भी तुमको उनका साक्षात्कार होगा। सांख्य योग (ज्ञान-योग) में भक्ति को सर्वोपरि मानते हैं, ज्ञान को उसके बाद मानते हैं फिर कर्मयोग और फिर उपासना। तो ये अलग-अलग दृष्टियाँ हैं, लेकिन मूल बात यह है कि अगर हम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का विवेक न कर पाएँ

अगर हम प्रकृति-पुरुष का विवेक न कर पाएँ तो भी हमारे लिए निराश होना उचित नहीं है। और भी रास्ते हैं, उन रास्तों पर अपनी-अपनी क्षमता के अनुरूप जो हमको साधना मिले, उस साधना के अनुसार हम काम करते रहें। निश्चय ही भगवान् हमारा कल्याण करेंगे —यह उन्होंने वचन दिया। छब्बीस से चौंतीस तक के श्लोकों में इन्हीं बातों को दूसरे ढंग से फिर दोहराया गया है। क्यों दोहराया गया है? गुरु की करुणा इसमें मुखर हो रही है। आपको याद होगा, तुलसी बाबा ने कहा है—

मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत।। (मानस/१/३०क)
तदपि कही गुर बारहिं बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा।। (मानस/१/३०/१)

गुरु की भाँति भगवान् कृपापूर्वक उस बात को बार-बार निरूपित कर रहे हैं क्योंकि कठिन विषय है। कठिन विषय को एक ही बार कह कर समाप्त कर देना—यह करुणा-वरुणालय गुरु का धर्म नहीं है। गुरु कहता है कि कठिन विषय है। सच बताओ कि हमलोग अपने को क्या मानते हैं? हमलोग अपने को यह नाम मानते हैं, यह रूप मानते हैं। नाम-रूप से हम इस तरह आबद्ध हैं कि नाम-रूप के परे ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं, चैतन्य आत्मा हैं, इस बात को भूले हुए हैं। चैतन्य आत्मा की उपलब्धि कठिन है अतः गुरु कृपापूर्वक फिर समझाते हैं। क्या समझाते हैं? कि दुनिया में जो कुछ भी तुमको दीख रहा है—इसमें दो चीजों का योग है—

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।। (१३/२६)

हे भारतवर्ष में श्रेष्ठ अर्जुन! इस बात को समझ लो कि इस सृष्टि में जो कुछ दीख रहा है (मैंने आपको बताया कि क्षेत्र-पिण्ड के रूप में सीमित हमारा-आपका शरीर और व्यापक रूप में सारा ब्रह्माण्ड *'यत् पिण्डे तत् ब्रह्मांडे'*) ये सारी चीजें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से दृष्टिगोचर हो रही हैं। इसको समझिए। हर वस्तु में परमात्मा है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जिसमें परमात्मा नहीं है। अगर परमात्मा नहीं होगा तो वस्तु का आभास भी नहीं होगा। आप कोई भी चीज देखते हैं, उसमें क्या देखते हैं? इसमें पाँच चीजें देखते हैं—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नामचेत्यक्षपंचकम्
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततोद्वयं।

कोई भी चीज आप देखें। देखिए माला है। माला का होना है अस्ति। माला

प्रकाशित हो रही है, इसका ज्ञान हो सकता है—यह है भाति। माला प्रिय है यह भी देखते हैं कि नहीं? अस्ति, भाति, प्रिय। कुछ लोग कुछ चीजों को अप्रिय भी मानते हैं। वैसे अप्रिय अन्य कुछ भी नहीं है। हमारे प्रिय के लिए जो बाधा सृष्टि करता है, वही अप्रिय हो जाता है। तो अप्रियता 'प्रिय' का निषेध है। तो अस्ति एवं भाति, ये है सत्। इसका बोध होता है चित् और यह प्रियता है आनन्द। तो अस्ति भाति प्रिय— ये तीन पक्ष तो हैं ब्रह्म के। और दो पक्ष क्या हैं? दो पक्ष हैं नाम रूप, नाम रूप जगत्। नाम रूप मिथ्या है। तो जितनी भी चीजें हम देख रहे हैं उनमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों का संयोग है। क्षेत्र है—वही पाँच महाभूत, फिर दसों इन्द्रियाँ, फिर शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध, फिर अहंकार, फिर महत् तत्त्व, बुद्धि, इच्छा, दुःख-सुख, द्वेष, धृति, चेतना— ये सब हैं क्षेत्र और इसके भीतर जो सच्चिदानन्द-स्वरूप है वह है क्षेत्रज्ञ। तो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का संयोग मिथ्या होते हुए भी सर्वत्र, सब जगह प्रतीत होता है। इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही सारी वस्तुएँ हैं। इन सारी वस्तुओं में परमात्मा कैसे हैं—इस बात को समझिए—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।। (१३/२७)

भगवान् सबमें सम हैं, समान हैं। भगवान् विषम नहीं हैं। चींटी में छोटा और हाथी में बड़ा भगवान् है, ऐसा नहीं मानते। ज्ञानी में अच्छा भगवान् है और शराबी में, हत्यारे में बुरा भगवान् है—ऐसा नहीं मानते हैं। भगवान् तो एक ही है। परमात्मा तो एक ही है। वही सच्चिदानन्द स्वरूप सबमें है। वह अपनी पूर्णता के साथ सबमें विद्यमान है। सम है। समस्त भूतों में, समस्त वस्तुओं में। ये जो वस्तुएँ, विनाशी हैं—उनमें जो अविनाशी है—वह परमात्मा है। नाम और रूप तो विनाशी है। मेरा नाम विष्णुकान्त है। मेरी माँ मुझको विष्णु पुकारती थीं। मेरी नानी माँ मुझको तुलसी बेटू पुकारती थीं। वे मुझको कभी-कभी और भी प्यारे नामों से पुकारती थीं। तो मेरा कौन सा नाम है? और मेरा कौनसा रूप? आज जो आपके सामने बैठा हूँ या जब पैदा हुआ —वह रूप? रूप तो बदल रहा है। नाम भी ऊपर से चिपका दिया गया है। नाम और रूप जो विनाशी है, जो बदल जाता है, इसके भीतर मैं अविनाशी हूँ। विनाशियों के भीतर जो अविनाशी तत्त्व सब वस्तुओं में समान रूप से स्थित है, वही परमेश्वर है। उसको समझने, उसको जानने की चेष्टा करो। जो उसको समझ पाता है, जो अस्ति, भाति, प्रिय के आधार पर परब्रह्म का साक्षात्कार करता है और नाम, रूप का परित्याग कर देता है, वही वास्तव में यथार्थदर्शी है। *'यः पश्यति स पश्यति'* —उसी का देखना ठीक-ठीक देखना है। बाद बाकी तो देखते हुए भी अंधे हैं। बाद बाकी जो नाम रूप में

अटक जाते हैं, जिनकी दृष्टि नाम रूप का भेदन करके, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है— उसकी उपलब्धि नहीं कर पाती वह दृष्टि तो दृष्टिहीनता का पर्याय है। वह दृष्टि नहीं है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ।। (१३/२८)

इसको समझ जाओगे तो परा गति को प्राप्त हो जाओगे। किसको समझ जाना है? *'समं पश्यन् हि सर्वत्र'* —वह परमात्मा दो-तीन तरह के नहीं हैं। एक ही परमात्मा हैं। इसलिए जो सबमें परमात्मा का दर्शन करेगा, वह किसी से घृणा नहीं करेगा। जो सबमें परमात्मा का दर्शन करेगा, वह किसी से भयभीत नहीं होगा। यही बात ईशावास्य-उपनिषद में भी कही गई है। जो सबमें उस परम सत्य को देख लेगा वह अपनी हिंसा नहीं करेगा। *'न हिनस्त्यात्मनात्मानं'* जो अपने को यह शरीर मानेगा, वह अपनी हिंसा स्वयं करेगा। अपने को विनाशी मानने वाला, अपने को नाम-रूप मानने वाला, अपनी हत्या करने वाला है। ईशावास्य उपनिषद को याद करिए–

असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्तेप्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनोजनाः।। (ईशोप० श्लोक-३)

जो अपने को शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप नहीं मानते, जो अपने को केवल नाम-रूप से आबद्ध मानते हैं, वे आत्म-हत्यारे हैं। इस बात को श्रीमद्भागवत में भी कहा गया है, इसी बात को रामचरितमानस में भी कहा गया है। लेकिन आत्महत्या कौन नहीं करता? *'न हिनस्त्यात्मनात्मानं'* —अपने आप अपनी हत्या कौन नहीं करता? जो समझ लेता है कि मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ। जो अपने को सर्वत्र, समान रूप से, परिपूर्ण रूप से देखता है। जो यह नहीं मानता, कि हममें अलग परमात्मा है, उसमें अलग परमात्मा है। जो यह नहीं मानता कि हममें पूरा है उसमें केवल अंश है। समत्व रूप से परमात्मा सबमें विद्यमान है— इस बात को जानने वाला अपनी हत्या स्वयं नहीं करता। वह परम सत्य की उपलब्धि करता है और जैसे ही वह इस बात को समझ लेता है— *'ततो याति परां गतिम्'* —तो उसको परा गति की प्राप्ति हो जाती है। यह जो बार-बार फलश्रुति है यह केवल गीता में है और कहीं नहीं है। त्रयोदश अध्याय में इतनी बार फलश्रुति का वर्णन इस बात का द्योतक है कि कठिन विषय को समझाने के लिए प्रभु बार-बार पीठ थपथपा रहे हैं। और चेष्टा करो। नहीं समझ में आया फिर चेष्टा करो और वे स्वयं उस चेष्टा में शामिल हैं। समझा रहे हैं कि उसको समान रूप से अवस्थित समझो, उसको समग्र रूप से समझो। उसको समझते ही तुम अपनी हत्या

स्वयं नहीं करोगे, तुम्हारा परम कल्याण होगा। तुम परा गति को प्राप्त हो जाओगे। आगे समझने का तरीका समझा रहे हैं—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।। (१३/२९)

इस बात को विस्तार से चौदहवें अध्याय में समझाया जाएगा। हम-आप कर्म करने के लिए बाध्य हैं। क्यों बाध्य हैं? क्योंकि यह शरीर त्रिगुणात्मक है। सत्व, रज, तम— इन तीनों गुणों से यह शरीर बना है। रजोगुण अपने स्वभाव से सक्रिय है। रजोगुण में चंचलता, रजोगुण में सक्रियता अनिवार्य है। अगर हममें रजोगुण है तो हम कर्म करते ही रहेंगे। हमको कर्म से छुटकारा नहीं मिलेगा। तो अगर हमको कर्म से छुटकारा नहीं मिलेगा तो क्या हम कर्म का फल पाते रहेंगे? हाँ, अगर हम प्रकृति में स्थित होकर अपने को कर्त्ता मानते रहेंगे तो बँधते रहेंगे। मुक्त होने का रास्ता क्या है? अपने को प्रकृति से अलग समझो *'ततो याति परां गतिम्'* उसी से परमपद प्राप्त होगा।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति।। (१३/२९)

'प्रकृत्या एव' — अर्थात् प्रकृति के द्वारा ही सब प्रकार के काम किए जा रहे हैं। सब तरह से—जो कुछ हो रहा है—यह प्रकृति ही कर रही है, और तुम अपने को अकर्ता मानोगे, तुम उसके साक्षी हो, तुम उसके द्रष्टा हो, तुम उसके भर्त्ता, भोक्ता, महीश्वर हो, तुम उससे अलग हो यही मानो। पुरुष की उपस्थिति के बिना प्रकृति कार्य नहीं कर सकती। इसलिए पुरुष की उपस्थिति अनिवार्य है। जैसे आप लोगों ने अगर लोहे का चूरा देखा हो तो लोहे के चूरे के ऊपर चुम्बक रखते ही लोहे का चूरा एक विशेष प्रकार से अपने को सजा लेता है। हमलोग जब विज्ञान पढ़ते थे तो हमलोगों को यह दिखाया जाता था। आप सभी करके देख लें। जैसे चुम्बक की उपस्थिति में लोहे का चूरा सक्रिय होकर एक विशेष प्रकार का आकार ग्रहण कर लेता है और अगर चुम्बक दूर हो जाए तो लोहे का चूरा कुछ नहीं कर सकता। उसी तरह पुरुष की सन्निधि में, पुरुष की उपस्थिति में प्रकृति अपने को चारों तरफ से सजा लेती है और काम करती रहती है। काम कौन कर रहा है? काम पुरुष, आत्मा, चेतन, सच्चिदानन्द स्वरूप नहीं कर रहा है। पुरुष की सन्निधि में वह प्रकृति कर रही है। प्रकृति तो जड़ है, उसमें चेतना कैसे आ गई? आप लोगों ने कभी देखा है कि घड़ा है। घड़े में पानी भरा हुआ है और ऊपर सूर्य महाराज उगे हैं। एक करोड़ घड़ों में सूर्य नारायण का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है कि नहीं? और सूर्य नारायण का पड़ा हुआ जल में प्रतिबिम्ब वह स्वयं

प्रकाशित होता है कि नहीं? मैंने कई बार उदाहरण दिया है कि सूर्य का प्रकाश अगर दर्पण पर पड़े तो दर्पण से प्रकाश आता है कि नहीं? इसी को चेतना कहते हैं। हमारे आपके शरीर में परमात्मा की सन्निधि के कारण हमारे अंतःकरण में जो परमात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही चेतना है। उसी चेतना के कारण हमारा जड़ अंतःकरण काम करने लगता है; हमारा मन, हमारी बुद्धि सक्रिय हो जाती है और हम उस मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार के द्वारा अपने को कर्त्ता मानने लगते हैं। हमारा शरीर, शरीर के अन्तर्गत इन्द्रिय, इन्द्रिय से सूक्ष्म मन, मन से सूक्ष्म बुद्धि, फिर चित्त, अहंकार। आत्मा की सन्निधि में जो अंतःकरण में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ा उससे यह अंतःकरण चेतनायुक्त हो गया और यह चेतन अंतःकरण काम करने लगा। हमलोग जो अलग-अलग तरह का काम करते हैं, पंच महाभूत सबमें समान है, आत्मा सबमें समान है। वही क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर मुझमें है, वही आप सबमें है। लेकिन आप में से कोई-कोई बहुत अच्छा व्यापार कर लेते हैं। ऐसा क्यों है? क्योंकि आपका मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार मुझसे पृथक् है। याद रखें पंच महाभूत सबमें समान, आत्मा सबमें समान। फिर अलग-अलग व्यवहार क्यों? अलग-अलग व्यवहार, अलग-अलग अंतःकरण के कारण। यह हमारा मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार हमारे अनन्त पिछले जन्मों के कर्म के फल के अनुरूप बनता है। और वह जो अंतःकरण अलग-अलग है उस अलग-अलग अंतःकरण के कारण हमारी समझदारी, हमारा व्यवहार, हमारा चिन्तन सब अलग-अलग होता है। ये जो मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार के ऊपर आत्मा का बिम्ब पड़ गया और उस बिम्ब के पड़ने के कारण चेतना आ गयी और यह शरीर काम कर रहा है तो क्या आत्मा काम कर रही है? नहीं। *'प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः'* — प्रकृति के द्वारा ही, *एव* लगा दिया। आत्मा के द्वारा नहीं। सारे प्रकार के काम किए जा रहे हैं और जो अपने आत्म-स्वरूप को अकर्त्ता मानता है— *'यः पश्यति तथात्मानम्'* —अपनी आत्मा को जो 'अकर्त्ता' कहता है, वह केवल साक्षी है, उसकी सन्निधि में काम हो रहा है, वही ठीक-ठीक देखता है। यह एक बात। अब इसमें दूसरी बात बताई जा रही है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।। (१३/३०)

यह जो असंख्य भूत हैं अलग-अलग, इन सब भूतों का आधार, इन सब भूतों का अधिष्ठान *'एकस्थम्'* एक ही है, वही परमात्मा है। अनेक प्रकार की विविधताओं के बावजूद वे सारी विविधताएँ एक ही के ऊपर स्थित हैं। सबका अधिष्ठान, सबका

आधार वही परमात्मा है, ब्रह्म है और उस आधार में, उस एक में बहुत दिख रहा है। यह क्या जादू है? एक में बहुत कैसे दिख रहा है? वह जो एक में बहुत दिखता है यह मिथ्या है। इसको आप समझिए। अपने अधिकरण के अभाव में जो दिखता है, वह मिथ्या है। मिथ्या की परिभाषा क्या है?

जैसे अंधेरा कमरा है, आपने दरवाजा खोला। वहाँ एक रस्सी पड़ी हुई है और आपको लगा कि यह रस्सी नहीं, साँप है। रस्सी है अधिकरण। रस्सी के अधिकरण के अभाव में साँप दिख रहा है, आभासित हो रहा है। कहाँ भासित हो रहा है, जहाँ उसका अभाव है। वहाँ है तो रस्सी। रस्सी में साँप का अभाव है लेकिन रस्सी में साँप के अभाव के बावजूद जब रस्सी में साँप दिख रहा है तो वह दिखने वाला साँप मिथ्या है। जो अपने अधिकरण में न होते हुए दिखे, वह मिथ्या है। अगर अधिकरण एक है और उसमें बहु दिख रहा है तो वह बहुत्व मिथ्या है। अधिष्ठान एक है, उसको एक ही देखना चाहिए लेकिन उस एक अधिष्ठान में बहुत का अभाव होते हुए भी जब हम बहुत्व को देख रहे हैं तो फिर यह समझना चाहिए कि उस बहुत्व में नानात्व नहीं है। वह नानात्व कल्पित है, आरोपित है और इसलिए मिथ्या है। निषेध रूप से देखो तो *'नेह नानास्ति किंचन'* —और विधि रूप से देखो तो *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* किसी चीज को दो तरह से देखा जा सकता है। पानी का गिलास आधा खाली है कि आधा भरा है? आधा खाली है—यह निषेध मुख दृष्टि है। आधा भरा है—यह विधि मुख दृष्टि है। अगर परमात्मा में सारी बहुलता दिखती है, ब्रह्माण्ड दिख रहा है, एक में बहु और अधिष्ठान एक है तो बहुत्व कल्पित है, मिथ्या है—एक स्थिति यह है। दूसरी स्थिति यह है कि वही एक सब बन गया है। *'तत एव च विस्तार ब्रह्म सम्पद्यते तदा'*— वही एक इन नाना नाम रूपों में भासित होता है। *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* — *'ईशावास्यमिदंसर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्'* —इसमें वही एक सबमें कैसे भासित हो रहा है। जैसे एक ही मिट्टी सकोरा बन जाती है, परई बन जाती है, सुराही बन जाती है, घड़ा बन जाती है। तो मिट्टी ही मिट्टी है। सकोरा टूटता है, मिट्टी तो नहीं टूटती। सकोरा टूटने से मिट्टी नहीं मर जाती। वैसे ही समुद्र में एक लहर उठी, एक लहर विलीन हो गई। पानी तो नहीं मर गया। तो यह जो वही अविनाशी परमात्मा, उस अविनाशी परमात्मा में लहरों का उठना-गिरना—वह आकार का लोप होना अविनाशी परमात्मा का विनाश होना नहीं है। उन आकारों के विलोपीकरण में बनती–मिटती लहरों में जो जल को देख पाता है, वही ठीक देख पाता है। वही विनाशशील वस्तुओं में अविनाशी परमात्मा को देख पाता है जिसने समुद्र के स्वरूप को समझ लिया वह तरंगों के उत्थान-पतन में मृत्यु को, विनाश को नहीं

देखेगा। यह शरीर चला जाएगा तो क्या होगा? मिट्टी, मिट्टी में चली जाएगी, तेज तेज में चला जाएगा, पानी पानी में चला जाएगा, हवा हवा में चली जाएगी, आकाश आकाश में चला जाएगा। मरा क्या? केवल रूपान्तरण हुआ और मेरा जो आत्म-स्वरूप है, वह ज्यों-का-त्यों रहेगा। इसीलिए संतलोग कहते हैं—

सुन्दर संशय को नहीं, महा महोत्सव एह ।
आतम-परमातम मिलो, देह खेह की खेह ।।

इसमें कोई संशय का कारण नहीं है कि मृत्यु तो महा-महोत्सव है। आत्मा परमात्मा के साथ एक हो गई। शरीर तो मिट्टी है, मिट्टी रहेगा। इस प्रकार जो उस एक को ही अनेक नाम रूपों में विस्तृत रूप से देख लेते हैं, उसी एक का विस्तार सबमें देख लेते हैं। यही बात ईशावास्य - उपनिषद् में भी कही गई है।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वं अनुपश्यतः।। (ईशा०/६-७)

जो अपने में सबको देख लेता है या यह मान लेता है कि मेरी आत्मा ही यह सब आकार रूप धारण कर रही है तो फिर उसमें द्वैत नहीं रहता। जैसे ही हम यह समझ जाएँगे वैसे ही हम ब्रह्म को प्राप्त कर लेंगे। फिर समझा रहे हैं। उनका मन संतुष्ट नहीं होता। तो बोलते हैं अच्छा देखो। भीतर जो आत्मा है, पुरुष है और शरीर दोनों में अलग-अलग विशेषताएँ क्या हैं?

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। (१३/३१)

वह आत्मा अनादि है, निर्गुण है और अविनाशी है। इसीलिए हे अर्जुन! *'शरीरस्थो'*— शरीर में स्थित होते हुए भी, वह कुछ नहीं करता, किसी से लिप्त नहीं होता—यानी कर्म का फल-भोग नहीं करता। *न करोति*– यानी कर्म नहीं करता। *न लिप्यते*– माने उस कर्म से लिप्त नहीं होता यानी उस कर्म का फल भोग नहीं करता। क्यों नहीं करता? पहली बात *अनादित्वान्* – देखो! नष्ट कौन होता है? जिसका आदि है उसका अन्त है। यह फूल पहले खिले हुए नहीं थे। फूल खिले, फिर तोड़े गए। माला में पिरोए गए। पहले माला नहीं थी। अब माला है। यह कल बासी हो जाएगी, बिखर जाएगी, टूट जाएगी। तो जिसका आदि है, उसका अन्त है। और जो अनादि है, वह अनन्त है। *अनादित्वान्*—क्योंकि आत्मा अनादि है इसलिए आत्मा का मरण नहीं हो

सकता। आत्मा का नाश नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा अनादि है इसलिए वह अनन्त है। शरीर का आदि है तो शरीर का अन्त भी है। *निर्गुणत्वात्*—परमात्मा त्रिगुणातीत है, निर्गुण है। सत्व, रज, तम— ये तीनों प्रकृति के गुण हैं।

माया तुं प्रकृतिं विद्यात् माहिनं तु महेश्वरः।

माया प्रकृति है और माया का स्वामी '*माहिनम्*' माहेश्वर है। तो सत्व-रज-तम— ये तीनों प्रकृति के गुण हैं। प्रकृति काम करती है। प्रकृति स्थिर रहती है। प्रकृति में प्रकाश होता है लेकिन वह तो स्वयं प्रकाश है। उसको कौन प्रकाशित करेगा? चूँकि परमात्मा निर्गुण है, इसलिए उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अनादि होने के कारण वह अनन्त है, और निर्गुण होने के कारण वह अव्यय है। परिवर्तन-व्यय-विकार उसी में होता है जो त्रिगुणमय है, जो सत्व-रज-तम— तीनों गुणों से बना है, वह बिगड़ जाएगा, उसका व्यय होगा लेकिन चूँकि शरीर में रहते हुए भी आत्मा अनादि है, निर्गुण है; इसलिए यह अनन्त भी है, यह *अपरिवर्तमान* है। इसका कोई व्यय नहीं होता। इसकी उपस्थिति में प्रकृति काम करती है। यह न कुछ करता है, न इसका कोई फल भोगता है। अब इसको फिर समझाते हैं— क्योंकि कठिन विषय है न! इसको अधिष्ठान की दृष्टि से समझाते हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।। (१३/३२)

कैसे प्रभु आप कह देते हैं कि लिप्त नहीं होता? इस शरीर के भीतर आत्मा है। यह शरीर काम करता है। आत्मा क्यों नहीं लिप्त होता? तो उन्होंने कहा कि देखो! सूक्ष्मता के कारण लिप्त नहीं होता। सूक्ष्म होने के कारण वह सबका अधिष्ठान है इसलिए लिप्त नहीं होता। उदाहरण दे रहे हैं—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते

आकाश सर्वव्यापी है। हममें आपमें भीतर जो पोर है— यह पोर आकाश है। दो अणु जितने भी निकट हों, उनके बीच में थोड़ा स्थान रिक्त रहता है— उसमें आकाश है। आकाश सर्वव्यापी होते हुए भी हमसे-आपसे लिप्त नहीं होता। हम आकाश को पकड़ सकते हैं? नहीं पकड़ सकते। आकाश को क्यों नहीं पकड़ सकते क्योंकि आकाश इतना सूक्ष्म है कि अपनी सूक्ष्मता के कारण सर्वव्यापी होते हुए भी आकाश कहीं लिप्त नहीं होता। आकाश में बादल आते हैं, पानी बरसता है। आकाश कहीं भीगता है? आकाश में तूफान आते हैं, धूल भरे झंझावात चलते हैं। आकाश को धूल लगती है? आपमें से जो हवाई-जहाज पर चढ़े हैं आप देखेंगे कि एक ऊँचाई के

ऊपर चले जाने के बाद वहाँ कुछ भी नहीं है। जब नीची भूमिका पर उतरने लगते हैं तो डगमग करने लगते हैं। जहाँ तीस हजार फीट ऊपर चले गए तो कुछ नहीं है। तो— आकाश अपनी सूक्ष्मता के कारण सर्वव्यापी होते हुए भी किसी से लिप्त नहीं होता। तो—आत्मा तो आकाश से भी सूक्ष्म है। जब आकाश ही लिप्त नहीं होता तो जो आकाश से भी बहुत सूक्ष्म है— वह आत्मा कैसे लिप्त हो जाएगा? और जब आकाश सर्वव्यापी है, सबको धारण करता है। हम सब किसमें हैं? जब गार्गी ने बार-बार सवाल पूछा कि यह कहाँ स्थित है? तो याज्ञवल्क्य ने कहा— आकाश में। तो आकाश हम सब का अधिष्ठान है। जो आकाश से भी सूक्ष्म है— वह परमात्मा आकाश का भी अधिष्ठान है। तो वह आत्मा कैसे लिप्त होगा? अपनी सूक्ष्मता के कारण जैसे सर्वत्र अवस्थित होते भी, सबका अधिष्ठान होते हुए भी आकाश किसी से लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा जो आकाश से भी सूक्ष्म है, जो आकाश का भी अधिष्ठान है वह किसी से लिप्त नहीं होता। मैंने कई बार बताया है कि शरीर तो चमड़े का थैला है। आत्मा कोई गेंद है क्या जो इस चमड़े के थैले के भीतर है? आत्मा भीतर है तो क्या बाहर नहीं है? आत्मा भीतर भी है, आत्मा बाहर भी है। यह चमड़े की थैली आत्मा का रास्ता रोक नहीं सकती वह उसके भीतर भी है, उसके बाहर भी है। इसी तरह से आकाश हमारे भीतर भी है, आकाश हमारे बाहर भी है। आकाश जैसे सर्वव्यापी है और वह लिप्त नहीं होता वैसे ही आत्मा सर्वव्यापी है और वह लिप्त नहीं होती। सत् के आधार पर, अधिष्ठान के आधार पर यह बात समझाई गयी है। अब चित् के आधार पर, प्रकाशकता के आधार पर यह बात समझाई जा रही है—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ।। (१३/३३)

जैसे एक ही सूर्य जब उदित होता है तो अपनी रश्मियों से सारी सृष्टि को प्रकाशित कर देता है वैसे ही एक ही क्षेत्रज्ञ— (यहाँ क्षेत्री का मतलब क्षेत्रज्ञ है) समस्त क्षेत्रों को प्रकाशित कर देता है। इस सारे ब्रह्माण्ड में, सारी सृष्टि में जितने नाम-रूप हैं, जितने क्षेत्र हैं—इन समस्त क्षेत्रों का क्षेत्रज्ञ, इन सबों को प्रकाशित करने वाला, इन सबों को चैतन्य देने वाला एक ही क्षेत्रज्ञ है और वह उन क्षेत्रों के द्वारा किए गए दुष्कर्मों से लिप्त नहीं होता। जैसे मैंने आपको बताया कि पानी बरसता है तो आकाश भीगता नहीं। जैसे मैंने आपको बताया कि धूल की आँधी चलती है तो आकाश को धूल नहीं लगती। उसी तरह सूर्य के प्रकाश में कोई रामायण पढ़ता है और कोई जाली दस्तावेज बनाता है। कोई सेवा करता है, कोई किसी की हत्या करता है। कोई चोरी करता है,

कोई व्यभिचार करता है। तो इन सारे पापों का फल क्या सूर्य को लगता है? जैसे सूर्य सारी सृष्टि को प्रकाशित करते हुए भी उसकी सृष्टि में हो रहे कर्मों से अछूता रहता है, उसके कर्मों का फल सूर्य को नहीं लगता, वैसे ही आत्मा सबको चैतन्य करता हुआ, सबको प्रकाश देता हुआ भी सबों के अलग-अलग किए गए कर्मों से अलिप्त रहता है। यह सारा-का-सारा कर्म प्रकृति करती है और प्रकृति ही उसका फल भोगती है। आत्मा उससे अलिप्त रहता है, जैसे आकाश अलिप्त रहता है अधिष्ठान रहते हुए भी। जैसे सूर्य अलिप्त रहता है सब को प्रकाशित करते हुए भी। वैसे ही सबका अधिष्ठान सबको प्रकाशित करते हुए भी आत्मा सबसे अलिप्त रहता है। अब अन्तिम बात—

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षंच ये विदुर्यान्ति ते परम्।। (१३/३४)

फिर एक बार फलश्रुति कि वे परा गति को प्राप्त होते हैं। पहली बात कि *ज्ञानचक्षुषा* — जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का अन्तर ज्ञान के नेत्रों से समझ लेते हैं। क्या-क्या समझ लिया? कि क्षेत्रज्ञ जो है वह तो है ज्ञानी चैतन्य। प्रकृति है—यह है अन्ध। क्षेत्रज्ञ है अविनाशी। प्रकृति जो है—वह है विनाशी। क्षेत्रज्ञ है एक। प्रकृति के नाम रूप हैं असंख्य। क्षेत्रज्ञ है त्रिगुणातीत और प्रकृति त्रिगुणों से बँधी हुई है। वह त्रिगुणातीत है, वह अनादि है, वह अविनाशी है, वह निर्गुण है, वह अव्यय है। वह सर्वव्यापी है, सबका अधिष्ठान है, सबको प्रकाशित करने वाला है। क्षेत्र क्या है? वह उस पर आश्रित है, वह त्रिगुणों से, तीन गुणों से निर्मित है, वह प्रकाश्य है।

'जगत प्रकास्य, प्रकासक रामू' —जगत् प्रकाशित किया जाता है, वह प्रेरित किया जाता है। वह (क्षेत्रज्ञ) उस से सर्वथा अलग है, जड़ है। इस तरह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का अंतर जिन्होंने अपने ज्ञान के नेत्रों से समझ लिया, एक बात। दूसरी बात है—*भूतप्रकृतिमोक्षंच* — भूत की प्रकृति का मोक्ष। भूत किसको कहते हैं? भूत कहते हैं, जो कुछ पैदा हुआ है। *'भविष्यतीति भूत'* — *भवतीति भूतः* — जो होता है वह भूत है। जो कुछ भी पैदा होता है, जो कुछ भी बना होता है वह भूत है, आप भी भूत हैं। भूतों की कहानी नहीं है यहाँ। यहाँ भूत का मतलब है—होना। जो बना, वह भूत है। भूत है कार्य। हम-आप जो यह शरीर लेकर चल-फिर रहे हैं—यह है कार्य। प्रकृति है उसका कारण। वह प्रकृति, वह क्षेत्र—कौन सा क्षेत्र? विस्तार से जिसको बताया अव्यक्त प्रकृति। अव्यक्त प्रकृति से फिर महत् तत्त्व, फिर उससे अहं, फिर बुद्धि, फिर पंच महाभूत, फिर दस इन्द्रियाँ, फिर विषय तन्मात्रा— ये सब जो चौबीसों तत्त्व हैं—ये प्रकृति के कार्य हैं। और जो न कार्य है, न कारण है, वह आत्मा है। न प्रकृति है, न विकृति। तो भूत और प्रकृति। पैदा होना—कार्य और उसका कारण। इससे जो

मोक्ष को समझ जाता है। मोक्ष किसका होता है? उस पर भी बहस है। ज्ञानी लोग मानते हैं कि आत्मा तो मुक्त है ही, आत्मा का क्या मोक्ष होगा? कैसे पागलपन की बात करते हो? आत्मा तो सदा मुक्त है। आत्मा का मोक्ष नहीं होता। तो किसका मोक्ष होता है? प्रकृति का मोक्ष होता है? जिस भूत की प्रकृति ने आत्मा को घेर रखा था और वह समझती थी कि हमने इस आत्मा को अपने अधीन कर रखा है—उसी भूत की प्रकृति का, उस कार्य के कारण का जब छुटकारा हो जाता है, जब हम यह जान लेते हैं और मान लेते हैं, समझ लेते हैं कि न मैं यह माया हूँ, न यह माया मेरी है, न मैं यह नाम हूँ, न रूप हूँ, न मैं यह शरीर हूँ, न इन्द्रिय हूँ, न मन हूँ, न बुद्धि हूँ। *'चिदानन्द रूपं शिवोऽहं शिवोऽहं'* — आप लोगों ने 'निर्वाण' पढ़ा है? उसमें शंकराचार्य जी कहते हैं कि न मैं मन हूँ, न इन्द्रिय हूँ, न बुद्धि हूँ, न आकाश हूँ, न पृथ्वी हूँ, न जल हूँ। *'चिदानन्द रूपं शिवोऽहं शिवोहं'* — यह भूत की प्रकृति का मोक्ष है। छूट कौन रहा है ? प्रकृति छूट रही है, आत्मा तो मुक्त है ही, आत्मा का क्या मोक्ष? *'भूतप्रकृतिमोक्षंच'* — कार्य के रूप में जो हमको यह सब भूत दिखाई पड़ता है, कार्य के रूप में हमको जो वह सारी सृष्टि में नाना नाम रूपधारी वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं—इस कार्य का जो कारण है—प्रकृति—वह जो हमको बाँधने का झूठा दम्भ करती है—जब उसको लगता है कि हम इस आत्मा को नहीं बाँध सकते और वह छूट जाती है—मोक्ष प्रकृति का हो गया। ऐसा जो शुद्ध-बुद्ध चेतन स्वरूप है—वह तो परम तत्त्व को प्राप्त कर ही लेगा।

इस प्रकार भगवान् ने अत्यन्त करुणापरवश होकर बार-बार इस कठिन विषय को समझाया है क्योंकि अनन्त-अनन्त, असंख्य-असंख्य पूर्वजन्मों के कारण हमारा संस्कार इतना बद्धमूल हो गया है कि हम यही शरीर हैं, हम यही नाम हैं, इस नाम रूप से पृथक् हम शुद्ध-बुद्ध सत्, चित्, आनन्द स्वरूप आत्मा हैं— इसका बोध होना इतना कठिन है कि परमात्मा श्रीकृष्ण को यह बात बार-बार समझानी पड़ी और समझाते-समझाते अन्त में उन्होंने कहा कि जो अपने ज्ञान के नेत्रों से *(ज्ञानचक्षुषा)* — क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के— प्रकृति और प्रकृति में वास करने वाले आत्मा के अन्तर को अच्छी तरह समझ लेंगे वे ही इन समस्त उत्पन्न हुए भूतों और उत्पन्न करने वाली प्रकृति से मुक्त हो जाएँगे। आप लोगों में से बहुतों को 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग' समझ में आया होगा, बहुतों को प्रकृति-पुरुष-विवेक समझ में आया होगा, बहुत से लोग निदिध्यासन करते होंगे, बहुत से लोग सांख्य योग के द्वारा, कर्म योग के द्वारा चल सकते होंगे। मेरा तो चौथा रास्ता है—गुरुजी के द्वारा जो उपदेश दिया गया है—श्रुतिपरायण होकर, श्रद्धा के साथ उसपर मैं चलने की चेष्टा कर रहा हूँ। भगवान् हमको आपको सबको कल्याण का रास्ता दिखाए। ●

प्रवचन-४०*

त्रिगुण ही बन्धन के कारण

भगवान् की कृपा है कि हमलोग गीता के ज्ञान-यज्ञ में प्रवृत्त हो रहे हैं। मनुष्य को लगता रहता है कि वह वस्तुतः स्वतंत्र नहीं है। हम सबको बंधन का अनुभव होता है। बहुत से काम जो हम करना चाहते हैं, नहीं कर पाते हैं। मानसिकता कभी-कभी अपने ही प्रतिकूल हो जाती है। कौन बाँधता है? इस बात की जानकारी हमें मुक्ति की ओर ले जाएगी—यह बात भगवान् पहले दो श्लोक में बताते हैं। अच्छे गुरु का लक्षण यह है कि जो बात बतानी हो उस बात का जो वास्तविक मंगल पक्ष है—उस बात की सिद्धि से जो उपलब्धि होने वाली हो; उसका निरूपण करे। उसे समझने, उसे सीखने, उसको जानने, उसे अपने जीवन में उतारने के परिणाम बताए। चौदहवें अध्याय में भगवान् जो कह रहे हैं उसका असर क्या है? क्या मिलेगा उसको जानने से? पहले दो श्लोकों में उसके महत्त्व का निरूपण कर रहे हैं—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।। (१४/१)
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।। (१४/२)

ज्ञानों में जो श्रेष्ठ ज्ञान है उसको मैं पुनः (भूयः शब्द में थोड़ा विस्तार का भी आभास है और पुनः का भी आभास है) बोल रहा हूँ, जिसको जान लेने से मुनियों को परा सिद्धि की प्राप्ति होती है। *भूयः*—माने उस बात को संक्षेप में मैंने पहले कहा, अब इसको अधिक विस्तार से, सम्यक् रूप से समझाने का प्रयास कर रहा हूँ। गीता के आरंभिक १३ अध्यायों में कई बार गुण शब्द का प्रयोग हुआ है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान्गुणान्। (१३/२१/१)

पुरुष जब प्रकृतिस्थ होता है , जब प्रकृति में स्थित होता है तब प्रकृतिजन्य देहों का आकार लेकर वह प्रकृति के गुणों का उपभोग करता है।

* चतुर्दश अध्याय (गुणत्रय विभाग योग) : श्लोक संख्या १ से १३

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। (३/२७)

प्रकृति के गुण ही सब काम करते हैं केवल अहंकार से विमूढ़ हो गया व्यक्ति ही यह मानता है कि मैं कर रहा हूँ। यह गुणों की आसक्ति है। कई बार उन्होंने ये बातें कही हैं। किन अर्थों में ये बातें कही गयी हैं। गुण का ठीक-ठीक अर्थ क्या होता है? गुण किसको कहते हैं? वे हमें किस प्रकार बाँधते हैं? इनका स्वरूप क्या है? इनसे हम कैसे छूट सकते हैं और जो छूट जाता है उसका स्वरूप क्या है? उसका लक्षण क्या है? त्रिगुणातीत व्यक्ति का लक्षण क्या है? इन सब बातों का विवेचन चौदहवें अध्याय में है। वे कह रहे हैं कि बंधन के कारण को जाने बिना कोई बंधन से मुक्त हो ही नहीं सकता। अगर आप किसी भी बंधन में हों और उससे आप मुक्त होना चाहते हों तो पहले आपको बंधन को समझना होगा। जब तक आप बंधन को नहीं समझेंगे, बंधन का कारण नहीं समझेंगे तब तक आप बंधनों से मुक्त होने का रास्ता भी नहीं समझेंगे। तो अपने बंधन के स्वरूप को पहचानो तभी मुक्ति संभव है, यह प्रभु कह रहे हैं। और चूँकि इस बात को जान लेने से आपकी मुक्ति संभव है इसलिए यह साधना जड़ नहीं है। यह ज्ञानों में उत्तम है। मैंने कई बार कहा कि दो प्रकार का ज्ञान होता है एक दृष्टि ज्ञान होता है। यानी जो अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता है वह दृष्टि ज्ञान होता है। हमको जो चीज नहीं मालूम, हमने पढ़ ली; हमको उसका ज्ञान हो गया। हमने इस माला को देखा, इसके फूलों को, इसके रंग को देखा; हमें इसका ज्ञान हो गया। यह सब दृष्टि ज्ञान है। आत्म-ज्ञान इससे अलग है। समस्त दृष्टि ज्ञान में, समस्त लौकिक-भौतिक ज्ञान में सबसे उत्तम जो ज्ञान है वह ज्ञान हमको क्रमशः आत्म-ज्ञान की ओर ले जाता है। इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने से हम बंधनों के कारण को समझने पर उनसे मुक्त होने का प्रयास करते हैं। उस मुक्ति के प्रयास से हमको परा सिद्धि की प्राप्ति होती है।

'यज्ज्ञात्वा' — यह बड़ा चमत्कारी शब्द है। भगवान् कहते हैं कि इसको जानते ही हमें परा सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। जिसके बाद और कोई सिद्धि नहीं बचती है। उसीसे मुक्ति हो जाती है।

'मुनयः' — मुनि माने जो विचारशील है। मौनशील है। मन धातु में 'इन' प्रत्यय लगने से मुनि बनता है। हम कहते हैं—हम मौन हैं। जब हमारे भीतर मननशीलता आती है, जब किसी बात पर हम गहराई से विचार करते हैं और उसके मर्म को समझने की हम चेष्टा करते हैं तब अगर हम न बोलें तो वह मौन है। अगर हम केवल मुँह को बन्द रखें तो यह मौन नहीं है। जब तक मुनि का भाव न आए तब

तक मन मौन नहीं होता। तो जो बड़े-बड़े मुनि हैं वे इसी श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त कर, इसका आशय ग्रहण करके मुक्त हो जाते हैं। प्रभु की तरह सधर्मता को प्राप्त हो जाते हैं। प्रभु की सधर्मता को प्राप्त करने का क्या मतलब है? प्रभु की सधर्मता को प्राप्त करने का मतलब है कि जैसे प्रभु सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते। कहा है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। (१४/२/१)

इस ज्ञान को प्राप्त कर लेने से ज्ञान प्राप्त करने वाले मेरी सधर्मता को प्राप्त कर लेते हैं। जैसा मैं हूँ वैसे हो जाते हैं। जो विशेषता मुझमें है वह विशेषता उनमें आ जाती है।

सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च। (१४/२/२)

वे महासृष्टि के आरंभ होने पर पैदा नहीं होते और महाप्रलय में उनका नाश नहीं होता। इन पंक्तियों में इस विषय के महत्त्व को निरूपित किया गया है। प्रभु की सधर्मता प्राप्त कर लेने का मतलब प्रभु की ही तरह अपने जीवन का यापन करना है। वह सब कुछ करता हुआ भी अकर्ता रहेगा और चूँकि अकर्ता रहेगा तो अभोक्ता रहेगा। भोगता वही है जो करता है। जो करेगा ही नहीं वह भोगेगा भी नहीं। तो अकर्तृत्व भी अभोक्तृत्व भी। फलाशारहित होकर सहज रूप से काम करना ही प्रभु की पद्धति है। उस पद्धति से वह काम करेगा इसलिए प्रभु की सधर्मता को प्राप्त होगा। स्वरूपता और सधर्मता में थोड़ा अन्तर है। अभी प्रभु की स्वरूपता को प्राप्त करने का प्रसंग आएगा। लेकिन प्रभु की सधर्मता को प्राप्त कर लेगा तो सब प्रकार के व्यवहार करते हुए भी वह सब व्यवहारों से मुक्त रहेगा। इसलिए न जन्म में उसको हर्ष होगा न मृत्यु में उसको शोक होगा। न उसका जन्म होगा, न मरण होगा। यह जन्म-मरण ही मिथ्या है। जन्म और मरण शरीर का होता है, जन्म और मरण आत्मा का नहीं होता।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। (२/२०)

हम जो वास्तव में हैं, हमारा जो आत्म-स्वरूप है वह तो जन्म ही नहीं लेता। वह तो अनादि है। वह मरता भी नहीं है। *'न जायते म्रियते वा कदाचित्'* लेकिन हमको तो जन्म और मरण का अनुभव होता है तो कैसे होता है? इस बात को समझिए। जन्म और मरण का अनुभव तभी होता है जब हम गुणों से बँधे हैं। गुणों से बँधने का परिणाम क्या होता है? जब हम यह मानते हैं कि यह शरीर मेरा है— तब बँध गए। यह शरीर मेरा है— यह अभिमान हुआ और यह शरीर छोड़ कर मैं कुछ नहीं हूँ— यह हुई आसक्ति। तो जब हम अपने शरीर को अपना आपा मान लेते हैं—उसको आपा

मान लेने के बाद उसकी सारी आवश्यकताओं को अपनी आवश्यकता मानते हैं। शरीर के जन्म को हम जन्म मान लेते हैं। शरीर की मृत्यु को हम मृत्यु मान लेते हैं। इसके संबंधियों को अपना संबंधी मान लेते हैं। तो जिसका जन्म नहीं, जिसकी मृत्यु नहीं जिसका कोई अभाव नहीं, उसको कृत्रिम अभाव होने लगते हैं—ये सारे-के-सारे बंधन के लक्षण हमको तभी प्रभावित करते हैं जब हम जान-बूझकर या अनजाने में उससे अपने को लिप्त करते हैं। देखिए! प्रकृति जड़ है वह हमको बाँध ही नहीं सकती। हम चेतन हैं लेकिन हम अपने चेतन-स्वरूप को न पहचान कर अपने को जड़ मान लेते हैं, शरीर मान लेते हैं और शरीर का हमको अहंकार होता है। इस शरीर के संबंधियों का जब हमको संबंध-बोध होता है तब उसके अभाव का, उसकी आवश्यकता का हमको अनुभव होता है और तब हम बँध जाते हैं।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। (१३/२१/१)

जब प्रकृतिस्थ न हो, जब तक प्रकृति के साथ वह अपने को एक न कर ले तब तक वह बँधता नहीं, तब तक वह कर्त्ता-भोक्ता नहीं। लेकिन जब वह प्रकृतिस्थ हो जाता है, जब वह अपने चेतन स्वरूप का विस्मरण करके अपने को शरीर मान लेता है तब उसमें बंधन-परंपरा शुरू होती हैं। इसी बात को भगवान् कह रहे हैं कि उसको ठीक-ठीक समझते हुए जैसे ही वह बंधन से मुक्त होगा वैसे ही वह मेरी सधर्मता प्राप्त करेगा। उसका फिर जन्म नहीं, उसकी फिर मृत्यु नहीं। इतना बड़ा ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद हम प्रभु की सधर्मता प्राप्त कर लेंगे। उस ज्ञान का मैं निरूपण करने जा रहा हूँ — उसको श्रद्धा के साथ, निष्ठा के साथ विवेक और समझदारी के साथ समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

अब आप देखिए, प्रभु सृष्टि का विवेचन कर रहे हैं। सृष्टि का विवेचन वे रूपक के माध्यम से कर रहे हैं। रूपक के माध्यम से क्यों कर रहे हैं? रूपक के माध्यम से इसलिए कर रहे हैं कि साधारण मनुष्य जिस तरह से सृष्टि को समझता है, उसी तरह से उसको समझाएँ। साधारण तौर पर सृष्टि कैसे होती है? जिसका जन्म हुआ उसके माँ-बाप हैं। उसका एक पिता है, एक मां है। यह जो सृष्टि है सृष्टि करने वाली कोई माँ है। उसका पिता है। यह एक सामान्य संस्कार हम लोगों के मन में बैठा हुआ है। प्रभु उसका उपयोग करते हुए रूपात्मक भाषा में उस परम सत्य को निरूपित कर रहे हैं।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।। (१४/३)

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।। (१४/४)

दोनों श्लोकों को मिला लें तो मूल बात यह है कि महद् ब्रह्म है प्रकृति जो सृष्टि का केन्द्र है, सृष्टि का कारण है। इसको महद् ब्रह्म क्यों कहा? इसलिए कहा कि कार्य से कारण बड़ा होता है और सारी सृष्टि का कार्य जिसके कारण है वह सृष्टि से बड़ी है। इसलिए उसको महद् कहा। महद् माने सबसे बड़ी। तो जो जितना सूक्ष्म होता है वह उतना शक्तिशाली, उतना बड़ा होता है और सूक्ष्म के कार्य के रूप में स्थूल कारण- कार्य में रूपान्तरित होता है। यह जो सारा विश्व ब्रह्मांड है—यह सारा ब्रह्मांड कार्य है। किसका कार्य है? प्रकृति का कार्य। मूलभूत कारण है प्रकृति, वह इससे बड़ी है, महद् है इसलिए इसको संकेतित करने के लिए महत् कहा। ब्रह्म शब्द का अर्थ बताया गया है जिसमें वृहत्तता हो, वर्धिता हो, जो बढ़ता हो। ब्रह्म शब्द का अपना अर्थ ही है जो निरन्तर बढ़ता चला जाए। यह जो प्रकृति है जितनी बड़ी है उतनी ही फैलती है। इसमें निरन्तर प्रवृद्धि होती रहती है, इसलिए ब्रह्म कहा गया। तो *'मम योनि महद् ब्रह्म'*— यह जो महद् ब्रह्म प्रकृति रूपी है, यह है योनि जो जन्म का आधार है। और उसमें मैं चेतन गर्भ स्थापित करता हूँ *'तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'* तब यह समस्त प्राणियों को पैदा करने में समर्थ होती है। इसमें एक बात की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। सांख्य शास्त्र मानता है कि पुरुष और प्रकृति — ये दोनों जब तक मिलते नहीं तब तक सृष्टि होती नहीं। लेकिन सांख्य शास्त्र मानता है कि पुरुष स्वतंत्र है और प्रकृति परतंत्र। दोनों के मिलने से सृष्टि होती है। गीता प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि मानती है। दोनों को प्रभु से उत्पन्न मानती है।

सांख्य-शास्त्र और गीता शास्त्र के मौलिक अंतर को समझिए। यह जो प्रकृति और पुरुष का मिलन होता है—यह स्वेच्छया नहीं होता। यह प्रकृति और पुरुष का मिलन भी ईश्वर की इच्छा से होता है। वेदान्त यह मानता है कि *'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेति'*। ब्रह्म निर्गुण है, निराकार है, यह मायातीत है। लेकिन इसके मन में जब सृष्टि की इच्छा होती है तो वह आंशिक रूप से माया को स्वीकार करता है। और तब वह ब्रह्म से अलग ईश्वर की भूमिका पर आता है। सृष्टि ईश्वर के द्वारा निर्मित है। ब्रह्म तो निर्गुण है, निराकार है। *'एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेति'* — मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ— यह जो प्रज्ञा के रूप में, बुद्धि के रूप में अपने को अनेक रूपों में व्यक्त कर देने की उसकी जो इच्छा है यह जो सिसृक्षा* है — यही मूल धर्म है। उसने देखा,

* सिसृक्षा यानी सृष्टि निर्माण की इच्छा

उसकी इच्छा हुई तब सारी सृष्टि हुई। *'सो कामयत्'* — उसने यह कामना की। यह काम, यह तप, यह इच्छा, यह सब की सब सिसृक्षा का प्रतीक है। प्रभु के मन में जब सृष्टि की इच्छा होती है तो उस सृष्टि की इच्छा के द्वारा वे प्रकृति को पल्लवित-पुष्पित करते हैं। गर्भ-स्थापन से क्या कहना चाहते हैं? गर्भ-स्थापन का मतलब है कि जो चिदाभास है वह प्रकृति को ग्रहण हो जाता है। जैसे सूर्य है, सूर्य तो स्थिर है लेकिन सूर्य का प्रतिबिम्ब जब नदी पर पड़ता है तो नदी की लहरों में सूर्य का प्रतिबिम्ब चंचल प्रतीत होता है। सूर्य तो चंचल नहीं है लेकिन सूर्य का प्रतिबिम्ब नदी की लहरों के कारण चंचल प्रतीत होता है। ठीक उसी तरह ब्रह्म जब गर्भ-स्थापित कर रहा है प्रकृति के ऊपर उसका जो चिदाभास है, जो प्रतिबिम्ब आया, चैतन्य का जो आभास आया उस चिदाभास के कारण प्रकृति सृष्टि के कर्म में अग्रसर हो गई। प्रकृति और पुरुष चिदाभास रूपी बीज — ये प्रकृति के साथ मिलकर स्वेच्छ्या सृष्टि नहीं कर रहे हैं -— ये प्रभु की इच्छा से कार्य कर रहे हैं। *'सो कामयत्'* — उसने कामना की, इसलिए कर रहे हैं। वेदान्त और सांख्य के इस मौलिक अंतर की ओर मैंने आपका ध्यान आकृष्ट किया कि वेदान्त मानता है कि प्रकृति और पुरुष— ये दोनों प्रभु के ही अंश हैं। इसलिए जब वे कहते हैं कि हमने अपनी प्रकृति को अपनी इच्छा से अलग करके उसको एक स्थिति दी और उस स्थिति में जब मेरा चिदाभास, मेरा प्रतिबिम्ब, मेरी सिसृक्षा से मेरा अंश गर्भ रूप में स्थापित हुआ तब उसने सृष्टि की रचना की। यह जो प्रभु का चिदाभास सृष्टि में आया इसी से सारी-की-सारी सृष्टि विभिन्न रूप में आ गई। देव, दनुज, मनुष्य, पशु — सब प्रकार की जो सृष्टि है — वह उनके उस रूप को लेकर विकसित हुई। प्रकृति ने उनके उस रूप को कैसे स्वीकार किया, कैसे ग्रहण किया? कहते हैं कि जब प्रकृति साम्यावस्था में रहती है तो उसमें सत्त्व, रज, तम— तीनों गुण समान-समान रहते हैं लेकिन जब प्रभु का प्रतिबिम्ब उस पर पड़ता है तो वह कर्मरत होती है, उसकी साम्यावस्था भंग होती है और साम्यावस्था के भंग होते ही प्रकृति त्रिगुणात्मिका होती है और तीनों गुण प्रकट होते हैं, प्रत्यक्ष होते हैं। यह जो रूपक के द्वारा वेदान्त के दार्शनिक तत्त्व को निरूपित किया गया उसको हमलोग सहज रूप से समझ लें। चिदाभास प्रकृति के ऊपर पड़ा और उसने उसको ग्रहण करके सिसृक्षा से सारी सृष्टि की रचना की। इस सूक्ष्म तत्त्व को उन्होंने स्थूल रूपक के द्वारा प्रस्तुत किया कि जब मैंने प्रकृति की योनि में अपना बीज स्थापित किया तो उससे कण-कण में, चौरासी लाख योनियों में जो भिन्न-भिन्न मूर्त्तियाँ हैं *'सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः'* वह सारा-का-सारा रूप इस प्रकृति के द्वारा प्रकट हुआ। उस

चिदाभास रूपी बीज और प्रकृति का सम्मिलन हुआ और तब सृष्टि आरंभ हुई। जब सृष्टि आरंभ हुई तो— *'सत्त्व रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः'।* इस बात पर ध्यान दीजिए कि प्रकृति है ही त्रिगुणात्मिका। जब तक साम्यावस्था में प्रकृति थी तो सत्त्व, रज, तम तीनों उससे अभिन्न रूप से एक थे। जब प्रकृति की साम्यावस्था प्रभु की कृपा से, प्रभु की सिसृक्षा से भंग हुई, उस वैषम्य की स्थिति में ये तीनों गुण अपना-अपना चमत्कार, अपना-अपना खेल, अपनी-अपनी क्रिया दिखाने लगे। गुण शब्द का ठीक-ठीक अर्थ समझना चाहिए। गुण शब्द का अर्थ होता है उसकी आधारभूत विशेषता। किसी वस्तु की जो आधारभूत विशेषता है, वह उसका गुण है, उसका धर्म है। जैसे अग्नि का गुण है, अग्नि का धर्म है— दाहकता। जल का गुण है, धर्म है— शीतलता। पवन का गुण है प्रवाह। इस अर्थ में यहाँ गुण शब्द का संकेत में प्रयोग है, लाक्षणिक प्रयोग है। गुण का दूसरा अर्थ होता है रस्सी। कबीरदास ने कहा है—

माया महा ठगिनी हम जानी
तिरगुन पास लिए कर डोले बोले मधुरी बानी।

माया महाठगिनी है। उसका जो पाश है, जो फंदा है वह त्रिगुणात्मक है — सत्त्व-रज-तम— इन तीन गुणों की रस्सी जैसे बँटी हुई है। उसमें एक धागा सत्त्व का है, एक रज का है और एक तम का है। इन तीनों गुणों से जो प्रकृति हमको बाँधती है— उस गुण अर्थ में ही यहाँ कहा है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। (१४/५)

इस देह में, इस शरीर में हमको किसने बाँधा है? देही कौन? जीवात्मा – जो अव्यय है, जिसका कभी नाश नहीं होता। शरीर का तो व्यय होता है, शरीर का तो नाश होता है। व्यय होने वाले, नश्वर शरीर में अनश्वर आत्मा को किसने बाँध दिया? हम जो चैतन्य-स्वरूप आत्मा हैं हम उस चैतन्य स्वरूप आत्मा के रूप में अपने को अनुभव नहीं करते। हम अपने को अनुभव करते हैं — शरीर के रूप में। शरीर के तमाम अभावों को हम अपना अभाव मान लेते हैं। शरीर की तमाम आवश्यकताओं को हम अपनी आवश्यकता मान लेते हैं और हम बँध जाते हैं। यह बाँधा किसने? सत्त्व-रज-तम— इन तीन गुणों ने बाँधा है। इस बात पर ध्यान दीजिए कि हमारे जो बड़े ग्रन्थ हैं—ये मूल तत्त्वों का निरूपण करते हैं। हजार-हजार, लाख-लाख, करोड़-करोड़ चीजें हैं लेकिन ये पाँच ही विषय हैं— शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध। हमलोग शब्द सुनते हैं, स्पर्श पाते हैं, हर किसी का एक रूप है, एक उसका स्वाद है, एक गंध

है। इनसे परे कोई छठी बात बता दीजिए। तो ठीक उसी तरह उन्होंने बताया कि सारी सृष्टि की प्रक्रिया में तीन ही चीजें प्रधान हैं। एक है प्रकाश, दूसरी है क्रिया और तीसरी है स्थिति। जब हम कुछ समझने की स्थिति में आते हैं, जब हमको ज्ञान होने लगता है, तब हमको प्रकाश का अनुभव होता है। एक तो यह बोध है। दूसरा यह है कि हम लगातार हलचल करते रहते हैं, लगातार क्रिया करते रहते हैं। तीसरा कि जो चीज जहाँ रहती है, वहाँ पड़ी रहती है। हम भी कभी-कभी थक जाते हैं, आलस्य करते हैं, पड़े रहते हैं। यह जो प्रकाश का अनुभव होता है, उत्साह का, उल्लास का, धर्म का, ज्ञान का यानी यह जो एक बड़ा परिवार है प्रकाश का, इस प्रकाश के सारे परिवार का नाम उन्होंने रख दिया 'सत्त्व'। यह हलचल है, क्रिया है, चेष्टा है—इसकी हजारों-हजारों विविधताएँ हो सकती हैं—इन सबका समष्टिगत नाम रख दिया—क्रिया या 'रज'। यह जो जड़ता है, इसकी हजार-हजार स्थितियाँ हो सकती हैं —इन सब का एक समष्टिगत नाम रख दिया 'तम'।

जैसे हमारे आयुर्वेद-शास्त्र में शरीर में तीन ही विकार मानते हैं— कफ़, वात और पित्त। कफ़, वात और पित्त से वे निदान करते हैं। वैसे ही इस विशाल ब्रह्मांड में उन्होंने तीन मूलभूत भूमिकाएँ निरूपित की हैं। एक भूमिका प्रकाश की है, एक भूमिका क्रिया की है और एक भूमिका स्थिति की है यानी जड़ता की है। इन तीनों भूमिकाओं में उन्होंने सारी सृष्टि के समस्त संभव प्रतिमानों को समेट लिया है। ये तीनों चीजें आत्मा को किसी-न-किसी रूप में बाँधती ही हैं। ये कैसे बाँधती हैं, इनका लक्षण क्या है? इस बात पर ध्यान दीजिए—हमलोग कहाँ खड़े हैं? अगर हम उन्नति करना चाहते हैं तो हम जहाँ खड़े हैं — इसकी जानकारी हमें होनी चाहिए। इसकी जानकारी भी होनी चाहिए कि कहाँ जाना है। और फिर यह जानकारी भी होनी चाहिए कि कैसे जाया जाए। अगर हमको त्रिगुणातीत होना है, अगर हम तीनों गुणों से परे मुक्त होना चाहते हैं तो हम किन गुणों से बँधे हैं—इसकी जानकारी होनी चाहिए और इस बात की भी जानकारी होनी चाहिए कि इन गुणों में हममें कौन-सा गुण प्रधान है? मेरी अपनी भूमिका क्या है? मेरी अपनी स्थिति क्या है? वैसे कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसमें ये तीनों गुण किसी-न-किसी मात्रा में न हों। प्रकृति ही त्रिगुणात्मिका है तो हर व्यक्ति त्रिगुणात्मक है। सीधी बात समझिए कि हमारा अस्थि-मांस-मेद-मज्जा से बना यह जो स्थूल शरीर है, यह तमो गुण का कार्य है — ये हमारी कर्म इन्द्रियाँ हैं, यह रजोगुण का कार्य है—ये छटपटाती रहती हैं—हमें काम में प्रेरित रखती हैं। और ये जो हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जिनसे हमें बोध होता है, जानकारी मिलती है, प्रकाश मिलता है—यह

सत्त्व गुण का कार्य है। तो हम अपने शरीर में ही सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों को समेटे हुए हैं। इसलिए यह हो ही नहीं सकता कि कोई भी व्यक्ति ऐसा पैदा हो जिसमें किसी एक भी गुण का अभाव हो। पूर्ण अभाव नहीं हो सकता। तीनों गुण हम सबों में हैं। लेकिन इन तीनों में प्रधानता किसकी है? तीनों गुणों में से हम पर सबसे ज्यादा अधिकार किस गुण का है? इस बात पर ध्यान दीजिए कि जितना तमोगुण अधिक होगा बंधन उतना कड़ा होगा। त्रिगुणातीत तो दूर की बात है। गुण-निस्तार के पहले गुणोत्कर्ष होना चाहिए। विनोबा भावे ने गीता की टीका में बार-बार इसको समझाया है कि हम अपने व्यवहार के जीवन में भी अच्छा आदमी बनना चाहें तो कैसे बनें? जिन बातों से तामसी प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं—उनसे हम बचें। आप लोगों ने यह बात सुनी होगी कि विवेकानन्द ने कहा था कि गीता पढ़ने से अच्छा है कि तुम फुटबाल खेलो। अरे! गीता पढ़ने से फुटबाल खेलने वाला अच्छा क्यों है भाई? उन्होंने कहा कि गीता पढ़ने का बहाना करके निष्क्रिय रहने वाला जो तमोगुणी व्यक्ति है; घोर आलसी, प्रमादी, जड़ता का पिण्ड बनकर कुछ करना ही नहीं चाहता—वह केवल राम-राम-राम-राम करता है, मुँह से गीता पढ़ता रहता है पर काम कुछ नहीं करता; उससे अच्छा अगर वह फुटबाल खेलेगा तो तमोगुण से रजोगुण में तो जाएगा। विवेकानन्द ने कहा कि सत्त्वगुण और तमोगुण में एक बात समान देखी। सत्त्व गुण में आंतरिक प्रकाश है, स्थिरता है। तमोगुण में अंधकार जनित जड़ता है, स्थिति है। तो स्थिरता में और स्थिति में बाहरी समानता है। सत्त्वगुणी भी ज्यादा हलचल नहीं करता, तमोगुणी तो करता ही नहीं। तो यह हलचल न करना—यह सत्त्वगुण ही है—ऐसा नहीं मानना चाहिए। अगर भीतर प्रकाश नहीं हुआ है तो हलचल न करना तमोगुण ही है। इसलिए विवेकानन्द ने कहा कि तमोगुण से तो अच्छा है कि तुम रजोगुण में आओ; रजोगुण से तुम सत्त्वगुण में जाओगे और सत्त्वगुण की जब प्रधानता होगी तब तुम त्रिगुणातीत भी हो सकोगे। गुण निस्तार – गुण को छोड़ देना, त्रिगुणातीत हो जाना इसके पहले की भूमिका है गुणोत्कर्ष। तम से रज की ओर जाना और रज से सत्त्व की ओर जाना। इसमें बताते हैं कि इन गुणों की विशेषतायें क्या हैं और इन गुणों का कार्य क्या है?

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। (१४/५)

प्रकृति जब वैषम्य-स्थिति में आती है तो उसके ये तीनों गुण प्रतिफलित होते हैं। इसलिए इनको प्रकृति से उत्पन्न कहा गया। वे तीनों गुण हैं—सत्त्व, रज, तम और यही तीनों गुण इस शरीर से आत्मा को बाँध देते हैं। आत्मा को रजोगुण नहीं बाँध

सकता, सत्त्व गुण नहीं बाँध सकता, तमोगुण नहीं बाँध सकता है। आत्मा ही अपने को इनसे बाँध लेता है।

एक दृष्टान्त आपने सुना होगा एक राजा ने अपने गुरु से कहा कि गुरुजी! मैं क्या करूँ? मुझको तो इतना बंधन ने जकड़ रखा है कि मैं छूट ही नहीं पाता। मैं चाहता तो हूँ कि भगवद्-भक्ति करूँ लेकिन इतना जकड़ा हुआ हूँ कि छूट ही नहीं पाता। गुरु ने कहा—ठीक है हमारे साथ घूमने चलो। राजा को लेकर गुरु जी जंगल में घूमने गए और घूमते-घूमते उन्होंने एक पेड़ को पकड़ लिया और कहा कि राजा! इस पेड़ ने पकड़ रखा है मुझको। मुझको जकड़ लिया है। मैं क्या करूँ? राजा बोले गुरुजी! आपने पकड़ रखा है कि पेड़ ने पकड़ रखा है। बोले, नहीं-नहीं पेड़ ने पकड़ रखा है। राजा बोले—नहीं गुरु जी! आपने ही तो पकड़ रखा है। तब गुरुजी बोले कि राजा तूने जकड़ रखा है माया को कि उसने तुझे जकड़ रखा है? लोग कहते हैं कि हम बहुत जकड़े हुए हैं, फँसे हुए हैं—सब बहाना है। कोई काम किसी को बाँधता नहीं है। हमीं लोग पेड़ को पकड़ कर चिल्लाते हैं कि हाय-हाय! पेड़ ने हमको पकड़ रखा है। पेड़ नहीं पकड़ता। पेड़ जड़ है। तो जड़ क्या पकड़ेगा। चैतन्य ही पकड़ता है। ये सत्त्व, गुण, रजो गुण, तमो गुण— ये सब जड़ हैं। ये हमको क्या जकड़ेंगे? हमीं ने इनको जकड़ रखा है, पकड़ रखा है। हमने कितना अपने को श्रेष्ठ माना है, कितने हम अपने को आनन्दित मानते हैं, किसको हमने पकड़ रखा है? इसको हम समझें और अपना आत्म-मंथन करें क्योंकि आप ही अपना आत्म-मंथन कर निर्णय कर पायेंगे कि आपकी प्रकृति सात्त्विकी है, राजसी है कि तामसी है। अपनी स्थिति को समझने की चेष्टा हमें ही अपने अनुशीलन से, अपने मनन से करनी चाहिए।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ।। (१४/६)

'*तत्र*'— इन तीनों गुणों में, इस सारी सृष्टि में सत्त्व गुण निर्मलता से, प्रकाशकता से और अनामय होने के कारण सुख की आसक्ति से बाँधता है, ज्ञान की आसक्ति से बाँधता है। इससे छुटकारा कैसे हो? तुलसीबाबा माता जानकी से प्रार्थना करते हैं—

जनकसुता जग जननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपाँ निरमल मति पावउँ।।

(मानस १/१७/७-८)

निर्मल का मतलब क्या हुआ? निर्मल का मतलब होता है कि हमारी आँख से

धुंध छँट जाय। हमारी आँख निर्मल है तो हम ठीक-ठीक समझ सकते हैं। वस्तु का ठीक-ठीक ज्ञान निर्मल दृष्टि से प्राप्त होता है। सत्त्व गुण जागता है तो हमारी दृष्टि में निर्मलता आती है तब हम ठीक-ठीक स्वरूप को पहचानते हैं कि क्या उचित है, क्या अनुचित है? क्या संगत है, क्या असंगत है? निर्मलता ज्ञान की दृष्टि से कहा गया है। यह हमें वस्तु के स्वरूप को ठीक-ठीक समझाने में सहायक होती है। प्रकाश क्या करता है? जो अज्ञान का, अंधकार का आवरण है उसको भंग कर देता है। वह अनामय है। वह हमको अस्वस्थता से मुक्त कर देता है। आमय का मतलब है रोग। आमय का मतलब दुःख भी होता है तो अनामय मतलब दुःख-रहित। आप एक बात पर ध्यान दीजिए। अपनी निर्मलता के कारण वह सत्त्व है, अस्तित्व को सूचित करता है; प्रकाशकता के कारण वह ज्ञान को सूचित करता है। सत्, चित् और आनन्द के सबसे निकट अगर कोई है तो वह सत्त्व गुण है। सत्त्व गुण भी बाँधता है। जैसे लोहे की सिकड़ी भी बाँधती है, चाँदी की सिकड़ी भी बाँधती है और सोने की सिकड़ी भी बाँधती है। सत्त्व गुण सोने की सिकड़ी है लेकिन अपनी निर्मलता में सत्त्व गुण वस्तुस्थिति को अस्तित्व को ठीक-ठीक प्रतिपादित करता है, उसका बोध कराता है और उसमें अनामयता का, निरोगता का, सुख का बोध कराता है। अब इसके बाद फिर वह हमको बाँधता कैसे है? फिर उसी छोटे से सुख की आसक्ति से बाँधता है। इसी छोटे से ज्ञान की आसक्ति से बाँधता है। आपलोगों को मैं याद कराऊँ कि जब तेरहवें अध्याय में क्षेत्र का वर्णन किया तो क्षेत्र का वर्णन करते हुए उन्होंने यह भी कहा था–

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः। (१३/६/१)

'इच्छा द्वेषः सुखं'— यह जो सुख है, यह जो चेतना है—यह सुख और चेतना इसी शरीर की है। क्षेत्र की है। इस शरीर के भीतर अवस्थित है। इस शरीर के भीतर रहते हुए जो वृत्ति ज्ञान है—इस सुख की आसक्ति से, इस वृत्ति ज्ञान की आसक्ति से हमको सत्त्व गुण बाँधता है। यह सुख आनन्द का द्योतक नहीं है। यह ज्ञान चित का द्योतक नहीं है। सच्चिदानन्द का जो चेतन है, सच्चिदानन्द का जो आनन्द है यह सुख और ज्ञान उसका अगर बोधक होता, उसका अगर लक्षक होता तो यह हमको मुक्त करता—हमको बाँधता नहीं। यह शारीरिक सुख है, यह लौकिक सुख है और शारीरिक-लौकिक सुख, उसकी आसक्ति, हमको बाँधती है। यह कि मैं बहुत जानता हूँ, मैं पंडित हूँ, मैं ज्ञानी हूँ—इसका अहंकार बाँधता है। मैं सुखी हूँ, मैं समझदार हूँ, मैं बुद्धिमान हूँ, मैं ज्ञानी हूँ—ये दोनों वृत्तियाँ हमको ज्ञान के अहंकार से बाँधती हैं। इसलिए यह सत्त्व गुण भी बंधनकारी है लेकिन रजो गुण और तमो गुण की तुलना में यह श्रेष्ठ

है। क्योंकि त्रिगुणातीत होने की अंतिम छलाँग सत्त्व गुण के ऊपर लगाने की है। बिना सत्त्व गुण तक पहुँचे हम त्रिगुणातीत होने की अन्तिम छलाँग भर नहीं सकते। आगे कहा है—

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ।। (१४/७)

राग का मतलब होता है जो रंजनकारी हो। राग का मतलब होता है जो रँग दे। निर्मलता से क्या होता है? वस्तु जैसी है वैसी प्रतीत होती है, वस्तुओं का सही-सही ज्ञान होता है। विवेकानन्द ने कहा था कि वस्तु के ज्ञान में सबसे कठिनाई यह होती है कि मेरा मन उस वस्तु को जैसा समझता है वैसा मैं उसको समझने लगता हूँ। वस्तु कैसी है यह मुझको नहीं मालूम। इस बात पर ध्यान दीजिए कि राग और द्वेष से जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो जिसके प्रति आपका राग है जिसको आपने स्नेह से रंग कर देखा है, उसके दोष आपको दिखाई पड़ते हैं? नहीं पड़ते। जिसके प्रति आपका द्वेष है, उसके गुण आपको दिखाई पड़ते हैं — नहीं पड़ते। तो जिसमें राग द्वेष अंतर्निहित हैं — *'रजो रागात्मकं विद्धि'* यानी रजोगुण राग द्वेषात्मक है, वह निर्मलता के द्वारा वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं कराता। वह उसको रँग कर कराता है। कभी किसी को प्रीतिकर बनाता है तो उसके गुण-ही-गुण बताता है, कभी द्वेष्य बनाता है तो उसको केवल दोष-ही-दोष का आगार बनाता है। रँग देता है — यह रागात्मकता रजोगुण का पहला लक्षण है। फिर तृष्णा और आसंग से यह उत्पन्न होता है—दोनों आशय हैं। तृष्णा माने जो चीज हमको प्राप्त नहीं हुई है वह मिल जाए—

और-और की ध्वनि है केवल
तृप्ति प्रलय-पर्यन्त नहीं।

यह तृषा-प्यास बढ़ती ही चली जाती है। यह लौकिक विषयों की चाह है, भौतिक विषयों की चाह है। आसंग का मतलब है जो हमको मिला है, वह हमारे पास सुरक्षित रहे। तृष्णा और आसंग दोनों की सन्धि से तृष्णासंग हुआ है। तो जो चीज हमको नहीं मिली है वह हमको मिलनी चाहिए और जो चीज हमको मिल चुकी है वह हमारी ही रहनी चाहिए—वह किसी दूसरे के पास न चली जाए, वह नष्ट न हो जाए—इन दोनों बातों से रागात्मक रजोगुण हमको बाँधता है। बाँध कर क्या करता है? कर्म की प्रेरणा देता है। जो अप्राप्त है उसको प्राप्त करने के लिए कुछ-न-कुछ तो करना पड़ेगा। चाहे किसी से माँगना ही क्यों न हो। जाकर माँगना तो पड़ेगा। कमा कर लें तो कमाना तो पड़ेगा। जो चीज नहीं है उसको प्राप्त करने के लिए आपको कर्म करना

पड़ेगा। और जो चीज आपके पास है और दूसरे ले जाना चाहते हैं, हड़प लेना चाहते हैं तो उसकी रक्षा के लिए कर्म करना पड़ेगा। तो तृष्णा और आसंग इन दोनों के कारण रजोगुण हमको निरन्तर कर्ममुखर रखता है और कर्म की आसक्ति से हमको बाँध देता है। आगे देखिए—

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।। (१४/८)

'तमोगुण' मनुष्यों को मोह से आच्छन्न कर देता है— *'मोहनं सर्वदेहिनाम्'*। सब प्राणियों को वह मुग्ध कर लेता है। *'मोह वैचित्ते'* — जो चीज जैसी नहीं है, वैसा उसको अनुभव कराता है। बुद्धि को उलटा कर देता है। बुद्धि को विपरीत कर देता है। इसलिए जो चीज जैसी है, वैसी हमको दिखती ही नहीं है। वह कुछ और ही दिखती है। तमोगुण बहुत से अर्थों में सत्त्व गुण का उलटा है। कहीं-कहीं रजोगुण का भी। सत्त्व गुण का लक्षण है निर्मलता। सत्त्व गुण का अर्थ है प्रकाश। सत्त्व गुण का अर्थ है ज्ञान, यथार्थ ज्ञान। सत्त्व गुण में निर्मलता है, वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। रजोगुण में रागात्मकता के कारण वस्तु का ज्ञान तो होता है लेकिन रंगीन (रँगा हुआ) ज्ञान होता है और तमोगुण में ज्ञान होता ही नहीं है। और फिर वह क्या करता है? *प्रमाद* / प्रमाद किसको कहते हैं? जो कर्त्तव्य-कर्म को विस्मरण कर दे। जो काम हमको आज करना है, वह काम आज हम नहीं कर पायें, भूल जाएँ। कर्त्तव्य-कर्म का विस्मरण, कर्त्तव्य कर्म को न करना—यह प्रमाद है, आलस्य है। आपको मालूम होना चाहिए कि 'र' और 'ल' यह संस्कृत में अभिन्न है। तो अलस का भाव है आलस्य। अलस का मतलब होता है 'अरस' यानी जब किसी काम में रस नहीं आ रहा हो। पढ़ रहे हैं किताब, समझ में नहीं आ रही है। बात कर रहे हैं—अच्छी नहीं लग रही है। प्रवचन सुन रहे हैं—सोचते हैं कहाँ फँस गए यार? चलो, बाहर निकल लें। तो रस का जो अभाव हो जाता है, अरस की स्थिति, उससे काम नहीं होता। अलसता आती है, सुस्ती आती है, वह आलस्य है। आदमी फिर थक जाता है —सो जाता है। तो प्रमाद, निद्रा और आलस्य से बाँधने वाला तमोगुण है। मैंने आपको बताया कि एक सीमा तक तीनों गुण आवश्यक भी हैं। हो ही नहीं सकता कि हम मनुष्य के रूप में पैदा हों और हम थक जायें तो सोयें नहीं—सोना तो जरूरी है, काम करना भी जरूरी है; लेकिन अगर काम आप ठंडे मन से कर रहे हैं तो सत्त्व गुण है। काम अगर आप गर्म माथे से कर रहे हैं तो रजोगुण है और काम आप कर ही नहीं रहे हैं, काम को आप सिर्फ बोझ मान रहे हैं और—

किस-किस को याद कीजिए, किस-किस को रोइए
आराम बड़ी चीज है, मुँह ढँक के सोइए।

प्रमाद, आलस्य, निद्रा से ग्रस्त हैं तब। यानी इस बात को समझिए कि हम इस समय किस भूमिका पर हैं। यह ठीक है कि दिन भर आपने परिश्रम किया है। रात को भोजन के बाद आलस्य आ गया तो सोना ही चाहिए; लेकिन निद्रा निः स्वप्न होनी चाहिए। आप कितने घण्टे बिस्तर पर पड़े हैं—इससे आपकी थकावट दुर नहीं होती। आपकी नींद की गुणवत्ता कैसी है—इससे थकावट दुर होगी। गहरी नींद है—निः स्वप्न नींद है, जिसको हमलोग सुषुप्ति कहते हैं, पाँच-छः घण्टे बहुत हैं। अगर सारी दुनिया की बात याद आ रही है, सारी दुनिया को आप गाली दे रहे हैं, सारी दुनिया से आप लड़े चले जा रहे हैं, तो आप इस करवट लेटिए, उस करवट लेटिए, पन्द्रह घण्टे लेटिए आप थके रहेंगे, आपका सिर और दर्द करेगा। कितने समय आप बिस्तर पर पड़े हुए हैं—इससे थकावट दूर नहीं होती। कितनी गहरी, कितनी निःस्वप्न नींद है—इस बात को देखना चाहिए। तो कर्त्तव्य का विस्मरण, रस का अभाव और सब समय सोए रहना, पड़े रहना—यह तमोगुण का लक्षण है। और भी—

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।। (१४/९)

सतोगुण सुख के प्रति हमारे मन में आसक्ति उत्पन्न करता है और रजोगुण कर्म के प्रति। कई बार हमलोग सत्त्व गुण का बहाना लेकर कर्त्तव्य-कर्म से बचना चाहते हैं। कर्त्तव्य-कर्म से बचना सत्त्व गुण का बहाना लेकर भी क्षम्य नहीं है। केवल काम ही करते रहना—यह भी कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है। और केवल विस्मरण ही विस्मरण—यह भी कोई बुद्धिमानी की बात नहीं। और *'ज्ञानमावृत्य'* — ज्ञान को ढँककर तमोगुण हमको अपने कर्त्तव्य के विस्मरण से आसक्त कर देता है—इस बात को भी हमें समझ लेना चाहिए। इस बात को दसवें श्लोक में विस्तार पूर्वक बताया है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।। (१४/१०)

कई बार सत्त्व गुण का उत्कर्ष रजोगुण और तमोगुण को *'अभिभूय'* — अभिभूत कर देता है। कई बार रजोगुण उत्कर्ष प्राप्त करता है सत्त्व गुण और तमोगुण को दबाकर और तमोगुण उत्कर्ष प्राप्त करता है सत्त्व गुण और रजोगुण को दबाकर। दबाकर का मतलब होता है कि प्रकृति में तीनों गुण बराबर बने हुए रहते हैं, लेकिन दो गुण दब गए, उनका जो लक्षण है, उनके जो चिह्न हैं वे प्रतिफलित नहीं हो रहे हैं।

जिसे उत्कर्ष-प्राप्त होता है वह चारों तरफ से अपने को स्थापित करता है। कब किस गुण का हममें उत्कर्ष है—इसका अनुभव कैसे हो? कहा है—

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।। (१४/११)

सत्त्व का उत्कर्ष हुआ है— इस बात की जानकारी हमको तब होती है जब सभी द्वारों में प्रकाश फैल जाए, ज्ञान का उदय हो।

दस द्वारे का पींजरा, तामे पंछी पौन।
रहिबे को आचरज है, जाए तो अचरज कौन।।

देह एक ऐसा पिंजरा है जिसमें दस-दस दरवाजे हैं और जिसमें पक्षी केवल पवन है, प्राणवायु टिका रहता है यही आश्चर्य की बात है। किसी दरवाजे से प्राण-पक्षी किसी भी समय उड़ जाए—इसमें आश्चर्य की क्या बात है? ये दस द्वार कौन से हैं? — दो आँख, दो नाक, दो कान = छह, एक मुख सातवां, मल-मूत्र त्याग करने के दो स्थान यानी नौ हुए और दसवां ब्रह्मरन्ध्र है जिससे योगियों के प्राण जाते हैं। ये दस द्वार हैं। कोई कोई तो नौ द्वार हैं—यह भी कहते हैं। ये इन्द्रियाँ— मूलतः ज्ञानेन्द्रियाँ हैं— नासिका, कान, आँख, रसना, त्वचा। जब सब द्वारों में प्रकाश उत्पन्न हो जाए–मतलब इन्द्रियाँ अपने विषय को ठीक-ठीक ग्रहण कर लें—शब्द को ठीक समझ लिया जाए कि कौन बोल रहा है, किस भाव से बोल रहा है, क्या उसकी इच्छा है? रूप को ठीक-ठीक समझ लिया जाए—चेहरा सब कुछ बता देता है—देखने वाली आँख चाहिए। गंध को समझ लिया जाए, रस को समझ लिया जाए यानी जब इन्द्रियाँ अपने विषयों को ठीक-ठीक ग्रहण कर लें और इन विषयों का ठीक-ठीक बोध करा दें तो *'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते'*। जब अच्छे काम करने के लिए उत्साह हो, कर्त्तव्य-कर्म के लिए, जब वस्तुस्थिति का ठीक-ठीक ज्ञान हो— *'ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं'*।

सत्त्वमित्युत— यानी जब ज्ञान का उदय हो, जब हम अच्छी किताबें पढ़ें; जब गीता-प्रवचन सुनने के लिए आएँ और उसमें रस लें; जब हम गीता पढ़ें, उपनिषद पढ़ें, बड़ी कृतियाँ पढ़ें, अच्छी कहानी, कविता पढ़ें — जिनमें कोई तात्कालिक ऐन्द्रिय सुख नहीं है, जिसमें हमारे जीवन का कोई बड़ा सत्य उद्घाटित होता हो, जिससे हमको कोई बड़ा अवलम्ब मिले, सहारा मिले, प्रकाश मिले और जिससे हम अपनी यात्रा को सुगम कर सकें। जब हमारी ऐसी मानसिकता होगी, जब हमको कठिन बातें समझ में आयें, याद रहें। ठीक समय पर ठीक बात याद आ जाए, तब समझिए कि हमारा सत्त्व गुण बढ़ा है। यह सत्त्व गुण, गुणोत्कर्ष में तीनों गुणों से श्रेष्ठ है। हमको चेष्टा करनी चाहिए

कि हम सत्त्व गुण का अधिकाधिक उत्कर्ष करें। कैसे उत्कर्ष होगा? यह गुण केवल शब्द से समझ लेने से काफी नहीं होता। जब यह हमारी इन्द्रियों में उतर आए, जब यह हमारे आचरण में उतर आए, सत्त्व गुण का प्रकाश केवल भौतिक विलास के रूप में न हो। सत्त्व गुण हमारे जीवन में स्थायी कब होगा? जब हम निरन्तर अच्छे काम करते रहेंगे, जब हम निरन्तर अच्छी बात सोचते रहेंगे और जब हममें कोई पाप का विचार आएगा, जब हममें कोई स्खलन होगा तो हम भगवान् को सच-सच ज्यों-का त्यों सुना देंगे और उसके लिए क्षमा माँगेगें, जब हम केवल अपने दुःख ही नहीं सुनाएँगे अपने दोष भी बताएँगे भगवान् को। सत्त्व गुण स्थायी कैसे होता है? स्थायी केवल इच्छा से नहीं होता। इच्छा के पीछे एक लम्बी प्रचेष्टा से, लम्बी साधना से होता है। अच्छे लोगों के साथ रहेंगे, सत्संग करेंगे, बड़ी बात समझेंगे, सीखेंगे और तदनुकूल आचरण करेंगे, तब सत्त्व गुण स्थायी होगा। जैसा कि विनोबा भावे ने कहा कि गुण निस्तार के पहले गुणोत्कर्ष की जो साधना है, जीवन की सार्थकता को अग्रसर करने में समर्थ है। वह सत्त्व गुण जितनी अधिक मात्रा में हमारे जीवन में प्रकट होगा उतनी निकटता आएगी, गुण-निस्तार की। फिर समझा रहे हैं—

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।। (१४/१२)

'भरतर्षभ' —यानी हे श्रेष्ठ भरत वंश में उत्पन्न अर्जुन! जब लोभ बढ़ने लगे यानी जो मेरे पास नहीं है वह मुझको मिले, और ज्यादा, और ज्यादा मिले तो समझो कि रजोगुण वृद्धि पर है। देखिए! एक बात पर ध्यान दीजिए! मूल बात है काम। जब अर्जुन ने तीसरे अध्याय में पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। (३/३६)

यानी हे वार्ष्णेय ! वह कौन सी शक्ति है जिससे विवश होकर मनुष्य पापाचरण करता है ? जैसे उसे अनिच्छा होने पर भी जबरदस्ती नियोजित कर दिया हो। तो भगवान् ने कहा— *काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।* (३/३७/१)

एकवचन का प्रयोग किया— *समुद्भवः।* काम-क्रोध दो का नाम लिया पर *'समुद्भवौ'* नहीं कहा। केवल एकवचन *'समुद्भवः'* का प्रयोग किया। क्यों किया? क्योंकि मूल बात है काम। जब हमारे मन में काम आता है कि यह मिले-वह मिले-तो काम पूरा नहीं होने पर क्रोध हो जाता है और काम पूरा होने पर लोभ हो जाता है— *'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'।* (रामचरित मानस. १-१७९/२)

क्रोध और लोभ काम के ही रूपान्तरण हैं। मूल वस्तु है काम। मुझे इस वस्तु का अभाव है, मुझे यह प्राप्त होना चाहिए—यह कामना जहाँ आई तब फिर उस कामना की पूर्ति के लिए हम अनेक उचित-अनुचित कार्य करेंगे। जब अनुचित काम ज्यादा करने लगेंगे तो रजोगुण बढ़ेगा। उचित ही काम करेंगे तो सत्त्व गुण होगा। लेकिन जब हम काम्य-कर्म की तृप्ति के लिए, पूर्ति के लिए न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म सब को ताक पर रख दें और सोचें कि मेरी कामना पूरी होनी ही चाहिए तब समझिए कि रजोगुण बहुत बढ़ गया है। *'लोभः, प्रवृत्ति'* किसी काम को करने की इच्छा। मन में कामना आती है तब प्रेरणा होती है तो उसको कहते है प्रवृत्ति। दो ही चीजें तो हैं—एक प्रवृत्ति है, एक निवृत्ति है। वृत्ति तो वर्तनशील है। बदलती रहती है। लेकिन जब प्रकृष्ट रूप से वृत्ति होती है तो किसी एक ओर एकमुख हो जाती है तो प्रवृत्ति। *'कर्मणा आरम्भः'* —अनेक प्रकार के कर्मों का एक के बाद एक आरंभ होता है। तो समझो रजोगुण बुद्धि पर है।

अनारम्भः मनुष्याणां प्रथमं बुद्धि लक्षणम्।
आरब्धस्यान्तगमनं द्वितीयं बुद्धि लक्षणम्।।

पहला बुद्धि का लक्षण क्या है? *'अनारम्भः'* कि काम हमने शुरू ही नहीं किया। काम तो रजोगुण की प्रेरणा है। तो *'अनारम्भः मनुष्याणां, प्रथमं बुद्धि लक्षणं।'* मगर वह आलसी नहीं, सत्त्वगुणी हो। संतोष, हाय-हाय करके किसी के पीछे नहीं दौड़ना — सत्त्वगुणी वृत्ति को स्थापित करना, बुद्धि का पहला लक्षण है। बुद्धि का दूसरा लक्षण है जो काम शुरू किया उसको समाप्त करना। जब तक वह काम समाप्त नहीं हुआ तब तक दूसरा काम नहीं करेंगे। एक साथ दस काम शुरू कर देना और दसों कामों को अधूरा छोड़ देना—यह महा रजो गुण का प्रमाण है। एक काम, जरूरी काम हाथ में लो और उसको पूरा करो। मुख्य काम तो वही है और काम गौण है। लेकिन एक साथ दस बड़े-बड़े काम शुरू कर दिए और दसों काम अधूरे छूट गए— यह रजोगुण का फन्दा है, जिसमें हम फँस गए। तो—

'लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।'

लोभवश कई कर्मों का एक साथ आरम्भ। *'अशमः'* —शान्ति नहीं, छटपट छटपट। किसी में शान्ति नहीं, इसमें मजा नहीं आ रहा, और कुछ, और-और। यह शान्ति का अभाव है *अशमः*। *स्पृहा* यानी और मिलना चाहिए। कविवर भवानी प्रसाद मिश्र की इस सम्बन्ध में बहुत अच्छी पंक्तियाँ हैं—

ज़िन्दगी शोरगुल हो गयी है।
दो पैसे से, दस पैसे तक
पहुँचने का
पुल हो गयी है।

सारी जिन्दगी इसी में बीत जाती है कि हम दो पैसा कमाते हैं तो दस पैसा कैसे कमाएँ? दो रुपया तो दस रुपया। दो हजार तो दस हजार। दो लाख तो दस लाख। दो करोड़ तो दस करोड़। स्पृहा और-और-और। बाबा ने बहुत अच्छी बात कही है—

तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरानो।

सारी जिन्दगी तो तालाब खोदते खोदते ही कट गयी। प्यास कब बुझेगी? क्यों बिछौना बिछाते हो? बिछौना बिछाने के लिए कि सोने के लिए?

डासत ही गई बीति निसा सब, कबहुँ न नाथ नींद भरि सोयो।

सारी रात तुम बिछौना ही बिछाते रहे। नहीं, यह बिस्तर अच्छा नहीं है। दूसरा बिछौना – और बढ़िया, और बढ़िया। उसमें चद्दर ऐसी हो, उसमें तकिया ऐसा हो। नारायण! सारी रात बीत गयी। बिछौना बिछाने के लिए होता है कि बिछौना सोने के लिए होता है। यही है *'अशमः स्पृहा'*।

रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।

जब इस प्रकार का लोभ, जब इस प्रकार की प्रवृत्ति, इस प्रकार के अनेक-अनेक कर्मों का आरंभ, जब इस प्रकार असंतोष, इस प्रकार की लालसा बनी रहे, बढ़ती जाए तो समझो कि हम रजोगुण की गिरफ्त में हैं, रजोगुण हम पर पूरी तरह हावी है। आगे कहा है—

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।। (१४/१३)

अर्थात् हे कुरुनन्दन ! ये अप्रकाश, उत्साहहीनता, प्रमाद और मोह पैदा हो जाए तो समझो कि तमोगुण वृद्धि पर है।

'अप्रकाशो' —यह सत्त्व गुण का विरोधी है। सत्त्व गुण में *'देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।* यानी देह में प्रकाश फैले, सत्य वस्तुओं का यथार्थ बोध हो — यह सत्त्व गुण का लक्षण है। इसके विपरीत समझ में ही नहीं आ रहा है कि कौन हमारा दोस्त है, कौन हमारा दुश्मन है? क्या हमारे लिए अच्छा है, क्या बुरा है? यह तमोगुण का लक्षण है। धर्मवीर भारती की पंक्तियाँ हैं—

कौन दुश्मन, कौन अपने लोग
सब कुछ धुन्ध-धूमिल।

'अप्रवृत्तिः' —यह रजोगुण का विरोध है। रजोगुण में प्रवृत्ति यानी यह भी करो -यह भी करो। तमोगुण में कुछ भी मत करो – ठाले बैठे रहो। चुपचाप, निठल्ला। *'प्रमादो'* — कर्त्तव्य कर्म का विस्मरण। मोह— उलटी बात सोचना। बुद्धि की उलटी स्थिति। ये वृत्तियाँ जब बढ़ जाएँ तो समझो कि तमोगुण बढ़ गया है। यह तमोगुण हमको बिलकुल पत्थर बना देता है। जड़ में और चेतन में मौलिक अन्तर क्या है? जड़ और चैतन्य में मौलिक अन्तर यह है कि हममें बुद्धि है, बुद्धि के अनुसार कर्म करते हैं। पत्थर जहाँ है, वहाँ ज्यों-का-त्यों पड़ा है। अचेतन है, वह कुछ समझ नहीं पाता। तमोगुण जितना ज्यादा बढ़ता है, हम जड़ता के उतना ज्यादा निकट पहुँचते हैं। सत्त्व गुण जितना ज्यादा बढ़ता है, हम चेतना के उतने निकट पहुँच जाते हैं। रजोगुण की स्थिति मध्यवर्तिनी है। हम अगर त्रिगुणातीत होना चाहते हैं, अपने वास्तविक स्वरूप को उपलब्ध कर लेना चाहते हैं तो गुण-निस्तार के पहले गुणोत्कर्ष की प्रक्रिया हममें आनी चाहिए। हमें अधिकाधिक तमोगुण से रजोगुण की ओर और फिर रजोगुण से सत्त्व गुण की ओर जाना चाहिए। सत्त्व गुण हमारा सहज स्वभाव होना चाहिए। सहज स्वभाव हो जाने के बाद फिर सत्त्व गुण का भी निस्तार कैसे हो सकता है, त्रिगुणातीत कैसे हुआ जा सकता है ? इसकी चर्चा अगले प्रवचन में करेंगे। ●

प्रवचन-४१*

त्रिगुणातीत : कौन और कैसे ?

भगवान् की कृपा है कि आज ४१वाँ प्रवचन आरंभ हो रहा है। प्रभु की कृपा बनी रहे और हमलोग गीता-माता की परिक्रमा इसी तरह करते रहें। चतुर्दश अध्याय में भगवान् ने यह बताया है कि मनुष्य बँधता क्यों है? कौन बाँधता है? प्रकृति के तीन गुण कौन से हैं? गुण शब्द का एक अर्थ होता है—लक्षण, स्वाभाविक लक्षण। यहाँ उसका वर्णन नहीं है। गुण शब्द का दूसरा अर्थ होता है — रस्सी। रस्सी जो तीन बँटों से बँटकर ज्यादा मजबूत होती है, सत्त्व, रज, तम— इन तीन गुणों से बँटी हुई रस्सी हमको बाँध रही है। रस्सी तो भौतिक वस्तु है। वस्तु को तो रस्सी बाँधती है, लेकिन मनुष्य की आत्मा को प्रकृति से बाँधने वाले गुण कौन से हैं। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। आत्मा को शरीर से कैसे बाँध दिया, किसने बाँध दिया? सत्त्व, रज, तम— इन तीन गुणों के कारण प्रकृति का विकास होता है, उन गुणों की रस्सी से हम, हमारी आत्मा, शरीर से, संसार से, प्रकृति से कैसे बँध जाती है? कौन किससे बाँधता है? प्रभु ने बताया कि सत्त्व गुण का कार्य है प्रकाश, सुख, ज्ञान। हम सब चाहे - अनचाहे प्रकाश चाहते हैं, सुख चाहते हैं, ज्ञान चाहते हैं और इससे बँधते हैं। रजोगुण का लक्षण है हलचल, कर्म, प्रवृत्ति, स्पृहा, तृष्णा, लालसा। दूसरों को परास्त करदें और हमको जो कुछ प्राप्त नहीं है, वह प्राप्त कर लें— यह वृत्ति भी हमको बाँधती है और यह रजोगुणी है। तमोगुण की वृत्ति या तमोगुण का कार्य है अप्रकाश या अंधकार यानी प्रमाद, आलस्य, मोह। इन गुणों से तमोगुण भी हमको बाँधता है। ये तीनों गुण हर एक में हैं। प्रकृति का कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिस पदार्थ में ये तीनों गुण न हों। यह जरूर है कि किसी में सत्त्व गुण की बहुलता है, किसी में रजोगुण की, किसी में तमोगुण की। यदि बंधन से मुक्त होना है तो हमको तीनों गुणों के बंधन से मुक्त होना होगा। लेकिन तीनों गुणों के बंधन से अनायास तो मुक्त नहीं हो सकते। उसकी एक क्रमिक मुक्ति होती है। उपाय है *'गुण-निस्तार'* — यह विनोबा का शब्द है। इसके लिए आवश्यक है

* चतुर्दश अध्याय (गुणत्रय विभाग योग) : श्लोक संख्या १४ से २७

कि गुणों का उत्कर्ष हो। हम केवल जड़ता के बंधन में बँधे रहें, आलस्य-प्रमाद और निद्रा के बंधन में बँधे रहें तो हममें और पत्थर में क्या फर्क है? जो जड़ वस्तुएँ हैं उनमें कोई चेष्टा नहीं है। वे पहले जैसी थीं वैसी ही अब भी हैं। हम भी उन्हीं जड़ वस्तुओं के सदृश हो जाएँगे। तमोगुण हमको बहुत ही जड़ बना देता है। लेकिन तमोगुण भी आवश्यक है क्योंकि हमको अगर शरीर की रक्षा करनी है तो शरीर को विश्राम देना होगा। शरीर को बिना आराम दिए हम शरीर से काम नहीं ले सकते। इसलिए हमको जो निद्रा आती है वह तमोगुण का शुभ लक्षण है। यानी आप देखिए कि तमोगुण भी एक स्थिति-विशेष में आंशिक रूप से शुभ होता है। हम आज का काम कल और कल का काम परसों पर टालते जाएँ—यह आत्मघाती तमोगुण है। हम आलस्य से पड़े रहें—यह आत्मघाती तमोगुण है। लेकिन निरन्तर परिश्रम करने के बाद जब हम थक जाएँ और राम जी का नाम लेकर सीधे सो जाएँ—यह स्वाभाविक तमोगुण है और यह तमोगुण शरीरधारण करने के लिए अनिवार्य है, आवश्यक है। इसलिए तमोगुण का भी जो सदुपयोग हो सकता है, वह उपयोग हमको करना चाहिए।

तमोगुण से ऊँची भूमिका पर रजोगुण है क्योंकि वह हमको चेष्टा, हरकत, गति देता है और हमसे यह काम करवाना चाहता है कि हम जिस भूमिका पर हैं उससे ऊपर चले जाएँ। बढ़ जाएँ। अब उसमें अगर प्रतिस्पर्धा की भावना बिलकुल अतिरेकपूर्ण हो तो क्षतिकारक है, नुकसानदेह है। अगर हम बिलकुल लालसा के द्वारा विकल होकर कामना के जंगल में भटकते रहें तो वह हानिकारक है, क्षतिकारक है। लेकिन अगर वह हमको ऊर्ध्वगामी बनाता है, वह हमको अपनी भूमिका से ऊपर उठने की प्रेरणा देता है तो वह रजोगुण वांछित है। आखिर हम सत्त्व गुण में जाएँगे कैसे? सत्त्व गुण हमको शुद्ध करता है, हमको पवित्र करता है, हमको ऊँची भूमिका पर उस स्थान पर ले जाता है जहाँ से हम इन तीनों गुणों को पार कर सकते हैं। अब इनको एक उदाहरण—एक लालटेन से समझिए। लालटेन की बत्ती खराब है, बहुत धुआँ देती है। बहुत धुआँ देने के कारण उसकी चिमनी काली हो गई है। उस काली चिमनी से हमको बत्ती ही नहीं दिखती, उसका प्रकाश हमको कैसे दिखेगा? तो यह काली चिमनी तमोगुण है जो हमारे भीतर के चैतन्य को, हमारे भीतर के तेज को, हमारे भीतर के वास्तविक स्वरूप को अनुभूत ही नहीं होने देती—उसका अनुभव नहीं करने देती। लेकिन अगर चिमनी रंगीन है—लाल, पीले या हरे रंग की है तो हमको ज्योति लाल, पीली, हरी दिखेगी। हम जैसे हैं वैसे हमारा स्वरूप हमको नहीं दिखेगा। यह समझिए रजोगुण है। रजोगुण हमको अपने स्वरूप का विकृत ज्ञान कराता है। चिमनी बिलकुल स्वच्छ है,

निर्मल है तो हमको अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान तो होता है लेकिन हम उसको छू नहीं सकते। आप देखिए कि स्वच्छ, निर्मल चिमनी भी हमारी उँगली को रोक देगी और वह चिमनी हमको इस ज्योति को स्पर्श नहीं करने देगी। तो इस दृष्टि से निर्मल, प्रकाशक होते हुए भी सत्त्व गुण आवरक है, ढाँकने वाला है, बाँधने वाला है। अपने वास्तविक स्वरूप को अनुभव करने में बाधा डालने वाला है। इसलिए हमको इन तीनों गुणों का अतिक्रमण करना होगा—यह भूमिका बताई गयी। कैसे अतिक्रमण होगा—यह अभी आगे बताया जायेगा। अब ये तीनों गुण आपस में लड़ते रहते हैं। तीनों गुणों का निरन्तर युद्ध। अभी मैंने बताया कि सत्त्व गुण का कार्य है प्रकाश, सत्त्व गुण का कार्य है ज्ञान। तमोगुण का कार्य है अप्रकाश, तमोगुण का कार्य है मोह। तम माने अंधकार। तो सत्त्व गुण से बिलकुल उलटा हो गया। सत्त्व गुण का कार्य है शान्ति, स्थिरता। रजो गुण का काम ही है प्रवृत्ति, हलचल यानी सत्त्व गुण से रजोगुण भी लड़ रहा है। वह हमको शान्त नहीं रहने देता। अब रजोगुण का कार्य है प्रवृत्ति-हलचल स्पृहा, कामना। रजोगुण से बिलकुल उलटा है तमोगुण। वह है जड़ता। तो रजोगुण और तमोगुण भी लड़ रहे हैं और रजोगुण हमको बेचैन कर देता है, छटपटा देता है, हमारी आंतरिक शान्ति को ध्वस्त कर देता है। तो ये तीनों गुण एक दूसरे से लड़ भी रहे हैं और ये तीनों गुण साथ भी हैं। ये तीनों गुण एक-दूसरे को सहायता भी देते हैं।

इन तीनों गुणों का जो संघर्ष है—इस संघर्ष को भी समझना चाहिए और कैसे हम तीनों गुणों का उपयोग करें, सदुपयोग करें—इसका भी अनुभव होना चाहिए। मेरे गुरुजी पूज्य स्वामी अखंडानन्दजी महाराज कहा करते थे कि यह बिलकुल भी जरूरी नहीं है कि हम तमोगुण से ही रजोगुण में आएँ। हम तमोगुण से सीधा सत्त्व गुण में क्यों नहीं आ सकते? वे एक बहुत अच्छा उदाहरण देते थे। गुरुजी ने व्यक्तिगत रूप से मुझे बताया और मैं गुरुजी की सुनी हुई बात आपको बता रहा हूँ। तुम सो गए। सोए हुए तुम तमोगुण में ग्रस्त हो। जब तुम सुबह जागते हो तो तमोगुण से जगते ही अगर तुम भगवान् का स्मरण करो, भगवान् का नाम लो तो तुम सीधे सत्त्व गुण में जाओगे। कोई जरूरी नहीं है कि तुम तमोगुण से रजोगुण में होते हुए सत्त्व गुण में जाओ। गुरुजी का इस बात पर बहुत आग्रह था। उन्होंने मुझको, मेरी पत्नी को और समस्त शिष्यों को यह बताया और मैं आप लोगों को बता रहा हूँ कि यह काम हम सबको करना चाहिए। सुबह उठते ही अपनी ही शैय्या में, अपने ही बिछौने पर थोड़ी देर बैठकर अपने इष्टदेव का नाम लेना चाहिए। यानी हमलोग क्या कर रहे हैं? हमलोग तमोगुण से सीधे सत्त्व गुण में जा रहे हैं। प्रातःकाल जब एक बार सत्त्व गुण का स्पर्श हमारा मन कर लेगा

यानी जब हमारा मन शुद्ध है, हमारे मन में अभी लालसा नहीं आई है, कामना नहीं आई है, रजोगुण ने हमें स्पर्श नहीं किया है तो हम दिन भर अपेक्षाकृत रूप से सुखी रहेंगे। गुरुजी कहते थे कि तुम तमोगुण में जा रहे हो – सोने के लिए। क्यों रजोगुण से जाओगे? सोने के पहले भी तुम थोड़ी देर भगवान् का स्मरण करो। सोने के पहले तुम भगवान् का स्मरण करके सत्त्व गुण से ही सीधे तमोगुण में जाओ तो वह निद्रा तुम्हारी मंगलमयी होगी। वह निःस्वप्न निद्रा होगी, स्वप्नरहित निद्रा होगी और अगर स्वप्न सहित भी होगी तो वे मंगलमय स्वप्न होंगे, शुभ होंगे। यानी गुरुजी का यह कहना था कि हम प्रयासपूर्वक अपने को मंगलमय गुणों से युक्त करें। तमोगुण से हम सीधे सत्त्व गुण में आ सकते हैं और तमोगुण में जाने से पहले भी अगर भगवान् का नाम स्मरण कर हम सोएँगे तो हम निद्रा को भी पवित्र बना लेंगे, मंगलमय बना लेंगे।

मेरे गुरुजी एक और अद्‌भुत बात कहते थे। कहते थे कि तुम क्या कर रहे हो? तुम रात्रि को भी संपुटित कर रहे हो और दिन को भी संपुटित कर रहे हो। आपलोगों को मैंने बहुत विस्तार से बताया है कि धर्म की भूमिका तीसरी है। अर्थ की भूमिका पहली है, स्थूल है, अर्थ बाहर है। अर्थ की तुलना में काम आन्तर है, काम की भूमिका मन में है। काम की तुलना में धर्म आन्तर है, धर्म की भूमिका बुद्धि में है। मोक्ष हमारा शुद्ध-स्वरूप है। लेकिन हम क्या करते हैं? हम अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष से संपुटित करते हैं। आपलोग किसी से पूछें कि चार पुरुषार्थ कौन से हैं? तो क्या कहेगा? धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष। महाभारत में जब कहा कि—

धर्मेचार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ,
यदिहास्ति तदत्यत्र यत्नेहास्ति न तद् क्वचित्।

तो महाभारतकार ने अच्छी तरह जानते हुए भी कि धर्म की भूमिका है तो तीसरी लेकिन अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष से संपुटित कर दिया जिससे कि हमारा अर्थ और काम भी मंगलमय हो। महाभारतकार कहते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।

मैं अपनी दोनों भुजाओं को उठा उठाकर जोर-जोर से चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा हूँ कि धर्म से अर्थ और काम प्राप्त करो। धर्म का सेवन क्यों नहीं करते हो? पर मेरी कोई सुनता नहीं है। यानी हम तृतीय भूमिका वाले धर्म को प्रथम भूमिका में लाते हैं तथा धर्म और मोक्ष से अर्थ और काम को संपुटित करते हैं। ठीक उसी तरह गुरुजी कहते थे कि अगर तुमने प्रातःकाल उठते ही भगवान् नाम स्मरण किया, भगवान् का

नाम लिया तो तुमने दिन को भगवन् नाम से संपुटित किया। किया कि नहीं? तो तुम्हारा दिन मंगलमय होगा। सोते समय तुमने भगवान् का नाम लिया और उठते समय भगवान् का नाम लिया तो तुम्हारी रात्रि भी भगवान् के साथ संपुटित हुई कि नहीं? तो देखो! एक ही साथ तुमने दिन और रात दोनों को सत्त्व से, भगवन् नाम से संपुटित कर दिया। इस तरह से काम और अर्थ को जैसे धर्म और मोक्ष संपुटित करके मंगलमय बनाता है वैसे ही भगवन् नाम से तुमने अपने दिन को भी और रात को भी संपुटित करके मंगलमय बना दिया। सत्त्व के उत्कर्ष का रास्ता ही यह है। जब तक सत्त्व का उत्कर्ष नहीं होगा, हम अच्छे आदमी नहीं बनेंगे, त्रिगुणातीत होना तो बहुत दूर की बात है। इसलिए गुण से मुक्ति पाने के पहले गुणोत्कर्ष आवश्यक है। आगे भगवान् कहते हैं—

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।। (१४/१४)

अर्थात् सतोगुण के प्रवृद्ध रहते मृत्यु होने पर मनुष्य का जन्म पवित्र आचरण वाले ज्ञानियों के घर में होता है। इस चौदहवें श्लोक में वे वही बता रहे हैं जो पहले भी उन्होंने बताया है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।। (८/६)

जिस-जिस भाव का, जिस-जिस गुण का स्मरण करते हुए अपना शरीर कोई छोड़ता है, उस भाव से भावित होने पर वह वही होता है, उसी को प्राप्त हो जाता है। मृत्यु के समय सत्त्व गुण अगर प्रवृद्ध रहेगा तो क्या होगा? मृत्यु के समय अगर सत्त्व गुण प्रवृद्ध रहेगा तो हम *'उत्तमविदाम्'* माने उत्कृष्ट ज्ञान वाले (उत्तम स्थिति को जानने वाले) जो ज्ञानी हैं, योगी हैं उनके लोक (लोक का एक अर्थ योनि भी है) को प्राप्त करेंगे। हम ज्ञानियों के परिवार में, हम योगियों के परिवार में उत्पन्न होंगे या हम उन्नत लोक में जाएँगे। तो अगर बढ़े हुए सत्त्व गुण में हमारी मृत्यु होगी तो हमको ज्ञानियों का लोक प्राप्त होगा। आगे के श्लोक में रजोगुण और तमोगुण के प्रवृद्ध रहने पर होने वाली स्थिति का वर्णन करते हैं—

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।। (१४/१५)

अर्थात् अगर बढ़े हुए रजोगुण में हमारी मृत्यु होगी (रज तो कर्म से छटपटाता हुआ गुण है) तो जो कर्मासक्त लोग हैं, उनके परिवार में हम पैदा होंगे। इसी मनुष्य लोक में पैदा होंगे और उन लोगों के परिवार में पैदा होंगे जो बहुत कर्मी हैं। अगर

तमोगुण में हमारी मृत्यु होगी तो हम मूढ़ योनि में जाएँगे, पाप योनि में जाएँगे। हम या तो तिर्यक योनि में पशु-पक्षी बन जाएँगे या पत्थर बन जाएँगे, लोहा बन जाएँगे। यानी जिस गुण की बढ़ी हुई स्थिति में हमारी मृत्यु होगी उसके अनुरूप हमको लोक मिलेगा। स्वाभाविक रूप से अगर हम अपनी लम्बी यात्रा, दीर्घ यात्रा को भगवान् की ओर ले जाना चाहते हैं, अगर हम अपनी जीवन-यात्रा को त्रिगुणातीत बनाना चाहते हैं तो हमको उत्तम गुणों की ओर जाना चाहिए। उत्तम गुण यानी बढ़े हुए सत्त्व गुण में मरना क्या अन्तिम समय पर ही निर्भर है? ऐसा नहीं होता। जीवन भर जो कर्म हम करेंगे, उसी के अनुरूप अंतिम समय में भी कर्म करेंगे। ऐसा नहीं हो सकता कि हम जीवन भर तामसी कर्म करें, जीवन भर राजसी कर्म करें और मृत्यु के समय सत्त्व गुण में प्रवृद्धि हो। इसके लिए तो आपको जीवन भर सात्त्विक व्यवहार करने चाहिए, सत्त्व गुण के विकास के लिए निरन्तर प्रयासशील रहना चाहिए।

जन्म-जन्म मुनि जतनु कराहीं।
अंत राम कहि आवत नाहीं।। (किष्किन्धा काण्ड/९/३)

जन्म-जन्म अभ्यास करते रहने पर भी अंत के समय भगवान् का नाम आता नहीं। इसलिए यह सोचिए कि अनायास मृत्यु के समय आपको सत्त्व गुण की प्रवृद्धि कैसे प्राप्त हो जाएगी? अगर आप उस लम्बी यात्रा के यात्री हैं, अनन्त की ओर जा रहे हैं तो अभी, इसी समय से हमको सावधान होना चाहिए, सचेत होना चाहिए और हमारे आचरण में सात्त्विकता झलकनी चाहिए। सात्त्विकता कैसे झलकेगी इसको बताया है-

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।। (१४/१६)

'सुकृतस्याहुः कर्मणः' — अच्छी तरह से अच्छे काम किए जाने पर उनका सात्त्विक फल होता है, निर्मल फल होता है। मैंने आपको जो रूपक बताया कि चिमनी कैसी होगी? स्वच्छ होगी, निर्मल होगी, पारदर्शी होगी और तब उस पारदर्शी, स्वच्छ चिमनी से आप ज्योति को यथावत् देख पाएँगे। तो जीवन भर अगर हम प्रयासपूर्वक अच्छे कर्म अच्छी तरह से करते रहेंगे तब हमारे चित्त की शुद्धि होगी, तब हमारा सात्त्विक गुण बढ़ेगा और उसका फल निर्मल होगा। एक बात पर ध्यान देना चाहिए कि हम अपने शरीर का मल दूर करने के लिए कितनी चेष्टा करते हैं। कपड़ा गंदा हो जाए, कैसी चेष्टा करते हैं, धोबी से धुलवाते हैं। और मन गंदा हो जाए? सारा व्यवहार जो हमारा होता है वह मन को शुद्ध करने वाला व्यवहार है या मन को गंदा करने वाला व्यवहार है? जब हम झूठ बोलते हैं, बेईमानी करते हैं, चोरी करते हैं, व्यभिचार करते

हैं, ये सारे-के-सारे आचरण हमारे मन को मलिन करने वाले आचरण हैं कि नहीं? तो जब *'निर्मलं फलं'* हम चाहते हैं तो आधारभूत सच्चाई यह है कि हमारे आचरण शुद्ध होने चाहिएं। हमारे आचरण पवित्र होने चाहिएं। हमारे आचरण अगर मलिन होंगे तो हमको उसका मलिन फल मिलेगा। अगर हमारे आचरण शुद्ध होंगे, सात्त्विक होंगे तो हमको उसका निर्मल फल मिलेगा। मन की निर्मलता के लिए निरन्तर सत्त्व गुण का प्रयासपूर्वक अभ्यास हमको करना चाहिए।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।। (१४/१६)

दो टूक बात है। तुम प्रलोभन से ग्रस्त होकर, स्पृहा से आक्रांत होकर, कामना के वशीभूत होकर कुछ पाने के लिए काम कर रहे हो तो जो तुम पाना चाहते हो, वह किसी भी तरह से मिल जाए—यह चेष्टा होगी। वह अच्छी तरह से कैसे मिलेगा—वह तो सात्विकता का फल है। किसी भी तरह से हमको मिलना ही चाहिए। सीधे-सीधे मिले तो ठीक, नहीं तो बेईमानी से, मिलना ही चाहिए। कैसे सुख मिलेगा? सुख का मतलब क्या होता है? हमारे गुरुजी एक बात कहा करते थे— 'ख' का मतलब आकाश। सु का मतलब स्वच्छ। जब हृदयाकाश स्वच्छ है, निर्मल है तब तो है सुख। दुःख का मतलब क्या हुआ? 'ख' का मतलब हुआ आकाश और जब हृदयाकाश मलिन है, उसमें दुर्दिन आ गया तो? *'दुर्दिनं मेघाच्छन्नं दिनं'* —दुर्दिन का मतलब होता है मेघाच्छन्न दिन। प्रसाद जी की पंक्तियाँ हैं—

झंझा झकोर गर्जन था, बिजली थी नीरद-माला,
पाकर इस शून्य हृदय को, सबने आ डेरा-डाला।

यह झंझा, झकोर, गर्जन, बिजली, नीरदमाला—ये सब क्या कर रही हैं? ये हमारे हृदय को मेघाक्रान्त अंधकार से भर रही हैं। तो दुःख होगा। हम सुखी कब हैं? जब हमारा हृदय स्वच्छ है; जब हमारा हृदयाकाश निर्मल है। हम दुःखी कब हैं? जब हमारा हृदयाकाश क्रोध से, काम से, लोभ से, घृणा से जर्जर है। नारायण! रजोगुण का फल तो दुःख होगा ही। सुख प्रतीत होता है। *'सुख की भ्रांति, दुःख के आँसू'* — सुख की भ्रांति होती है और दुःख अनिवार्य है। तो *'रजसस्तु फलं दुःखं अज्ञानं तमसः फलम्'* — और तमोगुण का जो फल है वह तो है ज्ञानराहित्य यानी ज्ञान की शून्यता, अज्ञानी हो जाना। रजोगुण में फिर भी कुछ तो ज्ञान है, कुछ तो अनुभव हो रहा है। बिलकुल ज्ञानहीन हो जाना, ज्ञान-रहित हो जाना—जड़ हो जाना है। मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति में थोड़ा-सा तो ज्ञान होता है। जब वह कहता है—मैं अज्ञानी हूँ तो उसको इस

बात का तो ज्ञान है कि वह अज्ञानी है। पत्थर को तो कोई ज्ञान नहीं होता है—तो क्या हम जड़ हो जाएँगे। अगला श्लोक है—

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।। (१४/१७)

'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं' — उसी बात को दोहरा रहे हैं। सत्त्व गुण से ज्ञान की प्राप्ति होती है *'रजसो लोभ एव च'* — रजोगुण से लोभ की। लोभ की कोई सीमा नहीं है। भर्तृहरि का एक बढ़िया श्लोक सुना दें—

निःस्वो वष्टि शतं, शती दशशतं, लक्षं सहस्राधिपो,
लक्षेशः क्षितिपालतां, क्षितिपतिः, चक्रेशतां वाञ्छति।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिः ब्रह्मास्पदं वाञ्छति
ब्रह्मा शैवपदं, शिवो हरिपदं ह्याशावधिं को गतः।।

'निःस्वो वष्टि शतं' — जिसके पास कुछ नहीं है, निःस्व है, वह चाहता है सौ रुपया मिले। *'शती दश शतं'* —जिसके पास सौ रुपया है, वह चाहता है कि हजार रुपया हो जाए। *'लक्षं सहस्राधिपो'* —जो हजारपति है वह कहता है लखपति हो जाएँ। पुराने समय में लखपति बहुत बड़ा होता था, आजकल तो कुछ भी नहीं है। *'लक्षेशः क्षितिपालतां'* — लखपति चाहता है कि राजा हो जाए। *'क्षितिपतिः चक्रेशतां'*— छोटा राजा चाहता है कि हम चक्रवर्ती राजा बन जाएँ। *'चक्रेशः सुर राजताम्'* — पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा सोचता है कि स्वर्ग का राजा, इन्द्र हो जाऊँ। *'सुरपति ब्रह्मास्पदं वांछते'* — इन्द्र चाहता है कि ब्रह्मा हो जाऊँ। *'ब्रह्मा शैवपदं शिवोहरिपदं ह्याशावधिं को गतः'* — लालसा की कोई सीमा नहीं है।

'रजसो लोभ एव' — इसलिए लोभ कहीं-न-कहीं कुंठित होगा और क्रोध में बदलेगा। इस बात को अच्छी तरह समझिए। जब बाधा प्राप्त होती है तो कामना ही क्रोध में बदल जाती है और कामना जब पूर्ण होती है तो लोभ में बदल जाती है। एक ही है काम। उसको कोई बाधित करे तो काम क्रोध हो जाता है और उसकी पूर्ति हो तो काम लोभ हो जाता है। अगर हम क्रोध और लोभ को जीतना चाहते हैं तो काम को जीतना होगा। अगर हम काम को जीतना चाहते हैं तो हमें संकल्प को जीतना होगा। किस के प्रति हमारी इच्छा होगी—यह हमको मालूम नहीं रहता। अगले पल क्या इच्छा होगी? यह क्या किसी को मालूम है? इच्छा मन में आ जाती है तब प्रतीत होती है कि इच्छा आ गयी? इच्छा आने के 'कारण' की ओर हम ध्यान दे सकते हैं? जब किसी चीज में हम सम्यकता का आरोप करते हैं कि यह उचित है, यह सुन्दर है, यह अच्छी

है, वह लाभदायक है। संकल्प का मतलब हुआ — सम्यक् कल्पना। है वह दुःखद, है वह दाहक, है वह पीड़क, है वह कष्टप्रद लेकिन हमने अपनी मूर्खता के कारण उस पर आरोप कर दिया कि वह सम्यक् है, सुन्दर है, सुष्ठु है, सुखद है, रमणीय है; तो हम उसको पाने के लिए व्याकुल हो जाएँगे। और जब उसको पाएँगे तो दुःख ही दुःख पायेंगे। अज्ञान के अलावा दुःख का कोई दूसरा हेतु नहीं है। हम दुःखद, दाहक, पीड़क और कष्टप्रद को सुखद और रमणीय मान लेते हैं। हम नश्वर, क्षणभंगुर, परिवर्तमान मिथ्या को सत्य मान लेते हैं। और जब हम नश्वर, क्षणभंगुर, दुःखद, दाहक को रमणीय मान लेते हैं तो उसको पाने के लिए व्याकुल हो जाते हैं तो वह हमारा उलटा ज्ञान हमको लोभ में फँसाता है और हमको दुःख भोगना पड़ता है। उसका फल दुःख ही है। *'रजसो लोभ एव च'।*

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञान मेव च' — तमोगुण के तीन कारण काम मोह और अज्ञान बता दिए— *प्रमाद*— कर्त्तव्य भूल गए। भूल जाते हैं। क्यों भूल गए? सचेत क्यों नहीं हुए? *मोह* — उलटी बुद्धि हो गयी, उलटी समझ आ गई और ज्ञान का लोप हो गया। यह दुःखदायी है। मनुष्य को चेतन से जड़ की ओर ले जाने वाला है तमोगुण। मनुष्य को लोभ के पीछे दौड़ाते रहने वाला रजोगुण है। मनुष्य को शान्ति और सुख देकर उसका अहंकार करा देने वाला सत्त्व गुण है। वह भी बाँधता है। मैं ज्ञानी हूँ, मेरे समान कोई वक्ता नहीं है। अरे राम! राम! राम! नारायण! बँध गए। अपने को ज्ञानी, अपने को बुद्धिमान, अपने को सुखी, अपने को गुणी मानना यानी यह सत्त्व गुण भी बाँधता है लेकिन वह ज्ञान और सुख के बन्धन से बाँधता है। एक प्रवृत्ति और लोभ के बंधन से बाँधता है। एक प्रमाद, अज्ञान और मोह के बंधन से बाँधता है। इसलिए इन सबसे गुणोत्कर्ष की ओर हमको जाना चाहिए।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।। (१४/१८)

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था' —बिलकुल स्पष्ट है। हम अगर ज्ञान, सुख और प्रकाश से युक्त हैं तो हमारी स्थिति सामान्य लोगों से ऊपर है। हमें उत्तम लोक प्राप्त होगा। *'मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः'* —जो रजोगुणी हैं, बीच की भूमिका में रहेंगे उन्हें मनुष्य-लोक प्राप्त होगा। जो लोग कर्मठ हैं, कर्मी हैं वे उनके कुल में पैदा होंगे।

'जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः' — जो तमोगुण से युक्त हैं वे तो जघन्य हैं, वे तो घृण्य हैं, वे तो अधोगामी होंगे। वे तिर्यक योनि में, पशु-पक्षी के रूप में या मनुष्य की योनि में भी अत्यन्त पाप-कर्मी होंगे। वे पत्थर हो जाएँगे, जड़ हो जाएँगे। तो हम अधोगामी न हों, हम मध्य वृत्ति से ऊपर की ओर जाने की चेष्टा करें।

इसके बाद के दो श्लोक बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन दोनों श्लोकों में गुणातीत होने का संकेत बताया गया है। इस संकेत को ठीक से ग्रहण न करने के कारण ही अर्जुन ने पूछा कि गुणातीत कैसे हों? ये दोनों श्लोक विवेक और वैराग्य से गुणातीत होने का रास्ता बताने वाले श्लोक हैं। यह कठिन रास्ता है और इसीलिए अर्जुन ने कहा कि और कोई रास्ता बताओ। श्लोक है—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।। (१४/१९)

जो व्यक्ति मद्भाव है वह मेरे भाव को, भगवद् भाव को प्राप्त हो जाता है। आप भगवद्-भाव को प्राप्त होना चाहते हैं? भगवान् से एक होना चाहते हैं? भगवान् रास्ता बता रहे हैं कि यह करो तो तुम मुझसे एक हो जाओगे। जो मेरा भाव है, जो भगवद्-भाव है, वह भगवद्-भाव तुममें स्फुरित होगा अगर तुम यह कर सके तो। कितनी बड़ी बात बता रहे हैं? क्या बता रहे हैं?

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। —जब द्रष्टा भली-भाँति विचार करके एक काम के पीछे रहकर उसकी जाँच-पड़ताल कर लेता है कि इस काम को कौन कर रहा है? हमलोग सोचते हैं कि मैं कर रहा हूँ। कौन बोल रहा है? व्याख्यान कौन दे रहा है? विष्णुकान्त शास्त्री! नारायण! विष्णुकान्त शास्त्री नहीं दे रहा है। '*नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं*' — गुणों के अतिरिक्त और कोई कर्त्ता नहीं है— इस बात को जब देख लेता है। कौन कर रहा है यह काम? आपको मैं तृतीय अध्याय का स्मरण कराऊँ—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। (३/२७)

जो सारे कर्म हो रहे हैं— ये प्रकृति के गुणों के द्वारा हो रहे हैं। यह जो इस समय व्याख्यान दिया जा रहा है—यह सत्त्व गुण के द्वारा दिया जा रहा है। प्रवृद्ध सत्त्वगुण, बढ़ा हुआ सत्त्वगुण, अपने गुरुजनों की वाणी का अनुशीलन करने के बाद प्रकट हो रहा है। *सर्वशः* — सब प्रकार से सारे-के-सारे कर्म प्रकृति के द्वारा किए जाते हैं। '*अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते*' — और जो मूढ़ आदमी है, अहंकार ग्रस्त आदमी है वह कहता है कि मैं करता हूँ। मैं नहीं कर रहा हूँ। मैं कौन ? मैं क्या यह नाम रूप वाला यह जो शरीर आपके सामने बैठा है—यह? यह मेरा जो एक नाम दे दिया पिताजी ने, वह? यह नाम रूप वाला? यह मैं नहीं हूँ। मैं नाम रूप नहीं हूँ। यह नाम रूप तो प्रकृति है। मैं इससे अलग हूँ। मैं तो चैतन्य हूँ। मैं तो चेतना-मात्र हूँ।

चैतन्य तो कुछ करता ही नहीं है। सब कुछ तो प्रकृति करती है। तो मैं कैसे कर्त्ता हो गया? अगर काम कोई कर रहा है तो वह प्रकृति कर रही है। अगर मैं वास्तव में अपने को चैतन्य मानता हूँ तो मैं काम नहीं कर रहा हूँ। लेकिन मैं अहंकार से विमूढ होकर अपने काम का कर्त्ता अपने आप को मान लेता हूँ। भगवान् फिर से याद करा रहे हैं कि—

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति । (१४/१९/१)

द्रष्टा-अनुपश्यति। अनु माने पीछे रह कर देख रहा है। सामने जो काम हो रहा है उसको पीछे रह कर भली-भाँति ठोंक-बजा कर देख रहा है। कौन काम कर रहा है? यह जो गीता के रहस्य को समझाने की प्रचेष्टा हो रही है— यह सत्त्व गुण विशिष्ट उद्रेक कर रहा है। *'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति'* यानी अपने आप को, अपने आपे को, अपनी आत्मा को जो गुणों से परे मानता है। दो बातें है— पहली बात तो यह है कि जो भी कर्त्ता है, करनेवाला है, वह प्रकृति है यानी त्रिगुण है, तीनों गुण है क्योंकि प्रकृति त्रिगुण से अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब द्रष्टा, ज्ञानी, चेतन— यह भली-भाँति अनुभव कर लेता है कि प्रत्येक काम को करने वाला गुण है— चाहे सत्त्व गुण हो, चाहे रजो गुण हो, चाहे तमो गुण हो। गुणों के अतिरिक्त कोई दूसरा काम करने वाला नहीं है और मैं, मेरा आपा, मेरी आत्मा गुणों से अलग है, गुणों से श्रेष्ठ है। तो मैं कर्त्ता नहीं हूँ। दो बातें हुई— करने वाला गुण और मैं अपना वास्तविक स्वरूप, मैं जो — गुणों से परे है। *'मद्भावं सोऽधिगच्छति ।'*

वह भगवद् पद को प्राप्त होता है। भगवान् ही है। भगवान् तीनों गुणों के परे हैं। भगवान् सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करते। हम अगर कर्त्तव्य का अहंकार बिलकुल त्याग देंगे और यह मान लेंगे कि सारे कर्म गुण ही करते हैं और मेरा वास्तविक स्वरूप, मेरा आत्म-स्वरूप गुणों से अलग चैतन्य है तो मैं भगवद्-भाव को प्राप्त हो जाऊँगा। तीसरे अध्याय का अट्ठाइसवाँ श्लोक देखिए—

गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते । (३/२८/२)

गुण गुणों में बरत रहे हैं। यह समझकर वह अपने कर्मों में किसी प्रकार आसक्त नहीं होता। गुण गुणों में बरत रहे हैं—इसका क्या मतलब है? सारी प्रकृति--सृष्टि रचना के पहले क्या थी? सत्त्व-रज-तम तीनों की साम्यावस्था थी तो प्रकृति नहीं थी क्या? तो प्रकृति का विस्तार नहीं हुआ था क्या ? जब भगवान् की इच्छा से सत्त्व-रज-तम की साम्यावस्था भंग हुई तो सत्त्व-रज-तम का पहला परिणाम जो हुआ वह हुआ महत् तत्त्व यानी समष्टि बुद्धि — हिरण्यगर्भ। उससे हुआ फिर अहंकार और

फिर उससे हुई— पाँच तन्मात्राएँ हैं— शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध, और जो ग्यारह इन्द्रियाँ— यानी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन। फिर यह जो पाँच तन्मात्राएँ थीं इनका स्थूल रूप हो गया तो वह हुआ—आकाश – वायु – तेज – जल और पृथ्वी। तो यह सृष्टि जो है वह कोई नई बात नहीं, इन्हीं का घाल-मेल है। तो हम जो काम करते हैं— उसमें क्या करते हैं ? इस बात पर ध्यान दीजिए। हमलोग आँख से किसी का रूप देखते हैं, रसना से स्वाद लेते हैं, कान से किसी का शब्द सुनते हैं, नाक से किसी गंध को ग्रहण करते हैं, त्वचा से किसी का स्पर्श पाते हैं। तो ये जो पाँच इन्द्रियों के विषय हैं—ये तो हैं शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध। सारी सृष्टि में यही पाँच तत्त्व हैं। ये बने हैं— क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर से। तो क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर और शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध ये भी गुण हैं। मेरी आँख, मेरी नाक, मेरा कान, मेरी रसना, मेरी त्वचा—ये भी गुण हैं। मेरा हाथ-मेरा पाँव, मेरी वाणी, मेरा मल-मूत्र त्याग करने का स्थान—ये भी गुण हैं। ये इन्द्रियाँ भी गुणों से बनी हैं और इन्द्रियाँ अपने इन्द्रियों के विषय में बरत रही हैं। यह बात तो समझ में आ जाती है। आँख रूप को देख रही है। रूप इन्द्रिय का विषय है। आँख इन्द्रिय है। हम आँख से रूप को देख रहे हैं। कान से शब्द सुन रहे हैं। नाक से सूँघ रहे हैं। लेकिन यह बात कि जो भी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध है, जो भी क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर, पाँच तत्त्वों से बना हुआ पिण्ड है, वह भी गुण है। और देखने वाली आँख, सूँघने वाली नाक, सुनने वाला कान, रसना — ये भी गुण हैं। तो गुण गुणों में बरत रहे हैं — उसका मतलब क्या हुआ? इसका मतलब हुआ कि इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरत रही हैं। जब इन्द्रियाँ अपने विषय में बरत रही हैं, जब गुण-गुण में बरत रहे हैं और गुण ही काम करते हैं, और मैं इन गुणों से अलग हूँ तो मैं इन सारे कर्मों में भी कर्म से अलिप्त हूँ। जो समझाया जा रहा है—वह यह कि सारे कर्म मैं नहीं कर रहा हूँ—'मैं' मतलब मेरा वास्तविक मैं, मैं मतलब *'अहं ब्रह्मास्मि'* वाला मैं —अहं—नाम-रूप वाला छोटा मैं नहीं। नाम रूप वाले छोटे मैं से बड़ा जो मेरा वास्तविक 'मैं' है वह तो शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य है। वह शुद्ध-बुद्ध चैतन्य—इन कर्मों में लिप्त नहीं हो रहा है। इन कर्मों को करने वाले भी गुण और इन कर्मों का विषय भी गुण — इसलिए गुण गुणों में बरत रहे हैं—यह बात समझ में आनी चाहिए।

जब द्रष्टा, ज्ञानी भली-भाँति इस बात को देख लेता है, परख लेता है, जान लेता है, केवल शाब्दिक नहीं, केवल वाचिक नहीं, जब उसको अनुभव की भूमिका पर ग्रहण कर लेता है कि सारा काम जो कर रहा है यह गुण-समूह कर रहा है, मैं इस गुण-

समूह से अलग हूँ। गुण-समूह कर्त्ता है। गुण-समूह ही कर्म का विषय है। इन्द्रियाँ भी गुण से बनी हुई हैं, विषय भी गुण से बने हुए हैं। इसलिए गुणों से मैं अलग हूँ—इस बात को उपलब्ध करते ही भगवद्-भाव की प्राप्ति हो जाती है। कितनी बड़ी बात है। *'गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति'।*

अर्थात् भगवद्-भाव की प्राप्ति कैसे होती है? यह विवेक की बात है। विवेक का मतलब क्या? विवेक का मतलब है जो अनित्य है—उसे नित्य से अलग कर लेना। जो मिथ्या है, उससे सत्य को अलग कर लेना। जो दुःखद है, उससे आनन्द को अलग कर लेना। जैसे दाल-चावल मिल जाए तो दाल - दाल अलग, चावल - चावल अलग। यह दाल-चावल का विवेक है। मिथ्या और नित्य का विवेक। यह अगर तुम्हारा सध गया तो तुमको भगवद्-भाव की प्राप्ति हो जाएगी। इसके बाद फिर बात करते हैं वैराग्य की—

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।। (१४/२०)

जो देह को उत्पन्न करने के कारण हैं और जो उत्पन्न देह में, देह के फल हैं, जब तक देह रहेगा सत्त्व-रज-तम तीनों काम करते रहेंगे—इन तीनों गुणों का *'अतीत्य'* यानी अतिक्रमण करने वाला; जन्म, मृत्यु, जरा और दुःख—इन चार चीजों से विमुक्त होकर अमृतत्व को प्राप्त कर लेगा। उसका फिर जन्म नहीं होगा, फिर उसकी मृत्यु नहीं होगी, फिर बुढ़ापा नहीं आएगा, फिर उसको दुःख नहीं होगा। भगवान् और क्या हैं? भगवान् अनादि हैं, उनका जन्म नहीं होता, स्वयंभू हैं वे। भगवान् अनन्त हैं। उनकी कभी मृत्यु नहीं होती। भगवान् न वृद्ध होते हैं, न उनको दुःख स्पर्श कर सकता है। अगर कोई सचमुच विवेक और वैराग्य के द्वारा अपने शरीर के गुणों को अपने से अलग मान कर यह समझ ले कि गुण गुण में बरत रहे हैं और उनके प्रति जो अच्छा-बुरा हो रहा है, मैं उससे विरक्त हूँ, वे मुझको स्पर्श नहीं कर सकते। यह बात आते ही जन्म, मृत्यु, जरा और दुःख से विमुक्त होकर व्यक्ति अमृतत्व की प्राप्ति कर लेगा। भगवान् इसमें *'मद्भाव'* को प्राप्त करने की बात समझा रहे हैं।

यह बात स्पष्ट होनी चाहिए कि कर्त्ता मैं नहीं हूँ। कर्त्ता तो गुण-समूह हैं। सत्त्व-रज-तम—ये कर्त्ता हैं। ये ही इन्द्रियों के रूप में कार्य करते हैं और ये ही विषय के रूप में भोगे जाते हैं। गुण ही गुणों को भोग रहा है। यही गुण का गुण में बरतना है। इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरत रही हैं। मैं शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य स्वरूप आत्मा उससे अलग हूँ, मैं उसके सुख-दुःख से युक्त नहीं हूँ।

विवेक और वैराग्य के द्वारा भगवद्-भाव की प्राप्ति इन दोनों श्लोकों (१९ और २०) में भगवान् ने बताई है। अर्जुन ने कहा—ठीक है महाराज! आपने बता दिया लेकिन और विस्तार से बताइए। एक बात और देखिए! ये जो त्रिगुणातीत के लक्षण हैं—ये स्व-संवेद्य लक्षण हैं। ये पर-संवेद्य लक्षण नहीं हैं। जो त्रिगुणातीत है वही इसका अनुभव कर रहा है। बाहर तो आचरण हो रहा है। शरीर तो आचरण करेगा। रामकृष्ण परमहंसदेव को कैंसर हो गया। शरीर के स्तर पर उसको भूख लगेगी। जब तक शरीर है, उसको कुछ खाना पड़ेगा। जब तक शरीर है तब तक उसको मलत्याग करना होगा। जब तक शरीर है तब तक उसको शरीर पर ठंडा-गर्म लगेगा। वह बीमार हो सकता है, वह स्वस्थ रह सकता है—ये सब शरीर के धर्म हैं। शरीर के इन धर्मों से मेरा कोई संबंध नहीं है—इस बात का अनुभव करके कोई भगवद्-भाव प्राप्त करता है। अर्जुन ने कहा कि और विस्तार से समझाइए। वह कहता है—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ।। (१४/२१)

जो इन तीनों गुणों से अतीत है, परे चला गया है, उसकी पहचान क्या है? पहले हुआ गुणोत्कर्ष— तमो गुण से सीधे सत्त्व गुण या तमोगुण से रजोगुण, रजोगुण से सत्त्वगुण —गुणोत्कर्ष। फिर हुआ गुण-निस्तार - गुणातीत, गुण के परे। तो जो गुणातीत है — उसके लक्षण क्या हैं? लिंग माने लक्षण, चिह्न क्या हैं? *'किमाचार'* — उसका व्यवहार कैसा है? *'कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते'* — और वह कैसे इन तीनों गुणों को लाँघता है, पार करता है। तीन बातें। पहली बात कि गुणातीतों का लक्षण क्या है? किसको गुणातीत कहेंगे ? दूसरी बात कि गुणातीत व्यवहार कैसे करता है? तीसरी बात कि अगर कोई गुणातीत होना चाहे तो उसको क्या करना चाहिए? कौन सा वह उपाय है, जिस उपाय से वह गुणातीत हो जाएगा। एक और बात पर ध्यान दीजिए कि भगवान् ने द्वितीय अध्याय के अन्त में *स्थितप्रज्ञ* का वर्णन किया है। षष्ठ अध्याय में *योगी* का वर्णन किया है। द्वादश अध्याय में *भक्त* का वर्णन किया है। त्रयोदश अध्याय में *चैतन्य* ज्ञानी का वर्णन किया है। चौदहवें अध्याय में *त्रिगुणातीत* का वर्णन कर रहे हैं और हम पाते हैं कि सब के लक्षण समान हैं, करीब-करीब समान हैं। इसका मतलब क्या है? इसका मतलब यह है कि हमारी साधना-पद्धति यह मानती है, भारतवर्ष यह विश्वास करता है कि साधना के रास्ते अलग-अलग हो सकते हैं, अलग-अलग रास्तों पर चलकर तुम एक ही लक्ष्य पाओगे। जब तुम उस लक्ष्य पर पहुँच जाओगे तो तुम्हारे आधारभूत गुण समान होने चाहिए। चाहे तुम स्थितप्रज्ञ होओ,

चाहे तुम कर्मयोगी बनो, चाहे तुम ध्यान योगी बनो, चाहे तुम ज्ञानयोगी बनो, चाहे तुम भक्तयोगी बनो—किसी भी रास्ते से तुम्हारी साधना चले लेकिन साधना की परिपूर्णता इन गुणों में समान रूप से निखरती है। आप इसको मिला कर देखें — अधिकांश गुण समान हैं। कुछ-कुछ विशेषताएँ हैं — वह उस रास्ते की सुगंध है। जो जिस रास्ते से आया है — उसको उस रास्ते की गंध नहीं मिलेगी? आप लोगों ने कभी किसी रूई धुनने वाले को देखा है? अगर कोई रूई धुनने वाले रास्ते से जाएगा तो उसके शरीर पर रूई लगेगी कि नहीं? कोयले की खान से कोई आएगा तो? कोयले का चूरा लगेगा कि नहीं? सुगंधित स्थान से आएगा तो उसमें सुगंध आएगी कि नहीं? यानी आप जिस रास्ते से आ रहे हैं, उस रास्ते की गंध लगेगी। रास्ते का थोड़ा सा वर्णन होगा। ये विशेषताएँ तो रास्ते पर चलने वाले को अपने रास्ते से मिल गयीं, लेकिन आधारभूत रूप से उनके गुण समान हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि हमारी संस्कृति यह मानती है कि एक ही लक्ष्य पर पहुँचने के भी रास्ते अनेक हो सकते हैं।

बीथी भगवत्-मिलन की, निहचय एक न होय।

अगर कोई बात निश्चित है तो वह यह कि रामजी से मिलने का रास्ता एक नहीं है। बहुत से रास्ते हैं। *'जोतो मत, तोतो पथ।'* जितने मत हैं उतने ही रास्ते हैं। उन रास्तों से तुम जाओ लेकिन तुम्हारी परिणति होगी एक ही। अब इसमें देखो—पहली बात क्या बताते हैं? पहली बात बता रहे हैं कि त्रिगुणातीत का लक्षण क्या है? भगवान् कहते हैं—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।। (१४/२२)

प्रकाश यानी सत्त्व गुण का कार्य, प्रकाश यानी आनन्द, प्रकाश यानी ज्ञान। प्रवृत्ति यानी हलचल, प्रवृत्ति यानी कर्म, चेष्टाएँ—ये रजोगुण का फल है। मोह माने बुद्धि की उलटी स्थिति, *'मोह बैचित्ते'*, अज्ञान। *'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला'* (मानस.-७/१२०/२९) — तो मोह सब व्याधियों की जड़ में है। यह तमोगुण का लक्षण है। तो सत्त्व गुण का कार्य, रजोगुण का कार्य और तमोगुण का कार्य — जब तक शरीर रहेगा तब तक यह आता ही रहेगा। बड़े-से-बड़ा ज्ञानी–रामकृष्ण, विवेकानन्द, शंकराचार्य, तुलसीदास सुख दुःख से कोई भी बाद नहीं। तुलसीदास को आखिर बलतोड़ हो गया था कि नहीं? हो गया था। शंकराचार्य ३२ वर्ष की अवस्था में चले गए। उन्तालीस वर्ष की अवस्था में विवेकानन्द चले गए। तो यह शरीर का जो धर्म है— इन ज्ञानियों के शरीर में भी घटता रहता है। जब तक शरीर रहेगा, तब तक शरीर के धर्म व्यापेंगे। ऐसा हो सकता है कि

तुम जन्म लो और तुमको सुख न मिले? तुम जन्म लो और तुमको दुःख न मिले? ऐसा कभी नहीं हो सकता। राम जी, कृष्ण जी के साथ नहीं हुआ तो हमारे-आपके साथ कैसे होगा? राम जी, कृष्ण जी भी जब मानव शरीर लेकर आए तो उनको सुख-दुःख से गुजरना पड़ा। उनके शरीर में भी शीत, दुःख का ताप हुआ। शरीर में हुआ, आत्मा में नहीं हुआ। तो पहला लक्षण यह है कि हम किसी को बुलाने नहीं जायेंगे और हम किसी को पकड़ कर नहीं रखेंगे। यह त्रिगुणातीत का लक्षण है। जो गुण का फल, जो गुण का कार्य आए, आ जाए। जो जाए, चला जाए। हमारे गुरुजी इसके लिए दर्पण का उदाहरण देते थे। दर्पण किसी को आकृष्ट नहीं करता कि आओ-आओ। लेकिन जो भी दर्पण के सामने खड़ा होता है, अगर अच्छा दर्पण है तो प्रामाणिक रूप से उसको प्रतिफलित करेगा। जब वह चला जाएगा तो दर्पण में कुछ नहीं रहेगा। इसी तरह से जो बड़े ज्ञानी होते हैं, महात्मा होते हैं, त्रिगुणातीत होते हैं— वे किसी को बुलाते नहीं कि तुम आओ। आ गए, आ जाओ। जा रहे हो, चले जाओ। लेकिन जब वह आ गया तो उससे दुर्व्यवहार नहीं करेंगे। जैसे अच्छा दर्पण उसको ठीक-ठीक प्रतिफलित करेगा, वैसे उसके साथ व्यवहार करेंगे। न उसकी कामना करेंगे, न उससे द्वेष करेंगे, *'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि'* जो स्थिति आ गई, बुखार आ गया; आ जा भाई आ जा।

तू फिर आ गई गर्दिशे आसमानी
बड़ी मेहरबानी, बड़ी मेहरबानी ।

आ जा, आ जा। दुःख, आजा-आजा। सुख–रह जा, रह जा। जा रहा है, जा-जा। यह जो *'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि'* जो स्थिति प्राप्त है उस स्थिति से ज्ञानी विचलित नहीं होता। प्राप्त स्थिति को बदलने की कोई आतुरता-कातरता नहीं रहती। कुछ नहीं, ठीक है। चाहे प्रकाश आए, चाहे प्रवृत्ति आए, चाहे मोह आए। चाहे सत्त्वगुण का काम आए, चाहे रजोगुण का आए। चाहे तमोगुण का आए। ठीक है—नींद आ गई, सो गए। किसी ने कहा कि वहाँ चलिए, चले गए। बोल दीजिए, बोल दिया। ध्यान में हैं, तो हैं। चला गया, तो चला गया। यह जो भी स्थिति आई उसके प्रति द्वेष नहीं और जो चला गया उसकी कामना नहीं। *'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति'* — हमलोग बराबर अपनी जाँच करें। जिस स्थिति में हैं, अगर हम तमोगुणी हैं तो हमें जरूर चेष्टा करनी चाहिए कि हम रजोगुणी हो जाएँ। अगर रजोगुणी हैं तो जरूर चेष्टा करनी चाहिए कि हम सत्त्व गुणी हो जाएँ और अगर सत्त्व गुणी हो गए हैं तो फिर धीरे-धीरे चेष्टा करनी चाहिए कि जो प्रवृत्ति आ रही है चाहे प्रकाश की, प्रवृत्ति की या मोह की—उससे हम द्वेष न करें और जो चला गया है उसकी कामना न करें। यह पहला लक्षण है। लेकिन

यह लक्षण स्व-संवेद्य है, बाहर वालों को कैसे मालूम पड़ेगा? भूख लगी हुई है—ठीक है, भूख झेल रहे हैं। आ गया प्रसाद, ग्रहण कर लिया। लेकिन लोभी की तरह, पेटू की तरह नहीं खाएँगे। खाने के लिए जिएँगे नहीं, जीने भर के लिए खा लेंगे। संन्यासी के लिए तो कहा गया है कि भिक्षा माँग कर खाओ। और एक घर से भिक्षा मत लो। रोज एक घर का मत खाओ, आसक्ति हो जाएगी। तो *'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति'* —यह गुणातीत होने का पहला लक्षण है। मैंने भली-भाँति यह अनुभव कर लिया है कि मैं यह शरीर नहीं हूँ। मैंने भली भाँति अनुभव कर लिया है कि गुण गुण में बरत रहे है। इन्द्रियाँ भी गुणों के द्वारा बनी हुई हैं। विषय भी गुणों के द्वारा बने हुए हैं। इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरत रही हैं। उसमें मेरा कुछ लेना-देना नहीं है। इसलिए जो भी विषय आएँ, बड़ी अच्छी बात।

सुख सपना दुःख बुदबुदा, दोनों हैं मेहमान ।
सबका आदर कीजिए, जो भेजें भगवान ।।

अपने आप तो कोई आया नहीं। भगवान् का भेजा हुआ आया है। आ, बैठ जा! गया, चला जा! यह वृत्ति होनी चाहिए। न आकर्षण, न विकर्षण। गुणातीत का यह पहला लक्षण है। दूसरा—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ।। (१४/२३)

उदासीन के दो अर्थ हैं। उत् माने ऊपर। उदासीन माने जो ऊपर बैठा हुआ है। जैसे आप यहाँ खिड़की-झरोखे में बैठे हुए हैं। नीचे मार-पीट हो रही है। नीचे हल्ला-गुल्ला हो रहा है। नीचे जुलूस निकल रहा है। नीचे कोई रुपया बाँट रहा है, गरीबों को कम्बल बाँट रहा है। आप उससे अलग हैं। ऊपर बैठे हैं। नीचे जो कुछ भी घटनाएँ घट रही हैं— उससे आपको कुछ लेना-देना नहीं है। *उदासीन*—जो संसार की प्रक्रिया चल रही है, उससे ऊपर उठ जाना। उसमें आसक्त मत होइए। लिप्त मत होइए, ऊपर बैठ कर काम कीजिए। एक अर्थ। *उदासीन*—जो निष्पक्ष है, तटस्थ है, जो किसी का पक्ष नहीं लेता। दो पक्षों में लड़ाई हो रही है, जो दोनों से उदासीन है, वह तटस्थ है। वह किसी का पक्ष नहीं लेगा। दोनों की बात अगर पूछी जाएगी तो बता देगा कि क्या ठीक है, क्या गलत है। *'न ऊधो का लेना, न माधो का देना'*। *'उदासीनवदासीनो-उदासीनवत्'* —उदासीन की तरह—दोनों अर्थ में चाहे वह निष्पक्ष तटस्थ है, चाहे वह प्रक्रियाओं से ऊपर उठ कर उनको देखता है, उनका अंश नहीं बनता। *'गुणैर्यो न विचाल्यते'* —गुणों के द्वारा जो विचलित नहीं किया जा सकता। जैसे मैं व्याख्यान दे रहा हूँ और कोई कहे

कि बड़ा अच्छा लग रहा है। आह! ऐसा व्याख्यान और कौन दे सकता है? विचलित हो गए। प्रशंसा और निन्दा से जो अनुकूल-प्रतिकूल अनुभव कर रहा है, वह गुणों से विचलित हो गया। *'गुणैर्यो न विचाल्यते'* — गुणों के द्वारा जो विचलित नहीं किया जा सकता। गुणों ने गुणों में अपना बर्ताव किया – मुझको उससे क्या लेना-देना? यह बोध होना चाहिए, ज्ञान होना चाहिए। *'गुणा वर्तन्त इति'* —गुण गुणों में बरत रहे हैं। जो व्यवहार किया जा रहा है वह अपनी-अपनी भूमिका पर भिन्न-भिन्न गुणों की समष्टि, भिन्न-भिन्न विषयों पर कर रहे हैं। और जो चैतन्य तत्त्व है, आत्म तत्त्व है वह इससे अलिप्त है, वह इससे ऊपर है, वह ऊर्ध्व है। इसलिए *'गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते'* —जो उससे कुछ भी प्रभावित नहीं होता, *नेंगते* - हिलता-डुलता नहीं, कुछ नहीं। तो यह बात, गुणातीत का पहला लक्षण। कुछ लोग कहते हैं तेईस, चौबीस, पच्चीस– ये श्लोक गुणातीत के लक्षण हैं। कुछ लोग कहते हैं कि बाईस-तेईस श्लोक गुणातीत के लक्षण हैं, और चौबीस-पच्चीस गुणातीत के आचरण हैं। कैसा आचरण करता है? यानी पहली बात तो यह कि वह *'न ऊधो का लेना, न माधो का देना'* — ऊधो-माधो से ऊपर है, उदासीन है; दोनों में सम है। गुणों से विचलित नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि गुण गुण में बरत रहे हैं। उसमें मेरा कुछ भी आता जाता नहीं है।

कह दिया जनक ने— *'मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किंचिद् दह्यते'* इस जलती हुई मिथिला में मेरा कुछ नहीं जल रहा है? यह नहीं कि जरा जरा सी बात पर रोने लग गए। तो यह हुआ गुणातीत का लक्षण। श्लोक चौबीस, पच्चीस में गुणातीत का व्यवहार बतलाया है—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।। (१४/२४)
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।। (१४/२५)

'समदुःखसुखः' — सुख-दुख में समान रहें। जीवन में सुख भी आएँगे, दुःख भी आएँगे। कविवर गुलाब खंडेलवाल की भगवान् राम के सम्बन्ध में लिखी हुई पंक्तियाँ याद आ रही हैं—

जिनका नाम लिए दुख भागे।
मिला उन्हें तो दुःख ही दुःख जीवन भर आगे - आगे।।
छूटा अवध, साथ प्रिय जन का
शोक असह था पिता मरण का

देख दुःख मुनियों के मन का, वन के सुख भी त्यागे।
मिला उन्हें तो दुःख-ही-दुःख जीवन भर आगे-आगे।।

क्या माँग रहे हो? सुख? छिः! कुत्ते का कौर! यह मेरी शब्दावली नहीं है। बाबा की शब्दावली है। तुलसीदास ने कहा—

जाके बिलोकत लोकप होत बिसोक लहें सुरलोक पठौरहिं
सो कमला तजि चंचलता करि कोटि कला रिझवै सिरमौरहिं
ताको कहाय कहै तुलसी तू लजाहि न माँगत कूकर कौरहिं
जानकी जीवन को जनु ह्वै जरि जाउ सो जीह जो जाँचत औरहिं।

तुझे शर्म नहीं आती! लक्ष्मी जी सब कुछ छोड़ कर जिसकी सेवा कर रही हैं, उसका तू अपने को भक्त कहता है। जिस लक्ष्मी की एक कृपा दृष्टि से लोग लोकपाल हो जाते हैं—उसका भक्त और कुत्ते के कौर जैसी घृणित वस्तु तू अन्य लोगों से माँग रहा है? रामजी का भक्त और दूसरे से माँगे! छिः! जीभ जल जाए!

'समदुःखसुखः' — दुःख में भी और सुख में भी रामजी के साथ जुड़े। कोई दुःख नहीं, कोई सुख नहीं। *'स्वस्थः'* — अपने में स्थित। स्वस्थ मतलब अपने स्वरूप में स्थित। एक होता है रूप और एक होता है स्वरूप—

राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह।। (मानस.-२/१२६/०)

वह जो हमारा वास्तविक स्वरूप है, जो वाणी का विषय नहीं है, जो निर्गुण निराकार, जो शुद्ध सत्य-ज्ञान-अनन्त— वह जो अपना स्वरूप है उसमें स्थित हैं। *'समलोष्टाश्मकाञ्चनः'* —*लोष्ट* यानी मिट्टी का ढेला, *अश्म* यानी पत्थर, *काञ्चन* यानी सोना। क्या है यह? किसके लिए सोना बहुत मूल्यवान है जो रजोगुण में लिप्त है, जिसमें लोभ है, जो उससे मकान बना लेना चाहता है, आभूषण बना लेना चाहता है, शान दिखाना चाहता है। अगर उसने यह मान लिया है कि यह गुण का गुण में खेल है। मैं तो हूँ ही इनसे परे, गुणातीत हूँ। जैसे ही वह अपने को गुणातीत मानेगा तो फिर मिट्टी, पत्थर और सोने में वह समान है। मिट्टी, पत्थर, सोना—ये सब गुण हैं, प्रकृति के लक्षण हैं। *'तुल्यप्रियाप्रियो'* —कौन प्रिय है और कौन अप्रिय है? सबमें ही तो रामजी विराज रहे हैं।

सीय राममय सब जग जानी ।
करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।। (मानस.-१/७/२)

अद्भुत है यह! मैं आत्म-स्वरूप हूँ, मैं चैतन्य-स्वरूप हूँ—इस बात का बोध

होते ही किसी के प्रति प्रियता, किसी के प्रति अप्रियता की आसक्ति टूटनी चाहिए। *'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः'* —जिसके लिए निन्दा और प्रशंसा दोनों बराबर हैं। किस बात की निन्दा होती है? तुम्हारे किसी आचरण की, यानी गुण-अवगुण कुछ किया होगा। बड़ा अच्छा व्याख्यान दिया आज आपने! वाह-वाह! क्या हुआ? गुण गुण में बरत रहा था उसकी प्रशंसा हो रही है। गुण गुण में बरत रहा था—उसकी निन्दा हो रही है। मैं तो गुण ही नहीं हूँ। मैंने गुणों में बर्ताव ही नहीं किया। तो मेरी न तो निन्दा है, न स्तुति। जब तक ये पहले दो श्लोक (२२-२३) पक्के नहीं हो जाएँगे तब तक ये दूसरे दो श्लोक नहीं आ सकते। ये दूसरे दो श्लोक (२४-२५) पहले दो श्लोकों की फलश्रुति है। पहले दो श्लोक जब हृदय में पक्के हो जाएँगे तो दूसरे दो श्लोकों का व्यवहार सधेगा, नहीं तो सधेगा ही नहीं। किसको अपनी प्रशंसा अच्छी नहीं लगती? *स्तोत्रं कस्य न तुष्टयेत्।* जब तक हम गुणों में आसक्त हैं तब तक हमको प्रशंसा अच्छी लगेगी। जब तक हम गुणों में आसक्त हैं, जब तक हम अपने को इस नाम-रूप से जोड़ते रहेंगे तब तक हमको निन्दा जहर जैसी लगेगी। संत लोग कैसे अद्‌भुत थे–

निंदक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय ।
बिन साबुन पानी बिना, निर्मल करे सुभाय ।।

कबीर बाबा क्या बोल रहे हैं भाई! निन्दा किसकी हो रही है? गुणों की हो रही है जो गुणों में बरत रहे हैं। मैं तो गुण नहीं हूँ। मैं तो गुणातीत हूँ।

माया महा ठगिनी हम जानी
तिरगुन पास लिए कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ।

यह त्रिगुण पाश लेकर मीठी बानी बोलने वाली माया बहुत ठगने वाली है। मैं नहीं ठगा जाऊँगा। तो इसलिए न प्रिय है, न अप्रिय है, न निन्दा है - न स्तुति है, न मान है, न अपमान है। इतनी ऊँची दृष्टि कि शरीर की निन्दा की तो उचित की और अगर आत्मा की निन्दा की तब तो उसने अपनी ही निन्दा की। मुझको क्यों बुरा मानना चाहिए? तो—

'मानापमानयोस्तुल्यः तुल्यो मित्रारिपक्षयोः' तो कौन मेरा मित्र, कौन मेरा शत्रु? सर्वत्र जब भगवान् का अनुभव होगा, सर्वत्र जब भगवान् का दर्शन होगा तो कोई शत्रु नहीं। तुलसीदास जी कहते थे कि रावण भगवान् राम का 'वैरी भक्त' है। और सब लोग सीधे-सीधे भक्त हैं और रावण *'वैर भाव सुमिरत मोहिं निसिचर'* वह वैरी भक्त है। राम जी की दृष्टि से देखो तो कोई अभक्त है ही नहीं। *'सर्वारम्भपरित्यागी'* कोई काम करने की चेष्टा हम किसी प्रयोजन की सिद्धि से करते हैं। कोई प्रयोजन है, कोई

लाभ हम उठाना चाहते हैं। अगर हमने आत्म-स्वरूप को समझ लिया है और उसको गुणों से अलग कर लिया है तो हमको और पाने को बाकी क्या है? चैतन्य स्वरूप तो हम स्वयं हैं और गुणों का हमने त्याग कर दिया। तो गुणों के द्वारा जो कुछ मिल सकता है—

चाह कर दुनिया से मैंने, खुद को शर्मिन्दा किया ।
जितना दे सकती है वो, उससे कहीं ज्यादा हूँ मैं ।।

दुनिया क्या दे सकती है? मैंने दुनिया से चाह कर अपने-आप को छोटा कर दिया। *'सर्वारम्भपरित्यागी'* काम करेंगे—इसका भी आग्रह नहीं, काम नहीं करेंगे—इसका भी आग्रह नहीं। राम जी की प्रेरणा से जो काम होगा—वह कर लेंगे। प्रेरक कर्त्ता राम, प्रेरित कर्त्ता मैं। संकल्प मेरा नहीं रहेगा। *'सर्वारम्भ परित्यागी'* —अपने संकल्प से हम किसी को अच्छा मान कर काम कर रहे हैं, यह मेरी इच्छा से काम हो रहा है, इससे मुझको यश मिल जाएगा, इससे सुविधा मिल जाएगी, इससे मुझको धन मिल जाएगा। कुछ नहीं। राम जी की प्रेरणा से जरूर काम करूँगा। लेकिन अपनी लालसा की पूर्ति, तृप्ति के लिए काम नहीं करूँगा। *'सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते'* — यह बहुत कठिन बात है। मैं तो नहीं हूँ गुणातीत, मैं तो गुणासक्त हूँ। लेकिन लक्ष्य तो सामने होना चाहिए। यह तो मालूम होना चाहिए कि हमें जाना कहाँ है? यह मालूम होगा तो हम ठीक दिशा पर चलेंगे। अगर हमको यह भी नहीं मालूम कि जाना कहाँ है तो हम किस दिशा में जाएँगे? तो गुणातीत एक बड़ा लक्ष्य है जिस लक्ष्य को सामने रख कर हम काम कर रहे हैं। आज नहीं कल, कल नहीं परसों, नहीं तो अगले जन्म में।

नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति । (६/४०/२)

कल्याण मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं हो सकता। यह विश्वास रख कर, भले मैं आज त्रिगुणातीत नहीं हूँ, भले आज मैं गुणासक्त हूँ, लेकिन लक्ष्य का तो बोध होना चाहिए।

अब छब्बीसवाँ श्लोक देखें। यह तरीका है। कैसे कोई त्रिगुणातीत होता है? इसका एक तरीका विवेक और वैराग्य का है जिसे वे उन्नीसवें और बीसवें श्लोक में बता चुके हैं। लेकिन उनको लगा कि अर्जुन को वह तरीका बहुत भारी मालूम पड़ रहा है, थोड़ा सरल तरीका बतायें। कितने कृपालु हैं भगवान्—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ।। (१४/२६)

इसमें 'च' की ओर ध्यान दीजिए। 'च' माने 'और' यानी कुछ बताया जा चुका

है पहले। क्या बताया जा चुका है? उन्नीस और बीस श्लोकों में विवेक और वैराग्य के द्वारा गुणातीत होने का रास्ता बताया जा चुका है। तुमने ध्यान नहीं दिया — ध्यान दो।

'मां च योऽव्यभिचारेण' — उनके अलावा और जो मेरे प्रति अव्यभिचारी भक्ति-योग करते हैं। अव्यभिचारी भक्ति माने जिसमें किसी तरह का स्खलन या व्यतिक्रम नहीं है। अव्यभिचारी भक्तियोग कैसे होगा?

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सरचर, रूप स्वामि भगवंत ।। (मानस.-४/३/०)

जिसकी यह बुद्धि कभी नहीं टलती कि मैं सेवक हूँ और यह चराचर जगत् मेरी आँखों के सामने राम जी का ही रूप है। सबको राम जी का रूप मान लेने पर अव्यभिचारी भक्ति होती है। राम जी से कोई अलग है और उसको मैं पाना चाहता हूँ तो व्यभिचार हो गया। राम जी से संलग्न है और उसको मैं छोड़ना चाहता हूँ तो व्यभिचार हो गया। मीरां बाई की चर्चित पंक्तियाँ हैं—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।

एकमात्र गिरिधर गोपाल, वही मेरा पति। भक्तगण कृष्ण के अलावा और किसी को पुरुष मानते ही नहीं।

स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते । (१४/२६/२)

जो अव्यभिचारी भक्तियोग से, जो अनन्य योग से, पूर्ण भक्ति से जो मेरा सेवन करता है, वह सारे गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्म हो जाने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। वह ब्रह्म हो जाता है। वह भगवान् के अतिरिक्त और कुछ नहीं देख रहा है तो गुण भी तो नहीं देख रहा है। अव्यभिचारी रूप से भक्ति देख रहा है तो शक्ति और शक्तिमान में अभेद देख रहा है। अगर माया को शक्ति मान लें तो वह शक्तिमान से अभिन्न कर लेता है। भक्ति में, राधा और कृष्ण में, रुक्मिणी और कृष्ण में, सीता और राम में, पार्वती और परमेश्वर में कोई अन्तर नहीं मानता। वह सारी-की-सारी प्रकृति परमात्मा से अभिन्न है। आगे कहा है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।। (१४/२७)

अद्भुत बात है! कहते हैं कि वह ब्रह्म हो जाएगा जो मुझको अव्यभिचारी भक्ति-योग से भजेगा। कृष्ण को भजेगा तो कृष्ण हो जाएगा? *'ब्रह्मभूयाय कल्पते'* — जो मुझको अव्यभिचारी भक्ति योग से भजेगा वह ब्रह्म हो जाएगा। क्या मतलब है?

इसका मतलब है कृष्ण ही ब्रह्म का आधार हैं या कृष्ण ही ब्रह्म हैं, ब्रह्म ही कृष्ण हैं। ब्रह्म के जो सारे गुण हैं—वे सारे गुण वे बताते हैं। *ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*' —ब्रह्म की भी प्रतिष्ठा, ब्रह्म का भी आश्रय मैं ही हूँ। ब्रह्म और मैं अभिन्न हूँ। '*अमृतस्य*' — जिसका कभी नाश नहीं होगा, जो अव्यय है उसकी प्रतिष्ठा भी मैं हूँ। यह 'अहम' प्रतिष्ठा शब्द में जुड़ेगा। '*अमृतस्य*' की भी मैं प्रतिष्ठा हूँ। 'अव्यय' की भी मैं प्रतिष्ठा हूँ। शाश्वत धर्म की भी मैं प्रतिष्ठा हूँ। '*सुखस्यैकान्तिकस्य*' ऐकान्तिक सुख की भी मैं प्रतिष्ठा हूँ। क्या बताना चाहते हैं? जो कुछ है, मुझसे भिन्न कुछ नहीं है। मैं ही सबका अधिष्ठान हूँ। मैं ही सबका आधार हूँ। अमृतत्व का भी मैं ही आधार हूँ। *अव्यय*- जिसका कभी नाश नहीं होगा क्योंकि खाली अमृत हो जाना काफी नहीं है। अजर-अमर। बूढ़े होकर अमर हुए तब तो पाप ही पाप है। तो अव्यय और अमृत एक साथ। जिसमें कोई व्यय नहीं है, जिसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। अजर-अमर हैं। शाश्वत धर्म है, सामयिक धर्म नहीं, बदल जाने वाला धर्म नहीं। आपद धर्म नहीं है। शाश्वत धर्म है। धर्म तो शाश्वत ही है मूल रूप में। सबको धारण करने वाला। और ऐकान्तिक सुख, उसमें दुःख का लेश भी नहीं है। ऐकांतिक सुख माने परम सुख। जिसमें सुख ही सुख है, दुःख का जिसमें लेश भी नहीं है। इन सब की प्रतिष्ठा, इन सब का आश्रय श्रीकृष्ण हैं। यानी श्रीकृष्ण ये बातें नाम रूप से नहीं, अपने अव्यय अमृत-स्वरूप से बोल रहे हैं। वे ही सारे गुणों का, सारे धर्म का आधार हैं। वे ही हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस प्रकार उनको सब कुछ मान लेने पर उनसे अव्यभिचारी भक्ति-योग सधता है। भगवान् से भिन्न कुछ भी अगर माना जाएगा तो उसमें व्यभिचार आएगा। इसलिए वही अनन्य है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवंत ।। (मानस-४/३/०)

अनन्य माने— अव्यभिचारी। '*अन्याश्रेयाणां त्यागः*' —अनन्यता, आश्रय, दूसरा कुछ है ही नहीं, उसके सिवा कुछ नहीं है— इस प्रकार का भाव करके जो भगवान् से प्रेम करेगा, भगवान् का भजन करेगा, भगवान् की सेवा करेगा, वह ब्रह्म हो जाएगा। शाश्वत धर्म की, ऐकांतिक सुख की यानी केवल सुख-ही-सुख की, अमृतत्व की, अव्ययत्व की ब्रह्मत्व की उसमें प्रतिष्ठा हो जाएगी। अपने जीवन में वह वैसा हो जाएगा। भगवान् ने त्रिगुण के भेद का रास्ता बताया है, हमलोगों को अच्छा बनने का रास्ता बताया है। हम कम-से-कम यह तो करें कि अगर हम गुण-निस्तार की ओर, गुण त्याग की ओर अभी हो नहीं जा सकते तो गुणोत्कर्ष की ओर तो जाएँ। ●

प्रवचन-४२*

जगत् और जीवात्मा का स्वरूप

पन्द्रहवां अध्याय गीता का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसे 'पुरुषोत्तम योग' नाम दिया गया है। यह अध्याय पुरुषोत्तम को समझ लेने का साधन है यानी जिससे पुरुषोत्तम का ज्ञान हो जाए यह ऐसा अध्याय है, अतः यह कितना महत्त्वपूर्ण है इसका हम अनुभव कर सकते हैं। लेकिन पुरुषोत्तम का ज्ञान प्राप्त हो, उसके लिए यह भी जरूरी है कि उसके पहले जगत् का और जीव का ज्ञान भी हो जाय, क्योंकि जगत्-जीव और पुरुषोत्तम; क्षर-अक्षर और पुरुषोत्तम—इसका ज्ञान सम्यक् ज्ञान है, समग्र ज्ञान है। इसलिए पुरुषोत्तम के स्वरूप का निरूपण करने के पहले जगत् और जीव का स्वरूप बताया जा रहा है।

मैं आपलोगों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ कि स्वरूप आंतरिक तत्त्व है। रूप बाहरी होता है और स्वरूप भीतरी होता है। जगत् हमको जैसा दिख रहा है यह उसका रूप है; और जगत् के इस रूप में हम उसका वैविध्य देखते हैं। अनेक प्रकार की विविधताएँ हैं, अनेक प्रकार के विषय हैं, अनेक प्रकार की स्थितियाँ आती हैं, उससे हम आकृष्ट होते हैं, उससे हम आबद्ध होते हैं। हम सोचते हैं कि उसका हम उपभोग करते हैं। मालूम नहीं वह हमारा उपभोग करता है कि हम उसका उपभोग करते हैं, लेकिन हम उससे बँधे रहते हैं। हम तब तक उससे मुक्त नहीं हो सकते जब तक हम उसके स्वरूप का बोध न कर लें। हम तब तक अपने बारे में आश्वस्त नहीं हो सकते जब तक हम अपने स्वरूप का बोध न कर लें। जगत् के स्वरूप का, उसकी वास्तविकता का बोध तथा अपनी वास्तविकता का बोध हमको पुरुषोत्तम के बोध की ओर उन्मुख करेगा। इसलिए पुरुषोत्तम योग के विवेचन के पहले गीताकार प्रभु, जगत् और जीव के स्वरूप का निरूपण करते हैं। वे बड़ी प्रतीकात्मक शैली में, रूपकात्मक शैली में बात कर रहे हैं। रूपक किसी एक विशिष्ट सच्चाई की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। उसको पूरी तरह आरोपित किया जाता है लेकिन

* पंचदश अध्याय (पुरुषोत्तम योग) : श्लोक संख्या १ से ११

उसका जो प्रधान लक्ष्य है, उसी को स्वीकार करना चाहिए शेष तो अलंकरण है, रूपक है। भगवान् कहते हैं—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।। (१५/१)
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।। (१५/२)

मेरे गुरुजी का और विनोबाभावे का भी कहना है कि इन दो श्लोकों में दो वृक्षों का संकेत है। शंकराचार्य जी का, रामानुजाचार्य जी का इशारा भी वृक्षों की तरफ है लेकिन स्पष्ट दो न कहते हुए उन्होंने एक ही में दोनों को निरूपित किया है। गुरुजी कहते हैं कि इसमें पहला 'ब्रह्मश्वत्थ' है और दूसरा 'कर्माश्वत्थ' है। 'अश्वत्थ' (पीपल का पेड़) की व्युत्पत्ति पहले समझ लें। अश्वत्थ की व्युत्पत्ति दो तरह से की गयी है। कुछ लोग मानते हैं कि इसकी सीधी-सीधी व्युत्पत्ति होनी चाहिए कि अश्व जहाँ रहता हो। यानी कुछ लोग मानते हैं कि पहले इन वृक्षों के नीचे अश्व रहा करते थे, इसलिए इसको अश्वत्थ कहते हैं। परंतु यह कोई अच्छा अर्थ नहीं है। एक अर्थ बताया गया कि अग्नि ने एक वर्ष तक अश्व के रूप में इस वृक्ष में आश्रय लिया था, इसलिए इसको अश्वत्थ कहते हैं। यह भी एक पौराणिक कथा है। शंकराचार्य ने इसकी व्युत्पत्ति बहुत संगत की है। उन्होंने कहा— अ+श्व+थ — 'अ' माने नहीं, 'श्व' माने आगामी कल, और 'थ' माने स्थिति। जिसकी आगामी कल वैसी स्थिति नहीं रहेगी, जैसी आज है। यानी यह निरन्तर परिवर्तनशील है, परिवर्तमान है, लगातार बदल रहा है। इसके स्वरूप को ठीक-ठीक समझ लेने पर इसकी स्थिति ही नहीं रह जाती और न रहने पर भी जैसा यह आज है वैसा कल नहीं है। यह 'प्रवाह - परिणामी' नित्य है। आप लोगों ने नदी देखी होगी। नदी की धारा हमें लगती है कि स्थिर है, नदी ज्यों की त्यों है लेकिन जिस जल को आपने एक क्षण पहले देखा था दूसरे ही क्षण वह जल नहीं रहता। वह जल बह जाता है, नया जल आ जाता है और फिर भी नदी में धारा-प्रवाह का बोध होता रहता है, धाराबाहिकता का बोध होता रहता है। प्रज्ज्वलित दीपक को आप देखें तो लौ प्रतिक्षण बदल रही है। रूई जल रही है, घी जल रहा है और लौ बदल रही है। नई-नई लौ उठ रही है, पुरानी लौ जा रही है लेकिन लगता है कि दीपक स्थायी है, स्थित अवस्था में है। इसी तरह से यह सारा-का-सारा संसार निरन्तर परिवर्तमान है। इस निरन्तर परिवर्तमान लेकिन स्थायी बोध होने वाले वृक्ष की विशेषतायें क्या-क्या हैं? यह बता रहे हैं। यह जो बताया गया कि उसकी जड़ें ऊपर हैं

और उसकी शाखाएँ नीचे हैं— यह कठोपनिषद् के आधार पर कहा गया है। कठोपनिषद् का मंत्र है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।।

यह ऊपर की जड़ वाला तथा नीचे की ओर शाखा वाला अश्वत्थ सनातन है। *'तदेव शुक्रं'* यही शुक्र है, स्वयं प्रकाश है, जीवनधारी है, ब्रह्म है, अमृत है। इस मंत्र को लेकर बताया गया कि यह 'ब्रह्माश्वत्थ' है। 'ब्रह्माश्वत्थ' का क्या मतलब हुआ? यानी ब्रह्म की बनाई हुई जो सृष्टि है वह ब्रह्म ही है। *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* — यह ब्रह्म ही इस सारी सृष्टि के रूप में अपने को प्रतिफलित कर रहा है। इसलिए यह ब्रह्माश्वत्थ है और इसीलिए इसको अव्यय भी कहा गया। 'अव्यय' यानी जिसका नाश नहीं होता। प्रश्न है कि नाशवान संसार को अव्यव क्यों कहा गया? नश्वर संसार को इसलिए अव्यय कहा, क्योंकि इसका प्रवाह समाप्त नहीं होता। हजारों वर्षों से सृष्टि चली आ रही है, आने वाले हजारों वर्षों तक चलती रहेगी। किसी एक ज्ञानी के लिए सृष्टि निवृत्त हो भी गयी तो औरों के लिए ज्यों-की-त्यों रहती है। इसलिए इसको अपेक्षया 'अव्यय' कहा गया। यह जो वेद की, भगवान् की बनाई हुई सृष्टि है इसकी शोभा बढ़ाने वाले स्वयं वेद हैं। *'छन्दांसि यस्य पर्णानि'* वैदिक ऋचायें जिसके पत्ते हैं जो इस वृक्ष को शक्ति भी देते हैं, जो इस वृक्ष की शोभा भी हैं। वेद और खासकर उसका कर्मकाण्ड इस वृक्ष को शोभित बनाते हैं, जीवन जीने का ढंग बताते हैं और इसका उपयोग करने का तरीका भी बताते हैं। इस जगत् में रहते हुए इसका जो उपयोग किया जा सकता है — उसका तरीका भी बताते हैं। *'यस्तं वेद स वेदवित्'* —जो इस वृक्ष को इस रूप में जानता है, वही वेदज्ञ है, वही वेद को जानता है। क्योंकि इस सृष्टि में उत्तम जीवन कैसे जिया जाए— वेद इसका निरूपण करते हैं। समस्त यज्ञादि द्वारा देवी कृपा को, देवानुग्रह को कैसे प्राप्त किया जाए—यह भी बताते हैं। इसलिए वेद इसको पुष्ट भी करते हैं और इसकी शोभा हैं। यह जो 'ब्रह्माश्वत्थ' है — यह वेद्य है, जानने योग्य है। इसकी जड़ें ऊपर हैं। ऊपर होने का क्या मतलब ? एक तो यह अर्थ बताया गया कि सबसे ऊपर यानी सबसे मूल में। यह कुछ उलटा-सा लगता है। सबसे ऊपर जड़ और नीचे उसकी शाखाएँ! साधारण वृक्षों की जड़ें नीचे होती हैं और शाखाएँ ऊपर होती हैं। तो यह उलटा वृक्ष क्यों बताया गया?

आप लोगों ने इतिहास में वंश-तालिका देखी है या किसी परिवार का वंश-वृक्ष देखा है? जो मूल पुरुष ज्ञात है उसका नाम सबसे ऊपर और उसके नीचे आते-आते

आज जो अन्तिम पीढ़ी है, उसका उल्लेख मिलता है। तो इस ऐतिहासिक वंश-तालिका में जो ज्ञात मूल पुरुष है, वह सबसे ऊपर दिया है और फिर क्रम से आते-आते वर्तमान पीढ़ी नीचे आती है। अतीत में मूल है और वर्तमान में उसकी शाखा-प्रशाखाएँ हैं। यहाँ ऊर्ध्व माने सबसे श्रेष्ठ, सबसे बड़ा, सबसे महत्। सबकी जड़, सबका मूल माने ब्रह्म और उसके बाद जब वह अव्यक्त प्रकृति होता है। प्रकृति से महत् तत्त्व होता है, महत् तत्त्व से अहंकार होता है, अहंकार से पंच तन्मात्राएँ, पंच ज्ञान, फिर सारी सृष्टि है। तो, जिसके मूल में, जिसकी जड़ में, जिसके सबसे ऊपर ब्रह्म है, जिस ब्रह्म से यह जगत् विकसित होता है, *'ऊर्ध्वमूलं'*। फिर *'अधः शाखं'* — इसकी शाखा-प्रशाखा 'ब्रह्म' से अब तक चली आ रही है। जैसे मैंने वंश-तालिका को बताया। यह वृक्ष *'वेद्य'* है यानी इसको जानना चाहिए, इसके स्वरूप को समझना चाहिए। दूसरा होता है 'कर्माश्वत्थ'।

वल्लभाचार्य जी ने इसीलिए दो भेद किए हैं। उन्होंने एक को जगत बताया है, एक को संसार बताया है। वल्लभाचार्य जी की दृष्टि में जगत सत्य है क्योंकि वह प्रभु की कृति है और संसार मिथ्या है क्योंकि वह जीव की कृति है। यह जो मैं–मेरा है––यह संसार है। यह शरीर–यह नाम रूपधारी—यह मैं हूँ। यह मेरा पुस्तकालय है, यह मेरा घर है, यह मेरी मोटर है, यह मेरा कपड़ा है, यह मेरा भाई है— यह जो मेरापन, यह इसका-उसका, यह मेरा-तेरा— यह भगवान् की बनाई हुई सृष्टि नहीं है। यह जीव की बनाई हुई सृष्टि है। जीव कुछ अंश को अपना मान लेता है, कुछ अंश को पराया मान लेता है। भगवान् ने तो सबको बनाया। भगवान् के लिए तो सब समान है। बंगला भाषा में कहते हैं— 'आमार संसार'। बंगला में संसार का अर्थ होता है— परिवार। 'आमार संसार' माने मैं, मेरी पत्नी, मेरे बेटे-बेटी, भाई-बहन— यही मेरा संसार है। पूरा विश्व नहीं, पूरा जगत् नहीं। जिसमें 'मैं'पन और 'मेरा'पन समाहित है— वह मेरा संसार है। इसको वल्लभाचार्य मिथ्या कहते हैं। इसको वल्लभाचार्य जीव की सृष्टि कहते हैं। इसी को 'कर्माश्वत्थ' कहा गया है। तो यह जो कर्माश्वत्थ है, जो मनुष्य के कर्म के द्वारा बनता है, उसकी विशेषता क्या है? इस बात को देखें आगे के श्लोक में—

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः। (१५/२/१)

पहला जो वृक्ष है—इसकी जड़ें तो हैं ऊपर और उसकी शाखाएँ हैं नीचे। और यहाँ जो दूसरा वृक्ष है उसकी शाखाएँ नीचे भी हैं और ऊपर भी। इस दूसरे वृक्ष की, इस 'कर्माश्वत्थ' की, इस जीव के द्वारा निर्मित संसार की शाखाएँ नीचे भी हैं और ऊपर

भी। वह अच्छा कर्म करता है तो ऊपर की ओर जाता है; बुरा कर्म करता है तो नीचे की ओर जाता है; साधारण कर्म करता है, बीच में रहता है।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था, मध्ये तिष्ठंति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्थाः अधो गच्छन्ति तामसाः।। (१४/१८)

तो यह जो कर्माश्वत्थ है, कर्म का पीपल है, कर्म का संसार है—इसकी शाखाएँ ऊपर-नीचे-बीच में सब जगह हैं। जैसा कर्म मनुष्य करेगा, उस कर्म के अनुरूप वह या तो ऊर्ध्वगामी होगा या मध्यवर्ती होगा या अधोगामी होगा। इसलिए कर्माश्वत्थ में कर्म रूपी संसार की शाखाएँ ऊपर और नीचे दोनों ओर होती हैं।

'अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा' — सत्त्व-रज-तम— तीनों गुणों के द्वारा ये शाखाएँ बँधी हुई हैं। इस बात को आगे भी कहा जाएगा कि इस संसार में जो कुछ भी है वह गुणों का ही खेल है। सारी सृष्टि के रूप में जो विषय देख रहे हैं— यह भी गुणों का खेल है। ये जो हमारी इन्द्रियाँ हैं, हमारा मन है, हमारी बुद्धि है—यह भी गुणों का ही खेल है। तो यह जो संसार बढ़ता है—यह है 'गुणप्रवृद्धा'। जब हम गुणों में अवस्थित होकर गुण के अधीन हो जाते हैं— चाहे सत्त्वगुण के, चाहे रजोगुण के, चाहे तमोगुण के— तीनों गुण तो बराबर रहेंगे लेकिन एक गुण दो गुणों को परास्त कर थोड़े समय के लिए प्रधान हो जाता है। फिर कभी दूसरा गुण प्रधान हो जाता है, फिर कभी तीसरा, फिर पहला। इस प्रकार गुणों की भीतरी लड़ाई चलती रहती है और उसके अनुसार यह जगत् बढ़ता है—

'गुणप्रवृद्धा', 'विषयप्रवालाः' — देखिए! पाँच इन्द्रियों के पाँच विषय हैं— शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध। सारी सृष्टि को हमारे चिन्तकों ने, हमारे ऋषियों ने पाँच विषयों में वर्गीकृत किया है— इतना विशाल है विश्व। लेकिन इस विशाल विश्व में पाँच विषयों के अलावा छठा कुछ नहीं है। आप कुछ शब्द सुन रहे हैं, कुछ आप स्पर्श पाते हैं, कुछ आप रूप देख रहे हैं, कुछ सूँघते हैं, कुछ रसास्वादन करते हैं। विषय किसको कहते हैं? *विषिन्वन्ति*—जो सी देते हैं, बाँध देते हैं। इन विषयों से हमारा मन बँध जाता है। ये विषय हमको अपनी तरफ खींचकर बाँध लेते हैं। ये विषय रूपी प्रवाल हैं, कोंपल हैं — इस वृक्ष की। और

अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके। (१५/२/२)

अद्‌भुत बात है। ऊपर कहा गया — *'ऊर्ध्वं मूलं'* — जड़ें ऊपर हैं। यहाँ कहा गया — *'अधश्च मूलानि'*। देखिए अंतर है कि नहीं। जो 'ब्रह्माश्वत्थ' है, उसकी जड़ें ऊपर हैं ब्रह्म में। ब्रह्म से उसका आरंभ हुआ, ब्रह्म से ही उसका विकास हुआ।

इसलिए उसकी जड़ ऊपर है। लेकिन जो 'कर्माश्वत्थ' है इसकी जड़ें नीचे हैं— *'अधश्च मूलान्'*। कर्मरूपी पीपल वृक्ष की, कर्मरूपी संसार की जड़ें नीचे की ओर जाती हैं। *अनुसन्ततानि* यानी लगातार, *'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'*— इस मनुष्य लोक में। और आप देखिए ! इस मनुष्य लोक में ही *'कर्मानुबन्धीनि'* जड़ें होती हैं। जितने लोक हैं (लोक का मतलब योनि भी होता है) और जितनी योनियाँ हैं (चौरासी लाख) उनमें तिरासी लाख निन्यानबे हजार नौ सौ निन्यानबे योनियाँ 'भोग योनियाँ' हैं। इसलिए उनमें कर्मबन्धन होता ही नहीं है। केवल एक मात्र मनुष्य योनि 'कर्मयोनि' है। इसमें हम भोग भी भोगते हैं और नए कर्म भी करते हैं, जिनके कारण हम मुक्त भी हो सकते हैं। हो ही जाएँगे— इसकी कोई बात नहीं है। अधिकतर लोग नहीं भी होते हैं। लेकिन यह कर्म करने की छूट, कर्म करने का अधिकार केवल मनुष्य को प्राप्त है। दस-हजार-लाख वर्ष पहले पशु-पक्षी जैसे रहते थे, वैसे ही आज रहते हैं। वे केवल वासना के द्वारा परिचालित होते हैं। वे स्वतः अपने विवेक के द्वारा कोई कर्म नहीं करते। *'कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'* मनुष्य-लोक में ही, मनुष्य-योनि में ही ये जड़ें कर्म से हमको बाँधती हैं। हमलोग इस सृष्टि में बँधे किससे हैं? अपने ही पूर्व जन्म के कर्मों से। हमारे इस जन्म के कर्मों ने भी हमको 'कर्माश्वत्थ' से बाँध रखा है। इस मनुष्य योनि में भी ये कर्म के अनुसार बाँधने वाली, नीचे जाने वाली जड़ें, इस लोक में आने वाली जड़ें, हमारे-आपके जीवन में आनेवाली जड़ें, केवल ब्रह्म तक ऊपर रहने वाली जड़ें ही नहीं है। तो एक हुआ 'ब्रह्माश्वस्थ' और एक हुआ 'कर्माश्वस्थ'। 'ब्रह्माश्वत्थ' वेद्य है— ब्रह्म रूपी सृष्टि को जानना है और 'कर्माश्वत्थ' छेद्य है। इस बात को समझिए कि दोनों का मौलिक अंतर क्या है? *'यस्तं वेद स वेदवित्'* — जो इस ब्रह्माश्वत्थ को स्वरूपतः जानता है वह संपूर्ण वेदों का ज्ञाता है। इसलिए इसको भली प्रकार जानना चाहिए। इसके स्वरूप को, इसके मूल रूप को, इसकी इस वास्तविकता को कि यह केवल ब्रह्म का ही विकसित, प्रतिफलित रूप है। हमारे आपके कर्म के द्वारा, हमारी-आपकी वासनाओं के द्वारा संसार में 'मैं-मेरे-पन' के कारण जो हम कर्त्ता-भोक्ता के रूप में अपने को बाँधते हैं वह हमारे कर्म के अनुसार हमारी जड़ें इस संसार-वृक्ष के साथ हमको बाँधे हुए हैं। इसका क्या कारण है? कहा है—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।। (१५/३)

कहते हैं कि पहले तो यह जो कर्माश्वत्थ है इसका रूप भी समझ में नहीं आता, स्वरूप तो बहुत ही मुश्किल है। *'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते'* — यह जो

कर्माश्वत्थ है, यह जो जगत् है, हमारी आपकी जानकारी में कितना आता है ? बहुत थोड़ा। हमलोग जो कलकत्ते में हैं, थोड़ा यहाँ के लोगों को जानते हैं, थोड़ा बाहर के लोगों को जानते हैं, थोड़ा हिन्दुस्तान को जान लेते हैं। जो लोग बाहर गए हैं, विदेशों में, वे थोड़ा उनको भी जान लेते हैं। लेकिन यह जो अनन्त ब्रह्माण्ड-तल फैला हुआ है, जो विश्व-ब्रह्माण्ड है, उसे कितना जानते हैं ? *'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते'* — इसके रूप को भी समग्र रूप में कोई जान नहीं पाता, देख नहीं पाता। *'नान्तो न चादिर्न'* —इसका आरंभ कहाँ है ? कहाँ से आप इस संसार का आरंभ मानेंगे ? हमारे गुरुजी कहते थे कि जहाँ आप हैं वहीं से आरम्भ है। पूर्व कहाँ है ? पश्चिम कहाँ है ? आप जहाँ खड़े हैं वहीं से आपको पूर्व-पश्चिम समझ में आता है, आप दूसरी तरफ चले जाएँगे तो जिसको आप पूर्व मान रहे थे वह पश्चिम हो जाएगा। तो *'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा'* — इस कर्माश्वत्थ का आदि कहाँ है ? इसका अन्त कहाँ होगा ? इसका आधार क्या है ? यह बात समझ में नहीं आती। *'तथोपलभ्यते'* — इसको हम उपलब्ध नहीं कर पाते। वैसे ज्ञानी लोग तो कहते हैं कि अविद्या से इसकी आदि है और मोह में इसकी स्थिति है तथा ज्ञान में इसका अन्त है। यह भी एक बात है। लेकिन अभी स्वरूप की बात नहीं हो रही है, रूप की बात हो रही है। हमको यह ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। इसका समग्र रूप मालूम नहीं पड़ता। इसका आरंभ कहाँ से है ? इसका अन्त कहाँ है ? अब पूरब का आरम्भ कहाँ से होता है ? पश्चिम का अन्त कहाँ होता है ? उत्तर-दक्षिण कुछ समझ में नहीं आता।

अकबर-बीरबल की एक कहानी है। अकबर ने कहा—बीरबल ! संसार का मध्य भाग कौन है ? बीरबल ने कहा—यहीं, जहाँ आप खड़े हैं। पूछा कैसे ? बीरबल का उत्तर था— आप पता लगवा कर देख लीजिए। कैसे पता लगेगा ? न इसका आरम्भ है, न इसका अन्त है, न इसकी प्रतिष्ठा समग्र रूप से समझ में आती है— लेकिन यह हमको बाँधने वाला है। *'कर्मानुबन्धी'* — यह बात समझ में आती है यह जो नीचे आने वाली इसकी जड़ें हैं *'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके'* —ये कर्मानुबंधित हैं। तो हम अपने कर्म से जो बाँधते चले जा रहे हैं— इसके छूटने का उपाय क्या है ? आपलोगों को ईशावास्योपनिषद् का दूसरा मंत्र याद कराऊँ—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

'त्वयि नरे कर्म न लिप्यते' — तुझ मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होते। अगर कर्म लिप्त नहीं होते तो कर्मानुबंधी कैसे बना दिया ? कर्म अगर लिप्त नहीं होता तो कर्म

हमको बाँधता कैसे है ? कर्म हमको आसक्ति के कारण बाँधता है। जब हम आसक्ति से काम करते हैं, जब हम किसी काम का अपने को कर्त्ता मानते हैं, जब हम किसी काम का फल पाना चाहते हैं तो हम उस काम के कर्त्ता-भोक्ता हो जाते हैं। जब हम आसक्त होकर काम करते हैं, तो हम बँध जाते हैं। मनुष्य को कर्म लिप्त नहीं होता। कर्म कैसे लिप्त नहीं होगा? कर्म क्यों लिप्त नहीं होगा ? बता रहे हैं—

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ।

इस बड़ी गहरी जमी हुई जड़ वाले, *'सुविरूढमूल'*—अच्छी तरह से रूढ, जिसकी जड़ें एकदम पक्की हैं, तोड़े नहीं टूटतीं। बाबा ने आश्वासन देते हुए कहा है—

तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाउ राम-पद कमल माथ ।
जनि डरपहिं तोसे अनेक खल, अपनाए जानकीनाथ ।।

मत डरो ! तुम्हारे जैसे बहुत पापियों को जानकीनाथ ने अपनाया है। उनके चरणों में सिर तो झुका दो। ठीक है महाराज ! सिर तो झुका देंगे लेकिन आपने जो कहा *'परिहरि प्रपंच सब।'* प्रपंच कैसे छूटे ? प्रपंच तो छूटता ही नहीं। प्रपंच क्यों नहीं छूटता ? *'सुविरूढमूल'* —यह जो प्रपंच है, पाँचों इन्द्रियों के द्वारा जो भोग कर रहे हैं- — यह प्रकृष्ट पंच—यह बिलकुल गहराई के साथ अपनी कर्मरूपी जड़ों से हमको बाँधे हुआ है। हमने असंख्य-असंख्य पूर्वजन्मों में और इस जन्म में भी जितने कर्म किए हैं वे समस्त कर्म आसक्तिपूर्वक किए हैं। वे समस्त कर्म कर्त्ता-भोक्ता की स्थिति से किए हैं और कर्त्ता-भोक्ता की स्थिति से किए गए कर्म हमको बाँधते हैं। इसलिए हम छूट नहीं पाते। तो क्या कोई उपाय छूटने का नहीं है ? *'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलं'* यह जो बड़ी पक्की पकड़ वाला, बिलकुल जिसको आप छोड़ ही नहीं पाते, ऐसी पकड़ वाला जो संसार-वृक्ष है, *'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'* —असंग-अनासक्ति के शस्त्र से, अनासक्ति के कुठार से इसको आप काटिए।

एक बात पर ध्यान दीजिए ! वृक्ष का रूपक क्यों लिया ? वृक्ष शब्द का क्या अर्थ है ? *वृश्यते इति वृक्षः* — जिसको काटा जा सके वह वृक्ष है। जितने भी वृक्ष हैं, उनको काटा जा सकता है। तो यह जो संसार रूपी वृक्ष है—इसे भी काटा जा सकता है। यह संसार रूपी वृक्ष ऐसा नहीं है जिससे कि मुक्ति न मिले। क्योंकि परिभाषा से ही यह वृश्य है। इसको काटा जा सकता है। संसार रूपी वृक्ष को कैसे काटा जा सकता है? जैसे साधारण वृक्ष को लोहे की कुल्हाड़ी से काटा जा सकता है तो कौन-सा लोहा है जो संसार रूपी वृक्ष को काटेगा। *'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'*—इसको दृढ़ अनासक्ति रूपी कुठार से काटा जा सकता है। अनासक्ति रूपी कुठार का मतलब? गीता में आगे

कहा गया है कि जो भी हमको-आपको काम बाँधते हैं, वे तो हमारी आसक्ति के कारण बाँधते हैं। कर्मफल का त्याग कर देने से, कर्म फल की आशा का त्याग कर अनासक्त रूप से किए गए कर्म हमको-आपको नहीं बाँधेंगे। अगर नहीं बाँधेंगे तो हम संसार रूपी वृक्ष को काट देंगे। तो दृढ़ता होनी चाहिए, लिबलिबापन नहीं। अनासक्ति यानी कि पक्की अनासक्ति। यानी अपने प्रति भी अनासक्त, अपने परिवार के प्रति भी अनासक्त। यह नहीं कि जिनसे परिचय नहीं उनके प्रति अनासक्त और जिनसे परिचय-संबंध है उनके प्रति आसक्त! यह नहीं। दृढ़ हैं। अनासक्ति रूपी कुठार से ही इस पक्की जड़ों वाले संसार रूपी वृक्ष को काटा जा सकता है। इस पर ध्यान दीजिए! ये निषेधक उपाय बताए गए हैं। आप अनासक्त होकर काट दें—यह तो 'नहीं-नहीं-नहीं' वाली बात को बताया गया। केवल 'नहीं-नहीं-नहीं' से बात बनती है ? 'नहीं-नहीं-नहीं' के बाद 'हाँ-हाँ-हाँ' भी बनना चाहिए। क्या करें ? यह जो विधायक पक्ष है। मनुष्य एक चीज को छोड़ता तब है जब दूसरे को ग्रहण करता है। जब हम चलते हैं, तो एक पाँव जमीन पर होता है, अगले पाँव को जब रख देते हैं तब पहले को उठाते हैं। तो हम केवल 'ना-ना' करके शिष्य को, साधक को सहारा नहीं दे सकते। अनासक्त रहो यह तो ठीक है लेकिन अनासक्त होने के बाद—

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।। (१५/४)

यह उसका विधायक पक्ष है। संसार के साथ जो हम व्यवहार करें वह तो अनासक्त होकर करें ही और संसार के विषयों का उपभोग करने की इच्छा न करें क्योंकि विषयों से ही हम बँधते हैं। विषयों के प्रति यदि अनासक्त हो जाएँ तो क्या बात बन जाएगी? तो फिर तुमको दो काम और करने होंगे। तुमको उस पद का अनुसंधान करना होगा– *'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः'* जिस पद पर पहुँच जाने के बाद कोई लौट कर नहीं आता। इस पद का अनुसंधान कैसे करें प्रभु ? आपने तो कह दिया कि अनासक्त हो जाओ और अनासक्त होकर उस पद का अनुसंधान करो जिसमें जाकर कोई लौट कर नहीं आता। खाली इतना करने से मिल जाएगा ? बोले— नहीं, एक और बात करो, विधायक बात करो।

'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'।

उस आद्य पुरुष की शरण में जाकर— *'प्रपद्ये यतः'* रामानुज ने कहा है कि उसकी शरण लेकर, तब खोजो। शंकराचार्य जी ने कहा है कि हम उस आद्य पुरुष की शरण में जाते हैं। किस आदि पुरुष की शरण में जाते हैं ?

'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' जिससे यह पुराने समय से प्रवृत्ति चली आ रही है। ये जो सारी प्रवृत्तियाँ हैं इन प्रवृत्तियों का मूल प्रेरक कौन है ? लौकिक स्तर पर सांख्य कहता है कि प्रकृति है। लेकिन वेदान्त कहता है कि प्रकृति और जीवात्मा— इनके पीछे भी प्रभु ही हैं, पुरुषोत्तम हैं। तो उस आद्य पुरुष की शरण में जाओ, जिसकी कृपा से, जिससे पुराने समय से आज तक जगत् की यह प्रवृत्ति, जगत् का यह विकास, जगत् का यह व्यवहार चला आ रहा है। आप देखें— अट्ठारहवें अध्याय में भी एक बढ़िया श्लोक आया है। उसमें कहा गया है कि जो सर्वत्र व्याप्त है, सबको प्रेरित करता है, अपने कर्म से हम उसकी पूजा करते हैं।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (१८/४६)

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां'— आदिकाल से अब तक मानवों की या जड़ - जंगम की प्रवृत्ति जिसकी प्रेरणा से चल रही है। *'येन सर्वमिदं ततम्'* जो सर्वत्र व्याप्त है, उसकी शरण में जाओ। उसकी शरण में जाकर अपने कर्मों के द्वारा कैसे कर्म करें? *'असंग शस्त्रेण'* अनासक्त होकर काम करते हुए हम उस परमात्मा की पूजा कर सकते हैं। ठीक है। अपने घर में अपने मन्दिर में हम चन्दन-अक्षत से भगवान् के विग्रह की पूजा करें। ठीक है। लेकिन सर्वव्यापी उस परमात्मा की वास्तविक पूजा गीता की दृष्टि में अपने कर्म के, अनासक्त कर्म के द्वारा ही हो सकती है। बन्धन को अनासक्त कर्मरूपी शस्त्र से नष्ट करके उस परम पद की खोज करो जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता। हमारे गुरुजी कहते हैं कि भला बताओ कि जहाँ जाने का रास्ता होगा, वहाँ से लौटने का रास्ता नहीं होगा ? इस दुनिया में कोई भी जगह आपने ऐसी देखी है ? नहीं। जहाँ जाने का रास्ता है, वहाँ से लौटने का भी रास्ता है। यहाँ क्या कह रहे है ? जहाँ से लौटना नहीं होता, वहाँ जाना भी नहीं होता। क्या कह रहे हैं ? कह रहे हैं कि तुम जो अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप से अनवगत हो, तुम जो अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पा रहे हो, उसको पहचानते ही तुम्हारा आवागमन मुक्त हो जाएगा, छूट जाएगा। उस परम पुरुष की शरण में जाकर तुम वही हो जाओगे।

राम कृपा बिनु सुनु खगराई, जानि न जाइ राम प्रभुताई ।
जानें बिनु न होइ परतीती, बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ।।

(मानस.७/८८/६-७)

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई, जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ।

(मानस.२/१२६/३)

उसको ठीक-ठीक से समझ लेते ही तुम वही हो जाओगे और जब तुम वही हो गए तो तुम कहाँ गए, कहाँ आए ? जाना-आना— यह एक लाक्षणिक प्रयोग है। जाने में कर्म है, आने में कर्म है। मेरे गुरु जो कहते हैं कि शांकर अद्वैत की दृष्टि से कि यह केवल जान लेना मात्र है और उसको ठीक जान लेने से ही हम वही हो गए। न कहीं गए, न कहीं से आए। न जाना है, न आना है, उसको ठीक-ठीक से जान लेना है। यह शांकर अद्वैत की दृष्टि है। लेकिन रामानुज ने, वल्लभ ने, मध्व ने, चैतन्य महाप्रभु ने कहा कि नहीं! यह जो पद है यह वास्तव में उनका धाम है। *'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं'* — उनके उस धाम को, उनके उस लोक को खोजो जिसमें जाने के बाद लौटना नहीं पड़ता, वहीं-का-वहीं रह जाना पड़ता है। फिर लौट कर उसका जन्म नहीं होता। दस अश्वमेध करने पर भी पुनर्जन्म होता है लेकिन कृष्ण को प्रणाम करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता। पुनर्जन्म नहीं हुआ तो आया नहीं, वह वहीं रह गया। भक्तों का यह दृष्टिकोण है। शंकराचार्य जी ने एक बहुत विलक्षण बात कही है। उन्होंने कहा कि जैसे घड़ा है, उसमें पानी भरा हुआ है और उसमें चन्द्रमा का बिम्ब है। जब घड़ा फूट गया, पानी बह गया, चन्द्रमा का बिम्ब खत्म हो गया। न आया, न गया, तो वह फिर लौट कर नहीं आता। अपनी सीमित सत्ता का विलोप करते ही हमको फिर लौट कर नहीं आना पड़ेगा। हम वहीं-के-वहीं रह जाएँगे। इसलिए उसकी शरण में जाओ। जो शांकर अद्वैती हैं वे अपनी ही शरण में जाने को कहते हैं। आत्मा तो अपना ही रूप है। जो भक्ति मार्गी हैं वे प्रभु की, आदि पुरुष की, परमात्मा की शरण में जाना चाहते हैं। अब इस जानने के लिए, खोजने के लिए कुछ गुण होने चाहिएँ। क्या हर आदमी जा सकता है? क्या हर आदमी उस पद को प्राप्त कर सकता है ? पाँचवें श्लोक में उन पाँच आधारभूत गुणों का वर्णन है जिन पाँच गुणों की समष्टि से मनुष्य को उस पद को खोजने की क्षमता प्राप्त हो जाती है। यानी हम अपनी साधना के द्वारा अपने में कौन-कौन से गुण अर्जित कर लें, जिनसे हम वहाँ तक पहुँच सकते हैं।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।। (१५/५)

'निर्मानमोहा' — पहली बात है कि मान और मोह से मुक्त हों। मान स्वनिष्ठ होता है। मान अपने बारे में गलत मूल्यांकन करता है। मान अपने को बढ़ावा देता है और अपने को सबसे बड़ा मानने लगता है। मूर्खता की जब अति होती है तो हम अपना इतना अतिरंजित मूल्यांकन करते हैं जो दूसरों की दृष्टि में हास्यास्पद हो जाता है। बराबर याद रखिए कि मान स्वनिष्ठ है और मोह परनिष्ठ है। मोह दूसरों के प्रति

होता है— अपनी पत्नी के प्रति, पति के प्रति, बच्चों के प्रति, अपनी पार्टी के प्रति, अपनी मान्यता के प्रति। तो मान और मोह दोनों का त्याग कर दो। ये गलत मूल्यांकन कराते हैं। ये गलत अनुभव कराते हैं। ये गलत बोध कराते हैं। वस्तु स्थिति को ज्यों-का-त्यों पहचानना तभी संभव होगा जब हम मान और मोह दोनों से मुक्त होंगे। न स्वनिष्ठ, न परनिष्ठ दुर्बलता होगी। *'निर्मानमोहा'* — अहंकार भी नहीं, मोह भी नहीं। मोह का मतलब होता है— जब उलटी समझ हो जाती है, बुद्धि ही भ्रष्ट हो जाती है।

मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला (मानस. ७/१२०-२९) — सब रोगों की जड़ में उल्टी बुद्धि है, अज्ञान है। मोह माने अज्ञान। *'जितसंगदोषा'* — फिर उस बात को दोहराया है। सद्गुरु जिस बात को शिष्य को ज्यादा महत्त्वपूर्ण बताना चाहते हैं, तो उस बात को बार-बार दोहराते हैं। *'तदपि कही गुर बारहिं बारा, समुझि परी कछु मति अनुसारा'* — गुरु बार-बार कृपापूर्वक कहते हैं तो अपनी बुद्धि के अनुसार थोड़ी-सी बात समझ में आती है। ऊपर उन्होंने कहा *'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा'*। नीचे कहा फिर *'जितसंगदोषा'*। संग माने चिपक जाना, आसक्ति, किसी से कहीं चिपक गए। यह मेरा मित्र है तो इसका कहीं दोष ही नहीं दिखेगा - चिपक गए इससे। सारी आसक्तियों के दोष को जीत लेने वाला *'जितसंगदोषा'*। *'अध्यात्मनित्या'* — बहिर्मुख नहीं होना चाहिए। केवल बाहर देख रहे हो। *'अध्यात्म'* माने *आत्मनि अधि* – अपने भीतर देखो। यह शरीर है। इसके भीतर क्या है? इन्द्रियाँ। इन्द्रियों के भीतर क्या है — मन। मन के भीतर बुद्धि, बुद्धि के भीतर आत्मा। तो हमारा यह शरीर कैसे काम करता है ? यह जो अध्यात्म यन्त्र है – इसके सबसे भीतर क्या है इसके बारे में निरन्तर सोचते रहना। *'अध्यात्मनित्या'* निरन्तर अध्यात्म-चिन्तन जो करता है, *'विनिवृत्तकामाः'* जो सब प्रकार की कामनाओं से रहित हो गया। जब तक कामनाएँ रहेंगी तब तक मनुष्य बँधा रहेगा। हमारी कामनाएँ हमको बाँधती हैं। कामना कभी किसी की पूर्ण होती है ? एक कामना पूरी होती है तो दस कामनाएँ और आती हैं।

'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' (मानस.६/१०१/१) — एक बार कामना पूर्ण होगी तो लोभ बन जाएगी। कामना खंडित होती है तो क्रोध होता है। काम ही लोभ और क्रोध में रूपांतरित होता है। खंडित कामना क्रोध है और पूरित कामना लोभ है। तो *'विनिवृत्तकामा'* समस्त कामों से, समस्त कामनाओं से जो छूट गया है। *'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः'* — सारे दुःख-सुख, द्वन्द्व। द्वन्द्व माने जोड़ा-जोड़ा। हर्ष-शोक, राग-द्वेष, शीत-उष्ण, दिन-रात। एक उदाहरण दे दिया सुख-दुःख। सुख-दुःख की संज्ञा वाले या इसी तरह से और जितने द्वन्द्व हैं, उनसे निर्द्वन्द्व होना होगा। भारतीय

संस्कृति द्वन्द्वात्मक-भौतिकवाद को स्वीकार नहीं करती। भौतिकवाद को भी स्वीकार नहीं करती, यह तो चेतन है। द्वन्द्व में जगत है। द्वन्द्व से – द्वन्द्वातीत की ओर जाती है, निर्द्वन्द्व की ओर जाती है। तो *'सुखदुःखसंज्ञै द्वन्द्वैर्विमुक्ताः'* — तो सुख-दुःख सभी जोड़ों से, इन समस्त द्वन्द्वों से जो विमुक्त हो गया—पाँच बातें हो गयीं। मान-मोह को छोड़ देना— एक। आसक्ति को जीत लेना–दो। अध्यात्मचिन्तन करना—तीन। कामनाओं का परित्याग करना—चार और द्वन्द्वातीत हो जाना—पाँच। इन पाँच गुणों से जो युक्त है। *'गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्'*— ऐसे ज्ञानी लोग जो मूढ़ नहीं हैं, वे परमपद को प्राप्त होते हैं। अगर आपने मोह को जीत लिया है तो आप अमूढ़ हैं। अमूढ़ ही उस अव्यय पद पर पहुँच सकते हैं। भगवान् के उस अव्यय पद को प्राप्त करने की आधारभूत योग्यता – ये पाँच गुण हैं। इन पाँचों गुणों के बिना कोई व्यक्ति भगवान् के उस अव्यय पद को प्रात नहीं कर सकता। अब इसमें तीन बार इस बात को दोहराया गया है। हमलोग कहते हैं त्रिवाचा। भगवान् का जो अव्यय पद है जिसमें जाकर नहीं लौटना पड़ता। चार, पाँच एवं छह, तीनों श्लोकों में उसको बताया गया है—

चौथे में कहा— *'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः'*। पाँचवें में कहा— *'गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्'*। और छठे में फिर कहते हैं—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ।। (१५/६)

तीन-तीन बार रेखांकित किया प्रभु ने कि हाँ, ऐसा है। विश्वास करो। मानो, कि एक परम धाम है। एक अव्यय धाम है। जिस धाम में जाने के बाद लौटना नहीं पड़ता। अब इस धाम शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक अर्थ होता है घर, निवास। भगवत् धाम — भगवान का घर। धाम शब्द का दूसरा अर्थ होता है— ज्योतिर्पुंज, ज्योतिस्वरूप, ज्योति । *न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।*

यह भी उपनिषद् से लिया गया है कि उस धाम को, उस लोक को, उस पद को या उस स्वरूप को प्रकाशित करने के लिए किसी बाहरी ज्योति की आवश्यकता नहीं है। हमलोग दुनिया में कैसे देखते हैं— इस बात पर ध्यान दीजिए। एक तो हमारी आँख होनी चाहिए। इसको हम कहते हैं अध्यात्म। और जैसे समझ लीजिए— गीता जी की पोथी है — यह हुआ अधिभूत। हममें भीतर है आँख, अध्यात्म। जिसको हम देख रहे हैं — अधिभूत। इसमें अधिदैव का सहारा चाहिए — प्रकाश का, सूर्य का। समस्त प्रकाशों का प्रतिनिधित्व सूर्य करता है। तो सूर्य के बिना क्या हम देख सकते हैं ? यह सब रोशनी - बत्ती — ये सूर्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। कहते हैं न *'सूचीभेद्यअंधकार'*

— इतना घना अँधेरा कि उस अँधेरे को सुई से भी भेदा नहीं जा सकता। हाथ नहीं दिखता। कभी बिजली चली जाए, आप कमरे में हों। तो आपको अपना हाथ दिखता है? नहीं दिखता है। तो एक अधिभूत हुआ — जिसको हमको देखना है। एक अध्यात्म हुआ — हमारा नेत्र, हमारी दृष्टि-शक्ति, जिससे हम देखते हैं और एक अधिदैव होना चाहिए — सूर्य का प्रकाश जिसके सहारे हम देख सकते हैं। क्या भगवान् को भी किसी के माध्यम से देखते हैं ? क्या उनको भी किसी बाहरी प्रकाश की आवश्यकता है ? नहीं ! वे स्वयं-प्रकाश हैं। और सारा जगत् जो है — यह पर-प्रकाश है। इस बात पर ध्यान दीजिए। यह जो सृष्टि है, सारा जगत् है यह पर-प्रकाश्य है। यह किसी दूसरे के द्वारा, यह भगवान् की ज्योति से प्रकाशित है। भगवान् ने सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि को उत्पन्न किया उसके प्रकाश से हमको दिखता है। तो यह जगत् पर-प्रकाश्य है। दूसरे के द्वारा प्रकाशित किया जाता है। भगवान् स्व-प्रकाश हैं। वे अपने-आप प्रकाशित होते हैं। भगवान् के प्रकाश में सब कुछ दिखता है। किसी दूसरे प्रकाश में भगवान् नहीं दिखते- — *न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।*

भगवान् के उस दिव्य पद में, उस अव्यय लोक में, उस परम धाम में ये बाहरी, ये लौकिक सूर्य, चाँद, सितारे काम नहीं करते। ये भगवान् को प्रकाशित नहीं करते, ये तो उनसे प्रकाश्य हैं। ये तो उनके प्रकाश से प्रकाशित हैं। ये उनको क्या प्रकाशित करेंगे? भगवान् स्वयं प्रकाश्य हैं।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम — मेरा वह परम धाम, मेरा वह तेजस्वी स्वरूप ऐसा है कि जहाँ पहुँच जाने के बाद फिर लौट कर इस संसार में आना नहीं होता। इस बात को मैंने दो-तीन बार समझाया — एक तो पुनर्जन्म नहीं होता। भगवान् के सान्निध्य में रहते हैं या भगवान् में तल्लीन हो जाते हैं। इसमें भी अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। इसके बाद वाला श्लोक बहुत ही विवादास्पद है, इस पर बहुत ही ज्यादा बहस हुई है। तो यह जो बता रहे हैं कि परमात्मा स्वयं-प्रकाश हैं। इस स्वतः प्रकाश परमात्मा को कौन प्राप्त करता है ? पहले ऊपर बता दिया कि ब्रह्माश्वत्थ 'वेद्य' है और कर्माश्वत्थ 'छेद्य' है। इस संसार से मन मत लगाओ। इस संसार से अनासक्त हो जाओ। इस संसार से अनासक्त होकर तुम परम पुरुष, आदि पुरुष की शरण में जाओ। आदि पुरुष की शरण में जाने के लिए तुम्हारे पास आधारभूत पाँच गुण होने चाहिए। उन पाँच गुणों को प्राप्त करने के बाद तुम उस लोक में जाओगे जिस लोक में बाहरी प्रकाश, ये बाहरी सूरज, चाँद-सितारे काम नहीं करते। कौन जाएगा ? तुम कौन हो ? जिसको भगवान् उपदेश दे रहे हैं वह कौन है ? जो जगत् के कर्माश्वत्थ को छेद

देगा वह कौन है। यह जो हमारा आपका स्वरूप है उसको बता रहे हैं। पहले जगत का स्वरूप बताया गया और जगत् से अनासक्त होकर परमात्मा की ओर कौन जाएगा ; किसको उपदेश दिया जा रहा है ? सातवें, आठवें, नवें, दसवें, ग्यारहवें— इन श्लोकों में जीव के स्वरूप का निर्धारण है। हमारा-आपका जो स्वरूप है उसको समझाया गया है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।। (१५/७)

अब इसमें कहते हैं कि इस जीव लोक में यह जो देह धारी जीव है, यह मेरा सनातन अंश है। अब इस अंश शब्द को लेकर बहुत ही शास्त्रार्थ है। अंश का मतलब जो सीमित हो, टुकड़ा हो। अंश किसका होता है ? अंश सीमित कब होता है ? अगर कोई सौ गज का कपड़ा है तो एक गज उसका एक अंश है। अगर व्याख्यान सौ मिनट चलेगा तो एक मिनट उसका एक अंश है। क्या जीव परमात्मा का टुकड़ा है, परमात्मा का अंश है ? जो लोग मानते हैं कि परमात्मा तो निरवयव है, परमात्मा तो अनादि है, अनन्त है। तो परमात्मा जब अनन्त है तो अनन्त का टुकड़ा कैसे होगा ? आप लोग उपनिषद् के उस मंत्र को याद कीजिए—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । (वृहदारण्यक/ईशोपनिषद्)

पूर्ण से तो पूर्ण ही उद्गत होता है। पूर्ण से पूर्ण को निकाल देने पर भी पूर्ण ही बचता है। अनन्त की भाषा में बात कीजिए। अनन्त से अनन्त को निकाल दो तो कितना बचेगा ? अनन्त बचेगा। या शून्य से शून्य को निकाल दें तो शून्य ही बचेगा। तो यह अनन्त या शून्य शब्द जो गणित का शब्द है इसकी जगह पूर्ण शब्द ईशावास्य-उपनिषद् के शान्तिपाठ में आया। वह भी एक मंत्र है। उपनिषद् का मंत्र है। तो यह जो अनन्त से अनन्त को निकाल देने पर अनन्त का उद्गम होता है तो अनन्त का टुकड़ा कैसे होगा ? शंकराचार्य और शांकरअद्वैती यह कहते हैं कि इसमें 'इव' शब्द का अध्याहार करना पड़ेगा। *'जीवभूतः मम एव अंश इव'* — वह मेरे अंश के समान प्रतीत होता है जब तक वह गुणों से आबद्ध रहता है। अब इसको वे समझाते हैं। यह जो बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय के कमरे का आकाश है यह क्या पूरे आकाश का एक टुकड़ा है ? इस कमरे के कारण, ये चार दीवारें न रहें तो वह तो वही है। यह तो प्रतीत होता है कि यह टुकड़ा है। जैसे घड़े का खुलापन आकाश से अलग नहीं है, जैसे मठ की छत से आकाश अलग नहीं है, जैसे किसी मकान के आँगन में खड़े हो जाओ तब तो वह आकाश का टुकड़ा नहीं हुआ। शांकर अद्वैत यह मानता है कि जब

तक हमारी आत्मा पर, जीवात्मा के ऊपर अज्ञान का आवरण है, मल-विक्षेप और अज्ञान का आवरण है तब तक हम अपने को नामरूप में सीमित मानते हैं; और तब तक हम अपने को अंश मानते हैं। तब तक के लिए अंश ठीक है। लेकिन रामानुजाचार्य और दूसरे भक्त लोग मानते हैं—

ईस्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुख रासी।। (मानस.७/११६-२)

यद्यपि तुलसीदास भी सब जगह उसको अंश ही नहीं अंश-इव कह देते हैं— यह अलग बात है। लेकिन विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत या द्वैताद्वैत के अनुयायी यह मानते हैं कि जैसे अग्नि से चिनगारी निकलती है, अग्नि से असंख्य चिनगारियाँ निकलती रहती हैं वे चिनगारियाँ उस अग्नि का अंश हैं। तो चिनगारी की तरह यह एक-एक जीवात्मा है और यह शाश्वत है, सनातन है। इस सनातन शब्द के ऊपर भी विवाद है। कहा गया कि सनातन अंश यानी जो वास्तव में अंश नहीं है। शंकराचार्य कहते हैं कि एक बार वह अंश है, तो अंश ही रहेगा। इसलिए विष्णुलोक में या गोलोक धाम में जाने पर भी यह लीला-सहचर होकर उनसे लीला ही करता रहेगा, उनसे अभिन्न नहीं हो जाएगा। अब ये दो बड़े दृष्टिकोणों का अन्तर है। दोनों दृष्टियों को समझिए।

जो ज्ञान की दृष्टि है, वह कहती है कि यह जो शरीरधारी देही जीवभूत हो गया है, मेरा सनातन अंश—यह वास्तव में अंश नहीं है। जीवभूत होने के कारण अंश-इव लग रहा है। जैसे ही आवरण का भेद होगा *'तत्त्वमसि'* का बोध होगा वैसे ही वह पूर्ण का पूर्ण हो जाएगा। लेकिन ये लोग मानते हैं कि जैसे अनार एक है, उसमें सैकड़ों दाने हैं, और उसका एक छिलका है। छिलका अचित जड़ है। अनार का दाना-यह चित है, चैतन्य है, जीव है और सब मिलाकर एक अनार— यह विशिष्टाद्वैत है। विशेषता से युक्त अद्वैत, चित और अचित की विशेषता से युक्त अद्वैत— यह रामानुज की दृष्टि है। वल्लभ की दृष्टि है कि अग्नि से जैसे चिनगारियाँ निकलती रहती हैं वैसे असंख्य-असंख्य जीव हैं। उसमें आनन्द अंश आवृत्त है और रस रूप पुरुषोत्तम के साथ उनका लीला-साहचर्य होता है। तो इस जीव लोक में यह जो सनातन मेरा अंश की तरह जीव है या जो मेरा अंश है जीव, वह पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और मन— इन छहों के द्वारा प्रकृति में स्थित होकर इस संसार को भोगता है और वह अपनी तरफ तथा जीव अपनी तरफ मन को और पाँचों इन्द्रियों को खींचता भी है। यह जीव जब तक देहभूत रहेगा, नाम-रूप से आबद्ध रहेगा तब तक यह जीव अपने मन यानी अंतःकरण को और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अपनी तरफ खींचे रखेगा। खींचे रख कर क्या करता है ?

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।। (१५/८)

अर्थात् जीवात्मा जब एक देहत्याग कर दूसरी देह में जाता है तो वह अपने मन और पंचेन्द्रियों को उसी प्रकार साथ ले जाता है जैसे वायु पुष्प से गंध ले जाती है। जीव इस शरीर को जब त्यागता है, मृत्यु के समय क्या निकल जाता है ? शरीर तो ज्यों-का-त्यों पड़ा है। तीन प्रकार के जो शरीर हैं—एक स्थूल शरीर है, एक सूक्ष्म शरीर है और एक कारण शरीर है। तो जब मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ जो निकल जाता है, वह है सूक्ष्म शरीर। इसी के साथ हमारे अच्छे-बुरे कर्म जाएँगे और हम फिर नया शरीर धारण करेंगे।

जब नए शरीर को वह प्राप्त करता है या पुराने शरीर को छोड़ कर जाता है तो अपने साथ यह जीवात्मा - मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ले जाता है। यह इतना ही कहा गया है लेकिन कुछ लोग जोड़ते हैं पाँचों विषयों को और पाँचों तन्मात्राओं को, पाँचों महाभूतों को लेकर निकलता है। कैसे निकलता है ? जैसे हवा जहाँ से निकलती है तो सुगन्ध के आधार से सुगंध लेकर आती है। गुलाब के उद्यान से अगर हवा आ रही है तो गुलाब की सुगंध लेकर आएगी। तो जैसे हवा सुगंध के आधार से सुगंध लेकर बहती है, वैसे ही आत्मा जब शरीर से जाती है तो अपने साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को और मन को लेकर निकल जाती है। इसी बात को नवें श्लोक में और स्पष्ट किया है—

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।। (१५/९)

इस बात पर ध्यान दीजिए कि वह जो शुद्ध-बुद्ध आत्मा है वह विषयों का उपभोग कैसे करता है ? किस माध्यम से करता है ? आत्मा अपने-आप सीधे विषयों का उपभोग नहीं करता। आत्मा मन के माध्यम से पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग करता है। आगे भी कहा है प्रकृतिस्थ होकर - प्रकृति में स्थित होकर। प्रकृति का मतलब हुआ — एक तो संसार है सामने, पाँच विषय हैं। इन पाँचों विषयों शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध का उपभोग जीवात्मा मन के माध्यम से, मन में अधिष्ठित होकर — आँख से रूप का, कान से शब्द का, त्वचा से स्पर्श का, रसना से आस्वाद का और नासिका से गंध का आस्वाद करता है। तो इन सारे विषयों का सेवन जीवात्मा मन में अधिष्ठित होकर मन के माध्यम से इन्द्रियों के द्वारा करता है। यह चाहे निकलते समय, चाहे रहते समय, चाहे भोग करते समय यह गुणान्वित है। इस बात को मूर्ख लोग नहीं

समझ पाते, इसलिए आत्मा के अस्तित्व को ही अस्वीकार करते हैं। जड़ चक्षुओं से आत्म दर्शन नहीं हो सकता। चिदात्मा चित् चक्षुओं से ही गोचर है। कहा है—

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।। (१५/१०)

ज्ञान-नेत्र वाले इस बात को समझते हैं। गुणान्वित है का क्या मतलब है ? आप लोगों ने बार-बार यह बात सुनी है कि गुण गुणों में बरतते हैं। *'गुणा-गुणेषु वर्तन्ते'* इसका स्पष्टीकरण मैंने किया था कि हमारी इन्द्रियाँ भी गुणों से बनी हैं और विषय भी गुणों के द्वारा निर्मित हैं। तो गुण गुणों में बरत रहे हैं इसका मतलब यह हुआ कि हम इन्द्रियों से इन्द्रियों के विषयों का उपभोग कर रहे हैं। गुण-निर्मित इन्द्रियाँ गुण-निर्मित विषयों में बरत रही हैं— उनका व्यवहार कर रही हैं। तो बिना गुणान्वित हुए जीवात्मा विषयों का उपभोग नहीं कर सकती। जब तक जीवात्मा सत्त्व-रज-तम— इन तीनों गुणों से अन्वित रहता है तभी तक वह इस शरीर में रहते समय, इस शरीर को छोड़ते समय, इस शरीर में नया शरीर ग्रहण करते समय वह विषयों का उपभोग करता है। यह उपभोग गुणान्वित होकर करता है गुण-विरहित होकर नहीं करता। हमलोगों ने अभी चौदहवें अध्याय में त्रिगुणातीत का वर्णन पढ़ा कि त्रिगुणातीत तो ज्ञानी है वह किसी से बँधता नहीं। जब तक जीवात्मा गुणान्वित रहेगा तभी तक वह विषयों का सेवन करेगा, भोग करेगा और त्रिगुणातीत होते ही वह मुक्त हो जाता है इसलिए मन के माध्यम से जीवात्मा गुणान्वित होकर अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा पाँचों विषयों का भोग करता है — चाहे शरीर में रहते समय या शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाते समय। उसकी इस प्रक्रिया को मूर्ख लोग नहीं देख पाते। मूर्ख लोग क्या देख पाते हैं ? कि 'मैं' कर रहा हूँ, 'मैं' भोग रहा हूँ। 'मैं' माने आत्मा के रूप में अपने को समझता है कर्त्ता और भोक्ता। यह मूढ़ता है। बुद्धिमत्ता क्या है ? ज्ञान नेत्र क्या है ?

'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' — ज्ञान-नेत्र से ज्ञानी लोग इस बात को भली-भाँति समझते हैं कि आत्मा विषयों से लिप्त नहीं होता। आत्मा मन के माध्यम से विषयों को भोगता है, गुणान्वित होकर भोगता है यानी गुण ही गुण में बरतते हैं। इस बात को देखने की क्षमता किसमें है ? जो कृतात्मा है। इस बात को समझने की क्षमता किसमें है ? जो चैतन्य है। जो कृतात्मा और चैतन्य नहीं है, वे इस बात को नहीं समझते। आगे कहा है—

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।। (१५/११)

जो योगी कृतात्मा हैं यानी जो तत्त्व से अद्वैत को जानते हैं, जो चित्त से समत्त्व में स्थित हैं और व्यवहार में जो अनासक्त हैं— इन तीनों बातों से युक्त जो योगी हैं, वे ही इस बात को अपने भीतर समझ सकते हैं कि कैसे हमारा जो आत्म-स्वरूप है यह गुणान्वित होकर विषयों का भोग करता है। कैसे शरीर छोड़ते समय वह सूक्ष्म शरीर लेकर शरीर से निकल जाता है ? कैसे वह सूक्ष्म शरीर के साथ नए शरीर में जाता है। नए शरीर में जाकर भी हम अपने पुराने कर्मों का फल भोगते रहते हैं, जो हमने कर्त्ता-भोक्ता होकर कर्म किए हैं। ये सारी बातें जो ज्ञानी लोग हैं, जो कृतात्मा हैं, जो ज्ञान चक्षु वाले लोग हैं जो चैतन्य-युक्त हैं, वे तो समझते हैं। लेकिन जो अकृतात्मा हैं जिन्होंने अपने मन को शुद्ध नहीं किया है, जिन्होंने अपने जीवन में इन पाँचों गुणों की उपलब्धि नहीं की है वे केवल व्याख्यान सुनकर, वे केवल पढ़कर, वे केवल थोड़ी देर ध्यान लगाकर, योगासन करके समझ जाएँगे क्या ? नहीं समझ सकते। *यतन्तोऽपि' ' — प्रयत्न करने पर भी 'अकृतात्मानः' — जो अकृतात्मा हैं, जो आवश्यक गुणों से रहित हैं, जो साधना के उपयुक्त पक्ष से अपरिचित हैं, वे अज्ञानी लोग 'अचेतसः' — — जो गुरु की कृपा से चैतन्य प्राप्त नहीं कर सके हैं, वे लोग जितना सिर पटक कर मर जाएँ, इस बात को नहीं समझ सकते। अगर आप इस बात को समझना चाहते हैं कि हम जीवात्मा के रूप में कैसे विषयों का उपभोग करते हैं, क्यों फँसते हैं, कैसे मुक्त हो सकते हैं, जीवात्मा का स्वरूप क्या है ? तो आपको इसी अध्याय के पाँचवें श्लोक में बताए गए पाँचों गुणों को अर्जित करना चाहिए।*

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ।। (१५/५)

साधना के द्वारा आपको तत्त्व से अद्वैत में स्थित होना चाहिए, चित्त से समत्त्व में और व्यवहार में अनासक्त रहना चाहिए तब आप इस बात को समझ सकेंगे कि हम कैसे जीवात्मा के रूप में नामरूप में आबद्ध होते हुए, गुणों के द्वारा गुणों में बरतते हुए ये सारे सुख-दुःख भोगते हैं। हमारा वास्तविक स्वरूप किस प्रकार मुक्त हो सकता है ? कैसे हम पुरुषोत्तम को प्राप्त कर सकते हैं, इसकी चर्चा अगले प्रवचन में होगी। ●

प्रवचन-४३*

पुरुषोत्तम का स्वरूप

पिछले प्रवचन में यह बताया गया था कि जगत् और जीव का स्वरूप क्या है? पन्द्रहवें अध्याय के प्रारंभ में संसार की उपमा अश्वत्थ यानी पीपल से दी गई है। कुछ लोगों के अनुसार एक ही वृक्ष है, कुछ लोगों के अनुसार दो वृक्ष हैं। एक भगवान् की सृष्टि है जिसको हमें जानना चाहिए, जो वेद्य है और एक हम सबके अज्ञान की सृष्टि है जिसको काटना चाहिए, जो छेद्य है। जगत् जो भगवत्-सृष्टि के रूप में है वह तो वेद्य है। उसका उच्छेद हम नहीं कर सकते, लेकिन 'मैं-मेरेपन' के कारण, आसक्ति, अज्ञान और मोह के कारण, जिस परिवार, जगत् एवं संसार की हम रचना करते हैं, वह सृष्टि छेद्य है। वह सृष्टि वैराग्य के द्वारा त्याज्य है— इस बात का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रतिपादन के बाद यह बताया गया कि इस सृष्टि की रचना के पीछे जो तत्त्व है उस तत्त्व को खोजने की पात्रता-योग्यता उसी में होगी, जो मान-मोह छोड़ देगा, जो आसक्तियों को जीत लेगा, जो निरन्तर अध्यात्म में रमा रहेगा। जिसने कामनाओं का त्याग कर दिया है, सुख-दुःख के द्वन्द्व से जो ऊपर उठ गया है, ऐसा अमूढ़ व्यक्ति, ऐसा बुद्धिमान व्यक्ति ही परमात्मा के उस पद का अनुसंधान कर सकता है, जिस पद में प्रवेश करने के बाद लौटना नहीं पड़ता।

ज्ञानी लोग कहते हैं कि कहीं जाना ही नहीं है तो लौटना कहाँ से होगा ? अगर कहीं जाने का रास्ता है तो लौटने का रास्ता भी होता है। केवल जान लेना मात्र है कि हम वहीं हैं। न कहीं जाना है, न कहीं से आना है। केवल अपने ऊपर जो अज्ञान का आवरण है उसको छिन्न कर देना है। भक्त लोग कहते हैं कि नहीं ! भगवान् का लोक है और उस लोक में जीव सनातन-अंश होकर रहता है। ज्ञानी कहते हैं कि केवल अंश-इव, अंश की तरह उसकी प्रतीति होती है जैसे घड़े के भीतर का आकाश, जैसे मकान के भीतर का आकाश, आँगन से बँधा हुआ आकाश। घड़ा अगर फूट जाए तो? आँगन के चारों तरफ की दीवारें अगर तोड़ दी जाएँ तो? जैसे वह घटाकाश, वैसे ही

* पंचदश अध्याय (पुरुषोत्तम योग) : श्लोक संख्या १२ से २०

महाकाश। दोनों अभिन्न हैं। केवल अपनी सीमाओं में बँधा रहने के कारण एक छोटा-सा लगता है। ऐसा ज्ञानियों का निरूपण है। भक्तों का निरूपण है कि ऐसा नहीं है ! असंख्य जीवात्माएँ हैं वे भगवान् का अंश हैं, सनातन हैं। वे भगवान् के वैकुण्ठ धाम में, गोलोक में, साकेत में निरन्तर उनके साथ लीला-रस में निमग्न रहती हैं। वही आत्मा जब बँधी रहती है, जब वह पाँचों इन्द्रियों से नाना प्रकार के भोग भोगती है तब वह जिस-जिस शरीर से जिस-जिस भोग से गुजरती है, उसकी गंध लेकर गुजरती है, उसका संस्कार लेकर गुजरती है। इस बात को केवल ज्ञानी ही समझ पाते हैं, मूर्ख नहीं समझ पाते। भीतर जो भोग कर रही जीवात्मा है उस जीवात्मा के शरीर त्याग करते समय, वा शरीर में रह कर भोग करते समय भी जो प्रक्रिया चल रही है उस प्रक्रिया को ज्ञानी ही समझ पाते हैं, मूर्ख नहीं समझ पाते। इस बात को पिछले प्रवचन में समझाया गया। इसमें संकेत से परमात्मा के कुछ लक्षणों का भी निर्देश किया गया है। संकेत से यह बताया गया कि परमात्मा पर-प्रकाश्य नहीं, स्व-प्रकाश्य है। परमात्मा को सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि प्रकाशित नहीं करते। सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि उससे प्रकाशित होते हैं। परमात्मा स्व-प्रकाश है, परमात्मा किसी दूसरे के द्वारा प्रकाशित नहीं होता। परमात्मा सब शरीरों में रहते हुए भी शरीरों से अलग है। इस बात को जान लेने वाला, उनके धाम में पहुँचने वाले का पुनरावर्तन इस सृष्टि में नहीं होता— ऐसी बातें बताई गयीं।

आज के प्रवचन में मूलतः पुरुषोत्तम के स्वरूप का ही विवेचन है। इस पुरुषोत्तम के स्वरूप के विवेचन के पहले पुरुषोत्तम की, प्रभु की कृपा का निरूपण किया गया है। कैसी अद्भुत कृपा है प्रभु की। हमारा-आपका जीवन उन्हीं के कारण है, हमारी-आपकी सारी चेष्टाएँ उन्हीं की कृपा से होती हैं। वे ही हमारा-आपका सब काम कर रहे हैं— इस बात का अनुभव होना चाहिए और इसलिए बारहवें, तेरहवें, चौदहवें और पन्द्रहवें — इन चार श्लोकों में भगवान् की कृपा किस प्रकार हमको धारण करती है, किस प्रकार हमारा सारा व्यवहार संपन्न करती है— इसका निरूपण है। इस निरूपण को समझने के लिए एक उदाहरण जो हमारा जाना-पहचाना है, उसको याद रखें तो बात जल्दी समझ में आएगी। जैसे बिजली है। एक ही बिजली कहीं पंखा चला कर हवा देती है, वही बिजली कहीं प्रकाश देती है, वही बिजली कहीं फ्रिज में शीतलता उत्पन्न करती है, वही बिजली चूल्हे में ताप उत्पन्न करती है। जो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं ये भिन्न-भिन्न क्रियाएँ उन माध्यमों के कारण हो रही हैं। कहीं हमें हवा मिल रही है, कहीं रोशनी प्राप्त हो रही है, कहीं शीतलता प्राप्त हो रही है, कहीं अग्नि का ताप मिल रहा है; लेकिन ये सारी प्रक्रियाएँ एक ही बिजली के द्वारा संपन्न हो रही हैं। यह बात अगर

आपको याद रहेगी तो आप देखें कि परमात्मा के कारण ही ये सारी क्रियाएँ संपन्न होती हैं परमात्मा ही सब रूपों में हमको-आपको अपने साथ जोड़ लेने की कृपा कर रहा है। मुण्डकोपनिषद् का एक मंत्र है जिसका पहला अंश १५वें अध्याय के छठें श्लोक में आया है— *न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः ।* मुण्डकोपनिषद् का मंत्र है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम् ।
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।।

यह जो प्रथमार्ध है यह तो छठे श्लोक में आ गया और जो उसका उत्तरार्ध है— *तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति* को वे यहाँ बारहवें श्लोक में स्पष्ट कर रहे हैं। वही उपनिषद् की उक्ति कि यह जो सूर्य का तेज है, यह जो चन्द्रमा का प्रकाश है यह जो अग्नि का प्रकाश है— ये क्या स्वयं-प्रकाश हैं ? नहीं— ये स्वयं प्रकाश नहीं हैं। ये सब-के-सब प्रभु के द्वारा प्रकाश्य हैं। ये सारे-के-सारे ज्योतिष्मान् सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि उन्हीं के तेज से अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रकाश दे रहे हैं। क्या भगवान् का तेज केवल इन्हीं तीन पर पड़ता है ? नहीं—भगवान् का तेज हम पर, आप पर, सब पर पड़ता है लेकिन सूरज की धूप सब जगह पड़ रही है कि नहीं ? सूर्य की धूप सब पर पड़ती है। हम पर भी, आप पर भी, काठ पर भी, पत्थर पर भी पड़ती है। और वही सूर्य की धूप दर्पण पर भी पड़ती है। दर्पण पर जब सूर्य की धूप पड़ती है तो जैसा तेज झलकता है, या जल में झलकता है वैसा तेज तो हम पर पड़ने पर या पत्थर पर पड़ने पर नहीं झलकता। क्यों ऐसा अंतर है ? क्योंकि हममें आपमें इतनी स्वच्छता नहीं है जितनी स्वच्छता दर्पण में है, जितनी स्वच्छता जल में है। सत्त्व गुण का जितना अधिक उत्कर्ष सूर्य में है, चन्द्रमा में है, अग्नि में है, उस उत्कर्ष के कारण प्रभु का पड़ता हुआ तेज, प्रभु का पड़ता हुआ प्रकाश वह इतना आत्मसात् करता है कि वह हमको प्रकाशित कर रहा है जैसे कि सूर्य की धूप की किरणें जब दर्पण पर पड़ती हैं तो दर्पण दूसरी जगह उसका बिम्ब फेंक देता है। दर्पण पर पड़ने वाली सूर्य की किरण जिस प्रकार प्रतिफलित होती है वैसे ही भगवान् का तेज तो हम सब पर पड़ रहा है लेकिन भगवान् के तेज को जितना आत्मसात किया है सूर्य ने, जितना आत्मसात किया अपनी तरह से चन्द्रमा ने, अपनी तरह आत्मसात किया है अग्नि ने; उतना आत्मसात दूसरे लोग नहीं कर पाते। इसलिए वे उस तरह के तेज को प्रतिफलित नहीं करते। हमलोग भगवान् से प्रार्थना करते हैं— *'तेजोसि तेजो मयि धेहि'।*

तुम तेज-स्वरूप हो, हममें तेज का संचार करो। यह तेज का संचार हममें

आपमें जितना होता है, हमारे जीवन में प्रतिफलित होता है। भक्तों का यह विश्वास है कि सूर्य ने, चन्द्रमा ने, अग्नि ने अनन्त पूर्वजन्मों में भगवान् के तेज की कामना की होगी और उनको तेज का वरदान प्राप्त हुआ होगा। इसलिए वे आज अपने प्रकाश से, भगवान् के तेज के प्रकाश से हमको, आपको, सभी जगत् को प्रकाशित कर रहे हैं।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ ततेजो विद्धि मामकम् ।। (१५/१२)

अखिल जगत् को जो प्रतिभासित करता है, प्रकाशित करता है, सूर्य का वह तेज, चन्द्रमा का वह तेज, अग्नि का वह तेज मेरा ही तेज है— ऐसा तुम समझो। वे सब-के-सब मेरे द्वारा प्रकाश्य हैं। प्रभु के अतिरिक्त स्वयं-प्रकाश इस सृष्टि में कुछ नहीं।

'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू' (मानस. १/११६-७) — राम प्रकाशक हैं और जगत् का सब छोटे से बड़ा पदार्थ प्रकाश्य है— यह अखंडनीय सत्य है। भगवान् ही हमको आपको अपने प्रकाश की शक्ति से सारी सृष्टि का बोध कराने की क्षमता देते हैं। जो भगवान् का तेज सूर्य में जाज्वल्यमान प्रकाश है, चन्द्रमा में स्निग्ध प्रकाश है, अग्नि में दाहक प्रकाश है (अग्नि न केवल प्रकाश देता है बल्कि जला भी देता है) —वही तेज पृथ्वी को धारण करता है। तेरहवाँ श्लोक है—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।। (१५/१३)

'गाम्' माने पृथ्वी। *'भूतानि'* माने *'भवन्ति इति भूतानि'* — जो होते हैं वे भूत हैं। तो जो कुछ पैदा हुआ है इस पृथ्वी पर— चाहे जड़ चाहे जंगम— यह सृष्टि, उसे भगवान् अपने ओज से धारण करते हैं। पृथ्वी टूट कर बिखर क्यों नहीं जाती ? कौन इसको धारण किये हुए है ? समुद्र इसको आकर बिलकुल डुबा क्यों नहीं देता ? कौन समुद्र की शक्ति को रोक देता है ? कौन सारी सृष्टि को जोड़े हुए है ? कौन हमको-आपको अपनी संपूर्ण शक्ति देने की क्षमता देता है ? जिसकी संनिधि में यह होता है वह परमात्मा है। जिस तरह चुम्बक की संनिधि में लोहे के चूरे घूम-फिर कर अपना एक आकार धारण कर लेते हैं। तो उसकी संनिधि में पृथ्वी को वह दृढ़ करता है, प्राणियों को धारण करता है। सोमात्मक होकर, रसात्मक होकर समस्त ओषधियों को पुष्ट करता है। ओषधि का मतलब दवा भी है, ओषधि का मतलब वे धान्य भी हैं जो एक बार फल देकर नष्ट हो जाते हैं। वृक्ष और ओषधि में मौलिक अंतर क्या है? यह धान, गेहूँ, जौ— ये एक बार फल देकर नष्ट हो जाते हैं। जो एक बार फल देकर नष्ट

हो जाए वह ओषधि है और जो प्रतिवर्ष फल देता है वह वृक्ष है— जैसे आम है, कटहल है, जैसे नींबू है, अमरूद है आदि। ओषधि क्यों कहते हैं ? जो दोषों का विनाश करे और गुणों का आधान करे वह ओषधि। हम बीमार हो गए, रोग-ग्रस्त हो गए, ओषधि खाई— हममें जो विकार आया था, उसने उसको नष्ट कर दिया और जो हममें तेजस्विता, ओजस्विता आनी चाहिए वह गुण बढ़ा दिया। इसलिए वह ओषधि है। तो गेहूँ, चावल, धान, जौ ये सब हमारे जीवन के लिए अनिवार्य हैं। फलाहार करके भी कोई जीवित रह सकता है लेकिन उनके द्वारा हम बल प्राप्त करते हैं, चेतना प्राप्त करते हैं, चेतना को सचेत करते हैं इसलिए उनका नाम ओषधि है और यह चन्द्रमा की कृपा से, उनकी ज्योति से, उसकी रसमयता से इनमें प्राणवत्ता आती है। चन्द्रमा इनमें रस का संचार करता है। सूर्य ज्ञान का प्रतीक है, बुद्धि का प्रतीक है। हमलोग गायत्री-मंत्र में बुद्धि को शुद्ध करके अच्छे कामों में लगाने की प्रार्थना भगवान् सविता से, सूर्य से करते हैं। चन्द्रमा भावना का, प्रेम का, भक्ति का प्रतीक है। इसलिए रस-संचार करता है। भक्ति रसमयी है। आप देखिए जो भक्ति के पूर्ण आलम्बन माने जाते हैं उनके आगे चन्द्र लगा हुआ है— रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र। वे हमारी भावना के, हमारी रसमयता के आधार हैं। सबको स्निग्धता देकर भक्ति के रस से परिपुष्ट करने की क्षमता चन्द्रमा में है। तो—

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः । (१५/१३-२)

भगवान् रसमय हैं। *रसो वै सः* — भक्ति से हम रसरूप पुरुषोत्तम को प्राप्त करते हैं। आगे कहा है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।। (१५/१४)

भगवान् हमारा सारा काम कर रहे हैं। भगवान् ने हमको धारण किया है, भगवान् ने हमको जन्म दिया है, भगवान् ने हमको बड़ा किया है। आप जो भोजन करते हैं— इस भोजन को कौन पचा देता है ? भगवान् ही वैश्वानर होकर पचाते हैं। वैश्वानर माने ? जठराग्नि के रूप में विद्यमान चैतन्य। सारे विश्व में अंतर्यामी के रूप में—यह भगवान् की अंतर्यामिता का वर्णन है। आरंभ से लेकर यहाँ तक भगवान् किस तरह अंतर्यामी होकर सूर्य में, चन्द्रमा में, अग्नि में, पृथ्वी में, ओषधियों में, हमारे-आपके शरीर में वैश्वानर का रूप धारण करके, अग्नि का रूप धारण करके जो कुछ हमने खाया है उसको पचाते हैं। कैसे पचाते हैं ? अग्नि का रथ वायु है। कहीं आग लगती है तो वायु उसको चारों तरफ फैला देती है। तो यह जो प्राण-अपान वायु है,

प्राण और अपान से समायुक्त होकर यह जो वैश्वानर है, हमारे-आपके भीतर जो अग्नि है, जिससे हम अन्न को पचा पाते हैं, यह अग्नि भी प्राणापान से समायुक्त होकर काम करती है। अग्नि से हमने पचाया। पचाने के बाद जो सार-तत्त्व है, वह प्राण-वायु से सारे शरीर में फैल जाता है। और जो बचा हुआ निस्सार तत्त्व है, वह अपान वायु से निष्कृत हो जाता है, निकल जाता है। चार प्रकार का अन्न है— भोज्य (भक्ष्य), पेय, चोष्य और लेह्य। यानी जिसको हम चबा-चबा कर खाएँ वह है भोज्य। कुछ अन्न वैसे हैं, जिसको हम पी जाएँ—जैसे दूध, जल आदि, ये पेय। जिसको हम चूस कर लें— जैसे गन्ना या जैसे आजकल बच्चों को टॉफी दी जाती है, चूसते रहते हैं वह है चोष्य। जिसको हम चाट-चाट कर खाएँ जैसे चटनी, वह लेह्य है। तो ये जो चार प्रकार के भोज्य पदार्थ हैं— भक्ष्य, पेय, चोष्य और लेह्य— ये चार प्रकार के भोजनों को पचाने का काम हमारे शरीर के भीतर की अग्नि का है। आप देखिए जब मृत्यु होती है तो प्राण-वायु भी निकल जाती है और ताप भी नष्ट हो जाता है। जब तक शरीर में ताप है तभी तक हम-आप जीवित हैं। जो शव है उसके शरीर का ताप नष्ट हो जाता है। उसकी प्राण-वायु भी निकल गई है और उसका ताप भी नष्ट हो गया है। तो यह चार प्रकार का अन्न मैं ही पचाता हूँ—प्राण और अपान वायु के सहयोग से, जो मेरे ही रूप हैं। अच्छा अगर आप किसी सभा में जाएँ जहाँ सौ-पचास लोग हों तो क्या आप सबका नाम लेते हैं ? महत्त्वपूर्ण पाँच-सात आदमियों का नाम ले-लेते हैं फिर उसमें आदि लगा देते हैं। वैसे ही प्रभु यह बता रहे हैं कि सारी सृष्टि में मैं-ही-मैं हूँ। मैं ही इस सारी सृष्टि के रूप में प्रकट हुआ हूँ, मैं ही इस सारी सृष्टि का संचालन कर रहा हूँ, मैं ही सारी सृष्टि के जीवों को जीवन दे रहा हूँ, जीवन की सुविधाएँ दे रहा हूँ, जीवन की योग्यता दे रहा हूँ। और क्या कर रहा हूँ? तब उसमें आदि लगा दिया। यह-यह-यह बता दिया और कहा कि सबका नाम अलग-अलग लूँ—यह बहुत बड़ी बात हो जाएगी। देखो ! हमने सूरज का नाम ले लिया, चन्द्रमा का नाम ले लिया, अग्नि का नाम ले लिया, ओषधि का नाम ले लिया, पृथ्वी का नाम ले लिया, प्राण-अपान वायु का नाम ले लिया, वैश्वानर यानी अंतः स्थित अग्नि का नाम ले लिया — अब इसके बाद वह समान रूप से सब पर बात लागू हो जाती है। इसके बाद कहा है—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।। (१५/१५)

अर्थात् मैं सबके हृदय में वास करता हूँ। स्मृति, ज्ञान और चेतना का लोप मेरे ही कारण होता है। सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। वेदों का पूर्ण ज्ञाता भी मैं हूँ।

'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो' — सर्वस्य में कोई बाद नहीं है जैसे हमने बताया कि आदि लगा दिया। सब में चेतन और जड़—दोनों समान हैं— 'सर्वस्य' में चेतन और जड़ का भी अन्तर नहीं है। चेतन भी भगवान् के कारण चेतन है, भगवान् के कारण उसके जीवन में अस्तित्व है और जो जड़ हैं, जो चेतनरहित पदार्थ हैं वे भी भगवान् के कारण हैं। उनका अस्तित्व कैसे है? सच्चिदानन्द तीन तत्त्व होता है, जो जड़ है उसमें सत् तो स्फुरित है। सत् है इसलिए उसका अस्तित्व है लेकिन उसका चित् और आनन्द आवृत्त है। उसमें चितता का और आनन्द का विकास नहीं हुआ है। चित्त—माने चैतन्य। हममें और आपमें क्या है ? हममें-आपमें अस्तित्त्व है, सत् है और चित् है। हम जानते हैं। कोई आदमी ऐसा है जो न जाने। मैं नहीं जानता हूँ—यह भी तो जानता ही है कोई। यानी मैं जानता नहीं हूँ—यह भी ज्ञान का ही एक रूप है।

एक महत्त्वपूर्ण बात पर ध्यान दीजिए। माया के दार्शनिक, तात्त्विक तो बहुत से रूप बताए गए लेकिन माया का व्यावहारिक रूप क्या है ? माया का व्यावहारिक रूप यह है कि चित-ज्ञान तो मुझमें है, चैतन्य है लेकिन मेरा आनन्द मुझ में नहीं है — यह बाहर है। मैं आनन्द कब पाऊँगा ? जब मुझे कोई व्यक्ति मिलेगा। कोई विशेष पुरुष, कोई विशेष स्त्री, कोई विशेष आत्मीय स्वजन। मैं आनन्दित कब होऊँगा ? जब मुझे कोई विशेष प्रकार का भोजन मिलेगा। जब मुझे कोई विशेष प्रकार का पद मिलेगा। जब रुपया मिलेगा, जब गाड़ी मिलेगी। यानी हमारा आनन्द अपने में नहीं है। हमारा आनन्द कहीं बाहर बंधक पड़ा हुआ है। जब तक वह नहीं मिलेगा तब तक मैं आनन्दित नहीं हो सकता यही माया का व्यवहार है। क्यों नहीं आनन्दित हो सकता ? हम तो सहज सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। आनन्द बाहर क्यों खोजते हो तुम ? आनन्द को जब तक अपने भीतर प्राप्त करने की क्षमता उपलब्ध नहीं होती तब तक कोई आनन्दित हो नहीं सकता। बाहर से कितना लोगे ? जो चाहते हो वह क्या सब मिलता है ? और जो मिलता भी है वह बाद में दुःख रूप हो जाता है कि नहीं ?

यद्यद्प्रीतिकरं वस्तु मैत्रेय उपजायते ।
तदेव दुःख वृक्षस्य बीजत्वं उपगच्छति ।।

अद्भुत श्लोक है। जो-जो वस्तु है मैत्रेय ! तुम्हारी प्रीति का आलंबन बनती है, जिस वस्तु-व्यक्ति को तुम प्रेय मान लेते हो, प्रीतिकर मान लेते हो, वही तुम्हारे दुःख-वृक्ष का बीज बन जाता है। वही सबसे अधिक दुःख देता है जो तुम्हारा प्रिय है।

'प्रियं त्वां रोदसि इति' — जो तुम्हारा प्रिय है वह तुम्हें रुलाएगा, उससे वियोग होगा, वह तुम्हारी बात हमेशा नहीं मानेगा, वह तुम्हारी इच्छा के विरुद्ध कार्य करेगा,

वह नष्ट हो जाएगा। अपने से बाहर तुमने जिस-जिस को प्रीति का आलम्बन बनाया, उसके-उसके रूप में दुःख-वृक्ष के बीज बो दिए। यही माया का व्यावहारिक रूप है कि हम जो सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, हम अपने अस्तित्व का अनुभव करते हैं, हम अपने में चिन्मयता का, ज्ञान का, बोध का अनुभव करते हैं। लेकिन अपने में आनन्द का अनुभव नहीं करते और यह मानते हैं कि अमुक चीज मिले बिना, अमुक व्यक्ति से भेंट हुए बिना, अमुक प्रकार की स्थिति प्राप्त हुए बिना हमको आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता — और यही दुःख की जड़ है। भगवान् यहाँ कहते हैं कि— *'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो'* — मैं सबके भीतर अन्तर्यामी के रूप में हूँ। सबके भीतर अधूरे रूप में हैं या पूरे रूप में हैं ? परमात्मा कभी अधूरे रूप में होता है ? परमात्मा का कभी अंश या टुकड़ा होता है ? परमात्मा जहाँ है, वहाँ पूरे रूप में है। परमात्मा कौन है ? परमात्मा के लिए हमलोग समझते हैं कि सच्चिदानन्द अव्यय तत्त्व के रूप में है, तो परमात्मा हमारे भीतर है तो आनन्द के रूप में है कि नहीं है ? परमात्मा हमारे भीतर समग्रता में है लेकिन हम अपने भीतर आनन्द का अनुभव नहीं करते, हम आनन्द का अनुभव किसी दूसरे में करते हैं—यही माया का व्यावहारिक-कष्टदायक रूप है। परमात्मा कहते हैं *'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो'* ? मैं सबके हृदय में सन्निविष्ट हूँ। हृदय का मतलब क्या है ? शरीर का विवेचन करें तो हृदय मांस का एक लोथड़ा ही है जिसमें खून जाता है और शुद्ध होकर निकल जाता है। तो क्या उसी हृदय में परमात्मा रहते हैं ? परमात्मा तो सभी जगह हैं, हम हृदय में उनका विशेष रूप से अनुभव करते हैं। यह हृद् कौन है ? हृद का सप्तमी रूप है हृदि *'हरति आहरति संस्कारान् इति हृत् तस्मिन् हृदि'* हृद का मतलब — हरति, आहरति, जो बाहर के संस्कारों का आहरण करके भीतर ले आए। जहाँ आँख के द्वारा हमने रूप देखा, रूप का संस्कार जहाँ छिपा है। कान के द्वारा जहाँ शब्द सुना, कान के द्वारा सुने शब्दों का जहाँ संस्कार संचित हुआ; नाक के द्वारा सुगन्ध सूँघी, उस सुगन्ध का संस्कार जहाँ संचित हुआ; त्वचा के स्पर्श का संस्कार जहाँ संचित हुआ; रसना से खाया, स्वाद का संस्कार जहाँ संचित हुआ; मन से कल्पना की, संकल्प-विकल्प किया, बुद्धि से चिन्तन किया। मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार का यह जो अंतःकरण में चित्त है वह हृदि है, जो समस्त संस्कारों का आश्रय है, पोष्य है। मैं वही विष्णुकान्त शास्त्री हूँ जिसने १९४५ में प्रथम श्रेणी में मैट्रिकुलेशन की परीक्षा पास की थी, आज १९९९ में मुझको यह बात कैसे याद है, कहाँ है यह ? आप सबके मन में — अपने सारे अतीत अनुभवों को आप कहाँ संचित करके रखते हैं ? वह जो अंतःकरण है वही हृदि है। सबके हृद-प्रदेश

में मैं सम्यक् रूप से प्रविष्ट हूँ। असम्यक् रूप से नहीं, *'सन्निविष्टो'* पूर्ण रूप से, सम्यक् रूप से प्रभु उसमें निविष्ट हैं। हैं हमारे भीतर, हमारे अंतःकरण में। क्या केवल अंतःकरण में हैं ? हाथ में नहीं हैं ? नहीं! हाथ में भी हैं, नाक में भी, तो अंतःकरण की बात क्यों कही जाती है ? अंतःकरण में उनका अनुभव सबसे अधिक होता है। वह बात फिर दोहराऊँ कि सूर्य की रोशनी तो सब जगह पड़ती है लेकिन सूर्य की रोशनी सबसे ज्यादा चमकती है दर्पण में। वैसे ही परमात्मा तो सब जगह हैं, शरीर के अणु-अणु में हैं, कण-कण में हैं। शरीर का कौन-सा अणु ऐसा है जहाँ परमात्मा नहीं है ? परमात्मा तो शरीर के अणु-अणु में हैं लेकिन अनुभव कहाँ होता है— परमात्मा का? अन्तःकरण में। इसलिए *हृदि*। जहाँ हम परमात्मा का अनुभव समग्रता के साथ, सम्पूर्णता के साथ कर पाते हैं, वहीं वह परमात्मा जैसे सन्निविष्ट है। देखिए ! हमारी जितनी क्रियाएँ हैं—कौन कर रहा है ? राम जी कर रहे हैं। भोजन पचा रहा है कौन ? राम जी पचा रहे हैं। और हमने जो कुछ किया है उसकी याद, उसकी स्मृति किसकी कृपा से है ? *'मत्तः'* —मेरे ही कारण, समस्त प्राणियों की स्मृति है। याद रखें कि स्मृति शुद्ध होनी चाहिए। स्मृति में यह अनुभव होना चाहिए कि वास्तव में मैं कौन हूँ? जो मैंने अपने पिछले अनुभवों का कोष बना रखा है क्या केवल वही स्मृति है ? वह तो मेरे राग-द्वेष से दूषित स्मृति है। हमारे-आपके पिछले सारे अनुभव राग से युक्त हैं। किसी के प्रति आपने आसक्ति के साथ व्यवहार किया, किसी के प्रति आपने द्वेष से व्यवहार किया। आपने जो सारे राग-द्वेष के वशीभूत होकर व्यवहार किए उन्हीं का पुंज क्या वही वास्तविक स्मृति है ? नहीं-नहीं। आपकी और भी स्मृतियाँ हैं। आप कौन हैं? क्यों आए हैं यहाँ ? किसने भेजा है ? इसकी स्मृति होनी चाहिए। उपनिषद् में कहा गया है— *'आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः। सत्त्व शुद्धौ, ध्रुवास्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्व ग्रंथिनां पितृ मोक्षः ।'*

'आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः' — भगवान् शंकराचार्य आहार का वही अर्थ बतलाते हैं जिनसे सीख कर अभी मैंने आपको बताया। अपनी समस्त इन्द्रियों के द्वारा, अपने मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार के द्वारा जो कुछ हमने सोचा, खोया, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध के रूप में जो कुछ पाया, वह सब आहार है। आहार शुद्ध होना चाहिए। रामानुजाचार्य ने आहार शुद्धि के अन्तर्गत मूलतः भोजन पर बल दिया है। परन्तु शंकराचार्य जी ने समस्त इन्द्रियों के आहार को मन, बुद्धि के आहार को शुद्ध करने को कहा है। आहार जब शुद्ध होगा, हम अच्छी किताब पढ़ेंगे, अच्छी बात सोचेंगे, हम अच्छे लोगों के साथ रहेंगे तब हममें अच्छी भावना आएगी। गन्दी किताब पढ़ेंगे, गन्दे

लोगों के साथ रहेंगे, बस फिल्म देखेंगे तो कैसे अच्छी भावना आएगी ? *'आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः'* — जब आहार शुद्ध रहेगा, बाहर से जो कुछ हम ग्रहण कर रहे हैं, वह शुद्ध होगा तो हमारा चित्त शुद्ध होगा। *'सत्त्व'* माने चित्त।

'सत्त्व शुद्धौ ध्रुवास्मृति' — हम पढ़ते तो हैं पर याद नहीं रहता। क्यों याद नहीं रहता ? हमारी स्मृति दुर्बल क्यों है ? क्योंकि हमारा चित्त शुद्ध नहीं है। जिसका चित्त जितनी मात्रा में शुद्ध है, उसकी स्मृति उतनी मात्रा में दृढ़ है। योगी क्या करते हैं ? योगी अपने चित्त को शुद्ध करते हैं और शुद्ध करते-करते जन्मांतर की स्मृतियाँ जगा लेते हैं। हमको-आपको पूर्वजन्म की स्मृति होती है ? नहीं होती। जिनका चित्त जितना शुद्ध होगा, योग क्रिया द्वारा उनको पूर्वजन्म की स्मृति भी आ सकती है। वास्तविक स्वरूप की स्मृति यदि ध्रुव हो जाए, दृढ़ हो जाए— *'स्मृतिलम्भे सर्व ग्रंथिणां विप्र मोक्षः'* — जितनी गाँठें पड़ी हैं ये सारी की सारी गाँठें खुल जाएगीं अगर हमारी शुद्ध सत्त्व में स्थित स्मृति ध्रुव हो जाय। आखिर पूरी गीता सुनने का परिणाम अर्जुन के ऊपर क्या हुआ ?

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत । (१८/७३-१)

मेरा मोह नष्ट हो गया और मुझे अपने वास्तविक ज्ञान की, वास्तविक स्वरूप की स्मृति प्राप्त हो गयी है। तो यह स्मृति कौन देता है ? चाहे सीमित, चाहे दीर्घ, चाहे असीम — यह स्मृति प्रभु की कृपा से प्राप्त होती है। *'मत्तः स्मृतिर्ज्ञान'* — विषय और इन्द्रियों का जब संयोग होता है तब ज्ञान होता है। यह स्थूल जागतिक ज्ञान है। लेकिन इस ज्ञान को जितना गहरा आप कर सकते हैं कर लीजिए। व्यावहारिक ज्ञान, और पारमार्थिक ज्ञान— दोनों ज्ञान कौन देता है ? परमात्मा ही देते हैं। उस ज्ञान की उपलब्धि परमात्मा की कृपा से होती है और परमात्मा ज्ञान ही है। हमलोग इस बात पर बहुत दृढ़ हैं कि परमात्मा ने ज्ञान की रचना नहीं की, परमात्मा ने ज्ञान नहीं बनाया। मेरे गुरुजी बार-बार यह बात कहते थे कि अगर परमात्मा ने ज्ञान बनाया तो ज्ञान बनाने के पहले वह ज्ञानी था कि अज्ञानी था ? अगर वह ज्ञानी था तो ज्ञान था तभी तो वह ज्ञानी था। और अगर अज्ञानी था तो ज्ञान बना ही नहीं सकता। इसलिए हमलोग यह नहीं कहते कि परमात्मा ने ज्ञान बनाया या वह ज्ञान-निर्माता है। हमलोग कहते हैं परमात्मा ज्ञानस्वरूप हैं। सच्चिदानन्द - चित्त माने ज्ञान। चित् स्वरूप है। ज्ञानवत्ता से ज्ञान हमको प्राप्त होता है। चाहे वह व्यावहारिक ज्ञान हो, चाहे पारमार्थिक ज्ञान हो।

'अपोहनं' — अपोहन का सीधा अर्थ तो यह है कि ज्ञान का लोप हो जाना। विस्मृति। स्मृति और ज्ञान भी परमात्मा देता है और अपोहन भी परमात्मा देता है। विस्मरण भी परमात्मा ही कराता है। हमारे ज्ञान का लोप भी परमात्मा ही कर देता है।

भगवान् ने गीता में कहा है— *'सदसच्चाहमर्जुन'* (९/१९) — मैं सत् भी हूँ और असत् भी हूँ। तो अगर ज्ञान परमात्मा है तो अज्ञान भी परमात्मा ही है। इसलिए *'अपोहन'* — ज्ञान का लोप — इसमें क्या आपत्ति की बात है ? अगर *'सत्सच्चाहं अर्जुनः'* कह सकते हैं अर्थात् मैं सत् हूँ, असत् हूँ वैसे ही ज्ञान और अज्ञान तो एक व्यावहारिक सत्ता है। परमात्मा के अलावा अज्ञान कहाँ जाएगा ? मैं जीवन हूँ, मैं मृत्यु हूँ— ये दोनों बात परमात्मा ने कही है। तो ज्ञानी लोग तो मान लेते हैं कि अपोहन— यानी ज्ञान का लोप भी परमात्मा ही देता है। जोड़ देते हैं कि पापियों में ज्यादा होता है, लेकिन हममें-आपमें सबमें थोड़ा-थोड़ा पाप है भाई। इसलिए हमलोगों को कई बार कर्त्तव्य-कर्म का विस्मरण हो जाता है। रामानुजाचार्य ने कहा कि — नहीं! यह बात ठीक नहीं है, (भगवान्) को अज्ञान बताना भी ठीक नहीं है। तो क्या अर्थ होना चाहिए ? बोले ऊहन —ऊहन माने ? ऊह कहते हैं तर्क-वितर्क को। आपलोगों ने 'ऊहापोह' शब्द सुना होगा। 'ऊहन' माने हुआ—तर्क-वितर्क की शक्ति। तो रामानुजाचार्य कहते हैं कि यह तर्क शक्ति तुमको संशय में डाल सकती है। तुम पर कृपा करते हैं भगवान् तो अपोहन देते हैं। तुम्हारी ऊहन शक्ति को हटा देते हैं और श्रद्धा देते हैं। तर्क-वितर्क के कारण तुम सब चीज को काटते ही रहोगे। अनुभवजनित जो श्रद्धा है, वह तर्कातीत है और इसलिए 'अपोहन'। रामानुजाचार्य ने 'अपोहन' को कहा कि तर्क की शक्ति को स्थगित कर श्रद्धा देने की क्रिया भी, कृपा भी भगवान् ही करते हैं।

'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' — सारे वेदों के द्वारा मैं ही जानने-योग्य तत्त्व हूँ। जो लोग वेद पढ़ेंगे वे कहेंगे कि — वाह-वाह ! वेद में तो श्रीकृष्ण का उल्लेख ही नहीं है। वहाँ तो इन्द्र हैं, यम हैं, वहाँ तो वरुण हैं। तो कैसे वेद उसको कहते हैं ? कहते हैं। क्योंकि वेद क्या कह रहे हैं ? —

एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति / अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः

वही एक तत्त्व है जिस तत्त्व को कोई अग्नि, कोई यम, कोई मातरिश्वा, कोई वरुण, कोई इन्द्र कहता है। इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम, मातरिश्वा आदि जो समस्त वैदिक देव हैं, उन समस्त वैदिक देवों का जो मूल है, वह मैं हूँ। इसलिए सारे-के-सारे वेद मुझे ही बताते हैं। सारे वेदों का तात्पर्य मेरा ही विवेचन करने में, मेरा ही परिचय कराने में है। *'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो'* — वेदों का तात्पर्य और वेद का मतलब ज्ञान होता है तो सारे-के-सारे ज्ञान का तात्पर्य मेरा अनुभव करा देना है। मुझसे अतिरिक्त और कुछ जानने योग्य नहीं है, मुझसे अतिरिक्त जानने का जो भ्रम होता है वही माया का बन्धन है।

'वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्' — वेदान्त यानी वेद का अन्त। अन्त का एक मतलब होता है सिद्धांत। आपलोगों ने बातचीत की। दो पक्ष हो गए— एक पूर्व पक्ष, एक उत्तर पक्ष। दोनों में बहस हुई। बहस करने के बाद जो निष्कर्ष निकला उसको कहते हैं सिद्धांत। वहाँ भी अंत शब्द है। तो वाद-विवाद का निष्कर्ष है सिद्धांत। तो वेदान्त का मतलब हुआ कि वेद के सारे निरूपण के बाद जो वास्तविक सिद्धांत है, वह वेदान्त है। उसके कर्ता के रूप में भी मैं ही हूँ। वेद का सारा ज्ञान मेरे ही द्वारा प्रकट किया गया है। वेद के सारे सिद्धांतों का निरूपण करनेवाला भी मैं हूँ। कुछ लोगों ने यह भी बताया कि वेदान्त के अर्थ के आधार पर चलने वाले अनेक संप्रदाय हैं। जैसे महर्षि वेदव्यास आदि ने जो संप्रदाय चलाया। महर्षि वेदव्यास के रूप में मैं ही उन संप्रदायों का प्रवर्तक हूँ। जैसे मैं सूर्य हूँ, चन्द्रमा हूँ, अग्नि हूँ। जैसे मैं पृथ्वी को धारण करता हूँ वैसे ही वेद रहस्य को, वेद के मर्म को समझाने वाले आचार्यों के रूप में भी मैं ही हूँ। एक अर्थ यह और यह भी कि सारे वेदों का निरूपण मेरी ही कृपा से कर पाना या समझ पाना संभव होता है। *'वेदविदेव चाहम्'* — वेद का सच्चा ज्ञाता, वेद-वेत्ता भी मैं ही हूँ। भगवान् के अतिरिक्त और भगवान् को कौन जानने वाला है ? वेद के द्वारा, ज्ञान के द्वारा भगवान् को जानने की हम-आप अधूरी चेष्टा करेंगे। जब तक अपना अलग-पृथक् अहं पोषित करते रहेंगे तो हम सीमित ही जान पाएँगे। भगवान् ही अपने को पूरी तरह जानते हैं। इसलिए वेद के अर्थ को, वेद के महत्त्व को भी वे ही जानते हैं। वे ही वेद-वेद्य हैं, वेद के द्वारा जानने योग्य हैं, वे ही वेद के रहस्य का निरूपण करने वाले हैं और वे ही वेद के महत्त्व को, वेद के तत्त्व को जानने वाले हैं।

बारह, तेरह, चौदह और पंद्रह— इन चारों श्लोकों में परमात्मा अपनी विभूतियों का निरूपण करते हैं। अपनी विभूतियों का निरूपण करने के बाद परमात्मा अपने वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करते हैं। वास्तविक रूप का उद्घाटन बड़ा कठिन है, समझ में आना भी बहुत मुश्किल है। इसलिए उस कठिन विषय को समझाने के पहले उसकी विभूतियों के द्वारा उसके महत्त्व को, उसके गौरव को, उसकी गरिमा को समझाने का संकेत किया गया, जिससे हमारे-आपके चित्त में श्रद्धा दृढ़ हो; जिससे हमारे-आपके चित्त में उसके वास्तविक स्वरूप को समझने का आग्रह बढ़े और उसके वास्तविक स्वरूप का जब उद्घाटन हो तो उसको धारण करने की पात्रता आए। इन चारों श्लोकों में भगवान् की विविध आधारभूत विभूतियों के निरूपण के द्वारा परमात्मा १६वें श्लोक में अपने वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन करने का उपक्रम कर रहे हैं और सत्रहवें श्लोक में उसका उद्घाटन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। (१५/१६)

अर्थात् इस लोक में दो तरह के पुरुष होते हैं, एक क्षर यानी नाशवान दृश्य जगत् और दूसरा अक्षर यानी अविनाशी अव्यय प्रकृति या आत्मा। सारी सृष्टि बदल रही है। सारी सृष्टि जैसी है वैसी रहती नहीं। मकान बनते हैं, मकान टूट जाते हैं। नदियों की धारा भी बदल जाती है। बच्चे बड़े होते हैं, बड़े बूढ़े होते हैं, श्रीराम-नाम-सत्य हो जाते हैं। जो चीज बन रही है, वह बिगड़ भी रही है, बदल रही है, निरन्तर परिवर्तमान सत्ता का हम सब अनुभव करते हैं और इस निरन्तर परिवर्तमान सत्ता में भी कुछ अपरिवर्तनीय है— इसका भी अनुभव करते हैं। यानी अपने ही उदाहरण से आप समझिए। यह जो आपको लग रहा है कि आपका शरीर बराबर बदल रहा है— - जन्म से लेकर अब तक कितने रूप में आपने-अपनी तस्वीरें देखी हैं। लगेगा कि आपका रूप निरन्तर बदल रहा है, लेकिन उस बदलते हुए रूप में भी आप अपनी सत्ता को बिना बदला हुआ पाते हैं। इस बदलते हुए रूप में भी कोई सत्ता है जो बदली नहीं है। जो सत्ता अपने उन समस्त रूपों को मैं के द्वारा व्यंजित करती है। ये दोनों अनुभव हैं। परिवर्तमान सृष्टि का एक व्यावहारिक अनुभव है। इस परिवर्तमान के भीतर कुछ एक अपरिवर्तनीय तत्त्व भी है जो कभी मरता नहीं।

हमारे गुरु जी इस बात पर बहुत आग्रह करते थे। वे कहते थे कि देखो— तुमलोग कहते हो कि बिना अनुभव के, बिना बहस के यह बात नहीं मानेंगे। अच्छा ! छाती ठोंक कर बताओ किसी को अपनी मृत्यु का अनुभव है ? अगर मृत्यु का अनुभव हो रहा है तो अनुभव किसको हो रहा है ? तुम जीवित हो तब न अनुभव हो रहा है ? तुमने क्या देखा है ? तुमने किसी को मरते हुए देखा है । तुमने एक शरीर को निश्चेष्ट होते हुए देखा है। तुम वह शरीर ही हो ? हमारे गुरुजी कहते थे कि इस दुनिया में एक भी ऐसा माई का लाल पैदा नहीं हुआ है जिसको अपनी मृत्यु का अनुभव हो। मृत्यु और जन्म— हमारे अनुभव-क्षेत्र के परे की बात है। किसी को अपने जन्म का अनुभव नहीं होता, किसी को अपनी मृत्यु का अनुभव नहीं होता। एक प्रवाह में हमलोगों को यह शरीर मिलता है; शरीर छूट जाता है, बदल जाता है। हम कहाँ बदल जाते हैं ? इस निरन्तर बदलते हुए जगत में भी कुछ न बदलने वाली सत्ता है। इस न बदलने वाली सत्ता का भी अनुभव होता है।

धरा को सुभाव यहै तुलसी, जो फरा सो झरा, जो जरा सो बुताना।

ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई फले और फिर वह गिरे नहीं। और फिर वह

सड़े नहीं। ऐसा कभी नहीं होगा कि कोई जले और फिर वह बुझे नहीं। यह धरा का स्वभाव है। जो भी पैदा हुआ है, वह नष्ट हो जाएगा। एक अक्षर है जो कूटस्थ है। इस श्लोक पर सब आचार्यों के अर्थ अलग-अलग हैं। एक ही शब्द है लेकिन उस शब्द की व्याख्या अलग-अलग है। गीता में ऐसे श्लोक कम हैं जिनकी इतनी व्याख्या की गई हो। अद्वैत वेदान्ती और शांकर भाष्य के अनुसार यह है कि *'क्षरः सर्वाणि भूतानि'*— जो कुछ पैदा हो रहा है यह क्षर है, यह विनाशवान् है। यह कार्योपाधि ब्रह्म है। इस बात को समझिए! उपाधि वह होती है जो हममें होती नहीं है, जो निकट रख देने के कारण हममें झलक जाती है। जैसे अगर आपने कभी शीशे के पीछे जवा का फूल रख दिया हो तो उसकी लालिमा शीशे में आ जाती है। शीशे में कोई रंग नहीं है। वह जो लालिमा है वह फूल की है। यह निकटता के कारण उपाधि आती है। जैसे लोहे का काला गोला है। उसको आपने आग में तपा दिया तो उसमें दाहकता भी आ गई और उसमें ज्योति आ गई। यह लोहे के गोले का गुण नहीं है। यह उपाधि है। अग्नि की सन्निधि के कारण आई हुई उपाधि है। तो कार्योपाधि जो इस सृष्टि में कार्य के रूप में बदल गई है ब्रह्म की सत्ता, वह तो है क्षर और इस कार्योपाधि का जो बीज है, वह माया है कारणोपाधि।

शंकर यह मानते हैं कि अविद्या मलिन सत्त्वादि से युक्त होती है और जो माया है वह शुद्ध सत्त्वादि है। जीव अविद्याग्रस्त होता है। इसलिए अविद्या-ग्रस्त जीव अपने को नाम-रूप में आबद्ध पा लेता है, वह अपने को जन्मने-मरने वाला मान लेता है और वह इस सारी सृष्टि में फँस जाता है। यह जो कार्योपाधि स्थिति है, कार्य में बदला हुआ रूप है— यह क्षर है। यह सारी पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, इनके सारे व्यवहार, ये जड़-जंगम पदार्थ जो कार्य के रूप में रूपांतरित हैं— ये हैं क्षर। ये सब-के-सब नाशवान हैं। यह जो कार्य के रूप में बदल जाने वाली माया है शुद्ध सत्व, ब्रह्म की उपाधि होकर ब्रह्म को ईश्वर बनाती है। याद रखें कि ब्रह्म की उपाधि जब माया बनती है तो जो निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म है जब वह सगुण होकर सक्रिय होता है तो वह ईश्वर हो जाता है। तो यह जो अक्षर है, कूटस्थ है वह कारणोपाधि सत्ता है।

कूटस्थ किसको कहते हैं ? कूट के बहुत से अर्थ हैं, उसमें से एक अर्थ तो है माया, जो मिथ्या है। यह जो सारी मिथ्या सृष्टि में भीतर निहित है वह है कूटस्थ। सारी चीज बदलती हुई और उसमें जो न बदलने वाला—वह है कूटस्थ। माया के पर्दे के भीतर जो है— वह है कूटस्थ। एक कूट का अर्थ होता है— लोहे की निहाई। आपने कभी किसी लोहार या सुनार को लोहा पीटते या आभूषण बनाते देखा है। जो लोहे की निहाई होती है उसको लोहार पीटता रहता है। लोहे के जितने आकार नाम रूप होते हैं

वह लोहे से बनते हैं— निहाई ज्यों-की-त्यों रहती है। तो जिसकी सत्ता के कारण सारे नाम रूप बनते हैं उसको कहते हैं कूटस्थ। कूट यानी निहाई जिसके ऊपर नाम रूप बदलने वाला सोना या लोहा नया-नया आकार पाता है लेकिन वह नहीं बदलता। इसी तरह कूट के और-और अर्थ होते हैं। पर्वत की चोटी को भी कूट कहते हैं। सर्दी पड़े, गर्मी आए, बरसात हो, पतझर हो, बसन्त आए पर्वत ज्यों-का-त्यों रहता है। कूट का एक और अर्थ होता है मूल पुरुष। जो सबका मूल है। मुख्य बात क्या बता रहे हैं ? बदलते हुए में जो न बदलने वाला प्रतीत होता है वह है कूटस्थ। तो वे सारी वस्तुएँ, सारे प्राणी जो पैदा हुए हैं, मरेंगे, क्षर हैं, यह कार्योपाधि है। यह अविद्या की उपाधि से ग्रस्त रचना है और जो कारणोपाधि, शुद्ध सत्त्व से बनी हुई माया असंख्य-असंख्य अनन्त ब्रह्मांडों का बीज जिसमें है वह अक्षर है, वह कूटस्थ है। तो कार्योपाधि और कारणोपाधि— यह शंकराचार्य जी ने बताया। उन्होंने कहा कि क्षर और अक्षर दोनों को एक दूसरे के संदर्भ में समझिए। हम सब किसी के पुत्र हैं ही। हमारा पिता नहीं होता तो हम भी नहीं होते। लेकिन जिसका पुत्र नहीं हुआ है उसको क्या पिता कह सकते हैं? या जिसके बेटा-बेटी नहीं है उसको क्या माँ कह सकते हैं ? तो पिता या माता होना पुत्र या पुत्री के होने पर निर्भर है। आपका कोई भाई है तो आप भाई हैं। आपका कोई पति है तो आप पत्नी हैं। यानी संदर्भ में किसी की अपेक्षा से आप पति या पत्नी या पिता या भाई हैं। क्षर की अपेक्षा से कोई अक्षर है और अक्षर की अपेक्षा से कोई क्षर है। जैसे हमारे संदर्भ होने में किसी की अपेक्षा से कोई पिता बनता है, पुत्र या पुत्री की अपेक्षा से, भाई की अपेक्षा से कोई भाई हुआ, उसी तरह क्षर की अपेक्षा से कोई अक्षर हुआ। जब तक क्षर है, तब तक अक्षर है। यह शंकराचार्य जी ने बताया। कार्योपाधि और कारणोपाधि— अविद्या और माया की उपाधि से ब्रह्म के जो दो रूप झलकते हैं— वे क्षर और अक्षर हैं। सातवें श्लोक का व्याख्यान करते हुए भी मैंने आपको बताया था तथा शांकर और रामानुज के अर्थ के भेद को समझाया था।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । (१५/७/१)

शंकराचार्य *अंश-इव* अंश की तरह — यह अर्थ करते हैं। मैंने बताया— घटाकाश, मठाकाश। घड़ा फोड़ दो, दीवार तोड़ दो तो महाकाश एक हो जायेंगे। यह शांकर भाष्य का अर्थ है। रामानुजाचार्य की दृष्टि है कि असंख्य जीव हैं और भगवान् ने इसमें 'सनातन' कह दिया *'जीवभूतः सनातनः'* यानी एक बार जो जीव रहता है तो वह जीव ही रहता है तो वे जो असंख्य जीव हैं इनमें दो का प्रतिनिधित्व वे मानते हैं। एक वह जीव क्षर है जो प्रकृति के साथ जुड़ कर अपने को जन्मने-मरने वाला मानता

है। इसमें बताया है कि जीव कैसे भगवान् का सनातन अंश होते हुए अपने को अलग मान लेता है।

'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति । (१५/७/२)

पाँच इन्द्रिय और छठा मन— इन सबों के द्वारा जब वह प्रकृति के सुख का आस्वाद लेने लगता है और प्रकृतिस्थ हो जाता है तब वह अपने को ईश्वरत्व से अलग कर लेता है। तो यह जो *'क्षरः सर्वाणि भूतानि'* है यह अज्ञानी जीव है जो क्षर प्रकृति में अपने को समाहित किए हुए है और *'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'* वह ज्ञानी जीव है। दूसरा कूट में, माया में रहने वाला 'अक्षर जीव' जो अपने को जन्मने-मरने वाला नहीं मानता, जो अपने को परमात्मा का अंश मानता है, जो अपने को परमात्मा का सेवक मानता है, जो जन्म-मरण के परे चला गया है लेकिन जो परमात्मा के बैकुंठ-धाम में रह कर उनकी सेवा करता रहता है। यह दूसरा अर्थ रामानुजाचार्य का है। तीसरा अर्थ श्रीधर स्वामी का है। वे कहते हैं कि *'क्षरः सर्वाणि भूतानि'* — यह प्रकृति है। और *'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'* — यह जीव है। उन्होंने बताया कि सातवें अध्याय में जिसको 'अपरा प्रकृति' और 'परा प्रकृति' कहा गया है। अपरा प्रकृति यानी जड़ जगत और परा प्रकृति यानी जीव। और भी अर्थ बताए गए हैं लेकिन संक्षेप में ये तीन ही काफी हैं। मध्वाचार्य जी ने कहा *'कूटस्थोऽक्षर'* — यह भगवती लक्ष्मी हैं। यह जीव साधारण जीव है। लेकिन मोटे तौर पर आप यह देखिए कि क्षर की अपेक्षा से कोई अक्षर है— एक बात। शंकराचार्य जी कहते हैं कि जो कार्य के रूप में परिवर्तित होकर अपने को जन्मने-मरने वाला मानता है वह अविद्या की उपाधि से कार्य रूप में परिवर्तित क्षर है और कारण की उपाधि से युक्त ईश्वर—यह अक्षर है। रामानुज कहते हैं कि अज्ञानी जीव क्षर है और ज्ञानी जीव अक्षर है। श्रीधर स्वामी कहते हैं प्रकृति क्षर है और जीवात्मा अक्षर है। अब इन अलग-अलग दृष्टियों में जो आपको रुचे वह ले लें। क्योंकि किसी एक दृष्टि का खंडन या मंडन मेरा कार्य नहीं है। मैं तो आपको समझाना चाहता हूँ कि किन अलग-अलग दृष्टियों से इसके अर्थ किए गए हैं। तो क्षर या अक्षर ये अनुभव के विषय हैं। यह *'इमौ'* अर्थात् दृश्य है। तो दृश्य का द्रष्टा कौन है ? तो क्षर और अक्षर से अलग एक तीसरी सत्ता—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।। (१५/१७)

यह क्षर और अक्षर दोनों से अलग अन्य उत्तम पुरुष, यह तो परमात्मा के द्वारा, परमात्मा के शब्द के द्वारा *'उदाहृत'* या संबोधित होता है। क्षर भी नहीं है और

अक्षर भी नहीं है। क्षर और अक्षर के परे है। अक्षर नहीं है तो क्या नाशवान है ? नहीं-नहीं। अक्षर शब्द तो क्षर की अपेक्षा से है। अभी मैंने बताया। जब क्षर और अक्षर दोनों की कोई अपेक्षा न रह जाए तो वह पुरुषोत्तम है। वह उत्तम पुरुष है। वह परमात्मा है। सबकी आत्मा है। आत्मा की भी आत्मा है, प्रत्यगात्मा के रूप में है। अपने को शुद्ध करते जाओ। मैं वह शरीर नहीं हूँ। इन्द्रियाँ हो? नहीं। मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार हो ? नहीं। मैं मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार भी नहीं हूँ। तो मैं क्या हूँ ? मैं वह आत्मा हूँ। आत्मा को भी जो, आत्मा बनाने वाला परमात्मा है वह क्षर और अक्षर से परे है, अलग है। वह क्या करता है ?—

यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।

वह तीनों लोकों में प्रवेश (आविश्य) करके उनको धारण करता है, उनका पोषण करता है। अब इसमें लोकत्रय के ऊपर भी बहुत बहस है। सीधा अर्थ है तीनों लोक माने पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग। तीनों लोक यानी जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। तीनों लोक यानी वेत्ता, वेद्य और वेदवन। त्रिपुटी यानी ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय। इन तीनों लोकों के बहुत से अर्थ बताए गए हैं। जो भी अर्थ आपको स्वीकार हो। इसका अर्थ हुआ कि समष्टि सारी सृष्टि को, चाहे तीनों लोकों को; चाहे स्वप्न, जाग्रत, सुषुप्ति को; चाहे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी को— ये परमात्मा ही उसका धारण और पोषण करते हैं। *'बिभर्ति'* माने ? जो धारण और पोषण दोनों करे। वह उत्तम पुरुष कौन है ? व्याकरण में उत्तम पुरुष किसको कहते हैं ? मैं, हम— ये उत्तम पुरुष हैं। जो सामने है 'तुम' वह मध्यम पुरुष है। जो दूर है 'वह' अन्य पुरुष है। तो उत्तम पुरुष क्यों कहा गया? आगे आयेगा *'लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम'* (१५/१८/२)। लोक, वेद में प्रसिद्ध है इसलिए पुरुषोत्तम कहा। *'स उत्तमः पुरुषः'* — यह उपनिषद् में कहा गया। *'अंशावतारः पुरुषोत्तमस्य'* — यह विष्णुपुराण में आया है। पुरुषोत्तम के अंशावतार होते हैं। रघुवंश में *'हरेः पुरुषोत्तम गीयते'* ऐसा कहा गया है कि हरि को ही पुरुषोत्तम कहा जाता है। चूँकि कहना है पुरुषोत्तम — इसलिए यहाँ पर दोनों को पुरुष कहा। क्षर और अक्षर। 'उत्' कौन है ? क्षर पुरुष। उत्तर कौन है ? अक्षर पुरुष। और उत्तम कौन है ? पुरुषोत्तम। जो क्षर और अक्षर दोनों से अलग है। वह परमात्मा है। वह परम आत्मा है। पंच कोशों में ज्ञात होने वाली आत्मा नहीं, बद्ध आत्मा नहीं। सब आत्माओं की जो आत्मा है वह परमात्मा है। वह उत्तम पुरुष है। वह तीनों लोकों को, हमारी त्रिपुटी को, वह हमारे जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति को, वह हमारे ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय भाव को धारण करने वाला है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।। (१५/१८)

यस्मात्क्षरमतीतोऽहम् —अर्थात् मैं क्षर से अतीत हूँ। माने क्षर से परे हूँ। जो क्षर का गुण है, वह मेरा गुण नहीं है। क्षर का गुण क्या है ? वह जन्मता है और मर जाता है। पैदा होकर मरने वाले क्षर हैं। मैं क्षर के परे हूँ। क्षर के गुणों का मुझ पर आरोप मत कर देना। *'अक्षरादपि चोत्तमः'* — अक्षर से भी उत्तम हूँ। यानी गुण तो समान हैं लेकिन आधारभूत रूप से समता होते हुए भी जो अक्षर पुरुष है वह अपने को प्रकृति में बाँध लेता है, वह जीव आबद्ध हो जाता है। शांकर-भाष्य का ईश्वर भी माया से आबद्ध हो जाता है। इसलिए जो शुद्ध ब्रह्म है, निरुपाधिक ब्रह्म है, वह अक्षर से उत्तम है। क्षर ब्रह्म और अक्षर ब्रह्म दोनों सोपाधिक हैं। एक अविद्या की उपाधि से ग्रस्त है, एक माया की उपाधि से ग्रस्त है।

पुरुषोत्तम ब्रह्म निरुपाधिक है। वह उसका सहज रूप है। वह किसी व्यवहार में नहीं आता। वह सारी सृष्टि के रूप में अपने को प्रतिफलित करके अपने को क्षर अक्षर नहीं बनाता लेकिन अपनी सत्ता मात्र से सबको स्फूर्त्ति देता है, सबको धारण करता है। वह जो बीजभूत कारण बनता है, वह मायोपाधिक ईश्वर रूप है; वह जो सारी सृष्टि बनता है, वह अविद्योपाधिक क्षर रूप है लेकिन जो पुरुषोत्तम रूप है वह क्षर से अलग है, भिन्न है और वह अक्षर से उत्तम है। इसलिए लोक और वेद में पुरुषोत्तम के रूप से वह प्रसिद्ध है।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।

मैंने जो अर्थ बताया यह शांकर-भाष्य का है। वे कहते हैं कि निरुपाधिक ब्रह्म और वह ब्रह्म मैं ही हूँ। क्यों उत्तम पुरुष शब्द लिया गया है ? उत्तम पुरुष का अर्थ होता है अहं और वह उत्तम पुरुष जो क्षर और अक्षर से अलग है— वह मैं ही हूँ। इस रूप में उसको जान लेना उसको ठीक-ठीक से जानना हुआ— यह शांकर भाष्य का अर्थ है। रामानुज आदि कहते हैं कि वह जो ज्ञानी पुरुष है वह परमात्मा को पुरुषोत्तम मान कर सेव्य मानता है। अब देखिए कि तीन चीजें हो गईं। बहुत ही आनन्ददायी बात है— इस पर ध्यान दीजिए। एक है क्षर, एक है अक्षर और एक है पुरुषोत्तम। भक्त लोग कहते हैं कि यह जो अक्षर है— यह है सेवक और जो पुरुषोत्तम है— वह है सेव्य और जो क्षर है यह है सेवा-सामग्री। हम भगवान् की सेवा करेंगे तो सेवा-सामग्री चाहिए। सेवा-सामग्री नित्य नूतन होती रहेगी— यह गुण की बात है, यह दोष की बात नहीं है। जो प्रकृति नित्य-नूतन रूप धारण करती रहती है, परिवर्तित होती रहती है—

यह तो अच्छी बात है। भगवान् को हम रोज नए-नए फूल चढ़ाएँ, भगवान् को हम रोज नए-नए फल अर्पित करें, भगवान् को हम रोज नए-नए परिधान दें तो यह जो सारा क्षर-जगत् है क्षर पुरुष— यह सेवा-सामग्री है, अक्षर पुरुष है सेवक और पुरुषोत्तम है सेव्य। तो पुरुषोत्तम सेव्य है, उस सेव्य को अक्षर पुरुष सेवक रूप में सेवा की सामग्री से, और वह जो ज्ञानी पुरुष है उस पूजा की सामग्री से भगवान् की पूजा करता रहता है—यह भक्तों का लक्षण है।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।। (१५/१९)

असम्मूढः — यानी जो मोहित न हो। असम्मूढ और अमूढ—दोनों शब्दों को देखिए ! एक शब्द है। पांचवें श्लोक में कहा गया है— *'गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्'।* यहाँ 'अमूढ' कहा है, अमूढ के लक्षण बताए हैं। जिसमें मान और मोह नहीं है। जिसने आसक्ति दोष को जीत लिया है। जो अध्यात्म-सर्वस्व है। जिसने कामनाओं का त्याग कर दिया है। जो सुख-दुःख के द्वन्द्व से ऊपर उठ गया है। अमूढ है। यहाँ असम्मूढ भी उसी को कहा गया है, वह तो असम्मूढ व्यक्ति, विद्वान् पुरुष, जो ज्ञानी पुरुष इस प्रकार मेरे पुरुषोत्तम रूप को जान लेता है। *'एव'* किस प्रकार जान लेता है ? क्षर और अक्षर के परे पुरुषोत्तम के रूप में जान लेता है। अपने को ही पुरुषोत्तम के रूप में जान लेता है—शांकर मत के अनुसार। अपने को सेवक के रूप में और मुझको सेव्य के रूप में जान लेता है — रामानुज के अनुसार। इस प्रकार जो मुझको 'पुरुषोत्तम' जान लेता है वह सर्ववेत्ता हो जाता है। उपनिषदों की एक प्रतिज्ञा है कि एक ऐसा तत्त्व है, जिस तत्त्व को जान लेने से सबका ज्ञान हो जाता है ? कैसे हो जाता है एक के ज्ञान से सबका ज्ञान? आपने कभी सोचा है कि किसी भी विषय का ज्ञान कैसे होता है ? चैतन्य से होता है। आप अचेतन होकर किसी का ज्ञान करेंगे तो गलत ज्ञान होगा, भ्रांत ज्ञान होगा। ज्ञान बराबर चेतना से, चैतन्य से होता है। और चैतन्य-स्वरूप परमात्मा है। तो जो कुछ ज्ञान होगा, वह चैतन्य से होगा। चैतन्य स्वरूप परमात्मा को जानिए तो सब को जान लेंगे। यह शांकर भाष्य है कि जिसके ज्ञान से जान लिया जाता है, सबका ज्ञान हो जाता है क्योंकि किसी भी बात की जानकारी चेतना के द्वारा होती है। वह चैतन्य-स्वरूप है। इसलिए चैतन्य को जान लेने से चैतन्य के द्वारा जो कुछ जाना जा सकता है, सब जानिए। रामानुज कहते हैं कि यह क्या बात हुई ? इस संसार में कितने कीड़े हैं क्या इसको जानना जरूरी है ? कितने कीड़े-मकोड़े हैं—यह जानकर हम क्या करेंगे।

'स सर्वविद्भजति' — मतलब मुझको जानने के लिए जितना जानना है,

मुझको जिस रूप में जान लिया उसने सेव्य के रूप में, शरण्य के रूप में जान लिया। तो मैं ही एक मात्र शरण्य हूँ—इसका ज्ञान हो गया, वह शरणागत है—इसका ज्ञान हो गया, शरणागत के रूप में वह कैसे मेरी भक्ति करे—इसका ज्ञान हो गया। इस संबंध में जो कुछ जानना है वह सब जान गया। यहाँ रामानुज के अर्थ में 'सर्वविद्' का मतलब हुआ—शरणागत के रूप में अपने को और शरण्य के रूप में परमात्मा को जान लेने पर शरणागति के संबंध में जो कुछ जानना है वह सब कुछ जान लेता है। शंकराचार्य कहते हैं वह सब जान लेता है—सर्वज्ञ हो जाता है। वह पुरुषोत्तम हो जाएगा तो सर्वज्ञ हो जाएगा क्योंकि पुरुषोत्तम सर्वज्ञ हैं।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।

यह दूसरी बड़ी बात है कि वह एक तो सर्ववेत्ता हो जाता है चाहे शंकर के अर्थ में, चाहे रामानुज के अर्थ में और वह सर्व-भावों से मुझको भजता है। *'भारत'* यानी प्रतिभा में जो रत है। *'सर्वभावेन'* अर्थात् सब भावों से भजना। यानी जितनी सत्ता है। *'भाव'* का मतलब सत्ता, अस्तित्त्व। सारी सृष्टि में परमात्मा ही परमात्मा हैं। उसको *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* का साक्षात् अनुभव हो जाता है। केवल तात्त्विक स्तर पर नहीं अनुभव के स्तर पर। केवल बुद्धि के स्तर पर नहीं, वह अनुभव करता है कि यह सब कुछ परमात्मा ही है। *'वासुदेव सर्वमिति'* इसका वह अनुभव कर लेता है। भक्त लोग कहते हैं कि नहीं-नहीं! जितने भाव हो सकते हैं—सब भावों से मुझको भजता है। कैसे?

माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः, स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः।
सर्वस्वं मे रामचंद्रोदयालुर्नान्यंजाने नैव जाने न जाने।। (रामरक्षास्तोत्रम्)

जितने भाव हैं सब भावों से राम को भज रहे हैं। माँ के रूप में राम, पिता के रूप में राम, पुत्र के रूप में राम और सर्वस्व के रूप में राम। *'सर्वभावेन भजति'* मनुष्य की जितनी सत्ताएँ हैं, जितने भाव हो सकते हैं, जितने संबंध हो सकते हैं, उन समस्त भावों से, उन समस्त संबंधों से वह मेरा भजन करता है। रामानुज का अर्थ, भक्तों का अर्थ। तो इस प्रकार से जो पुरुषोत्तम तत्त्व को जान ले और पुरुषोत्तम स्वयं हो जाए तो सर्ववेत्ता हो जाता है, सारी सृष्टि को पुरुषोत्तम का ही रूप मान लेता है या पुरुषोत्तम को शरण्य मान कर उस परमात्मा को सब भावों से भजता है— यह बात रामानुज या भक्तों की बताई गई। अन्त में—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।। (१५/२०)

पन्द्रहवें अध्याय के इस अन्तिम श्लोक में श्री भगवान् ने इस अध्याय के विषय का परिचय देते हुए एक अपूर्व बात, विशिष्ट बात कही है—

'इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ'

अर्थात् हे निष्पाप अर्जुन ! मैंने तुम्हें यह 'गुह्यतम शास्त्र' सुनाया है। गीता में 'गुह्यतम' शब्द केवल दो बार अन्यत्र प्रयोग हुआ है। पहली बार नौवें अध्याय के प्रथम श्लोक— *'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे'* (९/१/१) राज विद्या समर्पण योग में एवं अन्तिम बार अठारहवें अध्याय के चौसठवें श्लोक में *'सर्वगुह्यतमं भूयः श्रृणु मे परमं वचः'* (१८/६४/१)।

किन्तु इस अध्याय में इसे *'गुह्यतमशास्त्र'* कहा है यानी इस अध्याय को ही शास्त्र कह रहे हैं अर्थात् यह अध्याय ही स्वयंसम्पूर्ण है एवं समस्त गीता शास्त्र का सार इसमें आ गया है। ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों का इसमें समाहार हो गया है। गीता का जो मुख्य विषय है उसका सार निर्यास इस बीस श्लोक वाले छोटे से अध्याय में विद्यमान है यानी यह अध्याय ही एक शास्त्र है।

'इति' शब्द समाप्तिज्ञापक होता है। किसी भी अन्य अध्याय की समाप्ति पर इस प्रकार 'इति' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, केवल अठारहवें अध्याय में जब यह ग्रन्थ समाप्ति की ओर है वहाँ 'इति' शब्द का प्रयोग आया है—

'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया'। (१८/६३/१)

किन्तु पन्द्रहवें अध्याय के अन्तिम श्लोक में 'इति' लगाकर *'गुह्यतमं शास्त्रमिदं'* कहने का अर्थ है कि वे इस एक अध्याय को ही शास्त्र के समान महत्त्व दे रहे हैं। इसे शास्त्र कह रहे हैं।

शास्त्र किसी विषय का निरूपण करता है शंसन के द्वारा या शासन के द्वारा। किसी की प्रशंसा करके या निर्देश देकर, आज्ञा देकर। दोनों बातें हैं। परमात्मा की प्रशंसा की गई कि किस तरह वे विभूति के रूप में सारी सृष्टि में ओत-प्रोत रूप से समाये हुए हैं और उसका संचालन कर रहे हैं। उसी को जानना, उसी की शरण में जाना— यह निर्देश दिया गया है। तो इसलिए शास्त्र है। शंसन भी है और शासन भी है और यह गुह्यतम है। ज्ञान की दृष्टि से मैं ही ब्रह्म, मैं ही पुरुषोत्तम हूँ या मैं ही शरणागत होकर सारी सृष्टि रूपी परमात्मा की शरण में हूँ— इस तरह से केवल बौद्धिक स्तर पर जानना नहीं, अनुभव के स्तर पर जान लेना। *'एतद्बुद्ध्वा'* — माने जान कर, किस स्तर पर जानकर ? अनुभव के स्तर पर जान कर, शब्द के स्तर पर तो हम जान गए। बाबा तुलसीदास ने कहा—

माधव असि तुम्हारि यह माया ।
करि उपाय पचि मरिय, तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया ।।
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै ।

(विनय पत्रिका-पद ११६)

कहिए, सुनिए, समझिए, समझाइए— लेकिन जब तक तुम्हारी दया नहीं होगी तब तक हम इसको पार नहीं कर सकते। अनुभव का विषय नहीं होता केवल शब्दार्थ का ज्ञान होता है। शब्द का बौद्धिक ज्ञान नहीं, अनुभव के स्तर पर जान लेने के बाद वह *'बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत'* बुद्धिमान कृतकृत्य हो जाता है। वह बुद्धिमान हो जाता है। उसको और ज्ञान प्राप्त करना शेष नहीं रहता। कृतकृत्य हो जाता है। सफलकाम हो जाता है। उसने सब कर लिया, कुछ उसको पाना बाकी नहीं है, उसके लिए कुछ करना शेष नहीं है। उसका सारा-का-सारा जीवन सार्थक हो जाता है, चरितार्थ हो जाता है क्योंकि उसने परमात्मा को अपने ही रूप में, पुरुषोत्तम के रूप में प्राप्त कर लिया या पुरुषोत्तम को परमात्मा के रूप में, परम शरण्य के रूप में जान कर वह उसकी शरण में चला गया और इस सारी सृष्टि-सामग्री से वह उसकी सेवा कर रहा है। अपने को नियम्य, अपने को शरणागत मान कर उस परम शरण्य की सेवा करने का उसको अनुभव के स्तर पर बोध हो गया। सारी सृष्टि उसके लिए पूजा की सामग्री हो गयी। इस प्रकार अनुभव के स्तर पर ज्ञान प्राप्त कर लेना मनुष्य-जीवन की चरितार्थता है, सार्थकता है। ज्ञान की दृष्टि से भी, चाहे अपने को ही पुरुषोत्तम मान लो, चाहे अपने को उसका अनन्य सेवक मान लो— इन दृष्टियों से हमारे आपके जीवन की चरितार्थता हो जाती है। पन्द्रहवें अध्याय में इसी का निरूपण किया गया है। इसका नाम है *'पुरुषोत्तम-योग'*। 'पुरुषोत्तम' से मिला देने वाला अध्याय। योग का मतलब संयोग। जो अध्याय पुरुषोत्तम से हमारा आपका संयोग करा दे वह *'गुह्यतम शास्त्र'* इस अध्याय में है। कुछ लोग गीता का सबसे पूज्य एवं महत्त्वपूर्ण अध्याय पन्द्रहवें अध्याय को ही मानते हैं। ●

दैवी सम्पदा

भगवान् की कृपा है कि प्रवचन का क्रम अबाध चल रहा है। आज का विषय साधकों के लिए बहुत उपयोगी है। हम सब क्यों सुनने आते हैं। ऐसा तो नहीं है कि हमारे पास और कोई काम नहीं है। बहुत सारे काम छोड़ कर हम प्रवचन सुनने आते हैं। क्या सुनने आते हैं ? भगवान् के द्वारा गाया गया उपनिषद् सुनने आते हैं। 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' — गीता उपनिषद् है। भगवान् के द्वारा गाया गया उपनिषद्। संस्कृत में स्त्रीलिंग, हिन्दी में पुंलिंग। मैं हिन्दी में बोल रहा हूँ। उपनिषद् ब्रह्मविद्या है। ब्रह्मविद्या के ज्ञान से ब्रह्म-साक्षात्कार होता है, मनुष्य ब्रह्म हो जाता है। हम सब साधारण आदमी, हम सब नाम-रूप में आबद्ध लोग, हम सब थोड़े से सुख से सुखी और थोड़े से दुःख से दुःखी होने वाले लोग, हम ब्रह्म-विद्या का श्रवण कर रहे हैं। हमारी अभीप्सा है कि भगवती गीता हम पर प्रसन्न हों और हमें ब्रह्म-विद्या का फल प्राप्त हो जाए। अयोग्य व्यक्ति को यह फल प्राप्त नहीं होता। फल प्राप्त करने की योग्यता अर्जित करनी होती है। भगवती गीता जिस रास्ते पर हमको चलाती है उस रास्ते पर चलने की पात्रता हममें आनी चाहिए। यह पात्रता जिन गुणों पर अवलम्बित है, आज उन गुणों की चर्चा की जाएगी। बराबर याद रखिए कि सम्पदा और विपदा, भौतिक अर्थ में जैसे कहा जाता है उस अर्थ में हमलोग स्वीकार नहीं करते। लोक में कोई दुःख, कष्ट आ गया तो बहुत विपत्ति आ गई। लोक में कोई लाभ हो गया, बड़ा सम्मान प्राप्त हो गया तो बड़ी संपदा प्राप्त हो गई। भगवद्-भक्तों की यह दृष्टि नहीं है। भगवद्-भक्तों की दृष्टि है—

विपदो नैव विपदः, संपदो नैव संपदः।
विपद् विस्मरणं विष्णोः संपन्नारायण स्मृतिः।।

जिसको संसार विपदा कहता है, विपत्ति कहता है— जैसे अपमान हो गया, प्रियजन का वियोग हो गया, धन-हानि हो गई— यह विपदा नहीं है। जिसको संसार

* षोडश अध्याय (दैवासुर सम्पद् विभाग योग) : श्लोक संख्या १ से ३

संपत्ति कहता है— जैसे कोई पद मिल गया, प्रतिष्ठा मिल गयी, पुरस्कार मिल गया, धन-सम्पत्ति मिल गई— यह संपदा नहीं है। *'विपद् विस्मरणं विष्णोः'* — भगवान् का विस्मरण होना ही विपत्ति है।

कह हनुमंत विपति प्रभु सोई, जब तव सुमिरन भजन न होई। (मानस.५/३१/३)

यानी विपत्ति वह है जब भगवान् का विस्मरण हो जाए। जब भगवान् का स्मरण छूट जाए तब समझो वास्तविक विपत्ति आ गई। *'संपन्नारायण स्मृतिः'* संपदा तो नारायण की स्मृति है। भगवान् की स्मृति बनी हुई है तो कौन-सी विपत्ति हमको छू सकती है। कोई विपत्ति हमको स्पर्श नहीं कर सकेगी— यह दृढ़ संस्कार लेकर भक्त आगे बढ़ता है। ज्ञानी तो विपत्ति और संपत्ति को संसार में देखता ही नहीं है। संसार का जो कुछ है सब त्याज्य है, सब मिथ्या है, सब माया है। यह जो अज्ञान-जन्य माया है और जिसको हम आरंभ में संपत्ति मानते हैं वह तो विपत्ति की जड़ है। जो निष्काम कर्मयोगी है उसके लिए वह लौकिक संपत्ति कुछ नहीं है। वह तो उसका कर्म फल त्याग कर देता है। कर्म के द्वारा जो कुछ प्राप्त हो सकता है, उसका फल त्याग किए बिना कर्मयोग सधता ही नहीं। जब हमको कर्म का फल ही नहीं चाहिए तो फिर कैसा यश, कैसी संपत्ति, कैसा धन, कैसा पद ? विपत्ति क्या है ? आप ध्यान-योग में देख लीजिए। यह तो कुछ भी नहीं है। जो अध्यात्म पथ पर चलने वाले हैं उनके लिए लौकिक संपदा न संपदा है, न लौकिक विपदा विपदा है। लेकिन संपत्ति होनी चाहिए, पात्रता होनी चाहिए। बिना पात्रता के वह स्थिति प्राप्त नहीं होती। इसलिए दैवी संपदा चाहिए। दैवी संपदा का क्या मतलब हुआ ? जो देव की संपदा है वह दैवी संपदा है। देव कौन ? एक तो देवासुर संग्राम में भी देवता हैं। इसको भी मान लेते हैं। लेकिन कुछ लोगों का आग्रह है कि— *एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वाभूतान्तरात्मा।*

वह जो परमात्मा सबके प्राणों में छिपा हुआ है अन्तर्यामी है, जो गुण हैं वे गुण दैवी सम्पदा हैं। ये हममें आने चाहिए। उससे एक कदम नीचे उतर कर सत्त्व गुण से युक्त जो श्रेष्ठ प्रवृत्तियाँ हैं वे दैवी प्रवृत्तियाँ हैं। जो रजोगुण संवलित प्रवृत्तियाँ हैं वे आसुरी प्रवृत्तियाँ हैं, आसुरी प्रकृति है। जो तमोगुण से युक्त प्रवृत्ति है, वह राक्षसी प्रकृति है। भगवान् ने नवम् अध्याय में इसका संकेत दिया है—

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।। (९/१२)

जो राक्षसी और आसुरी प्रकृति के आश्रित होते हैं उनका जो कुछ काम्य है वह व्यर्थ है, उनकी आशा व्यर्थ है, उनका कर्म व्यर्थ है क्योंकि वे आसुरी प्रकृति के द्वारा

परिचालित होते हैं। वे मुझको परमात्मा के रूप में समझ नहीं पाते। वे मुझको केवल मनुष्य मानते हैं। राक्षसी, आसुरी प्रकृति पर निर्भर रहने वाले अपने जीवन को व्यर्थ बिता देंगे— यह संकेत नवम् अध्याय में दिया गया। उसमें यह भी कहा गया—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।। (९/१३)

जो महात्मा हैं, श्रेष्ठ पुरुष हैं, जो दैवी प्रकृति के आश्रित हैं, वे अनन्य मन से मुझ अव्यय को भजते हैं, प्राप्त करते हैं। भगवान् ने बहुत संक्षेप में नवम् अध्याय में दैवी-प्रकृति की प्रशंसा की है और आसुरी-प्रकृति की भर्त्सना की है, निन्दा की है। उस राजगुह्य योग में जो सहायक या विरोधक तत्त्व हैं, उनका संकेत मात्र करके उन्होंने छोड़ दिया। पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् ने कहा कि यह पुरुषोत्तम योग है और पुरुषोत्तम की प्राप्ति की क्षमता अर्जित करनी चाहिए। पुरुषोत्तम को कौन प्राप्त कर सकता है ? इन दोनो का मिलान यहाँ है। नवम् अध्याय में जो संकेत-मात्र है उसको किंचित् विस्तार से सोलहवें अध्याय में कह दिया और पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम-प्राप्ति का जो संदेश है उसको क्षमता कैसे प्राप्त होगी— इसको सोलहवें अध्याय में कह दिया। मेरे गुरुजी कहते हैं कि गीता तो पन्द्रहवें अध्याय में पूर्ण हो गई। सोलहवाँ, सत्रहवाँ, अट्ठारहवाँ— ये तीनों अध्याय, जो पूर्व विवेचित तत्त्व हैं उनके कुछ अल्प कथित तत्त्वों को विकसित करने के लिए, कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों को दोहराने के लिए और कुछ विशिष्ट सहायक तत्त्वों को उद्घाटित करने के लिए जोड़े हैं। ये तीनों अध्याय नयी बात नहीं बताते। जो कुछ गीता का परम चरम कथ्य है, वह पन्द्रहवें अध्याय में पूर्ण हो जाता है। सोलहवें, सत्रहवें, अट्ठारहवें अध्याय में उनका पुनर्विवेचन, कुछ पक्षों पर बल, कुछ का विस्तार करने की कृपा प्रभु ने की है। जैसे सोलहवें अध्याय में, नवम् अध्याय में जो संकेत था— उसको विकसित किया गया। तो नवम् अध्याय की ही बात खींचकर यहाँ ले आए। यह जो दैवी और आसुरी संपदा है *'दैवासुरसम्पद् विभागयोग'* — तो क्या देवता अलग हैं और असुर अलग हैं ? कुछ लोग क्या केवल देवता-ही-देवता हैं ? और कुछ लोग क्या असुर-ही-असुर हैं ? राक्षस ही हैं ? ऐसा नहीं है। हम सब लोग अपने भीतर कहीं देवता हैं, कहीं असुर हैं, कहीं राक्षस हैं। जयशंकर प्रसाद ने जब कहा—

देवों की विजय, दानवों की हारों को होता युद्ध रहा ।
संघर्ष सदा उर-अन्तर में जीवित रह, नित्य विरुद्ध रहा ।।

हमलोग *'सत्यमेव जयते'* पर विश्वास करते हैं। दानव, असुर थोड़े समय के

लिए जीत सकते हैं, अंतिम विजय सत्य की होगी, दैवी संपदा की होगी— इस विश्वास को रेखांकित करते हुए जयशंकर प्रसाद ने कहा। इसलिए यह देवासुर-संग्राम हमारे हृदय में अब भी चल रहा है। फिराक गोरखपुरी का एक बहुत ही बढ़िया दोहा है—

पाप-पुण्य की जंग है, जीवन जिसका नाम ।
जारी है हर हृदय में, देवासुर संग्राम ।।

जिसको हम और आप जीवन कहते हैं, यह जीवन और कुछ नहीं है— यह पाप और पुण्य का युद्ध है। पुण्य देवता है, पाप असुर है। प्रत्येक हृदय में — मेरे हृदय में, आपके हृदय में, सबके हृदय में देवासुर-संग्राम चल रहा है। इस देवासुर-संग्राम में हम देवता के पक्ष में कैसे हों ? अपने हृदय के इस संग्राम को कैसे पुण्य के रूप में जीतें। किन गुणों के कारण हम दैवी-संपदा से युक्त होंगे ? किन गुणों के कारण हम *सत्यमेव जयते* के सिद्धांत को वस्तुतः अपने जीवन में सत्य साबित कर सकेंगे ? किन दुर्गुणों के कारण हम असुर हो जाएँगे, राक्षस हो जाएँगे— इसकी जानकारी होनी चाहिए। इसकी जितनी व्यापक जानकारी होगी, उतना मानदंड हमारे हाथ में रहेगा। हम प्रत्येक दिन अपनी तुलना अपने साथ ही करें। किसी दूसरे से तुलना नहीं करनी चाहिए। स्पर्धा किसी दूसरे के साथ नहीं करनी चाहिए। कौन दूसरा है ? अपने से ही स्पर्धा करनी चाहिए। हम कल जैसे थे—आज उससे अच्छे हुए हैं कि बुरे हुए हैं ? रात को सोचना चाहिए कि आज का दिन कैसा बीता ? अगर हम अच्छे काम कर पाए, अगर हममें अच्छे गुणों का विकास हुआ तो हम देवताओं के पक्ष में जा रहे हैं, हमारी दैवी-संपदा विकसित हो रही है, हमारे भीतर असुर हारेगा। और अगर हम बुराई की ओर जा रहे हैं तो हमारी आसुरी संपदा विकसित हो रही है, हमारा देवता हारेगा। यह जो हमारे भीतर देवासुर-संग्राम चल रहा है— इस संग्राम में हमको देवताओं के पक्ष में लाने के लिए प्रभु इसका वर्णन कर रहे हैं। कितनी बड़ी कृपा है। इन गुणों को किस क्रम में कहा है— यह भी देखने लायक बात है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।। (१६/१)

पहले श्लोक में जो पहला गुण है वह अभय है। भयभीत आदमी क्या जीतता है ? जो डर गया वह हार गया। जो अभय होगा वही जीतेगा। अभय कैसे होगा? भगवान् की शरण में जाने पर भगवान् क्या देते हैं ?

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।। (वाल्मीकि रामायण-६.१८.३३)

वैष्णवों में दो मंत्र चरम मंत्र हैं। यह मंत्र वाल्मीकि-रामायण का है। भगवान् श्रीराम का कथन है, श्रीराम की प्रतिज्ञा है; जो एक बार भी मेरी शरण में आ जाता है, प्रपन्न हो जाता है, शरणागत हो जाता है, मैं उसको सब प्राणियों में अभय कर देता हूँ, सब प्राणियों से अभय कर देता हूँ। भगवान् की शरण में जाने पर जो पहली चीज भगवान् देते हैं– वह 'अभय' है।

'तुम मेरे रक्षक हो स्वामी तब क्यों कहीं डरूँ ?

भगवान् पर विश्वास ।

है काके द्वै सीस, ईस के जन कौं जो हठ सीम चरै
तुलसिदास रघुवीर बाहुबल, सदा अभय, काहू न डरै।

(विनय पत्रिका १३७/११-१२)

जो राम का आश्रित है, वह सदा अभय रहता है। किसी से नहीं डरता। शरणागति अभय देती है। भय कहते किसको हैं ? संभावित अनिष्ट, संभावित हानि, भविष्य में होने वाली हानि के कारण चित्त में विकलता, बेचैनी, छटपटाहट ही भय है। उसका जब अभाव हो जाता है— तो अभय होता है। वेदान्ती कहते हैं कि सच्चा अभय केवल अद्वैत में है।

द्वितीयाद् वै भयं भवति' — किससे भय होता है ? किसी दूसरे से भय होता है। हमारे दाहिने हाथ को हमारे बाएँ हाथ से भय होता है क्या ? दाहिने हाथ को तो बाएँ हाथ से भय नहीं होता क्योंकि ये एक ही शरीर के दो अंग हैं। भय किसी दूसरे से होता है। अद्वैत में जब दूसरा ही नहीं रहेगा तो भय होगा ही नहीं। इसलिए अद्वैत अभय है। हमने जो कुछ कष्ट से उपार्जित किया है वह नष्ट हो जाएगा—भय इससे होता है।

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयं
माने दैन्यभयं, बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादिभयं, गुणे खलभयं, काये कृतान्ताद्भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुविनृणां, वैराग्यमेवाभयम् ।।

(भर्तृहरिः वैराग्य शतक-३१)

बहुत भोग भोगोगे तो रोग हो जाएगा। टी.बी., एड्स, कैंसर हो जाएगा। ऊँचे कुल का अभिमान करोगे, कोई गड़बड़ी होगी, च्युत हो जाओगे। बहुत पैसा है, राजा लूट लेगा, छापा पड़ेगा ऐसे सब भय बताए हैं। सारी अवस्था में भय होता है। केवल वैराग्य आता है तब मनुष्य अभय हो जाता है। तो कैसे आपको अभय प्राप्त हो यह

आप सोचिए। शरणागति से अभय प्राप्त हो सकता है। वैराग्य से अभय प्राप्त हो सकता है। अद्वैत से अभय प्राप्त हो सकता है। लेकिन उस रास्ते पर चलिए। भय मनुष्य को अपमानित करता है, उसको छोटा बनाता है। अभय मनुष्य की संपूर्ण शक्तियों का विस्तार करता है। अभय मनुष्य को आगे बढ़ने की शक्ति देता है, पाथेय देता है। इसलिए *'अभय'* पहला गुण है। अभय होना चाहिए। हम पर भगवान् की कृपा है, तो हमारा कोई कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता। जिसको तुम अनिष्ट मानते हो वह अनिष्ट है ही नहीं। यह जो एक क्षमता, यह एक बल है 'मनोबल' — यह संपूर्ण दैवी संपदाओं का सेनापति है, विनोबा भावे के शब्दों में। हरावल है। देवासुर संग्राम में पहला जो सेनापतित्व करने वाला वीर गुण है, वह अभय है। आसुरी संपदाओं पर विजय प्राप्त करने की क्षमता अभय में है। इसलिए अभय होओ।

दूसरा है— *'सत्त्वसंशुद्धिः'* — सत्त्व माने चित्त। चित्त शुद्ध होना चाहिए। चित्त में अगर अपवित्रता होगी तो कैसे काम चलेगा ? सारी साधना 'सत्त्वसंशुद्धि' के लिए है, चित्त की शुद्धि के लिए है। मन पवित्र होना चाहिए। मन अगर अपवित्र है तो कुछ भी होने वाला नहीं है।

मनो न निर्मलं यावत्, तावत् सर्वं निरर्थकं ।।

जब तक मन निर्मल नहीं होता तब तक सब निरर्थक है, व्यर्थ है। मन शुद्ध होना चाहिए। *'सत्त्वसंशुद्धि'* सारी साधना चित्त को शुद्ध करने के लिए है। स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष— जितनी आसुरी संपदा है उसकी छाया भी मन को अशुद्ध करती है। इन समस्त आसुरी संपदाओं से मुक्त मन शुद्ध होना चाहिए, पवित्र होना चाहिए। मन ही तो सब काम करता है— *मन के हारे हार है, मन के जीते जीत ।* मन अगर हार गया, मन अगर अपवित्र होगा तो कैसे जीतोगे ? एक बढ़िया श्लोक है—

विजेतव्यालंका चरणतरणीयो जलनिधिः
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।
तथाप्येको रामः सकलमपि हन्ति प्रतिबलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ।।

कौन जीतता है ? क्या भौतिक उपकरण जीतते हैं ? नहीं-नहीं-नहीं। कहते हैं कि सत्त्व के कारण विजय प्राप्त होती है। एक तरफ रावण है, दूसरी तरफ रामजी हैं। रावण के पास इतनी बड़ी सेना है, ऐसा सुरक्षित दुर्ग है, समुद्र जिसकी खाई है— इनके पास वैसा कुछ नहीं है। वानर हैं, भालू हैं। रथ भी नहीं है। जीता कौन ? रामजी जीते। क्यों जीते ? 'सत्त्व' के कारण जीते।

महान् पुरुषों को क्रिया-सिद्धि प्राप्त होती है अपने सत्त्व के कारण, चित्त के उत्साह के कारण, चित्त की दृढ़ता के कारण। उपकरणों के कारण नहीं। अतः *'सत्त्वसंशुद्धि'* — चित्त शुद्ध होना चाहिए। मैंने भी एक तुकबंदी की है—

अखिल विश्व को जीत चुका जो, उसे हरातीं शंका मन की ।
बन सकते हो राम स्वयं तुम, जीत सको यदि लंका मन की।।

यह जो मन की लंका है यह जब अशुद्ध होती है तो यह हमको हरा देती है। सारी दुनिया को जीतने वाला अपने मन से हार जाता है। जिसने मन की लंका को जीत लिया, स्वयं राम बन सकता है।

क्रिया-सिद्धिः सत्त्वे वसति महतां न उपकरणे । महान् पुरुषों के चित्त में क्रिया-सिद्धि बसती है, उपकरणों में नहीं। *'सत्त्व संशुद्धि'* — चित्त की शुद्धि—यह अवश्य करणीय है। जहाँ चित्त अशुद्धि की ओर जाए, तुरन्त उसे रोको, तुरन्त उसका मुँह फेरो। भगवान् का स्मरण करो। काम आ गया, क्रोध आ गया, लोभ आ गया। भगवान् ! रक्षा करो - रक्षा करो। जैसे ही तुम अपने दुश्मन को चुनौती दे दोगे—वह दुर्बल हो जाएगा। दुश्मन प्रबल कब हो जाता है? जब तुम उसको दुश्मन नहीं मानते, जब तुम उसके साथ एक हो जाते हो, जब तुम उसको बुद्धि से समर्थन देते हो। हाँ, क्रोध आता है लेकिन जहाँ तुमने बुद्धि से समर्थन दिया, वहाँ तुम उसके अधीन हो गए। बुरा भाव अगर मन में आए तो उसको बुद्धि से समर्थन मत दो — उसको क्रिया तक मत जाने दो, अगर क्रिया तक चला भी जाए तो बुद्धि से समर्थन मत करो। बहुत गलत हो गया, पाप हो गया, प्रायश्चित्त करेंगे। *'सत्त्वसंशुद्धिः'* —चित्त को शुद्ध करेंगे।

तीसरा है— *'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'* — शंकराचार्य कहते हैं कि असली दैवी संपदा यही है। अन्य आचार्यों का कहना है कि ये पहली तीन संपदाएँ ही मुख्य दैवी संपदाएँ हैं। बाद बाकी क्षेपक हैं, जुड़े हुए हैं लेकिन *'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'* —ये तीन सबसे महत्त्वपूर्ण दैवी संपदाएँ हैं और उनमें भी सबसे महत्त्वपूर्ण है *'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'*। शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान किसको कहते हैं ? श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के द्वारा जो सुना या सद्-ग्रन्थों के द्वारा जिसका बोध प्राप्त हुआ, वह ज्ञान है। गुरु के द्वारा जो परमात्म ज्ञान प्राप्त हुआ, लौकिक ज्ञान अलग होता है। यह जो दैवी संपदा का, उपनिषद् का, ब्रह्म विद्या का ज्ञान— उसमें ज्ञान माने परमात्म तत्त्व को योग्य आचार्य के मुख से या सद्-ग्रन्थों से जैसा समझा। उसको अपने चित्त में योग के द्वारा अनुभूत किया। *'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'*—एक ही साथ ज्ञान होना चाहिए और उस जाने हुए को केवल शाब्दिक खेल नहीं, अनुभव का विषय बनाना चाहिए।

वाक्य-ज्ञान अत्यंत निपुण, भव पार न पावै कोई,
निसि-गृह मध्य दीप की बातन्ह, तम निवृत्त नहिं होई ।

केवल वाचिक ज्ञान में यदि कोई बहुत निपुण है तो क्या संसार-समुद्र को पार कर जाएगा ? नहीं, अंधकार में तुम दीपक के बारे में एक व्याख्यान दो। प्रकाश होगा? नहीं होगा। ताप पर बोलो, प्रकाश पर बोलो— प्रकाश नहीं होगा। एक छोटा सा दीपक जला दो, अंधकार दूर हो जाएगा। जिस प्रकार दीपक के बारे में केवल व्याख्यान देने से अंधकार नहीं भागता, प्रकाश नहीं होता; उसी प्रकार केवल वाचिक ज्ञान से कोई भवसागर पार नहीं कर सकता। ज्ञान के बाद योग होना चाहिए। यहाँ योग का मतलब है इसका अनुभव। जो कुछ हमने सुना है सद्गुरु से— उसका श्रवण करने के बाद मनन, मनन के बाद निदिध्यासन। निदिध्यासन का मतलब होता है— *ध्यातुं इच्छा दिध्यासा ।* ध्यान करने की इच्छा, इसको कहते हैं दिध्यासा। *'नि'* माने नितराम। तो जो सुना उस पर विचार किया और फिर उसको अपने ध्यान का विषय बनाया। अपना साक्षात् अपरोक्ष अनुभव किया। *'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'* —शंकराचार्य जी के अनुसार यह सबसे बड़ी दैवी संपदा है। जो तुमने सुना, जो तुमने जाना, उसको जब तक तुमने अपने जीवन में अनुभव का विषय नहीं बना लिया तब तक शान्त मत बैठो। मत समझो कि तुम्हारी पूर्णता हुई। ज्ञान और योग— दोनों की व्यवस्था होनी चाहिए। दोनों की सह स्थिति, विशिष्ट स्थिति होनी चाहिए— एक अर्थ। दूसरा अर्थ कि ज्ञान भी और कर्म-योग भी। कुछ लोग योग का मतलब यहाँ कर्मयोग लेते हैं। तो ज्ञान और कर्म दोनों का सह-अवस्थान होना चाहिए। तीसरे लोग कहते हैं कि ज्ञान और कर्म योग का जब सह-अवस्थान होगा, तो वही भक्ति है। भक्ति का अनुभव होना चाहिए। खैर, यह तो अपनी-अपनी दृष्टि है। लेकिन एक बात बिलकुल साफ़ है कि जो कुछ हमने जाना है, वह केवल वाचिक ज्ञान न रह जाए, वह हमारे अनुभव में उतर आए— इस बात का ध्यान रखना चाहिए। तो ये जो तीनों दैवी संपदाएँ हैं, वे मूल हैं, मुख्य हैं और जो अन्य तेईस संपदाएँ आगे कही हैं, वे सहयोगी हैं, सहायक हैं।

दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।

चौथी दैवी संपदा है *दान*। दान का मतलब होता है देना। जिस वस्तु को आपने न्यायपूर्वक उपार्जित किया है उसको सत्पात्र को दे देना, वह सात्त्विक दान है।

देशे काले च पात्रे च तत् दानं सात्त्विकं स्मृतं ।

श्रेष्ठ देश में, श्रेष्ठ समय, श्रेष्ठ पात्र को जब हम अपना अधिकार निरस्त करके कुछ देते हैं, तो वही दान है। इस दान की बड़ी महिमा है। दान मनुष्य को बहुत आगे

बढ़ाता है। हम जो कुछ जोड़े बैठे हैं उससे हम आसक्त होते हैं। हमारी आसक्ति हमको बंधन में डालती है। दान हमारी आसक्ति के घेरे को कम करता है। दान केवल भौतिक ही होगा— ऐसा नहीं है। केवल वस्तु आप दे सकते हैं, रुपया-पैसा दे सकते हैं—ऐसा नहीं है। कहा है— *'विद्या दानं सर्व दानं प्रधानं ।*

जो विद्या आपने सीखी है, आप अगर उसको बाँट लें तो यह सबसे बड़ा दान है। आप किसी को सद्भाव दे सकते हैं, किसी को प्रेम दे सकते हैं। एक मुस्कराहट दे सकते हैं। शाबासी दे सकते हैं। किसी के अच्छे काम को सराह सकते हैं। यह सब देना है। मेरी मान्यता है कि भौतिक वस्तु के दान की अपेक्षा मानसिक, आध्यात्मिक बल देना, मनोबल बढ़ा देना, किसी को उसके कार्य के प्रति आश्वस्त कर देना—यह बड़ी बात है। जितना संभव हो, हम दान अवश्य दें। बिना दान दिए हमको कुछ प्राप्त होने वाला भी नहीं है। हमको इस समय वही मिल रहा है जो हमने पिछली बार दिया था। इस बार नहीं दोगे तो अगली बार कुछ मिलने वाला नहीं है। इसलिए दान हमारा धर्म है, यह हमारा कर्त्तव्य है और इससे विषमता भी दूर होती है। जो अभावग्रस्त लोग हैं, उनको सम्बल प्राप्त होता है। इसलिए यह भी एक विशेष प्रकार के सामाजिक धर्म का अंश है। अतः दान अपनी क्षमता के अनुरूप अवश्य देना चाहिए।

श्रद्धया देयं, धिया देयं, अश्रद्धया अदेयं ।

श्रद्धा से देना चाहिए, संकोच से देना चाहिए, भय से देना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि जिसको दे रहे हैं उसका अपमान तो नहीं हो गया, उसको चोट तो नहीं लगी। अश्रद्धा के साथ दान नहीं देना चाहिए।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।। (१७/२८)

अश्रद्धा के साथ किया गया यज्ञ, दान और तप फल-रहित होता है, असत् कर्म होता है। ऐसे कर्म से न तो इस लोक में कल्याण होता है, न परलोक में।

'दमश्च' — पाँचवी दैवी सम्पदा है दम। दम कहते हैं इन्द्रियों के ऊपर निग्रह को। हमारी इन्द्रियाँ हमारे अधीन हैं कि हम इन्द्रियों के अधीन हैं ? बराबर याद रखो कि जिसको हम नहीं देखना चाहते हैं उसको देखने के लिए हम लाचार हो जाते हैं। जिसको हम नहीं सुनना चाहते, उसको सुन-सुन कर कुढ़ते रहते हैं। जो हम नहीं करना चाहते, हमारा हाथ वह करता है। जहाँ नहीं जाना चाहते, हमारे पाँव वहाँ जाते हैं। कैसा है हमारा नियंत्रण ? दम यानी बाहरी इन्द्रियों के ऊपर नियंत्रण। हमारे आदेश के अनुसार ये इन्द्रियाँ काम करेंगी। जिसकी आज्ञा नहीं दी जाएगी, ये इन्द्रियाँ वह काम नहीं करेंगी।

हमारी बाहरी और भीतरी दोनों इन्द्रियों पर नियंत्रण होना चाहिए। उसमें शम भीतरी इन्द्रियों का नियंत्रण है और दम बाहरी इन्द्रियों का नियंत्रण है। पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के ऊपर नियंत्रण प्राप्त होना चाहिए— यह भगवान् कहते हैं।

यज्ञश्च— छठी सम्पदा है यज्ञ। गीता में अनेक प्रकार के यज्ञ बताए गए हैं। वैदिक परंपरा में हमलोग यज्ञ करते थे अपने ममत्व का लोप करने के लिए। हमलोग मानते थे कि जब हम यज्ञ के द्वारा आहुति देंगे तो उससे देवता संतुष्ट होंगे। और आहुति देते हुए कहते थे— *इदं अग्नये, इदं न मम, इदं अग्नये स्वाहा ।*

यह मेरा नहीं है। *'इदं न मम'* यह बहुत बड़ा सूत्र है। ममता और अहंता—ये दो बड़े बंधन हैं। ममता से आंशिक मुक्ति मिलती है। *'इदं न मम, इदं इन्द्राय स्वाहा'* यह मेरा नहीं है। यह इन्द्र का है। इसलिए स्वाहा। एक बहुत बड़ा चक्र है जिसकी नाभि यज्ञ है। सारा सृष्टि-चक्र यज्ञ के ऊपर आधारित है। सारी सृष्टि यज्ञ कर रही है। आप देखिए— सूर्य यज्ञ कर रहा है कि नहीं ? सूर्य जो प्रकाश, जो ताप हमको-आपको देता है उसके लिए कुछ पैसा लेता है ? कुछ नहीं लेता। कब से यज्ञ कर रहा है ? हवा, वर्षा, धरती— जो हमको-आपको धारण करती है, सब यज्ञ है। वृक्ष जो फल देते हैं-— यह यज्ञ है। हमलोग यज्ञ को बहुत महत्त्व देते हैं। हमारा आखिरी संस्कार क्या है? किसी को याद है ? *अंत्येष्टि* — *'इष्टि'* माने यज्ञ। अंत्येष्टि माने अंतिम यज्ञ। हम अपने शरीर को चिता में स्वाहा करते हैं। इस शरीर का आखिरी अंश भी यज्ञ हो, हमारी साँस-साँस यज्ञ बने— यह वैदिक कल्पना है। इसलिए गीता में यज्ञ को बहुत विस्तार से बताया गया है। गीता में कहा है कि 'तप' यज्ञ है, 'ज्ञान' यज्ञ है — सब प्रकार का यज्ञ-ही-यज्ञ है। सोलह-सत्रह प्रकार के यज्ञ बताए हैं। उनमें सबसे बड़ा ज्ञान-यज्ञ है। यह जो प्रवचन चल रहा है— यह ज्ञान यज्ञ है। जिससे हम अपना अधिकार लोप करके लोक-मंगल के लिए वितरित कर रहे हैं। वह यज्ञ है। हमारा जीवन यज्ञमय होना चाहिए। *'यज्ञो वै विष्णुः'* — यज्ञ ही विष्णु है। अगर हम यज्ञ कर रहे हैं तो हम विष्णु के निकट हैं। यज्ञ करना चाहिए। कीर्तन भी यज्ञ है। नाम-जप भी यज्ञ है। *'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'* (१०/२५-२) — सबसे बड़ा यज्ञ क्या है ? ज्ञान यज्ञ। भगवान् ने कहा है— *न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।* (४/३८-१)

तथा यह भी— *ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।* (४/१९-२)

लेकिन जब विभूति गिनाने लगे तो उन्होंने कहा कि सब तो ज्ञानी नहीं हो सकते। कोई सरल बात बताओ। तो *'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'* — यज्ञों में परमात्मा-जप यज्ञ है। जो नाम आपको रुचिकर लगे उसका जप करिए। भगवान् कितने उदार हैं।

कोई एक-दो नाम हैं भगवान् के ? असंख्य नाम हैं। *'विष्णुसहस्रनाम'* जो नाम आपको प्रिय है, उसको श्रद्धा के साथ जपिये। आपके जीवन में परिवर्तन आएगा। यज्ञ करते रहें और जिसको अपना माने बैठे हैं उसको लोक-हित के लिए, लोक-मंगल के लिए अर्पित करते रहें। यही यज्ञ है। लोक-मंगल के लिए जो कुछ आपने अर्पण किया, वह आपने यज्ञ किया। अपना समय, अपनी श्वास, अपनी दृढ़ इच्छा प्रभु को अर्पित की। इसीलिए जप-यज्ञ है।

'स्वाध्यायस्तप आर्जवम्' — स्वाध्याय का अर्थ माना जाता है सद्-ग्रन्थों का अध्ययन। याद रखिए कि परीक्षा पास करके नौकरी के लिए जो अध्ययन है वह स्वाध्याय नहीं है। शंकराचार्य जी ने कहा कि अदृष्ट फलों के लिए सद्-ग्रंथों का जो अध्ययन किया जाए वह स्वाध्याय है। जो दृष्ट फल के लिए किया जाए वह स्वाध्याय नहीं है। वह केवल अध्ययन है। अध्ययन और स्वाध्याय में मौलिक अन्तर है—एक दृष्ट फल है और एक अदृष्ट फल है। स्वाध्याय का मतलब होता है सद्ग्रंथों का अध्ययन। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत— जो भी आपके प्रिय धर्म ग्रंथ हैं- कुरान भी पढ़ सकते हो, बाइबिल भी पढ़ सकते हो, गुरु ग्रंथ-साहब भी। जिसका जो प्रिय हो—श्रद्धा के साथ पढ़ो और उसके द्वारा अदृष्ट फल की—अपने हृदय के विकास की, भगवत्-कृपा की प्राप्ति का आग्रह हो। यही स्वाध्याय है। एक बार ऋषियों के बीच विवाद हुआ कि सबसे बड़ा तप क्या है ? अनेक लोगों ने अनेक प्रकार के तप बताए। नाकोमौद्गल्य ने कहा—

स्वाध्याय प्रवचने एवेति नाकोमौद्गल्यः। तद्धितपस्तद्धितपः तद्धितपः।।

नाकोमौद्गल्य ऋषि ने कहा कि सबसे बड़ा तप है स्वाध्याय और प्रवचन। सब ऋषियों ने दोनों हाथ उठाकर कहा कि यही तप है। आप स्वाध्याय कर रहे हैं। कोई बड़ी बात आप समझ रहे हैं श्रद्धा से, गंभीर परिश्रम से। क्या बड़ी बात ऐसे ही समझ में आती है ? उस तपस्या से जो कुछ आपने प्राप्त किया, वह बात सबको समझ में आए इसकी आप यथासंभव चेष्टा कर रहे हैं— क्या यह तप नहीं है ? तो स्वाध्याय और प्रवचन सबसे बड़ा तप है—ऐसा उपनिषदकार कहते हैं, नाकोमौद्गल्य ऋषि ने कहा। स्वाध्याय का एक बहुत बड़ा अर्थ है। स्व माने अपना। अध्याय माने अध्ययन, अपना अध्ययन। अपने बारे में जानते हैं आप ? सारी दुनिया के बारे में तो जानते हैं। अपने बारे में नहीं जानते। हममें कौन-कौन से गुण हैं ? हममें कौन-कौन से दोष हैं ? हमारा यह शरीर कैसे काम करता है ? यह जो अध्यात्म यंत्र है—यह कैसे काम करता है ? अपना अध्ययन करना — यही स्वाध्याय है। प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर

निर्णय करना चाहिए कि आज क्या-क्या करना है। मेरी बात नहीं है—मनुस्मृति की बात है। आज क्या करना है इसका निर्णय करो और शाम को विचार करो कि क्या किया, क्या नहीं किया ? जब योग्यता आती है, तब दैवी-संपदा विकसित होती है। स्वाध्याय का तीसरा अर्थ है — इष्टदेव के मंत्र का जप। अपने गुरु से जो मंत्र प्राप्त हुआ है, उस मंत्र का जप करते रहने से इष्टदेव का साक्षात्कार होता है। ऐसी श्रद्धा है। इसलिए स्वाध्याय का तीसरा अर्थ है — इष्टदेव के मंत्र का जप। *'तप'* — तप किसको कहते हैं ? तप कहते हैं किसी बड़े कार्य के लिए, बड़े लक्ष्य के लिए स्वेच्छया स्वीकार किया गया परिश्रम। कठोर साधना। तुलसीबाबा की पंक्तियाँ हैं—

तप बल रचइ प्रपंच बिधाता, तप बल बिष्नु सकल जग त्राता ।
तप अधार सब सृष्टि भवानी, करहि जाइ तप, अस जियँ जानी ।।

(मानस.१/७२/३)

तप सारी सृष्टि का आधार है। भगवान् ने जब सृष्टि रचनी चाही तो कैसे रची? *'सः तपो तप्यतः'* उसने तप तपा। *'सः तपं तप्त्वा'* — तपस्या करके उसने सारी सृष्टि की रचना की। और सारी सृष्टि में स्वयं समा गया। भगवान् को भी जब सृष्टि के लिए तपस्या करनी पड़ती है तो क्या हमको-आपको बड़ी सृष्टि हेतु तपस्या नहीं करनी होगी ?

यद्दुस्तरं, यद्दुरापं, यद्दुर्गं, यच्चदुष्करम् ।
तत्सर्वं तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्रमम् ।। (मनु. ११/२३८)

'यत् दुस्तरं' —वह बहुत दुस्तर है जिसको लाँघ कर नहीं जाया जा सकता। *'यत् दुरापं'* —जिसको सहज में प्राप्त नहीं किया जा सकता। *'यत् दुर्गम्'* —जहाँ जाना बहुत कठिन है। *'यत् च दुष्करं'* —जिसको करना बहुत कठिन है। *'तत् सर्वं तपसा साध्यं'* —वह सब तपस्या से साध्य है, सिद्ध हो सकता है। उसके अनुरूप तपस्या करो। जितना बड़ा काम तुमने हाथ में लिया है उतनी बड़ी तपस्या करो। मेरी ही एक चतुष्पदी है—

बड़ा काम कैसे होता है, पूछा मेरे मन ने,
बड़ा लक्ष्य हो, बड़ी तपस्या, बड़ा हृदय मृदु वाणी।
किन्तु अहं छोटा हो जिससे सहज मिलें सहयोगी,
दोष हमारा, श्रेय राम का, हो प्रवृत्ति कल्याणी ।।

बड़ा काम कैसे होता है ? बड़ा काम बड़े लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कठिन तपस्या से होता है। बड़ा हृदय होना चाहिए। संकुचित हृदय से बड़ा काम होगा ? अहं करने

से बड़ा काम होगा ? नहीं। मृदु वाणी होनी चाहिए। अहंकार संकुचित छोटा होना चाहिए। कोई तुमको सहयोग क्यों देगा ? और अगर गलती हो तो हमारी गलती है। ठीक हो तो भगवान् की कृपा। तब बड़ा काम होता है। गीता में तीन बड़े तप माने गए हैं। शारीरिक तप, वाङ्मय तप और मानसिक तप।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यं अहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। (१७/१४-१५-१६)

इन सब पर विस्तार से आगे चर्चा होगी। ये सत्रहवें अध्याय के श्लोक हैं। केवल स्मरण कराया कि गीता में तप उसको नहीं बताया गया जो जंगल में जाकर, जटा बढ़ा कर किया जाता है। यह ठीक है कि वह भी तप है। हम उसका उपहास नहीं करते। जो करते हैं मैं उनको प्रणाम करता हूँ। लेकिन गीता में जिन तीन तपों को रेखांकित किया गया है। इसी लोक में, इसी जीवन में, यहीं, इस शरीर से तुम तप कर रहे हो कि नहीं ? वाणी का तप कर रहे हो कि नहीं ? मन का तप कर रहे हो कि नहीं? जो शरीर, वाणी और मन का तप नहीं करता, उसको सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

'आर्जवम्' — ऋजुता। अर्जन शब्द का एक अर्थ है *'ऋजुत्वात् अर्जुनः'* अर्जुन शब्द के दो अर्थ हैं। अर्जुन—उसने सारे राजाओं को हरा कर बहुत संपदा अर्जित की थी इसलिए भी अर्जुन। लेकिन *'ऋजुत्वात् अर्जुन'* —जब उसके मन में शंका आई तो उसने सच-सच भगवान् से कह दिया। उसने कह दिया कि मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि मैं क्या करूँ। मैं नहीं लड़ सकता। गुरु से उसने दुराव-छिपाव नहीं किया। तो यह जो सच्चाई से उसने अपने मन की शंका, अपना भय बता दिया इसलिए उसकी मुक्ति हुई। हमारे जीवन में ऋजुता आनी चाहिए। आर्जव आना चाहिए। महाभारत का एक अद्भुत श्लोक है—

सर्वं जिह्मं मृत्यु पदं, आर्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञान विषयः किं प्रलापः करिष्यति।।

(महाभारत, आश्वमेधिक पर्व-११/४)

जो कुछ जिह्म है, कुटिल है वह मौत का रास्ता है। कुटिल लोग अपने पैर पर खुद कुल्हाड़ी मारते हैं। *'आर्जवं ब्रह्मणः पदं'* —और जो आर्जव है, ऋजुता है, वह

भगवान् का रास्ता है। *'एतावान् ज्ञान विषय'* —यही ज्ञान का विषय है। *'किं प्रलापः करिष्यति'* —प्रलाप क्या कर रहे हो ? मैंने इसका अनुवाद किया था—

जो भी कुटिल मृत्यु का वह पद, जो ऋजु उसे ब्रह्मपद जानो ।
यही ज्ञान का विषय मुख्यतः, कर प्रलाप कुतर्क मत ठानो ।।

अपने ऊपर देखो। तुम कुटिल हो कि सरल ? कुटिल हो तो समझ लो कि भगवान् के रास्ते पर नहीं चल रहे हो।

मोहि कपट छल छिद्र न भावा । (मानस.५/४३-५)

कपटी, कुटिल लोग भगवान् को अच्छे नहीं लगते। कामी से कामी को भी भगवान् स्वीकार कर लेंगे। सुग्रीव जैसा कामी कोई नहीं। लोभी-से-लोभी को स्वीकार करेंगे। विभीषण-सा लोभी कोई नहीं। क्रोधी-से-क्रोधी को स्वीकार करेंगे। परशुराम की तरह क्रोधी कोई नहीं था। लेकिन कहो तो कि हाँ, मैं कामी हूँ, क्रोधी हूँ, लोभी हूँ। अपने काम-क्रोध-लोभ के दोष को स्वीकार करो। प्रभु से निवेदित करो कि हो प्रभु ! मैं चाहता तो नहीं हूँ लेकिन आ जाता है काम, क्रोध, लोभ। प्रभु मैं आपसे अपनी ये सारी-की-सारी त्रुटियाँ निवेदित कर रहा हूँ। निष्कपट बनो। कुटिल मत बनो।

सूधे मन, सूधे बचन, सूधी सब करतूति ।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुवर प्रेम प्रसूति ।।

भगवान् के प्रेम का फल क्या है ? फल क्या है ? रामजी से प्रेम किया तो राम जी के प्रेम की प्रसूति क्या है ? फल क्या है ? हमारा मन सीधा हो जाता है। सब सरल हो जाता है। जब तक कुटिलता है तब तक राम जी के प्रेम ने अपना दाम नहीं दिया है। सरल होना चाहिए। *आर्जवं*—ऋजुता, सरलता—यह ब्रह्म का रास्ता है। ब्रह्म का स्थान है। ज्ञान का विषय यही है। प्रलाप क्या कर रहे हो तुम? कुटिल हो कि सरल हो, इसकी जाँच करो और सरल होने की चेष्टा करो। सरल होने की साधना करो।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।। (१६/२)

इस दूसरे श्लोक में भगवान् ने अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, पर-निन्दा में वितृष्णा, प्राणीमात्र के लिए करुणा, लोलुप न होना, व्यवहार में मृदुता, अपनी प्रशंसा सुनने में संकोच एवं अचंचलता जैसे ग्यारह गुण और बताये हैं।

'अहिंसा' —किसी दूसरे की हिंसा न करना, किसी की हत्या न करना। शारीरिक दृष्टि से हिंसा न करना, हत्या न करना। अब सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो यह बहुत मुश्किल है। इसीलिए जैन लोग मुँह पर पट्टी बाँधते हैं। क्योंकि बोलने में भी

कुछ जीव मर जाएँगे। तो शारीरिक हिंसा हो ही नहीं—यह तो बहुत असंभव है। चेष्टा करनी चाहिए। अहिंसा का मतलब यही यह है कि हम जान-बूझ कर किसी को दुःख-कष्ट न पहुँचाएँ। किसी का वध, किसी की हत्या तो नहीं ही करें। लेकिन अगर कोई बहुत पापी है तो— *आततायी मायन्तं, हन्या देवा विचारयं ।*

अगर कोई आततायी है तो उसकी हत्या पुण्य है, धर्म है। अहिंसा का मतलब होता है—किसी की जान-बूझकर हिंसा न करना, किसी के मन को जान-बूझ कर चोट न पहुँचाना, किसी को कष्ट न देना। अहिंसा जीवन को बहुत बड़ी शक्ति देती है, पवित्रता देती है। महात्मा गाँधी ने अहिंसा के बल पर ही कितना असंभव कार्य संभव किया। एक बात पर मैं आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा। भगवान् अहिंसा की बात कह रहे हैं। *'अहिंसा परमो धर्मः'* महाभारत का ही मंत्र है। लेकिन महाभारत में, गीता में अहिंसा को इतना महत्त्व देने पर भी भगवान् ने अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा क्यों दी ? क्योंकि कहीं-न-कहीं ऐसी स्थिति आ सकती है कि अहिंसा और अधिक पाप का कारण हो जाए। इसलिए मूल बात हित है। आप देखिए सत्य और अहिंसा। अगर मूल बात हित है तो वह अहिंसा ही है, हिंसा नहीं है। अगर वह हित है तो सत्य ही है। *'सत्य'* का साधारण अर्थ क्या होता है ? सत्य का साधारण अर्थ होता है — जो जैसा देखा, सुना, अनुभव किया, उसको वैसा ही बिना त्रुटि के, बिना बदले, बिना स्वार्थ के बता देना— यह सत्य है। लेकिन इससे भी एक बड़ा सत्य है।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत ।
यद् भूतहितमत्यंतं एतद् सत्यं मतं मम ।। (महाभारत, शांति पर्व)

मैं नहीं बोल रहा हूँ। महाभारत बोल रहा है। शान्ति पर्व बोल रहा है। *'सत्यस्य वचनं श्रेयः'* —सत्य का वचन श्रेयस्कर है। *'सत्यादपि हितं वदेत्'* सत्य से भी बड़ी बात है हित। *'यद् भूतहितमत्यन्तं'* —जिससे प्राणियों का अत्यन्त हित होता है। *'एतद् सत्यं मतं मम'* —मेरा मत है कि यही सत्य है। अत्यन्त हित—बेईमानी से अत्यन्त हित नहीं हो सकता। लेकिन हित तुम्हारा स्वार्थ तो नहीं है। इसको देखो। हित के नाम पर तुम स्वार्थ सिद्ध करना चाह रहे हो तो तुम बेईमानी कर रहे हो। जिसमें तुम्हारा सब कुछ चला जाए लेकिन समाज का हित हो वह हित। मेरे गुरुजी एक बात कहा करते थे। गुरुजी ने कहा—देखो! बौद्धों में करुणा की प्रधानता है। सबसे बड़ा तत्त्व करुणा है। जैनियों में अहिंसा की प्रधानता है। सबसे बड़ा तत्त्व अहिंसा है। वैदिकों में हित की प्रधानता है। *'यदेव मे हिततमं । तदेव मे ब्रूही ।।'* कौशिकी उपनिषद् में यही पूछा गया है। *'यदेव मे हिततमं'* —जिससे मेरा परम हित होगा, वह बताओ। तो यह हित ही अहिंसा और सत्य दोनों के लिए आधार बनता है।

अक्रोधः —अहिंसा के बाद फिर अक्रोध। जब क्रोध आता है तो मन करता है कि उसकी हत्या कर दें। लेकिन क्रोध आ गया, आए हुए क्रोध को रोकने की क्षमता अक्रोध है। अक्रोध का मतलब यह नहीं कि क्रोध उत्पन्न ही न हो। क्रोध तो आ गया लेकिन क्रोध आचरण तक चला जाए यह ठीक नहीं। उस क्रोध को हमने सह लिया, झेल लिया, यह अक्रोध की स्थिति है। अहिंसा और उसी का सहायक अक्रोध। जिसने हमारा अपमान किया है, जिसने हमारे प्रति अपशब्द कहे हैं, उसको दंड देने की इच्छा तो होती है लेकिन उसको भी रोक लेना—यह अक्रोध है और यह अहिंसा का बहुत बड़ा सहायक तत्त्व है।

त्यागः —जो हमारा है उसको छोड़ देना। त्याग के कई अर्थ बताए गए हैं। शंकराचार्य जी ने कहा कि आगे दान आ गया है। इसलिए त्याग का मतलब है सर्वस्व त्याग—संन्यास। बहुत से लोगों का कहना है कि त्याग का मतलब है कर्मफल त्याग। जो कर्म कर रहे हैं, उसके फल का त्याग। त्याग सर्व त्याग या संन्यास भी हो सकता है, कर्म फल त्याग भी हो सकता है लेकिन दुर्गुणों का त्याग भी और जो हमने अर्जन किया है, जो हमारा ममतास्पद है, उस ममतास्पद से ममता को हटा लेना—यह भी त्याग है। जो हम भोग सकते हैं उसको नहीं भोगना—यह भी त्याग है। आप देखिए 'त्याग' और 'अपरिग्रह' ये दो चीजें नहीं हैं। सब चीजें जोड़ते जाओ—यह परिग्रह है। और जो हमको मिला है उसको भी हम रखेंगे नहीं, देते जाएँगे, बाँटते जाएँगे—यह त्याग है। *'त्यागात् जायते शक्तिर्भागवती'* —अगर त्याग होता है तो भागवती शक्ति उत्पन्न होती है, भगवान् की शक्ति। यह भगिनी निवेदिता के नाम पर विद्यालय का आदर्श वाक्य है। अगर आप त्याग करते हैं तो भागवती शक्ति का उदय होता है, आपके साथ भगवान् की शक्ति जुड़ जाती है। त्याग करने वाले में जो शक्ति आती है वह भगवान् की शक्ति है। *'परिग्रहात् जायते शक्तिः भोगवती'* —अगर आप परिग्रह करते रहेंगे तो भोग की शक्ति आपकी बढ़ जाएगी। आपके पास ज्यादा रुपया है तो आप कहेंगे—हवाई जहाज से चले जाएँ। आप चाहें तो फाइव स्टार होटलों में ठहर जाएँ। लेकिन यह भोग आपको बंधनों में डालेगा। त्याग आपको मुक्ति की ओर ले जाएगा। चुन लीजिए। आपको 'भागवती' शक्ति चाहिए कि 'भोगवती' शक्ति चाहिए। जिसको भोग चाहिए वह परिग्रह करेगा, जिसको भगवान् चाहिए वह त्याग करेगा। चुनाव आपका है।

शान्तिः —शान्ति किसको कहते हैं ? शान्ति कहते हैं मन में किसी भी प्रकार की लालसा, कामना, कुरेदन, तकलीफ न रहे। गीता में बताया है कि जैसे समुद्र में

सारी नदियाँ चली जाती हैं और वह अपनी सीमा में रहता है, वैसे ही सारी कामनाएँ जिसके मन में आकर के लीन हो जाएँ उसको शान्ति प्राप्त होती है। मैंने कभी लिखा था—

लगा हुआ बाजार सामने चकमक करता ।
ललच-ललच कर यह मन केवल छटपट करता ।।
भटका करता सिर्फ कामना के जंगल में ।
आह ! कभी तो शान्त भाव से राम सुमरता ।।

कभी तो ऐसा होता कि मन में कोई कामना न आती। शान्ति कब होगी ? बराबर याद रखिए— शान्ति का सबसे बड़ा दुश्मन है काम या कामना। जब तक आपके मन में काम है। यह प्राप्त होना चाहिए, वह प्राप्त होना चाहिए—तो शांति नहीं होगी। आपका काम खंडित होगा तो क्रोध हो जाएगा और काम पूर्ण होगा तो लोभ हो जाएगा।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।। (१६/२१)

काम के साथ क्रोध और लोभ चिपका हुआ है। क्रोध कब आता है ? जब आपकी कामना पूरी नहीं होती और जो आपकी कामना पूरी नहीं होने देता उसी पर क्रोध आता है। आप सोच लीजिए। भगवान् ने कहा— काम और क्रोध दोनों ही। अर्जुन ने पूछा—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।। (३/३६)

कोई पाप नहीं करना चाहता। मैं तो पाप नहीं करना चाहता। लेकिन मैं पाप करता हूँ। क्यों पाप करता हूँ ? *'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः'* —एकवचन है। *'समुद्भवौ'* नहीं है। जो काम है वही क्रोध है। खंडित होने पर काम क्रोध हो जाता है और काम पूरा होता है तो लोभ हो जाता है। इसलिए शान्ति तब मिलेगी जब निष्कामता आएगी। जब तक कामना है, तब तक अशान्ति है। शांति यानी निष्कामता, कामना का त्याग।

'अपैशुनं' —पिशुन कहते हैं जो दूसरे का दोष कहे। *पिसुन पराय पाप कहि देहीं।* (मानस.२/१६७/१)

जो चुगलखोर होते हैं वे दूसरे का दोष कहते रहते हैं। हे नारायण! इससे बुरी बात क्या है ? चुगलखोर सामने नहीं बोलते। आप चले जाएँगे तो आपके दोष सबों

को बताते फिरेंगे। ऐसा काम जो करते हैं उनको कहते हैं पिशुन। पिशुन का जो भाव होता है वह है पैशुन। पैशुन का जो अभाव हुआ वह हुआ *'अपैशुनम्'*। *'अपैशुनम्'* का मतलब हुआ किसी दूसरे के दोष की चर्चा न करना। भगवान् ने क्या हमको नाली का इंस्पेक्टर बनाया है। हमारे गुरुजी कहते थे कि अच्छा सच बताओ। तुम्हारे आँगन में अगर पड़ोसी का गन्दा नाला आ जाए तो तुम आने दोगे? यहाँ तो आँगन ही नहीं होता। फ्लैट होता है। आपके फ्लैट में अगर पड़ोसी के नाले का गंदा जल आ जाए तो आप क्या करेंगे ? आने देंगे ? या रोकेंगे। पड़ोसी का गंदा जल अगर आपके आँगन में, फ्लैट में आए तो आपको तकलीफ होती है। और पड़ोसी का गन्दा विचार, गंदा भाव अगर आपके मन में आ जाए तो ? तो आपको प्रसन्नता होती है ? यानी जो लोग दूसरों का दोष देखते हैं और दोषों की चर्चा करते हैं उनमें वे दोष आ जाते हैं। भगवान् ! हम क्यों किसी का दोष देखें। देख सकें तो दूसरों का गुण देखें।

खलः सरस मात्राणि पर छिद्राणि पश्यति ।
आत्मनः बिल्व मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ।।

जो खल होते हैं, दुष्ट होते हैं, दूसरों का सरसों बराबर दोष देख लेते हैं और अपना बेल बराबर भी नहीं देखते। तो भगवान् हमको वह आँख दें कि जिससे हम अपना दोष देख सकें—

हे समर्थ ! हे करुणा सागर !! विनती यह स्वीकार करो।
दोष दिखाकर, उसे मिटाकर, अपना प्रेम प्रदान करो ।।

दोष मैं अपने देखूँ, दूसरे के गुण देखूँ और दूसरे के दोष अगर दिख भी जाएँ तो उसको दूसरों से क्यों कहने जाऊँ ? अगर वह आपका प्रेमी है तो आप उसको अकेले में बताइए कि तुममें यह दोष है तुम उससे बचो। सबों के सामने दोष नहीं बताना चाहिए। इससे उसको अपमान का अनुभव होगा। पीठ पीछे तो बताना ही नहीं चाहिए, इससे तुम्हारा स्वभाव नष्ट होता है। इसलिए 'अपैशुनम्' कहा।

'दया भूतेषु' —समस्त प्राणियों पर दया। केवल अपने नाते-रिश्तेदारों पर नहीं, आत्मीय से नहीं। *'भूतेषु'* —इसमें कोई जात-पाँति, कोई धर्म, कोई देश, कोई भाषा--किसी का बन्धन नहीं। जो भी दुःख में है, कष्ट में है— उस दुःखी व्यक्ति के प्रति दया। *'दया भूतेषु'* — यह हमारा स्वभाव होना चाहिए। हम भगवान् से दया माँगते हैं और हम दूसरों पर दया नहीं करते। भगवान् हम पर दया करेंगे ? हम अपने कष्ट में भगवान् को दया माँगते हैं कि नहीं ? *'दया करो हे दयालु भगवन्'* —भजन गाते हो, और तुम दया नहीं करोगे तो भगवान् तुम पर दया कैसे करेंगे ? जो भी दुःखी है,

पीड़ित है, कष्टग्रस्त है — उसके ऊपर दया करनी चाहिए और इसमें कोई भेद नहीं होना चाहिए। *'दया भूतेषु'* —इसमें *'मनुष्येषु'* भी नहीं कहा गया। *'भूतेषु'* —समस्त प्राणियों पर। गाय, बछड़े, कुत्ते, बिल्ली सब पर। जो भी दुःखी है, कष्टग्रस्त है उस पर दया करो। उसके दुःख को दूर करने की चेष्टा करो। केवल मौखिक सहानुभूति नहीं। दया उसको कहते हैं जो दूसरे के दुःख का निवारण करने का प्रयास करे। *'परदुःख निवारणक्षम'* —दूसरे के दुःख का निवारण करने के लिए जब तुम प्रयत्नवान होगे तब तुम्हारी दया सच्ची दया है। जब तक तुमने प्रयत्न नहीं किया तब तक तुम्हारी दया, दया नहीं है।

'अलोलुप्त्वं' —लोलुपता किसे कहते हैं ? कुत्ते को माँस का टुकड़ा दिखाओ। जीभ से लार टपकने लगती है। यह लोपुपता है। जब विषय को देखकर हमारे मन में उसके भोग की लालसा जाग जाए तो हम विषय-लोलुप हैं। परन्तु विषय हमारे सामने है, विषय और इन्द्रियों का संयोग होने पर भी जब मन में विकार न आए, तब हुआ *अलोलुप्त्वं।* कोई सुन्दर रूप है, आँख देख रही है लेकिन विकार नहीं आया। माँ का भाव आया, भाई का भाव आया, बहन का भाव आया– यह अलोलुपता है। स्वादिष्ट पदार्थ हैं, जीभ से लार नहीं टपकी। भोग करने की इच्छा पर जब जय प्राप्त होती है और विषयों के साथ इन्द्रियों का संयोजन होने पर भी जब उसमें विकार नहीं आता तब अलोलुपता आती है। हम तो विषय को देखते ही लार टपकाने लगते हैं। इसलिए हम भगवान् की ओर जब चलना चाहें, दैवी सम्पदा प्राप्त करना चाहें तो हममें अलोलुपता होनी चाहिए।

'मार्दवं' —यानी मृदुता होनी चाहिए, कोमलता होनी चाहिए, कठोर वाणी नहीं बोलनी चाहिए। कठोर चित्त भी नहीं होना चाहिए। मन कठोर नहीं होना चाहिए, कोमल होना चाहिए, मृदु होना चाहिए। मृदु बनता है किसी को घिस-घिस कर, दबा-दबा कर। चंदन को घिसते रहते हैं, तब वह कोमल बनता है। कष्ट से जो गुजरा होता है, वही कोमल होता है, दूसरा नहीं। कहा है—

जाके पैर न फटी बिवाई। सो का जाने पीर पराई।।
बाँझ कि जान प्रसव कै पीरा। (मानस.१/९६-४)

जो वंध्या है, बांझ है उसे प्रसव की पीड़ा समझ में आती है ? हमारा चित्त कोमल तब होगा जब हम कष्ट से, दुःख से गुजरेंगे। अज्ञेय ने कहा है—

"दुःख सबको माँजता है / और सबको मुक्त करना वह न जाने किन्तु
जिनको माँजता है / उन्हें यह सीख देता है / कि सबको मुक्त रखें।"

तो जो दुःखी है वह दूसरों के दुःख को समझता है और मृदु हृदय से उसके उस दुःख में द्रवित होता है।

'ह्रीः' —ह्रीः माने लज्जा, संकोच। कोई बुरा काम करने पर अगर किसी को लज्जा न आए तो हम कहते हैं बड़ा बेहया है, निर्लज्ज है। किसको कहते हैं निर्लज्ज? जो लोक विरुद्ध काम करे, अधर्म करे, अन्याय करे और उसकी डींग मारे। आप इस बात पर भी ध्यान दीजिए कि अच्छे गुण सब देशों में अच्छे माने गए हैं। सब धर्मों में भी अच्छे माने गए हैं। हमारे धर्म में कुछ और भी विशेषताएँ होंगी लेकिन बहुत से गुण समान हैं। जैसे मैंने कहा न कि बेहयाई कभी अच्छी नहीं है। अगर तुमसे कोई गलत काम हो गया, बुरा काम हो गया, लोक विरुद्ध काम हो गया तो उसके लिए संकोच होना चाहिए। उसके लिए शर्म आनी चाहिए। उसको दुहराना नहीं चाहिए।

'अचापलम्' —यानी चंचलता नहीं होनी चाहिए। आपने बहुत से लोगों को देखा होगा कि वे अकारण चंचल होते हैं—बैठे-बैठे पैर हिलाते रहते हैं, हाथ हिलाते रहते हैं। हाथ-पाँव वह हिलाता है जिसका भीतर मन हिलता रहता है। भीतर की जो हीनता है, बेचैनी है, छटपटाहट है, वह उसके अनजाने उसके अंगों में प्रतिफलित होती रहती है। उसकी इंद्रियाँ उसके अधीन नहीं हैं। वह चाहता नहीं है कि वह हाथ हिलाए या पैर हिलाए, लेकिन हिलता है। उस पर नियंत्रण होना चाहिए। बंदर की तरह चंचलता नहीं चाहिए। गंभीरता चाहिए, शांति चाहिए। कहीं बैठ ही नहीं सकते, दो मिनट सुन ही नहीं सकते किसी की बात, मन ही नहीं लगता। चंचल हो जाता है। शरीर भी चंचल, मन भी चंचल, ऐसा नहीं। *'अचापलम्'* यानी गंभीरता आनी चाहिए। अगर कोई बड़ी बात हो रही है तो उसमें मन लगना चाहिए। शरीर को थोड़ी देर तक शांति के साथ बैठने का अभ्यास होना चाहिए। एक ही आसन से हम क्यों नहीं बैठ सकते ? यह अपने ऊपर अधिकार होना चाहिए।

प्रथम और द्वितीय श्लोक में भगवान् ने बीस दैवी गुणों का वर्णन किया है। अब तीसरे श्लोक में बाकी ६ गुणों को बता रहे हैं—

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।। (१६/३)

तेजः —तेज कहते हैं उस शक्ति को जो किसी के अन्याय को न सहे। तेज आपके चरित्र से आप में आता है। क्रोध तेज नहीं है। आप अगर सच्चरित्र हैं, आपने अगर बराबर अच्छे काम किए हैं तो आपके सामने बुरे काम करने में लोग संकोच का

अनुभव करेंगे। आपका तेज उनको स्तब्ध कर देगा। आपके सामने गलत बात नहीं बोलेंगे। तेज माने अगर कोई अन्याय करे तो उसका विरोध करना चाहिए। लक्ष्मण जी तेजवंत थे, उन्हें 'तेजनिधान' कहा है। तेज वास्तव में होता है आत्मबल का, सद्गुण का, अपनी उत्तम विद्या का। हमलोगों की चाह क्या है ? *'तेजस्विनावधीतमस्तु'* — हमारा पढ़ा हुआ तेजस्वी हो। हमने जो पढ़ा है, भले ही थोड़ा पढ़ा है लेकिन अगर हमने अपने पढ़े हुए को गुना है, उसको अपने जीवन में उतारा है तो हमारा अधीत, हमारा पढ़ा हुआ तेजस्वी होता है। यह गुरु और शिष्य की साँझी प्रार्थना है—

'तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषावहै'

हम एक दूसरे से द्वेष न करें। हमने जो पढ़ा है वह तेजस्विता प्राप्त करे। तेजस्विता कैसे प्राप्त होगी ? जब हम बिकेंगे नहीं। जो अपना ज्ञान बेचता है, उसका ज्ञान तेजस्वी कैसे होगा ? मलिक मुहम्मद जायसी का तोता कहता है—

पंडित होइ सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाइ भूलि गा पढ़ा ।।

जो पंडित होता है वह कहीं बिकता है ? *'चहौं बिकाइ'* —जो बिकना चाहता है। *'भूलि गा पढ़ा'* —वह पढ़ा हुआ भूल जाता है। विद्या तेजस्वी नहीं रह गई उसकी। तेज उस क्षमता को कहते हैं जो हमारे आचरण से, हमारी विशेष पात्रता से हममें विकसित होता है। जिसके कारण हम पर कोई अन्याय नहीं कर सकता, हमारे सामने कोई अनुचित व्यवहार नहीं कर सकता। अगर कोई गलत काम करे तो उसको डाँट देने की, उसको रोकने की हिम्मत होनी चाहिए। इसको कहते हैं तेज।

'क्षमा' —क्षमा कहते हैं सह लेना, गलती को माफ कर देना, झेल लेना, सह लेना। वह अक्षम है, वह इसके अयोग्य है। हिन्दी में सक्षम शब्द चलता है, वह गलत है। क्षम का मतलब ही है जो क्षमता युक्त है, जो कर सकता है जो झेल सकता है। किसी ने कोई गलती की। हम उसे दण्ड दे सकते हैं लेकिन फिर भी उसको माफ कर दिया। दिनकर जी के शब्दों में—

क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल है।
उसको क्या जो दंतहीन - विषरहित, विनीत सरल है।।

जो अपदार्थ है, वह क्षमावान नहीं कहला सकता है। जो क्षमतावान है, जो अपराध करने वाले को दण्डित कर सकता है, वह अगर दण्ड न देकर उसे क्षमा कर दे तो वह क्षमा है। परन्तु नीतिकार लोग कहते हैं कि हर समय क्षमा नहीं होनी चाहिए। *'न नित्यं श्रेयसि क्षमा'* बराबर क्षमा करते रहो यह उचित नहीं है। लेकिन भक्त लोग कहते हैं कि क्षमा करो— *जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल।*

भक्त लोग कहते हैं कि तुम क्षमा कर दो भगवान् तुम पर प्रसन्न होंगे। नीतिकार लोग कहते हैं कि क्षमा नहीं। श्रीकृष्ण ने शिशुपाल को सौ बार क्षमा किया पर जब उसने एक सौ एकवीं बार गाली दी तो उन्होंने सुदर्शन चक्र चलाया और उसका सिर काट दिया। लेकिन क्षमा की भी एक सीमा होनी चाहिए ऐसा नीतिकार लोग कहते हैं। भक्तलोग कहते हैं कि निरवधि क्षमा होनी चाहिए। साधारण जीवन में छोटे से अपराध पर हम आग-बबूला हो गए—यह ठीक नहीं है।

'धृति' —कहते हैं धारण करने की क्षमता को, धीरज को। धृति उस योग्यता को कहते हैं जो टूट कर बिखर जाने से बचाए, धृति वह पात्रता है, योग्यता है। हम बहुत थक गए हैं, काम नहीं कर पा रहे हैं, अब गिरे कि तब गिरे। लेकिन अपने को सम्हाल कर चल रहे हैं। यानी धीरज रखा है चारों तरफ से प्रतिकूल स्थिति है लेकिन हार नहीं मान रहे हैं— यह धृति या धीरज है। *धृति* यानी जो धारण करे। यह धर्म का एक लक्षण है—

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचं इन्द्रिय निग्रह ।
धीः विद्या सत्यमक्रोधः दशकं धर्म लक्षणम् ।।

धृति में भी वही धृ क्रिया है जो धर्म में है। जो धारण करे, वह धर्म है। जो धारण करे, वही धृति है। जब कोई अनुकूल स्थिति नहीं है, तब भी जो हार न माने, वही धृति है। और सहेंगे — और सहेंगे। प्रसाद जी की एक अच्छी पंक्ति है—

सम्हाले चल, कितनी है दूर प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर ।

कोई भी मुसीबत धीरज से आप काट सकते हैं। आदमी हार न माने। आदमी टूट न जाय। भगवान् पर भरोसा रखकर आदमी जूटा रहे, जुड़ा रहे।

'शौचम्' —यानी शुचिता, पवित्रता। दोनों प्रकार की। बाह्य शौच, आन्तर-शौच। बाह्य-शौच यानी शरीर शुद्ध होना चाहिए। नित्य स्नान करना चाहिए। विवेकानन्द ने कहा कि मैं विदेश में आया हूँ। कपड़े तो ये लोग बहुत अच्छे पहनते हैं और सात-सात-दस-दस दिन तक नहाते ही नहीं है। दुर्गन्ध आती रहती है। हमारे यहाँ लोग शुचिता और स्वच्छता को अलग कर लेते हैं। कुछ स्थितियों में शुचिता स्वच्छता के अलावा भी होती है। सामान्य तौर पर बाह्य शौच माने स्वच्छता। प्रतिदिन स्नान होना चाहिए। बाहरी शुचिता के साथ भीतरी शुचिता भी होनी चाहिए। काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या-द्वेष नहीं होना चाहिए। भीतर लालसाएँ नहीं होनी चाहिए।

हमारे यहाँ सब प्रकार की शुचिताओं में अर्थ-शुचिता को सबसे बड़ी माना है। जो आर्थिक क्षेत्र में भी पवित्र है, वही पवित्र है। केवल मिट्टी से हाथ धो लिया, नहा

लिया— तो वह पर्याप्त नहीं है। भीतर, हमारा मन पवित्र, शुद्ध होना चाहिए। भीतरी और बाहरी शुद्धता दोनों इस शौच में आता है।

'*अद्रोह*' —अद्रोह माने किसी से द्रोह नहीं रखना। रामचन्द्र शुक्ल कहते थे कि द्रोह या वैर क्रोध का मुरब्बा है। क्रोध चढ़ा, उतर गया। बेल तो थोड़े समय में ही सड़ जाएगा, उसका मुरब्बा बना लिया तो बहुत दिनों तक रहेगा। तो क्रोध जब पुंजीभूत होता है तो वह वैर या द्रोह बनता है। किसी ने आपका अपमान कर दिया। आपको क्रोध आ गया, आप उस समय बदला नहीं ले सके तो आप उस क्रोध को पालते रहेंगे। उसकी हर बात आपको बुरी लगने लगेगी तो यह हो गया वैर। जब भी आपको मौका मिला तो आपने उसका अपमान किया, अकल्याण किया, यह आपको बहुत नीचा गिराने वाला पक्ष है। किसी के प्रति वैर पाल कर हम उसका बुरा तो जब करेंगे-तब करेंगे, अपना तो तत्काल ही करेंगे। क्रोध है '*आश्रयास*' अर्थात् अपने आश्रयदाता को खाने वाला। आप लकड़ी में आग जलाकर किसी का घर जलाएँ। घर तो बाद में जलेगा, लकड़ी पहले जल जाएगी। क्रोध आपके मन में आया, आपकी आँख लाल हो गई। आपको उचित-अनुचित का विवेक नहीं रह गया। आपका स्वर ऊँचा हो गया, आपका आचरण भ्रष्ट हो गया। क्रोधी लोग तो अपने माता-पिता, गुरु का भी अपमान कर देते हैं। तो 'अद्रोहो' यानी हम किसी के प्रति द्रोह का भाव नहीं रखेंगे।

अपने धर्म की एक विशेषता पर आप गौरव कर सकते हैं। दुनिया का कोई दूसरा धर्म नहीं है जो सबके मंगल की कामना करता है। ईसाई केवल ईसाई के मंगल की कामना करता है। जो ईसाई हैं वे ही स्वर्ग जाएँगे। जो ईसाई नहीं हैं—वे नरक में जाएँगे। मुसलमान भी ऐसा ही कहते हैं— मुहम्मद अली ने कहा कि—चोर से चोर, दुश्चरित्र से दुश्चरित्र मुसलमान भी महात्मा गाँधी से अच्छा है। क्योंकि वह मुसलमान है, इसलिए मुहम्मद साहब उसकी गवाही देंगे, इसलिए बहिश्त में जाएगा और जो मुसलमान नहीं हैं वे दोजख में जाएँगे। यहूदियों की भी सोच ऐसी ही है। जरा सोचिए। हमारा धर्म ही अकेला ऐसा धर्म है जो सबका कल्याण चाहता है। वह यह नहीं कहता कि केवल हिन्दू ही सुखी हों। क्या कहता है हमारा धर्म—

सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ।।

सभी सुखी हों। हम केवल हिन्दू का ही कल्याण नहीं चाहते। अपने-अपने धर्म पर तुम दृढ़ रहो, भगवान् तुमको सुखी करेंगे। किसी को भी दुःख न हो। यह है हमारी प्रार्थना। भगवान् ने गीता में भी कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । (४/११-२)

जो जिस रास्ते से मेरे पास आता है, मैं उसको उस रास्ते से स्वीकार करूंगा। आप अपने रास्ते पर ईमानदारी से चलिए। *बीथी भगवत्-मिलन की, निहचय एक न होय ।* स्वामी विवेकानन्द ने भी शिकागो के विश्वधर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म की इसी विशेषता की ओर सबका ध्यान खींचा था।

'अद्रोह' हममें होना ही चाहिए। किसी के प्रति द्रोह नहीं। अन्याय को अस्वीकार करेंगे, अन्याय का विरोध करेंगे, लेकिन किसी के प्रति बद्धमूल द्रोह नहीं पालेंगे।

'नातिमानिता' —दैवी सम्पदा का छब्बीसवाँ गुण है अतिमानी नहीं होना, अहंकार नहीं हो। विनोबा भावे कहते हैं कि सेनापति है अभय, हरावल है अभय और सबसे पीछे है, सबकी रक्षा करने वाला है विनय—विनम्रता। *'नातिमानिता'* माने विनम्रता। *पैसे असीस, लचैये जो सौस, लची रहिए तब ऊँची कहैये।*

किसी का आशीर्वाद तब मिलता है जब हम सिर झुकाते हैं—विनम्र होते हैं। 'नातिमानिता' का एक विशेष अर्थ भी बताया गया। कि मान तो थोड़ा होना चाहिए, अतिमान नहीं होना चाहिए। मान का भाव मानिता, अतिमान का भाव अतिमानिता। मान का मतलब क्या है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे ।। (मानस.३/१०-२१)

मान होना चाहिए अपने गुरु का, गुरु से प्राप्त ज्ञान का; भगवत्कृपा का, भगवान् का— अपने तुच्छ गुणों का नहीं। ठीक है, स्वाभिमान होना चाहिए। भगवान् की कृपा का बल रहना चाहिए। थोड़ी मानिता रख भी लीजिए लेकिन अतिमानिता तो नहीं ही होनी चाहिए। जो ज्यादा अहंकार करेगा, जो घमण्डी होगा उसका सिर अन्त में नीचा होगा, वह अपमानित होगा। घमण्ड नहीं करना चाहिए; भगवान् की कृपा का, भगवान् की शक्ति का आधार लेकर काम करना चाहिए।

अभय से लेकर नातिमानिता तक २६ गुण हैं। इन २६ गुणों में पहले तीन गुण प्रधान हैं। *अभयं सत्व संशुद्धिः* बाद बाकी गुण उन्हीं के पूरक, पोषक गुण हैं। इन २६ गुणों से जो युक्त है, वह दैवी सम्पदा का अधिकारी है, भगवान् की कृपा उस पर सहज बरसेगी। बिना इन गुणों के कल्याणमार्ग पर चल कर सिद्धि प्राप्त करना संभव नहीं है। ये गुण दैवी प्रकृति के मनुष्य के परिचायक हैं।

सोलहवें अध्याय के आरंभिक तीन श्लोकों में 'दैवी सम्पदा' के विवेचन के उपरांत अगले १७ श्लोकों (श्लोक संख्या ४ से २०) में आसुरी सम्पदा का विश्लेषण किया गया है। उसकी व्याख्या अगले प्रवचन में होगी। ●

प्रवचन-४५*

आसुरी सम्पदा

भगवान् की कृपा है कि प्रवचन का संकल्प निभ रहा है। *'दैवासुर सम्पद विभाग योग'* यह षोड़श अध्याय का विषय है। दैवी सम्पदा की चर्चा हमने अपने पिछले प्रवचन में की थी और देखा था कि छब्बीस गुण दैवी सम्पदा के हैं। ये गुण *'अभय'* से शुरू होते हैं और *'नातिमानिता'* में, विनय में समाप्त होते हैं। दैव का अर्थ होता है *'द्यौ'* — प्रकाश। दैवी गुण सत्त्व की ओर, प्रकाश की ओर, शुद्धता की ओर, परमात्मा की ओर, चैतन्य की ओर ले जाते हैं। आसुरी गुण क्या करते हैं ? कहा है— *असुषु प्राणेषु इन्द्रियेषु रमंते इति असुराः ।*

असु में, प्राण में, इन्द्रियों में जो रमण करते हैं वे असुर होते हैं। आप अपने शरीर की ओर ध्यान दीजिए तो शरीर में दो तत्त्व हैं। एक तो है देह। पंच महाभूतों से बना हुआ, जड़ पदार्थों का समुच्चय है यह देह। जो अनेक पदार्थों से बनता है, वह अपने लिए नहीं होता यह नियम है। मोटर अनेक कलपुर्जों से बनती है—वह अपने लिए नहीं होती। कपड़ा बहुत सी चीजों से बनता है—सुई-धागा लगता है आदि-आदि, अपने लिए नहीं होता। तो बहुत से पदार्थों से बनी हुई वस्तु अपने लिए नहीं होती। शरीर अपने-आपमें अपने लिए नहीं है। इस देह का स्वामी है—देही, आत्मा। आत्मा है चैतन्य और आप उसके अंश के रूप में जीव को मानें और परमात्मा के अंश के रूप में आत्मा को मानें। चैतन्य की ओर ले जाने वाला तत्त्व सत्त्व गुणी सम्पदा है, दैवी सम्पदा है। जो जड़ोन्मुख-सम्पदा है, जो जड़ की ओर, उपभोग की ओर, पदार्थों की ओर, इन्द्रियों की ओर, प्राणों और इन्द्रियों के माध्यम से सुख प्राप्ति की ओर ले जाने वाली सम्पदा है—-आसुरी सम्पदा। गीता के नवम् अध्याय में तीन प्रकृतियाँ बताई गयी हैं— दैवी, आसुरी और राक्षसी। उसमें दैवी है सात्त्विक गुणों की प्रवृत्ति, आसुरी मुख्यतः रजोगुणी प्रवृत्तियाँ हैं और राक्षसी हैं तामसी प्रवृत्तियाँ, तमोगुणी प्रवृत्तियाँ। सोलहवें अध्याय में भगवान् ने तमोगुणी प्रवृत्तियों का समाहार भी रजोगुण से कर दिया है। जो तमोगुणी प्रवृत्तियाँ हैं वे

* षोडश अध्याय (दैवासुर सम्पद् विभाग योग) : श्लोक संख्या ४ से १२

अज्ञान-प्रसूत होती हैं। अज्ञान तमोगुण का फल है। जो अज्ञान प्रसूत, हिंसाप्रधान प्रवृत्तियाँ होती हैं वे मनुष्य को किसी भी क्षेत्र में अग्रसर नहीं करती। इसलिए आसुरी सम्पदा के अंतर्गत ही तामसी गुणों को भी समेट लिया है। वास्तव में रजः प्रधान आसुरी गुण होते हैं और तमः प्रधान राक्षसी गुण होते हैं। लेकिन सोलहवें अध्याय में रजोगुण और तमोगुण दोनों से उत्पन्न प्रवृत्तियों को आसुरी सम्पदा के अंतर्गत रख लिया गया है जिसमें देह के उपभोग को प्रधानता दी गयी है। शरीर को, हम कैसे सुन्दर बनाएँ, कैसे चमकाएँ; शरीर को कैसे खिलाएँ, पहनाएँ। शरीर का सम्मान कैसे बढ़े, शरीर का अधिकार कैसे बढ़े। शरीर केन्द्रित दृष्टि, जड़ोन्मुख दृष्टि, अपना और दूसरों का अकल्याण करने वाली दृष्टि है, क्योंकि यह आरंभ में तो सुख का अनुभव कराती है पर उसका परिणाम विष की तरह होता है। अठारहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं—

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।। (१८/३८)

इन्द्रियों और विषयों के संयोग से प्राप्त सुख आरंभ में अमृत के समान लगते हैं। चूँकि अमृत के समान लगते हैं इसलिए उनको हम प्राप्त करने की इच्छा करते हैं और उनकी प्राप्ति में जब हम दुष्प्रयास करते हैं, अन्याय करते हैं, अधर्म भी करते हैं तो उसका परिणाम विष की तरह भोगना पड़ता है। लेकिन यह बात सहज ही समझ में नहीं आती। इसलिए प्रभु ने पहले षोडश अध्याय में दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा का विस्तृत विवेचन किया, क्योंकि प्रभु चाहते हैं कि हम, आप दैवी सम्पदा को अंगीकार करें, स्वीकार करें, दैवी सम्पदा का अपने में विकास करने की साधना करें और आसुरी सम्पदा से बचें। हम जब तक समझेंगे ही नहीं कि आसुरी सम्पदा क्या है; किन दुर्गुणों के कारण हमको दुःख होगा, कष्ट होगा, हमारा अधःपतन होगा; जब तक हम उन दुर्गुणों को जानेंगे ही नहीं तब तक हम उनसे बच भी नहीं सकते। इसलिए सोलहवें अध्याय में उन दुर्गुणों का निरूपण किया जा रहा है— इस उद्देश्य से कि हम अपने में उनको लक्षित करें और हम अपने में से उनको निकालें।

मैंने आपको पिछली बार बताया था कि यह दैवासुर संग्राम हमारे भीतर भी चलता रहता है। हममें सत्त्व गुण की वृत्तियाँ हैं, रजो गुण की वृत्तियाँ भी हैं, तमोगुण की वृत्तियाँ भी हैं क्योंकि हम त्रिगुणात्मक हैं। जिसमें सत्त्व गुण की प्रधानता होती है। वह अच्छे कर्म करता है, उसको जगत् 'देवता' कहता है। जिसमें तमोगुण की प्रधानता होती है वह कुकृत्य करता है, बुरे कर्म करता है, उसको जगत् 'असुर' कहता है। 'राक्षस' कहता है। रामचरितमानस का दोहा है—

बरनि न जाइ अनीति, घोर निसाचर जो करहिं ।
हिंसा पर अति प्रीति, तिनके पापहिं कवनि मिति ।। (मानस.१/१८३)

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा । जे लम्पट परधन पर दारा ।।
मानहिं मातु-पिता नहिं देवा । साधुन्ह सन करवावहिं सेवा ।।
जिन्हके यह आचरन भवानी । ते जानेहु निसिचर सब प्रानी ।।

(मानस.१/१८३-१-३)

पुराणों में आता है कि कोई स्वर्ग है, उसमें देवता रहते हैं; कोई पाताल है, उसमें असुर रहते हैं। माना कि पुराणों की कहानी पुराणों के लिए मान्य है। लेकिन हम आप भी अपने जीवन में, अपने भीतर कभी-कभी दैवी प्रवृत्ति का अनुभव करते हैं, अधिकतर आसुरी प्रवृत्तियों का अनुभव करते हैं। अपनी उन आसुरी प्रवृत्तियों का नियंत्रण कैसे करें ? अपनी दैवी प्रवृत्तियों का विकास कैसे करें—इसका सचेत प्रयास होना चाहिए। हमारे, आपके सबके हृदय में देवासुर-संग्राम चल रहा है—

पाप-पुण्य का युद्ध है, जीवन जिसका नाम ।
जारी है हर हृदय में, देवासुर-संग्राम ।।

यह देवासुर-संग्राम सबके हृदय में चल रहा है। हम देवोन्मुख हो रहे हैं कि असुरोन्मुख हो रहे हैं—इस पर अगर हमारी दृष्टि नहीं रहेगी तो हम असुरोन्मुख होते चले जाएँगे क्योंकि सुख या भोग प्रारंभ में आकर्षक हैं, उसके आकर्षण से हम खिंच जाएँगे। दैवी सम्पदा तपस्या से प्राप्त होती है, इसलिए आरम्भ में विष की तरह लगती है पर परिणाम में अमृत की तरह है। अतः यह जो अन्तर है—इसको समझना चाहिए। इस अंतर को समझ कर आसुरी सम्पदा का भी अध्ययन-अनुशीलन इसलिए करना चाहिए कि हमारे भीतर जो आसुरी संपदाएँ विद्यमान हैं, उनसे हम कैसे बचें, उनको कैसे संशोधित करें। हम कैसे सत्त्वोन्मुखी हों—इस बात पर दृष्टि आकर्षित करने के लिए भगवान् आसुरी सम्पदा का भी विवेचन कर रहे हैं। एक ही श्लोक में उन्होंने मुख्य छह दुर्गुणों को आसुरी सम्पदा की संज्ञा दी है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।। (१६/४)

भगवान् ने सोलहवें अध्याय में रजोगुणी और तमोगुणी प्रवृत्तियों का मिश्रण आसुरी सम्पदा में किया है। आप देखिए कि दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध और कठोरता — ये मुख्यतः रजोगुण की प्रवृत्तियाँ हैं और अज्ञान तमोगुण की प्रवृत्ति है। लेकिन दोनों को मिलाकर उन्होंने आसुरी संपदा कहा है।

'दंभ' — किसको कहते हैं ? हम जो नहीं हैं —सम्मान प्राप्त करने के लिए अपने को वैसा दिखाना 'दंभ' है। दम्भी माने—सद्गुणों का दिखावा, जिससे दूसरे लोग सम्मान करें, अच्छा आदमी मान लें। ऐसा आदमी जब अच्छा काम भी करता है तो भी उसकी दृष्टि अच्छे काम के प्रति समर्पित नहीं होती; बल्कि उस अच्छे काम के बहाने वह अपनी ख्याति चाहता है, अपना यश चाहता है। वह विशेषाधिकार चाहता है। दंभ मनुष्य को बहुत ही जल्दी गिरा देता है।

उघरहिं अंत न होइ निबाहू ।
कालनेमि जिमि रावन राहू ।। (मानस.१/६-६)

किसी का पाखंड हमेशा नहीं चल सकता, दंभ उघड़ जाएगा, साधु बनकर जाओ लेकिन तुम्हारे भीतर का राक्षस प्रकट हो जाएगा। इसलिए दंभ आसुरी सम्पदा है। '*दर्प*' और '*अभिमान*' ये दोनों अहंकार के नाम हैं, लेकिन चूँकि दोनों का साथ-साथ प्रयोग किया है इसलिए विद्वानों ने थोड़ा-सा अन्तर कर दिया है। 'दर्प' हर्ष का वह अंश जो अपने किसी गुण-विशेष के द्वारा धर्म का अतिक्रमण करता है।

हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्मं अतिक्रमति ।

जब आप अपनी ममता की संपदा से प्रसन्न होते हैं, हृष्ट होते हैं। आपका धन, आपका मकान, आपकी मोटर, आपकी पार्टी, नाते-रिश्तेदार, आपकी पोशाक— ये जो ममता से सम्पृक्त आपके संबल हैं ये आपको हर्षित करते हैं।

जब दर्प आएगा तो वह धर्म का अतिक्रमण करेगा। जो औचित्य है, उसके आगे सिर नहीं झुकाएगा। उसको लाँघ जाएगा। दर्प करने वाला व्यक्ति निश्चय ही अनुचित व्यवहार की ओर चला जाएगा।

'*अभिमानश्च*' —शंकराचार्य जी ने 'अतिमान' शब्द स्वीकार किया है और रामानन्दजी ने भी 'अतिमान' माना, लेकिन बहुत से लोगों ने 'अभिमान' माना। इसलिए दोनों की चर्चा कर रहा हूँ। जो दर्प को अहंकार का ममता-संपुष्ट रूप मानते हैं, ममता संयुक्त रूप मानते हैं वे लोग अभिमान को अहंता-संयुक्त रूप मानते हैं। अपने भीतर—अपने रूप के कारण, अपनी विद्या के कारण, अपनी बुद्धि के कारण, अपने उच्च कुल के कारण जो अहंकार आता है, वह अभिमान है। ममतापरक अहंकार दर्प है। अहंतापरक अपने शरीर के भीतर है और ममतापरक अहंकार बाहर है। संपदा बाहर है, 'मकान', 'मोटर' बाहर हैं। लेकिन जो अपने भीतर है अपना गुण, अपनी बुद्धि, अपना रूप, अपनी शक्ति— ये अभिमान के कारण हैं। यह बात उनके लिए है जो लोग 'अभिमान' पाठ स्वीकार करते हैं।

शंकराचार्य जी ने 'अतिमान' स्वीकार किया। थोड़ा बहुत मान तो रहता है उसको भगवान् भी स्वीकार कर लेंगे। तुलसीबाबा ने कहा है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।। (मानस.३/१०-२१)

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। सच्चा ज्ञान तो वह है जहाँ कोई मान न हो, अभिमान भी न हो। लेकिन तुलसीबाबा ने कहा कि एक अभिमान तो मैं नहीं छोड़ूँगा, चाहे रामजी भी नाराज हो जाएँ। वह अभिमान यह है कि मैं सेवक हूँ और रामजी मेरे स्वामी हैं। यह अभिमान सात्त्विक अभिमान है। ज्ञानी लोग मुझको अज्ञानी मानते रहें। अज्ञानी ही सही, लेकिन मैं रामजी का सेवक हूँ।

हम चाकर रघुवीर के, पटो लिखो दरबार ।
तुलसी अब का होइंगे, नर के मनसबदार ।।

मैं राम जी का सेवक हूँ। राम जी के दरबार में मेरे नाम का पट्टा लिखा हुआ है। क्यों किसी राजा के, किसी सेठ के मनसबदार होंगे। यह राम के सेवक होने का गौरव कल्याणकारी है। इसलिए बाबा इसको नहीं छोड़ते।

'क्रोध' —आप याद रखें कि जो सुखों को रोक दे, उन्हें नष्ट कर दे, वह क्रोध है। क्रोध होता क्यों है ? जो हमारी कामना को पूर्ण नहीं होने देता, जो हमारी कामना को रोकने का दुस्साहस करता है उसके ऊपर क्रोध होता है। क्रोध उस ज्वलनशील प्रवृत्ति का नाम है जो अपनी इच्छा को पूर्ण न करने वाले या बाधा देने वाले का अकल्याण करना चाहती है। यह ज्वलनशील प्रवृत्ति है। इसलिए उसको भी जलाएगी जिसके ऊपर क्रोध है लेकिन उसको भी जलाएगी जो क्रोध करता है। इस पर ध्यान दीजिए। क्रोध करने वाला जिस पर क्रोध करता है उसका बुरा करेगा या नहीं— यह तो विवादास्पद है लेकिन अपना बुरा तो उसने तुरन्त कर लिया। क्रोध आने के बाद आप अपना चेहरा देख लीजिए शीशे में। विकृत हो जाता है, लाल हो जाता है, आँखों में हिंसा आ जाती है, रक्त-चाप बढ़ जाता है। मनुष्य अस्वस्थ हो जाता है। क्रोध आग है। आग को 'आश्रेयास' कहते हैं—अपने आश्रय को खा लेने वाला। लकड़ी में आग लगा कर दूसरे का घर जलाओगे तुम ? लकड़ी पहले जलेगी। तो क्रोध जिसको आता है, पहले उसका अहित करता है और कितना अहित करता है ? नारायण ! ज्ञानशून्य हो जाता है क्रोधी आदमी। क्या कहना चाहिए, क्या नहीं कहना चाहिए; क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, किससे कैसा व्यवहार करना चाहिए ? कुछ उसको दिखायी नहीं पड़ता। अंधा हो जाता है।

'पारुष्यमेव च' —पारुष्य माने कठोर। अहंकारी आदमी की वाणी कठोर होती

है। अहंकारी कौन ? मैं बड़ा, मैं सबसे बड़ा — मुझसे बड़ा कौन ? किसी का क्या अस्तित्व है मेरे सामने ? कड़वी ही बात कहेंगे, कठोर बात कहेंगे। गालियाँ देकर बात करेंगे। क्यों करोगे भाई ? तो दम्भ से लेकर पारुष्य तक— ये सारी वृत्तियाँ, रजोगुण समुद्भूत वृत्तियाँ हैं। यह आसुरी सम्पदा रजोगुण प्रधान है, रजोगुण-प्रेरित है। रज हमको ऐश्वर्य की ओर, भोग की ओर प्रेरित करता है। इस ऐश्वर्य के कारण हम मदमत्त होते हैं और दूसरों को तुच्छ समझते हैं। उस भोग वृत्ति में बाधा देने वाले को हम अपना विरोधी मानते हैं, उस पर क्रोध करते हैं, उससे कड़वा व्यवहार करते हैं —ये सब रजोगुणी संपदा हैं।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ।

अज्ञान तमोगुणी है। अज्ञान, ज्ञान का विपरीत है। ज्ञान क्या करता है ? ज्ञान बताता है क्या उचित है, क्या अनुचित है। क्या सत् है, क्या असत् है। सत् और असत्, उचित और अनुचित, करणीय और अकरणीय, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का बोध होता है ज्ञान से और जब अज्ञान आता है तो हमको कुछ मालूम ही नहीं पड़ता। प्रमाद, आलस्य, निद्रा और अज्ञान तम के फल हैं। तो हम आज का काम कल, कल का काम परसों करते हैं, सोते रहते हैं, दूसरों की हिंसा करने पर उतारू हो जाते हैं। तो अज्ञान तमोगुणी प्रवृत्ति है और भगवान् ने चूँकि तमोगुणी प्रवृत्तियों का विस्तार से वर्णन नहीं किया इसलिए राक्षसी प्रवृत्तियों का जो तमोगुणी पक्ष है उसको आसुरी संपदा में समेट लिया। '*अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्*' इन छहों दुर्गुणों के साथ जो अभिजात पैदा हुआ है, वह आसुरी संपदा से युक्त है। अब अर्जुन को डर लगा। मैं क्या आसुरी संपदा वाला नहीं हूँ ? आप अपने भीतर झाँक कर देखिए ! हम सब में थोड़ी सी दैवी संपदा है और बहुत सी आसुरी संपदा है। उस आसुरी संपदा के कारण ही हम पथभ्रष्ट होते हैं, हम गलत काम करते हैं। जहाँ हम आसुरी संपदा को पहचान लेंगे, क्रोध कम हो जाएगा। जब तक आप यह कहेंगे कि मैं उचित ही काम कर रहा हूँ। इसने गलत काम किया, इसको दंड देना चाहिए, क्रोध बढ़ता जाएगा। जहाँ आपको प्रतीत होगा कि आपमें क्रोध आ गया, आप में काम जाग गया—आप थोड़ा-सा तो रुकेंगे। पहचानने से चोर डर जाता है और चोर अगर पहचान लिया जाए तो कभी-कभी वह खूँखार भी हो जाता है, लेकिन दोनों बातें हैं। आप अपने दुर्गुण को पहचानिए, तब उस पर नियंत्रण कर सकेंगे।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।। (१६/५)

दैवी संपदा किसलिए है ? मुक्ति के लिए, मोक्ष के लिए। दैवी संपदा मनुष्य को मुक्त करती है। हम जो अज्ञान के बन्धन से, माया के बंधन से बँधे हुए हैं, माया के बंधन को खोलने की क्षमता, उसका साधन, उसके सहायक गुण हैं *'अभय'* से लेकर *'नातिमानिता'* तक। तो इस तरह दैवी संपद हमको माया के बन्धन से विमुक्त करती है। *'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'* ।

और *निबन्धायासुरी मता* —'निबन्ध' कहा, केवल बन्ध नहीं कहा, निबन्ध यानी निश्चित रूप से बन्धन का कारण है आसुरी संपदा—यह मेरा मत है। *'मा शुचः'* शोक मत करो । क्योंकि— *सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।*

हे पाण्डव ! हे अर्जुन ! तुम दैवी संपदा के साथ पैदा हुए हो। क्या यह आश्वासन केवल अर्जुन के लिए है ? क्या श्रीमद्भगवदगीता केवल अर्जुन के लिए है ? कहा है— *'पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।'*

जब कहा कि *'सर्वोपनिषदो गावः'* —सारी उपनिषदें गाय हैं। *दोग्धा-गोपालनंदनः* श्रीकृष्ण अहीर हैं, वे दूह रहे हैं। *पार्थो वत्सः* —अर्जुन बछड़ा है। जब तक बछड़ा गाय के थन में मुँह नहीं मारता—दूध उतरता नहीं। तो पार्थ यानी अर्जुन तो माध्यम है। *'पार्थो वत्स'* पार्थ बछड़ा है और उसका भोक्ता सुधी है, विद्वान् है, आप हैं। यह गीतामृत संपूर्ण उपनिषद् रूपी गायों का संकलित दूध है। तो यह आश्वासन केवल अर्जुन को नहीं दिया गया, हमको, आपको दिया गया है। भगवान् हमको-आपको आश्वस्त करते हैं कि हम सब दैवी संपदा के साथ पैदा हुए हैं। हाँ, हममें आसुरी संपदा भी है। अतः हम दैवी संपदा की ओर उन्मुख हों, आसुरी संपदा से बचें, आसुरी दुर्गुणों को अपने में से निकाल दें। अब इसको समझा कर कहते हैं—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।। (१६/६)

दो प्रकार की सृष्टियाँ हैं। 'भूत' माने प्राणी, 'सर्ग' माने सृष्टि। दो प्रकार के प्राणियों की सृष्टियाँ इस लोक में हैं। कुछ देव हैं, कुछ असुर हैं। जिनमें सत्त्व गुण की प्रचुरता है, वे दैवी संपदा के लोग हैं। जिनमें रजोगुण-तमोगुण की प्रधानता है, प्रचुरता है, वे आसुरी संपदा के लोग हैं। लेकिन कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसमें थोड़ा-न-थोड़ा सत्त्व गुण न हो और कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसमें रजोगुण, तमोगुण न हो। क्योंकि त्रिगुणात्मिका माया है और हम सब त्रिगुणात्मिका माया की सृष्टि हैं। इसलिए हममें सत्त्व, रज, तम तीनों गुण हैं। देखना यह है कि विकास अधिक किसका है ? सत्त्व का जितना अधिक विकास होगा, हम दैवी संपदा के उतने अधिक अधिकारी

बनेंगे। रजोगुण, तमोगुण का जितना विकास होगा, हम आसुरी संपदा से उतने अधिक ग्रस्त होंगे। तो उन्होंने कहा कि— *दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ।*

भगवान् कहते हैं कि दैवी संपदा का मैंने विस्तार से विवेचन किया। कहाँ-कहाँ विवेचन किया है ? इसी अध्याय में तीन श्लोकों में छब्बीस गुण दैवी संपदा के बताए हैं। दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के जो गुण हैं वे दैवी संपदा के गुण हैं। जो ज्ञानी के गुण हैं, वे दैवी संपदा के हैं। जो त्रिगुणातीत के गुण हैं वे दैवी संपदा के हैं। जो भक्त के गुण हैं बारहवें अध्याय में — वे सब दैवी संपदा के गुण हैं। तो दैवी संपदा का विस्तार से विवेचन हुआ — स्थितप्रज्ञ के रूप में, ज्ञानी के रूप में, भक्त के रूप में, त्रिगुणातीत के रूप में और इसी अध्याय के पहले तीन श्लोकों में। इसलिए अब मैं आसुरी संपदा का विस्तार से विवेचन कर रहा हूँ जिससे कि तुम आसुरी दुर्गुणों को समझ पाओ और उनसे बचो। आसुरी संपदा जब आती है तो पहली बात क्या होती है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ।। (१६/७)

आसुरी संपदा वालों में पहली बात यह कि किससे प्रवृत्ति होनी चाहिए, किससे निवृत्ति होनी चाहिए— वह यह नहीं समझता। प्रवृत्ति कहते हैं—वृत्ति वर्तन व्यवहार में लग जाना। प्रवृत्ति मूलतः इस संसार के सुख को प्राप्त करने के लिए की गई सामूहिक चेष्टाओं का नाम है। सांसारिक सुख मिल जाए, सांसारिक भोग मिल जाए—यह प्रवृत्ति की दृष्टि है। और जब यह लगने लगता है कि सांसारिक सुख तो छलना है, प्रवंचना है, इससे विमुख होने में ही सच्चा सुख है, तो वह निवृत्ति की दृष्टि होती है। सांसारिक सुख प्राप्त करने की चेष्टा करते रहो तो क्या तृप्ति होती है ? कभी तृप्ति नहीं होगी। कहा है—

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।। (मनुस्मृति)

काम की जितनी तृप्ति करना चाहोगे, कामना उतनी बढ़ेगी। आग में घी की आहुति डालोगे तो आग बुझेगी ? आग उतनी ही प्रबल हो जाएगी। इसलिए प्रवृत्ति का मार्ग हमको आकर्षक तो लगता है, हम उसकी ओर जाते तो हैं लेकिन बाद में हम हाँफ जाते हैं। हमें लगता है कि यह सब निकल रहा है। जैसे बालू हाथ में ले लो और झर जाए। हाथ में पानी लो, निकल जाय। हाथ में कुछ आता नहीं। सारे जीवन, सारी चेष्टाएँ, सारा प्रयास— यह प्रवृत्ति का रास्ता है, उपभोग का रास्ता है, जो एक तरह से प्रवंचना का रास्ता है। इससे वास्तविक तृप्ति नहीं होती।

परन्तु निवृत्ति का मतलब क्रियाहीनता नहीं है। निवृत्ति का मतलब है—संसार के ऐश्वर्य भोग से विमुख होकर आत्मोन्मुख होना। संसार के भोग की वृत्तियाँ जिससे कम हों और आत्मोन्मुख होने की प्रवृत्तियाँ बढ़ें—यह चेष्टा निवृत्ति है। हमलोग अभी संसार की ओर मुख किए हैं। संसार की ओर मुख करके दौड़ते चले जाएँ, भागते रहें छाया के पीछे, छाया आगे-आगे, तुम पीछे-पीछे। एक बार सूर्य की ओर मुँह करके दौड़ना शुरू करो। तुम आगे-आगे, छाया पीछे-पीछे। तो इसी तरह से यह जो छाया की ओर दौड़ना है, विषय-विलास की ओर दौड़ना है — यह प्रवृत्ति है। आत्मोन्मुख होना निवृत्ति है—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं ।।

(मानस.५/४३-२)

एक बार भगवान् की ओर उन्मुख होने के प्रयास से ही बहुत सी दुष्प्रवृत्तियाँ मर जाती हैं और उस निवृत्ति में ही संसार के सुख, भोग-विलास से विरत होकर भगवान् की ओर उन्मुख होने की चेष्टा बढ़ती है। लेकिन जो आसुरी प्रवृत्ति के प्राणी हैं वे न तो प्रवृत्ति को ही ठीक-ठीक जानते हैं और न निवृत्ति को ही ठीक-ठीक जानते हैं। गीता मानती है कि देहधारी के मन में काम होगा ही होगा। गीता यह कहती है कि तुम उस काम-सुख का भोग धर्म के अनुरूप करो—

धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ: । (७/११-२)

धर्म से अविरुद्ध काम मैं हूँ। धर्म से अविरुद्ध काम— इसकी छूट गीता देती है। देहधारी है तो काम उसमें जागेगा। भगवान् की कृपा से धर्म से अविरुद्ध होकर वह काम करे। लेकिन जब धर्म-विरुद्ध काम होता है तो फिर आसुरी संपदा जागती है। तो प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों का मर्म असुर नहीं जानते।

'न शौचं' —उनमें शुचिता नहीं है, पवित्रता नहीं है। शौच माने— शुचिता, पवित्रता। बाहर स्वच्छता हो और भीतर पवित्रता हो। अनेक प्रकार के आचरण के द्वारा हम अपने को पवित्र बनाते हैं — दान देकर, सत्य बोलकर, भगवान् का दर्शन करके, तीर्थ-यात्रा, गंगा-स्नान करके। लेकिन इन सब में हमारा दंभ तो नहीं बढ़ रहा, दिखावा तो नहीं है। भीतर से पवित्रता आनी चाहिए। चित्त शुद्धि हुए बिना भगवद्-प्राप्ति नहीं होगी। शौच का मतलब है—शुचिता, पवित्रता, अंत:करण की शुद्धि।

'न शौचं नापि चाचारो' —जब भीतर ही शुद्धता नहीं होगी तो बाहर भी सदाचार कहाँ होगा ? फिर कदाचार होगा, दुराचार होगा, व्यभिचार होगा। *'न सत्यं तेषु विद्यते'* —उनमें सत्य बोलने की प्रवृत्ति नहीं होगी। सत्य बोलने से कई बार हानि होती

है। तात्कालिक हानि का भय, तात्कालिक सुख प्राप्त करने की लालसा, तात्कालिक लाभ की प्रवृत्ति हमको असत्य का सहारा लेने की प्रेरणा देती है; लेकिन अंततोगत्वा असत्य असत्य ही है। असत्य से दुःख ही होगा— यह बात समझ में नहीं आती और इसलिए उनमें सत्य की वृत्ति भी नहीं रहती। किसी भी तरह से झूठ बोलकर, धोखा देकर, बेईमानी करके सुख भोग लो, अपनी वासना को तृप्त कर लो, अपनी लालसाओं को पूर्ण कर लो— इस बात की वृत्ति उनमें बढ़ती है। तो क्या होता है ?

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।। (१६/८)

आसुरी प्रकृति वाले लोगों का कहना है कि इसका कोई सत्य आधार है ही नहीं। इसकी किसी सत्य वस्तु में प्रतिष्ठा नहीं है। इसका अधिष्ठान कौन है ? वे कहते हैं– अरे! इसके निर्माण का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। यह भोग द्वारा भोग के लिए ही बना है—

यावद्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

जब तक जियो सुख से जियो, उधार लेकर घी पियो। शरीर भस्म हो गया तो फिर कौन जाएगा ? कौन आएगा ? यह दुनिया ऐसी ही है। इस दुनिया में कोई किसी का नहीं है। इसलिए जितना चाहे मौज-मजा कर लो। *'असत्यं'* इसका कोई सत्य-अधिष्ठान, आधार नहीं है, किसी पर आधारित नहीं है। हमलोग मानते हैं कि जगत् का अधिष्ठान परमात्मा है। जगत् का शासक परमात्मा है। कर्म फल को भोगने के लिए हम बाध्य हैं। हम मानते हैं कि एक ईश्वर है, जिसका नियम चल रहा है। इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में हमको फल भोगना ही पड़ेगा। इसलिए दुष्कर्मों से बचो, सत् कर्मों की ओर उन्मुख होओ। वे कहते हैं— न कोई ईश्वर है, न कोई संसार का शासक है, न कोई इसको बनाने वाला है, न इसके निर्माण का कोई प्रयोजन ही है।

'अपरस्परसम्भूतं' —इसके ऊपर थोड़ा विवाद है। सांख्य-शास्त्र यह मानता है कि कार्य-कारण परम्परा से सृष्टि का विकास होता है। कोई कारण है और उस कारण को हम कार्य के रूप में देखते हैं। सांख्य-शास्त्र यह मानता है कि जगत का मूल कारण— अव्यक्त प्रकृति, त्रिगुणात्मिका प्रकृति (सत्त्व-रज-तम गुणों की प्रकृति) है। इन तीनों गुणों की जब साम्यावस्था भंग होती है, तब सृष्टि का विकास होता है। साम्यावस्था भंग होने पर प्रकृति अव्यक्त से जाती है महत् तत्त्व की ओर। महत् तत्त्व माने बुद्धि। महत् तत्त्व से फिर होता है अहंकार। तो प्रकृति, प्रकृति से महत् तत्त्व,

महत् तत्त्व से अहंकार। अहंकार से फिर होता है पंच तन्मात्राएँ यानी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध और फिर उससे होता है मन। मन के बाद होती हैं पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ— आँख-नाक-कान-रसना-त्वचा। फिर पाँच कर्मेन्द्रियाँ— यानी हाथ-पाँव-वाणी और मल मूत्र त्याग करने के स्थान। रसना— खट्टा मीठा स्वाद बताने वाली यह ज्ञानेन्द्रिय है। बोलने वाली वाक् यह कर्मेन्द्रिय है और फिर पंच महाभूत— क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर। तो ये हुए चौबीस तत्त्व और पचीसवाँ तत्त्व है आत्मा; पुरुष। तो सांख्य-शास्त्र पच्चीस तत्त्व मानता है। वेदान्त इनका भी समाहार कर देता है— ब्रह्म में। ब्रह्म से ही जीव और प्रकृति और प्रकृति से फिर ये सब। तो कारण से कार्य और कार्य से कारण— ये परस्पर संभूत हैं। लेकिन ये लोग कहते हैं— कुछ नहीं, कुछ नहीं। सब आकस्मिक है, accidental है। आकस्मिक रूप से सृष्टि बन गई। इसका कोई मूल कारण है और उस कारण से कार्य का विस्तार हुआ है— इसको वे नहीं मानते। *'अपरस्परसम्भूतं'* —माने कारण-कार्य परंपरा से रहित। दूसरे लोग कहते हैं, *'अपरस् च परस् च'* इसलिए *'अपरस्परं'*। वे स्त्री-पुरुष संभूत मानते हैं। लेकिन पहला अर्थ ज्यादा प्रामाणिक माना गया है। तो यह जो सारी दुनिया है *किमन्यत्कामहैतुकम्* —काम को छोड़ कर इसका हेतु कुछ है ही नहीं। फिर देखिये ! दुनिया में सृष्टि कैसे होती है ? स्त्री-पुरुष मिलते हैं तो सृष्टि होती है। चाहे मनुष्य हों, चाहे पशु हों, चाहे पक्षी हों, चाहे जलचर हों, चाहे थलचर। तो काम ही इसका एकमात्र हेतु है। अब इस पर फिर ध्यान दीजिए। हमलोगों के यहाँ चार पुरुषार्थ माने गए हैं— धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसमें मोक्ष नित्य पुरुषार्थ है— परम पुरुषार्थ है और काम जो है यह अनित्य पुरुषार्थ है और धर्म तथा अर्थ साधन हैं। तो जो दैवी संपदा वाले होते हैं वे नित्य पुरुषार्थ की ओर, चरम पुरुषार्थ की ओर, मोक्ष की ओर, भगवत् प्राप्ति की ओर जाना चाहते हैं। जो आसुरी संपदा के लोग होते हैं वे अनित्य पुरुषार्थ, काम पुरुषार्थ की ओर जाना चाहते हैं। तो कहते हैं— *'किमन्यत्कामहैतुकम्'* —काम को छोड़ कर इस सृष्टि का कोई हेतु ही नहीं है। इसलिए जब तक जियो, मौज से जियो, मौज-मजा करने के लिए ही यह सारा शरीर मिला है— ऐसा वे मानते हैं। और इसलिए—

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ।। (१६/९)

'अवष्टभ्य' —माने हम कोई भी काम करते हैं तो उसके पीछे एक दृष्टि होती है चाहे वह हम जानें या न जानें। ज्ञात या अज्ञात रूप से हमारी जो प्रवृत्ति है उसके पीछे हमारी दृष्टि है। अगर हमारी दृष्टि है कि हमको संयम करना चाहिए, हमको

सदाचार करना चाहिए, भगवान् की कृपा प्राप्त करनी चाहिए तो हम दैवी संपदा—सत्त्व गुण की ओर जायेंगे और भगवान् की कृपा प्राप्त करेंगे। अगर हमको केवल काम-सुख प्राप्त करना है तो हम आसुरी संपदा की ओर जायेंगे और हम कहेंगे कि सबसे बड़ा सुख काम-सुख है। लेकिन आप देखिए—काम-सुख न नित्य भोगा जा सकता है, न उसमें बराबर रुचि रहती है। अशक्तता आ जाती है। तो इस दृष्टि का अवलंबन करके जो आगे बढ़ते हैं वे अपनी आत्मा को नष्ट करते हैं।

'नष्टात्मानः' —नष्टात्मा का एक अर्थ तो यह है कि उनका मन नष्ट हो जाय, दूसरा अर्थ है कि आत्मा को नष्ट कर देते हैं। आत्मा को नष्ट कैसे करते हैं ? जैसे ईशावास्योपनिषद् में आत्महन्ता कहा गया है—

असुर्यानाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।

जो आत्मा को जानते नहीं यानी कि हम यह शरीर नहीं है, शरीर हमारा आवरण है। हम मूलतः सत्-चित् स्वरूप आत्मा हैं। जिन्होंने अपने शरीर को ही आत्मा माना उन्होंने अपनी आत्मा की अवज्ञा कर दी, वे आत्महन्ता हो गए। सोने को जिन्होंने पीतल मान लिया तो उन्होंने सोने की अवज्ञा की, यह हत्या हो गई। जिसने अपने को, सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा को, शरीर मान लिया तो उसने आत्मा की हत्या कर दी, वह आत्महन्ता हो गया। तो इस अर्थ में भी *'नष्टात्मानः'* कि वे आत्मा को मानते ही नहीं। उन्होंने अपनी आत्मा को नष्ट कर दिया या उन्होंने मन को नष्ट कर दिया।

'अल्पबुद्धयः' —यानी बहुत थोड़ी बुद्धि वाले, तात्कालिक सुख ही उनको चाहिए, दीर्घकालिक परिणाम की ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। जिनकी दीर्घकालिक परिणाम की ओर दृष्टि नहीं जाती वे कम समझ वाले, नासमझ, अल्प बुद्धि वाले लोग हैं। *'प्रभवन्त्युग्रकर्माणः'* —वे बड़े उग्र कर्मा होते हैं। हिंसक होते हैं, जोर से चिल्लाते हैं, अत्याचार करते हैं। *'क्षयाय जगतोऽहिताः'* —अकल्याण के लिए, जगत के अहित के लिए, नष्ट करने के लिए, केवल अपने सुख को पाने के लिए सबका अकल्याण करने, दूसरों के हित का उच्छेदन करने में उनको कोई कष्ट नहीं होता। वे तो बिना कारण दूसरों का अपकार करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। आगे कहते हैं—

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।। (१६/१०)

'काममाश्रित्य' —उनके व्यवहार का आश्रय, मूल स्थान काम, कामना ही है।

यह प्राप्त करूँ, वह प्राप्त करूँ। *'दुष्पूरं'* —कामना दुष्पूर है। कामना की तृप्ति नहीं होती। एक कामना पूरी होती है तो दस ज्यादा बढ़ती है। भर्तृहरि ने कहा है—

निःस्वो वष्टि शतं, शती दशशतं, लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां, क्षितिपतिः चक्रेशतां वांछति ।
चक्रेशः सुरराजतां सुरपतिः ब्रह्मास्पदं वांछति
ब्रह्मा शैवपदं, शिव हरिपदं ह्याशावधिं को गतः ।।

जिसके पास कुछ नहीं है, वह चाहता है सौ रुपया हो जाए। सौ रुपए वाला हजार चाहता है। हजार वाला लखपति; लखपति करोड़पति; करोड़पति अरबपति, चक्रवर्ती राजा-इन्द्र हो जाएँ, ब्रह्मा हो जाएँ, शिव हो जाएँ— ऐसा चाहता है। कोई सीमा नहीं है। वासनाओं की, कामनाओं की पूर्ति नहीं हो सकती।

'दम्भमानमदान्विता' —अभी ऊपर मैंने बताया *दम्भो दर्पोऽभिमानश्च'* जो वह नहीं हैं वह दिखाना चाहते हैं। साबित करना चाहते हैं कि वे ज्ञानी हैं, जानते कुछ नहीं। साबित करना चाहते हैं कि वे बड़े दानी हैं लेकिन मोह से चिपके हुए हैं। अखबार में नाम छपाने के लिए, तस्वीर छपाने के लिए व्यग्र हैं। तो दम्भ, मान और मद से युक्त होकर अहंकार। *'मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्'* —मोह से। मोह माने उलटी समझ *'असद्ग्रह'* को पकड़ लेना। ग्राह किसको कहते हैं ? ग्राह कहते हैं मगर को। मगर को ग्राह क्यों कहते हैं ? ग्राह का अर्थ है पकड़ लेना। ग्राह माने जिसकी बहुत पक्की पकड़ है। मगर जिसको पकड़ लेता है उसको छोड़ता नहीं, काट लेता है। चूँकि उसकी पकड़ बहुत कड़ी है इसलिए उसको कहा ग्राह। तो *'असद्ग्राहान्'*— असद् माने जो शुभ नहीं है, अशुभ है। कोई ऐसा हठ, कोई ऐसी जिद जो अशुभ है लेकिन उसको पकड़ कर बैठ गए, उसको छोड़ेंगे नहीं। *'अशुचिव्रताः'* —उसके जितने व्रत हैं, सब अपवित्र हैं। अपने और दूसरों के अकल्याण का काम करने वाला वह *'अशुचिव्रत'*। शुचिव्रत होना चाहिए, पवित्र व्रत होना चाहिए। व्रत तो ऐसा लेना चाहिए जिससे हमारा सद्गुण विकसित हो। हमारी दैवी संपदा का विकास हो। धर्म किसको कहते हैं ?

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई ।। (मानस.७/४०-१)

हम दूसरों का भला करें, यह शुचिव्रत है। हम केवल खुद ही सब भोग कर लें, यह नाश करने वाला है—

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा ।।

यह जो अपना नाश करने वाला अशुचि व्रत है उसे लेकर अनुचित हठ करके जो लोग व्यवहार करते हैं, उसका परिणाम क्या होता है ?

चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ।। (१६/११)

'चिन्तामपरिमेयां' —चिन्ता से जकड़े हैं। कब तक चिन्ता करते हैं? मरण तक। मौत आ जाती है, चिन्ता नहीं छूटती। आज यह करना है, कल वह करना है। अनेक प्रकार की चिन्ताएँ। चिन्ता चिता समान है।

रहिमन कठिन चितान ते, चिन्ता को चित चेत ।
चिता दहति निर्जीव को, चिन्ता जीव समेत ।।

बड़ी-बड़ी चिताओं से भी चिन्ता ज्यादा दुःखदायी है क्योंकि चिता तो निर्जीव को, मुर्दे को जलाती है, चिन्ता तो जीवित व्यक्ति को जलाती है।

चिन्ता ज्वाल शरीर की, दाह लगे न बुझाय।
प्रकट धुआँ नहिं देखिए, उर अंतर धुँधुआय।।
उर अंतर धुंधुआय, जरै जस कांच की भट्ठी।
रक्त मांस जरि जाय, रहै पाँजरि की ठट्ठी।।
कह गिरिधर कविराय, सुनो रे मेरे मिंता।
ते नर कैसे जियैं, जाहि व्यापी है चिंता।।

जलता रहता है शरीर और मन । क्या तुम्हारी ही चिन्ता से सब कुछ हो जाएगा? कुछ भगवान् पर छोड़ो भाई ! भगवान् की कृपा से जो मिले, बहुत है। क्यों चिन्ता करते हो ?

कबिरा का मैं चिन्तऊँ, मम चिन्ते का होय ।
मेरी चिन्ता हरि करैं, चिन्ता मोहि न कोय ।।

यह भक्त का लक्षण है। मेरी चिन्ता करने से होता क्या है ? जो मैं चाहता हूँ, वह होता है? मेरा चाहा तो होता नहीं। जो राम जी चाहते हैं, वह होता है। इसलिए राम जी की इच्छा को स्वीकार करो। मेरी तो राम जी का नाम लेने की चिन्ता है, और कोई चिन्ता नहीं है। चिन्ता अपरिमित है, चिन्ता की कोई सीमा नहीं है। आप चिन्ता के जाल में फँस जायेंगे और कब तक चिन्ता आपको पकड़े रहेगी ? *'प्रलयान्ताम्'* मृत्यु तक। मौत भी आती है तो लोग चिन्ता ही करते रहते हैं कि मेरे मर जाने के बाद क्या होगा ? बच्चे का क्या होगा ? बीवी का क्या होगा ? जो मुकद्मा चल रहा है उसका क्या होगा? कुछ नहीं। झूठी चिन्ता है।

'कामोपभोगपरमा'—जो विषय भोगों में लिप्त रहते हैं। *'एतावदिति निश्चिताः'* — जिन्होंने यह निश्चित कर रखा है कि संसार का सबसे बड़ा कार्य, सबसे बड़ा प्राप्य काम का उपभोग है। वह काम जला कर क्षार-क्षार कर देगा फिर भी उसको लोग उपभोग ही समझते हैं। तो यह काम आग के समान है, उसमें आहुति डालते जाइए वह बढ़ता ही जाएगा।

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तृप्त्यर्थ इति मत्वा समं व्रजेत् ।।

इस पूरी पृथ्वी में जितना जौ है, जितना गेहूँ है, जितने पशु हैं, स्त्रियाँ हैं, सोना है, एक व्यक्ति को मिल जाए तो वह भी उसकी तृप्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। सब तो तुमको मिलने से रहा। इसलिए तुम काम के उपभोग को ही सबसे बड़ी बात मानोगे तो सिवाय दुःख मिलने के और क्या होगा ? *नालमेकस्य तृप्त्यर्थ इति मत्वा समं व्रजेत्*— इसको समझ कर अपने मन में शांति लाओ। भगवान् की कृपा से जो मिला—बहुत है। भगवान् की कृपा प्राप्त करने लायक कुछ काम करो। भगवान् की प्रसन्नता के लिए कुछ काम करो। भगवान् की आज्ञा के अनुसार काम करो। केवल कामना की तृप्ति के लिए काम मत करो।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थ सञ्चयान् ।। (१६/१२)

'आशापाशशतैर्बद्धाः' —एक नहीं, दो नहीं, सैकड़ों आशाओं के पाश से बँधे हुए हैं। एक बड़ा अच्छा श्लोक है—

आशा नाम मनुष्याणां काचिदाश्चर्य शृंखला।
यया बद्धाः प्रधावन्ति, मुक्ताः तिष्ठन्ति पंगुवत्।।

पाँव बँध गया तो क्या आप दौड़ सकते हैं ? तो आशा नाम की कोई एक आश्चर्ययुक्त शृंखला है। जिससे बंधे हुए लोग दौड़ते हैं। साधारण नियम क्या है ? कि अगर पाँव बंध गया तो आप चल ही नहीं सकेंगे, दौड़ना तो दूर है। बंदियों के पाँव में बेड़ी बाँधी जाती है जिससे कि वे भाग न सकें। तो जिनके पाँव में बंधन है, वे दौड़ नहीं सकते। लेकिन जिनके पाँव में आशा का बंधन है, वे दौड़ते ही रहते हैं। जो आशा से मुक्त हैं वे पंगु की तरह बैठे रहते हैं। कहीं आना-जाना नहीं। कोई लालसा नहीं। कहाँ जाएँ ? किसकी जी-हुजूरी करें ?

आशायाः ये दासाः ते दासाः सर्व लोकस्य ।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः ।।

जो आशा के दास हैं वे सारे लोक के दास हैं। मेरी यह इच्छा अमुक सेठ जी पूरी कर देंगे। अब चलो, सेठ जी की खुशामद करते रहो। मुझको एम.एल.ए. का टिकट लेना है, अमुक नेताजी दे सकते हैं। अब चलो, अमुक नेताजी को तेल लगाते रहो। तो आशा हमको बाँध देती है। जो आशा का दास है, वह सारी दुनिया का दास है।

'येषां आशा दासी' —जिनकी दासी है आशा— *'तेषां लोकः दासायते'* — सारी दुनिया उनकी दास है। आप आशा के दास हैं कि आशा आपकी दासी है— इसपर विचार कीजिए। अगर आप आशा के दास हैं तो एक आशा, दो आशा नहीं, सैकड़ों आशाएँ, इच्छाएँ, कामनाएँ आपको बाँधे रहेंगी— *'आशापाशशतैर्बद्धाः'*—कामना है इसलिए आशा है। इसलिए आप काम से बँधे हुए हैं और कामना पूर्ण होगी नहीं, इसलिए क्रोध आएगा ही — *'कामक्रोधपरायणाः'*। अयण माने घर। जो काम-क्रोध का घर है। उनका परम घर काम है। वे महा कामी हैं, महा क्रोधी हैं। आशा के सैकड़ों पाश से बँधे हुए ये कामी - क्रोधी आसुरी प्रवृत्ति के लोग क्या कहते हैं ?

'ईहन्ते कामभोगार्थम्' —काम को भोगने के लिए *'अन्यायेनार्थसञ्चयान् ईहन्ते'* —अन्यायपूर्वक कैसे अर्थ जुड़े। क्योंकि काम की तृप्ति के लिए तो अर्थ चाहिए। जो भी इच्छा पूरी करोगे उसके लिए तो अर्थ चाहिए। तो अन्याय से, धोखे से, चोरी से, जुए से अर्थ-संचय करने की प्रवृत्ति, केवल काम-भोग की लालसा से जिन लोगों के मन में होती है, वे आशा-पाश से बँधे हुए लोग, कभी सुखी नहीं होते।

यह जो भगवान् हमको-आपको समझा रहे हैं—यह हमारे आपके व्यावहारिक जीवन के लिए समझा रहे हैं। हम अपनी आशाओं को धर्माश्रित करें, कामाश्रित नहीं। केवल काम के भोग के लिए नहीं, धर्म-सम्मत काम के लिए। धर्मसमन्वित आशाएँ, इच्छाएँ हमको सत्व गुण की ओर उन्मुख करेंगी। केवल भोग, केवल लालसा, केवल चिन्ताएँ, केवल आशाएँ— ये हमको दुःख की ओर ले जायेंगी। कभी-कभी हमको इन्द्रिय और विषय के संयोग से अमृत जैसे सुख का आभास देंगी।

सुख की भ्रान्ति, दुःख के आँसू, अनहोनी शत-शत इच्छाएँ
प्रियता-अप्रियता के बंधन क्षण-क्षण अनचाही विपदाएँ
क्षुद्र अहं का उग्र प्रदर्शन ममता की दयनीय हताशा
भोग-लालसामय जीवन की पीड़ा लांछित ये सीमाएँ।

तो पीड़ा लांछित सीमाएँ। हमको सुख नहीं मिलेगा। सच्चा सुख नहीं मिलेगा। सुख की भ्रान्ति होगी। जैसे अँगूठा चूसने से बच्चे को लगता है कि माँ का दूध पी रहा

है। वैसे ही हम केवल अँगूठा चूसते रहेंगे, दूध नहीं मिलेगा। दुःख हमको रुलाता रहेगा। एक इच्छा पूरी होगी, सैकड़ों इच्छाएँ अधूरी रह जाएँगी।

'प्रियता-अप्रियता के बंधन' जो आपको प्रिय लगता है, वह भी आपको बाँधता है। जिसको आप प्यार करते हैं, वह बाँधता है, वह भरमाता रहता है और जो आपको अप्रिय लगता है वह भी आपको ईर्ष्या से जलाता ही रहता है। *'क्षण-क्षण अनचाही इच्छाएँ'।* इच्छाओं, कामनाओं में प्रतिक्षण अभिवृद्धि। *क्षुद्र अहं का उग्र प्रदर्शन*—मैं बहुत बड़ा हूँ और उसका भयंकर प्रदर्शन। *ममता की दयनीय हताशा* —यह मेरा है इसका प्रदर्शन। कौन है किसका ? रामजी के सिवाय हमारा कोई नहीं है। *'भोग लालसामय जीवन की पीड़ालांछित ये सीमाएँ'* —भोग के लिए व्यग्र होंगे तो हमारे जीवन की यही परिणति होगी। हमारे जीवन का यह दुष्परिणाम न हो, इसलिए हम आसुरी संपदा से बचें, दैवी संपदा की ओर अग्रसर हों, भगवान् ने इसीलिए आसुरी संपदा का विषद वर्णन किया है। ●

प्रवचन-४६*

आसुरी सम्पदा के दुष्परिणाम और उनसे बचने का मार्ग

भगवान् की कृपा है कि हमारा यह प्रवचन-क्रम अबाध चल रहा है। *'दैवासुर सम्पद् विभाग योग'* को पढ़ते हुए कई बार आश्चर्य होता है कि यह तो हमारे ही समय का वर्णन हो रहा है। यहाँ आसुरी सम्पदा के लोगों का वर्णन द्वापर-युग के लोगों को सामने रख कर किया गया है। परन्तु आज के युग की आधुनिकता की सबसे बड़ी विशेषता क्या है ? आधुनिकता गला-काट प्रतिस्पर्धा पर निर्भर करती है। औद्योगिक क्रांति के बाद अधिकाधिक यह चेष्टा रही कि कैसे हम अधिकाधिक उत्पादन करके दूसरे देशों का अधिकाधिक धन अपनी ओर खींच लें। इस धन-संपदा के संचय ने सब प्रकार के अन्याय, सब प्रकार के अत्याचार, सब प्रकार के अधर्म किए हैं। आज जो लोग संयुक्त राष्ट्र-संघ के बड़े नेता बन कर हमलोगों को उपदेश देते हैं उन्होंने अफ्रीका में क्या किया ? दक्षिणी अमेरिका में क्या किया ? उत्तरी अमेरिका में क्या किया ? पूरी की पूरी स्थानीय सभ्यता-संस्कृति को नष्ट कर दिया— केवल अपना स्वार्थ साधने के लिए, केवल अपने को प्रतिष्ठित करने के लिए। आज के इस यंत्र-युग में धन को सर्वोपरि महत्त्व देकर काम किया जा रहा है— इस पर अगर विचार करें तो लगता है कि आसुरी संपदा का वास्तविक प्रत्यक्षीकरण तो हमलोग आज कर रहे हैं। भगवान् ने अपने समय में भी इस प्रकार के लोगों को देखा होगा, अतः उन्होंने उसका वर्णन किया; लेकिन आज स्थिति कितनी भयावह है हम इस पर विचार करें और इन श्लोकों की चर्चा करते समय हम उनकी तुलना करते हुए चलें। आज प्रायः सभी का उद्देश्य अधिकाधिक धन-संचय करना हो गया है। वही पढ़ाई करें जिसमें ज्यादा-से-ज्यादा फायदा हो। सब काम अपने लाभ के लिए, फायदे के लिए, भौतिक सुख के लिए। कोई भी काम बड़ी यौगिक सिद्धि के लिए, तृप्ति के लिए नहीं। आप

* षोडश अध्याय (दैवासुर सम्पद् विभाग योग) : श्लोक संख्या १३ से २४

देखिए यह तेरहवाँ श्लोक है— हम अपने भीतर झाँक कर देखें— क्या यह हमारे लिए नहीं है ?

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ।। (१६/१३)

मुझको इतना मिल गया, मैं इसको भी और प्राप्त करूँगा — यह मेरा मनोरथ है। मनोरथ शब्द पर ध्यान दीजिए। साधारण तौर पर जो रथ चलते हैं, वे रास्ते पर चलते हैं, ऊबड़-खाबड़ रास्ता हो तो उस पर मोटर नहीं चल सकती। मोटरें, ट्रकें रास्ते पर ही चलती हैं। हवाई-जहाज सीधा चलता है लेकिन *'मनोरथान् अगतो गति'* —मन के रथ की गति कोई जानता नहीं। आप मन के रथ से कहीं पहुँचना चाहें तो तुरंत कहीं भी पहुँच जाएँ। आप अभी यहाँ बैठे प्रवचन सुन रहे हैं और मन के रथ पर बैठकर आप तुरन्त लन्दन पहुँच गए। दिल्ली, इलाहाबाद पहुँच गए। मन के रथ पर चढ़ कर आपने कोई भी सुख पा लिया, भोग लिया, कल्पना कर ली कि हमको यह मिल गया या मिलेगा। *'मनोरथान् अगति न गतिः'* —मनोरथों की कोई अगति नहीं है। कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ मनोरथ से हम न पहुँच जाएँ। मनोरथ अच्छे होते हैं तो भगवान् की कृपा पाते हैं। 'विनयपत्रिका' में तुलसीदास के मनोरथ भगवान् से जुड़े हुए हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें, संत सुभाव गहौंगो ।।

यह भी मनोरथ है। आप सोचिए कि हमारे मनोरथ किसके द्वारा परिचालित होते हैं ? हमारे मनोरथ काम के द्वारा परिचालित होते हैं कि राम के द्वारा ? हमारी जो इच्छाएँ, कामनाएँ, हमारे संकल्प निन्यानवे दशमलव नौ प्रतिशत काम के द्वारा परिचालित हैं, वासनाओं के द्वारा परिचालित हैं। हम यह चाहते हैं। क्यों चाहते हैं ? क्योंकि हमें वे रुचिकर लगते हैं, प्रीतिकर लगते हैं। हमारी इन्द्रियों और विषयों का संयोग होता है तो इस संयोग से तत्काल सुख का अनुभव होता है। उस तात्कालिक सुख की प्रतीति के लिए, उस तात्कालिक सुख की उपलब्धि के लिए हम चाहते हैं कि वह हमको मिले। हमको अच्छा मकान मिल जाए, अच्छी मोटर मिल जाए। अच्छा-अच्छा सब अच्छा। उस सारे संग्रह के बाद क्या करेंगे ? जो तेरहवाँ श्लोक है— इस श्लोक के पीछे लोभ की वृत्ति काम कर रही है। *'इदमद्य मया लब्धम्'* —यह मुझको मिल गया। *'इमं प्राप्स्ये मनोरथम्'* —यह मैं और प्राप्त कर लूँगा। मेरा मनोरथ है बढ़िया मकान बनाना, मैं बढ़िया मकान बना लूँ। बढ़िया मोटर, नयी मोटर खरीद लूँगा। फाइव स्टार

होटल में जाकर रहूँगा। मेरे सारे मनोरथ पूर्ण होंगे—मेरे ही परिश्रम से, मेरे उद्योग से। *'इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्'* —यह मेरे पास है और भविष्य में भी यह धन मुझे मिल जाएगा। सारी योजना, सारी कल्पना धन की प्राप्ति के लिए, भोग के लिए, सुख की प्राप्ति के लिए। कौन-सा सुख ? जो ऐन्द्रिय सुख है, जो इन्द्रिय और विषयों के संयोग से प्राप्त होने वाला सुख है उसी सुख की प्राप्ति के लिए यह सारी योजना है। अन्तःसुख के लिए नहीं। अन्तः सुख के लिए तो बाहरी किसी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है। प्राप्ति की यह इच्छा, सारी लालसाएँ, कामनाएँ ये लोभ के द्वारा परिचालित होती हैं।

चौदहवें श्लोक में क्षमता प्राप्त करने की इच्छा है। धन प्राप्त करना और धन के बाद सत्ता प्राप्त करना, अधिकार प्राप्त करना और इस अधिकार में जो बाधक है उसका नाश कर देना, उसके प्रति क्रोध प्रकट करना—ऐसा भाव है।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ।। (१६/१४)

ये तमाम शब्द-संकलन क्षमता-सुख प्राप्त करने की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर रचित हैं। मेरे मार्ग में जो रोड़ा अटकाएगा, मैं उसे नष्ट कर दूँगा। किसी ने अगर यह धृष्टता की, मेरी हाँ-में-हाँ नहीं मिलाई, उसका विरोध किया तो मैं उसका सर्वनाश कर दूँगा। सर्वनाश कर दोगे? हत्या कर दोगे ? भीतर कोई ग्लानि नहीं, कोई कातरता नहीं। अगर मेरी इच्छा पूरी नहीं होगी तो इच्छापूर्ति में बाधक व्यक्ति की मैं हत्या कर दूँगा। यह आसुरी प्रवृत्ति है।

'असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि' —आज इसको मारा है, कल उसको मार दूँगा। मैं सबसे बड़ा स्वतंत्र, स्वाधीन स्वामी हूँ। *'ईश्वरोऽहं'* मैं सर्व शक्तिमान हूँ यह आसुरी वृत्ति के लोग मानते हैं। प्रारब्ध से हमको मिला, भगवान् से हमको मिला —वे लोग यह नहीं मानते। मेरे परिश्रम से मिला, मेरी चेष्टा से मिला, मैं उद्यमी हूँ, मैं उद्योगी हूँ, मैं स्वाधीन हूँ। *'ईश्वरोऽहं'* —मेरे ऊपर कोई नहीं, कोई नियामक, कोई नियन्ता नहीं। मैं सब कुछ कर सकने वाला स्वाधीन व्यक्ति हूँ। *'अहं भोगी'* —जीवन का उद्देश्य तो भोग है। जितना भोग भोगना है, भोग लो। *'सिद्धोऽहं बलवान्सुखी'* — मैं-मैं-मैं। यह 'मैं'पन का अहंकार कई बार मनुष्य को बड़े काम करने की प्रेरणा भी देता है। आप ध्यान दीजिए कि काम और क्रोध भी मनुष्य में शक्ति का प्रेरक-स्रोत बन सकते हैं, बड़ा आश्चर्य है। जब कामातुर व्यक्ति होता है तो दुर्गम काम करता है। आपने तुलसीबाबा की कहानी सुनी होगी। मगर पर चढ़कर वे नदी पार हो गए, साँप

को पकड़ कर वे छत पर चढ़ गए। दुर्गम काज, असंभव काम किया पत्नी से मिलने के लिए। क्रोध में भी ऐसा ही होता है। इस अतिरिक्त शक्ति के विस्फोट से बड़े-बड़े काम हो सकते हैं, लेकिन ये बड़े काम मंगल के लिए हैं या अमंगल करने वाले हैं? इसलिए इन काम और क्रोध की प्रेरणाओं से, लोभ की प्रेरणाओं से बचना चाहिए। अब पन्द्रहवाँ श्लोक देखिए—

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिताः ।। (१६/१५)

आसुरी वृत्ति का व्यक्ति अपने को सबसे बड़ा कुलीन, सुसंस्कृत मानता है। *आढ्योऽहं* —मैं आढ्य हूँ। *आढ्य* माने समृद्ध, धनाढ्य, गुणाढ्य। मेरे जैसा समृद्धिशाली कौन है, कौन है मेरे जैसा गुणी ? मैं धनाढ्य हूँ, गुणाढ्य हूँ। गुणों से, धन से समृद्ध हूँ। *'अभिजनवानस्मि'* —मैं ऊँचे कुल का हूँ। मेरे बहुत नाते-रिश्तेदार हैं। वे नाते-रिश्तेदार बड़े-बड़े ओहदों पर हैं, वे बड़े धनी लोग हैं। उनके सहारे मैं कुछ भी कर सकता हूँ। *'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'* —मेरे समान कौन है ? आसुरी संपदा बोलती है— मेरे समान कौन है? दैवी संपदा बोलती है—

ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर, राम सरिस कोउ नाहीं।।

दैवी संपदा बोलती है- *'राम सरिस कोउ नाहीं'* और आसुरी संपदा बोलती है- *'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'* —मैं सबसे बड़ा। अहंकार, अहंकार से टकराता है और दोनों को गड्ढे में गिरा देता है। *'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञान विमोहिताः'* —ये लोग धर्म भी करते हैं, दान भी करते हैं तो दिखावे के लिए करते हैं। वे भगवान् की तृप्ति के लिए, भगवान् की प्रसन्नता के लिए 'धर्म' नहीं करते, अहंकार की तृप्ति के लिए करते हैं। *'यक्ष्ये'* —मैं बड़े-बड़े यज्ञ करूँगा। उसने क्या यज्ञ किया ? उसके यज्ञ में तो डेढ़-सौ ब्राह्मण आए। मैं पाँच-सौ ब्राह्मण बुलाऊँगा। उसने तो केवल पाँच लाख रुपया खर्च किया, मैं पन्द्रह लाख खर्च करूँगा। *'दास्यामि'* —मैं दूँगा। किसको दोगे भाई ? नट को दो, चमचों को दो। गुण्डों को दो। अहंकार की तृप्ति के लिए दो। *'मोदिष्य'* —मैं मौज-मजा करूँगा। मेरे समान मौज-मजा करने वाला कौन है ? यह सारी-की-सारी भावना अज्ञान से विमोहित होकर की जा रही है। अपने बलबूते को आकाश पर चढ़ाकर कल्पना की जाती है, मनोरथ किए जाते हैं।

कौटि मनोरथ दारु सरीरा ।
जेहि न लाग घुन, को अस धीरा ।। (मानस.७/७०-५)

और यह भी कि— *'विषय मनोरथ दुर्गम नाना'* —ये सारे-के-सारे विषय के मनोरथ—जैसे लकड़ी में घुन लगती है, वैसे ही ये विषय के मनोरथ, हमारे आपके जीवन में घुन लगा जाते हैं। घुन लग जाने से हमारी आपकी जो क्षमता है, जो संभावना है, जो सत्ता है, वह नष्ट हो जाती है। ठीक वैसे ही जैसे घुन लगी लकड़ी भीतर से जर्जर हो जाती है, एक झटका मारो वह टूट जाती है। बल बाहर नहीं होता, बल भीतर होता है। कितना बल पहलवान में है—यह बड़ी बात नहीं है। कौन संकट के समय, चुनौती के समय निर्भय होकर खड़ा हो सकता है, यह मुख्य बात है। *'राखि हैं राम तो मारिहै को'* – राम जी रक्षा करने वाले हैं तो मारने वाला कौन है ? यह विश्वास लेकर अकेला प्रह्लाद खड़ा हो गया हिरण्यकशिपु के विरुद्ध।

काढ़ि कृपान, कृपा न कहूँ, पितु काल-कराल बिलोकि न भागे।
राम कहाँ? सब ठांव है, खंभ में, हौं सुनि हाँकि नृकेहरि जागे।
बैरि बिदारि भये बिकराल, कहे प्रह्लादहिं के अनुरागे।
प्रीति प्रतीति बढ़ी तुलसी, तब तें सब पाहन पूजन लागे।।

(कवितावली/उत्तरकांड, पद १२८)

वह छोटा-सा बच्चा प्रह्लाद, इन्द्र को हरा देने वाले हिरण्यकशिपु के सामने खड़ा हो गया। शक्ति कहाँ से आती है? शक्ति बाहुबल में है ? नहीं! शक्ति हृदय से आती है। शक्ति मन से आती है। शक्ति भगवान् की कृपा से आती है। शक्ति भगवान् के भरोसे पर आती है। उस शक्ति को दैवी संपदा कहते हैं। ये सारी शक्तियाँ केवल धन का संग्रह करके, केवल अभिजनवान होकर, केवल धनवान होकर, केवल गुण्डों का सहारा लेकर नहीं आ सकतीं। आजकल के नेता अहंकार से बोलते हैं कि मेरे समान कौन है ? मेरी आवाज में तो जनता बोलती है। जनता की आवाज है मेरी आवाज। कितने लोगों का मैं प्रतिनिधित्व करता हूँ। नारायण ! चुनाव के माध्यम से कैसे प्रतिनिधित्व होता है, कैसे-कैसे हथकंडे अपनाए जाते हैं, यह हम सब जानते हैं। यह जो एक प्रकार का आसुरी अहंकार है, इस आसुरी अहंकार से मनुष्य का नाश होता है, मनुष्य का पतन होता है।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ।। (१६/१६)

एक ही बात पर चित्तवृत्ति रमती नहीं। *'अनेकचित्तविभ्रान्ता'* अनेक योजनाओं और लक्ष्यों में चित्त भ्रमित होता रहे तो क्या काम होगा ? यदि एक लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ जाय, तब काम होगा। अनेक लक्ष्य हों यानी यह भी चाहिए, वह भी

चाहिए और अभी चाहिए तो निश्चितरूप से शक्ति का क्षरण होगा। शक्ति बिखर जाएगी और बिखरी हुई शक्ति दुःखी बनाएगी। तुम्हारी इच्छाएँ भी पूरी नहीं होंगी। *'मोहजालसमावृताः'* मोह कहते हैं बुद्धि के उलट जाने को। *'मोहवैचित्ते'* जो करना नहीं चाहिए, उसे जब हम करने लगते हैं तो मोहग्रस्त होते हैं। आखिर अर्जुन को क्या हो गया ? शिव को प्रसन्न करके जिसने पाशुपतास्त्र प्राप्त किया वह योद्धा था। अतः वह भयभीत तो नहीं ही होगा। वह मोहग्रस्त हो गया। कहने लगा अपने स्वजनों को, अपने गुरुजनों को मैं कैसे मारूँगा ? वह सिद्धान्त बघारने लगा। उस बघारे हुए सिद्धांत का निराकरण करने के लिए, उसके मोह को दूर करने के लिए भगवान् ने उसे गीता का उपदेश दिया। *'मोहजालसमावृताः'* अर्जुन को तो भगवान् मिल गए लेकिन हमको-आपको तो भगवान् मिलते नहीं। गीता माता को ही हम नहीं पुकारते, हम तो पुकारते हैं तथाकथित अभिजन लोगों को, अपने तथाकथित समर्थकों को। कैसे हमारी रक्षा हो? जो मोह के जाल में फँसा हुआ है, वह फँसता ही जाता है—

को छूट्यौ एहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात ।
ज्यौं-ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं-त्यौं उरझत जात ।।

कौन छूटा है इस मोह के जाल में पड़ कर ? ओ हरिण! तू क्यों छटपटा रहा है ? जैसे-जैसे तू इसे सुलझाने की चेष्टा कर भागना चाहता है, वैसे-वैसे यह मोह का जाल तुझे अधिक फँसाता जा रहा है। यह आसुरी संपदा की बाँधने की अद्‌भुत शक्ति है। एक बार जो उसके बंधन में पड़ गया, भगवान् की कृपा के बिना कैसे छूटेगा ?

'प्रसक्ताः कामभोगेषु' —जो विषय भोगों में डूबे हुए हैं, उन्हें चाहिए क्या ? केवल काम-सुख चाहिए। इन्द्रिय और विषय के संयोग से मिलने वाले तात्कालिक सुख की आकांक्षा। यह ऐसा सुख है जो आरंभ में अमृत के समान है परन्तु बाद में विषवत् है। गीता में कहा गया है—

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।। (१८/३८)

अर्थात् विषय-भोग और इन्द्रियों के संयोग से जो सुख आरंभ में अमृत प्रतीत होता है, पर परिणाम में *'विषमिव'* विषतुल्य सिद्ध होता है, उसे *'राजसी'* सुख कहते हैं। आँख से सुन्दर रूप को देखकर, रसना से सुस्वादु व्यञ्जन खाकर, त्वचा से कोमल स्पर्श प्राप्त कर, नाक से अच्छी गंध सूँघ कर, कान से मीठे शब्द सुन कर जो हमको तात्कालिक सुख मिलता है, उसके पीछे जो भय है, जो अनर्थ है वह कई बार नहीं दिखता और इसलिए वह तात्कालिक सुख, आने वाले अनेक दुःखों की शृंखला का

कारण हो जाता है। इसलिए केवल तात्कालिक सुख, केवल विषयेन्द्रिय के संयोग से प्राप्त होने वाला सुख— यह प्रशस्त नहीं माना गया है।

भगवान् मनु ने कहा— *'कामात्मता न प्रशस्ता'* यानी काम-सुख प्रशस्त नहीं है। लेकिन उन्होंने यह भी कहा कि इस संसार में अकाम होना बहुत मुश्किल है। अपने आपको पहचानिए ! हमारा-आपका शरीर दो अंशों से बना है। एक जड़ अंश है और एक चेतन अंश। हमारा जड़ अंश तात्कालिक सुख पाना चाहता है, और जो हमारा चेतन अंश है— वह तो स्वयं सुख राशि है। उस चेतन अंश की ओर जब हम जाएँगे, जब हम मोक्ष पाना चाहेंगे, जब हम भगवत् सुख को पाना चाहेंगे तब हम सात्विक सुख की ओर जाएँगे। हमारे भीतर जो जड़ और चेतन अंश है— इन दोनों में सदा एक द्वन्द्व चलता रहता है। जब-जब जड़ अंश की प्रधानता होगी, जब हम अपने को केवल नाम रूप विशिष्ट शरीर मान लेंगे, जब-जब पंच महाभूतों की प्रधानता होगी तब-तब हम आसुरी संपदा की ओर जाएँगे। शरीर के भीतर जो हमारा अंतःकरण है, हमारी अंतरात्मा है, हमारा जो आत्म-तत्त्व है, वह हमारा चेतन अंश है। उसकी ओर बढ़ेंगे तो दैवी संपद की ओर जाएँगे। तुलसीबाबा ने कहा है—

नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही।।
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी।।
सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषय रत मंद मंद तर।।
कांच किरिच बदलें ते लेहीं। करते डारि परस मनि देहीं।।

(मानस. ७/१२०/९-१२)

मनुष्य-शरीर के समान कोई शरीर नहीं है क्योंकि *साधन-धाम मोक्ष कर द्वारा* (मानस. ७/४२-८)। मनुष्य का यह शरीर साधनों का घर है, मोक्ष का द्वार है। मनुष्य का शरीर मात्र रँगने-पोतने, आराम देने के लिए नहीं है। इसकी सार्थकता इसे स्वस्थ रखने और इससे शुभ काम लेने में है। हम अपनी मोटर को ठीक-ठाक रखते हैं कि नहीं ? क्यों उसको धोते, साफ रखते हैं ? क्यों उसकी समय पर आयलिंग-क्लीनिंग करवाते हैं ? क्यों उसमें पेट्रोल भरवाते हैं ? ताकि वह ठीक-ठाक काम करती रहे, दौड़ती रहे। हमारा शरीर हमारा साधन है। इसको हम खिलायेंगे, कपड़े पहनाएँगे। इसको ठंड न लग जाए, इसको गर्मी न लग जाए, इसकी देख-रेख करेंगे, इसकी दवा-दारू करेंगे। लेकिन किसलिए ? इसलिए कि इसको पलंग पर लिटाए रखें या इसलिए कि हम इसके माध्यम से बड़े-बड़े काम करें?

'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' —तात्पर्य यह कि यदि मनुष्य का शरीर साधन के

रूप में स्वीकृत है तो महान् है: लेकिन अगर साध्य के रूप में स्वीकृत है, तो आसुरी संपदा का कारण है। जिन्होंने अपने शरीर को अपना आपा मान लिया, 'मैं' माने यह शरीर और इस शरीर को सुख देने के लिए अगर कुछ करना है, दूसरे का अकल्याण-से-अकल्याण कर इस शरीर को सुख दो, इसके अहंकार को तृप्त करो, अपने नाम को फैलाओ—यह सब आसुरी संपदा की विशेषता है। अपने भीतर के चैतन्य को हम कैसे उद्‌बुद्ध करें, अपने भीतर की चेतना को हम कैसे परितृप्त करें, हम कैसे भगवान् की ओर उन्मुख हो सकें, यह दैवी संपदा है। कैसे हम अधिकाधिक भोग भोगें, सबके ऊपर अपना अधिकार फैला लें, सबको कैसे डरा-धमका कर रखें, कैसे हम आँख दिखाएँ और सबको आतंकित रखें— यह सब आसुरी संपदा है। आतंक की सृष्टि करना कोई अच्छी बात थोड़े ही है। तुमको देख कर लोग स्नेह करें, तुमको देख कर लोग सम्मान करें, ऐसा कब करेंगे, कैसे करेंगे ? जब तुम दूसरों का कुछ भला करोगे। जब तुम दूसरों को प्रेम दोगे। प्रेम देने वाले को प्रेम मिलेगा, सुख देने वालों को सुख मिलेगा और अहंकार दिखाने वालों को उलटकर अहंकार ही मिलेगा। दूसरों को विताड़ित करने वाले अपने आप कभी न कभी विताड़ित होंगे ही। मेरे गुरुजी कहते थे कि सुख पाना चाहते हो, तो सुख बाँटो। जितना सुख बाँटोगे, उतने सुखी बनोगे। ये आसुरी संपदा वाले केवल कामसुख पाना चाहते हैं अतः *'पतन्ति नरकेऽशुचौ'* नरक में गिरते हैं। पुराणों में वर्णित स्वर्ग-नरक है कि नहीं—भगवान् जाने। श्रद्धालु मानते हैं कि वे हैं और जो पाप करते हैं वे घोर रौरव नरक में जाएँगे—कुम्भीपाक नरक में जाएंगे। लेकिन क्या मरने के बाद ही नरक मिलता है ? क्या जीते-जी नरक-भोग नहीं होता ? आपने ऐसे लोगों को देखा होगा जो क्रोध से जलते रहते हैं, कुढ़ते रहते हैं ? काम से ग्रस्त रहते हैं, भयभीत रहते हैं। छोटी-छोटी बातों में उनको डर लगता रहता है—उनका जीवन नरक ही है। जिन्होंने कोई बड़ा पाप किया है, जिन्होंने बड़ी ग्लानिजनक स्थिति में अपना जीवन गुजारा है, जिन्होंने नाना प्रकार के अपकर्म किए हैं, उनका भीतरी मन नरक में ही रहता है।

दो प्रकार के नरक हमलोग देख रहे हैं अपने जीवन में। एक अशुचि कर्म करने वालों के हृदय का नरक और एक जो गरीब-दुःखी-पीड़ित हैं, वे इसी लोक में, इसी जन्म में नरक में ही हैं। हम सबका कर्त्तव्य है कि उनको जीवन में सुख पहुँचाएँ, उनको ऊँचाई पर लाएँ। तो नरक केवल मरने के बाद मिलेगा—यह मानकर मत चलिए। हम आज भी अपने मन में भीतर-भीतर जलते-भुनते-कुढ़ते रहते हैं। जब हम डरते रहते हैं, हम भीतर-भीतर आशंकित रहते हैं तो हम नरक में ही रहते हैं। जब हम दूसरों का

बुरा सोचते हैं तो हम नरक में ही रहते हैं। तो नरक में वे ही लोग जाएँगे जो आसुरी संपदा से ग्रस्त हैं। कैसे-कैसे लोग हैं ? उनकी क्या विशेषता है ?

'आत्मसम्भाविताः' —अपने आप को वे बहुत बड़ा मानते हैं, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू। दूसरे *'सम्भावित चाकीर्ति मरणादपि'* —सम्मानित पुरुष, समादृत पुरुष की अगर अपकीर्ति हो तो मृत्यु से भी ज्यादा दुःखदायी है— भगवान् ने गीता में कहा है। *संभावित* माने सम्मानित। जिसको दूसरे सम्मान दें। अपने ही मुँह मियाँ मिट्ठू नहीं।

अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी । बार अनेक भाँति बहु बरनी ।।
नहिं संतोषु त पुनि कछु कहहू। जनि रिस रोकि दुसह दुख सहहू ।।

(मानस.१/२७३-६)

अपने मुँह से तुम अपनी बड़ाई करते चले जाओगे ? अरे भाई ! तुममें सचमुच का गुण होगा, तो दूसरे तुम्हारी बड़ाई करेंगे। दैवी संपदा कहती है— *'अपनी समुझि साधु सुचि को भा'* (मानस.२/२६०-२) —अपनी समझ से साधु कौन हुआ ? अपने-आप अपनी समझ से अपने को बड़ा मान लेना—यह तो केवल अपने आप को धोखा देना है। तुममें अगर सचमुच गुण होगा तो दूसरे कहेंगे। धीरज रखो, गुणों का विकास करो।

छिपने नहीं दिया फूलों को, फूलों के उड़ते सुवास ने।
रहने नहीं दिया अनजाना, शशि को शशि के मंद हास ने ।।

भाई ! कमाल तो पैदा करो। गुणों को विकसित करो।

हुजूमे बुलबुल हुआ चमन में, किया जो गुल ने जमाल पैदा ।
कमी नहीं कद्र-दाँ की अकबर, करे तो कोई कमाल पैदा ।।

फूल में सुंदरता आई तो बुलबुलों की चमन में भीड़ लग गयी। फूलों की सुंदरता उनको छिपने नहीं देती। पूर्णिमा का चन्द्रमा खिलेगा, चाँदनी छिटकेगी तो कोई अंधा ही होगा जिसको पूर्णिमा का चन्द्रमा नहीं दिखेगा। आँख वालों को तो दिखेगा। कद्रदानों की कमी नहीं है, कोई अपनी असाधारणता तो पैदा करे, गुण तो उत्पन्न करे। ये सारे आसुरी संपदा के लोग कैसे होते हैं—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ।।

मनुष्य का सबसे बड़ा विरोधाभास यही है। वह पुण्य के फल की इच्छा तो करता है लेकिन पुण्य नहीं करता। यश कब मिलेगा, अच्छी ऊँची पदवी कब मिलेगी ? सच्चा सम्मान कब मिलेगा ? जब तुमने अच्छा काम किया होगा, पुण्य किए होंगे। तुम

चाहते हो कि तुम्हारा सम्मान हो, सब तुम्हें प्यार करें, तुम्हारे अनुकूल काम करें, पर गुण तो अर्जित करो, पुण्य तो करो। आसुरी संपदा के लोग पुण्य नहीं करना चाहते, पुण्य का फल पाना चाहते हैं। *'न पापं फलं इच्छन्ति'* पाप का फल भोगना नहीं चाहते और *'पापं कुर्वन्ति यत्नतः'* —यत्न-पूर्वक पाप करते रहते हैं। तुम यत्नपूर्वक पाप करोगे और पाप के फल से बच जाओगे, ऐसा कैसे होगा ? आसुरी संपदा की भीतरी समस्या यही है कि बिना पुण्य किए पुण्य का फल पाना चाहते हैं और पाप करते रह कर भी पाप के फल से बचना चाहते हैं। ऐसा नहीं हो सकता। भगवान् कहते हैं— *'आत्मसम्भाविता'* दूसरे लोग उनको सम्मान नहीं देते, दूसरे लोग उनको पूज्य नहीं मानते, वे अपने को ही सबसे बड़ा मानते रहते हैं। *'स्तब्धाः'* ठूँठ की तरह खड़े हैं। हरा पेड़ तो जब थोड़ी हवा चलती है तो झुक भी जाता है। ठूँठ किसी के सामने झुकने वाला नहीं, विनम्र नहीं। तुम्हारी गर्दन ऐंठी रहेगी तो क्या लोग तुमको सम्मान देंगे ?

पैये असीस, लचैये जो सीस ।
लची रहिए तब ऊँची कहैए।

आशीर्वाद तो तब मिलेगा जब तुम्हारी गर्दन झुकेगी। झुकी हुई गर्दन ऊँची उठती चली जाएगी। ऐंठी हुई गर्दन को कोई सम्मान नहीं देगा। कोई बड़े पद पर है तो सामने जी-हुजूरी करेगा लेकिन पीछे गाली देगा। ऐसा होता है कि नहीं ? स्तब्ध, ठूँठ की तरह ऐंठे हुए, अभिमानी, अविनयी, *'धनमानमदान्विताः'* धन और मान के नशे में डूबे हुए लोगों की यही दशा होगी।

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता, अधिकाय ।
इहिं खाए बौराति है, उहि पाए बौराय ।।

कनक का एक मतलब होता है धतूरा और दूसरा होता है सोना। धतूरे और सोने में बहुत अन्तर है। सोने में धतूरे से सौगुनी ज्यादा मादकता है। धतूरा तुम पीस कर खाओगे, तब तुमको नशा चढ़ेगा पर सोना तो आया और तुमको नशा चढ़ गया। सोना अगर मिला तो नशा चढ़ा। धन का एक नशा होता है। मान का एक नशा होता है मैं मिनिस्टर, मैं एम.पी., मैं नेता। अरे ! आज तुम एम.पी. हो, कल नहीं रहोगे, लाला ! आज तुम नेता हो, कल नहीं रहोगे। भगवान् की कृपा है तुमको एक सम्मान मिल गया, तुम उसके लिए कृतज्ञ होओ। *'धनमानमदान्विताः'* अपने धन के अहंकार से, अपने सम्मान का नशा जिनको हो जाता है, *'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेना विधिपूर्वकम्'* उनका हर कदम अपने ही नाम का डंका पीटने के लिए उठता है और उनका हर कदम दम्भ और मनमानी युक्त होता है। दम्भ कहते हैं पाखण्ड को। जो हम नहीं हैं, उसको

दिखाना दंभ है। दाम्भिक माने ? विद्वान् नहीं है लेकिन अपने को विद्वान दिखा रहा है। जो सम्मान्य नहीं है, वह अपने को सम्मान्य समझ रहा है, तो पाखण्ड कर रहा है। दंभ के कारण अविधिपूर्वक, विधिहीन, केवल नाम के लिए वे यज्ञ करते हैं। अमुक ने यज्ञ किया, उसकी बड़ी प्रशंसा हुई तो मैं क्या उससे कम पैसे वाला हूँ? अहंकार से जो यज्ञ किया जाएगा, वह अविधिपूर्वक है क्योंकि वह अपना नाम अखबारों में छपवाने के लिए किया गया है। उद्देश्य क्या है ? तुम भगवान् को प्रसन्न करना चाहते हो या अपना अहंकार तुष्ट करना चाहते हो ? अगर तुम्हारा उद्देश्य दंभ है, अगर तुम किसी तरह से लोक में यश प्राप्त करना चाहते हो तो तुम जो करोगे उसमें शास्त्र की विधि का पालन नहीं करोगे। बाहरी विधि का पालन अगर कर भी लिया तो भीतरी विधि का पालन नहीं। भीतरी विधि क्या है ? भीतरी विधि यह है कि हम भगवान् को प्राप्त करने के लिए पुण्य कर्म करते रहें। भगवान् को प्राप्त करने के लिए जो पुण्य-कर्म होता है वह विश्वास से होता है, श्रद्धा से होता है; वह भगवत्-कृपा की प्राप्ति के लिए होता है। वह प्रदर्शन से नहीं होता, वह अहंकार से नहीं होता। आगे कहा है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।। (१७/२८)

अश्रद्धा से, दंभ के द्वारा, विधिहीन ढंग से किया गया यज्ञ या दिया गया दान– ये सब अमंगलकारक हैं, वे न होने के समान हैं। मरने के बाद जिसका फल नहीं होगा, जीवन में भी कोई लाभ नहीं। इसलिए केवल दिखावे के लिए, दंभ के द्वारा अविधिपूर्वक, नाम के लिए जो यज्ञ होता है, वह निष्फल होता है, वह आसुरी यज्ञ है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।। (१६/१८)

आसुरी सम्पदा का व्यक्ति अहंकार, शारीरिक बल, दर्प, काम और क्रोध के झूले में झूलता रहता है। जब वह अपने मनोरथ में सिद्ध हो जाता है तो उसका अहंकार बढ़ जाता है और फिर वह दर्पित हो जाता है कि मैंने कितना बड़ा काम कर लिया। जब उसमें दर्प आ जाता है तो वह धर्म का अतिक्रमण करता है और तब उसमें काम का उद्दाम आवेग बाढ़ की तरह आ जाता है।

इक भीजे चहले परे, बूड़े बहे हजार।
किती न अवगुण जब करे, नै वै चढ़ती बार।।

'नै' माने नदी और 'वै' माने उम्र। चढ़ती हुई नदी और चढ़ती हुई उम्र। नौजवान अपने समान किसी को नहीं समझता। चढ़ती जवानी का जो आवेग है और

चढ़ती हुई नदी का जो आक्रोश है— यह आवेग और आक्रोश किसी को भी भिगा देता है, किसी को भी कीचड़ में डुबा देता है। हजारों आदमी डूब जाते हैं, बह जाते हैं। चढ़ती हुई नदी और चढ़ती हुई उम्र— उस समय काम के आवेग में आदमी बह जाता है, डूब जाता है। काम का उद्दाम आवेग, क्रोध की प्रबलता व्यक्ति के लिए अत्यंत हानिकारक है। सबसे क्षतिकारक क्रोध है। काम जब खंडित होता है तब क्रोध आता है। जो हमारा अकल्याण करता है, उस पर क्रोध आता है। क्रोध आता है तो इच्छा होती है कि सामने वाले को मार डालें। क्रोध से बड़ा शत्रु और कोई नहीं। अपने गुरुजनों के प्रति अपशब्दों का प्रयोग, उनके प्रति दुर्भावना क्रोध में मनुष्य व्यक्त करता है। तो ये सब भयंकर शत्रु हैं जो हमारे मित्र बन कर हमको धोखा देते हैं। क्या तुम उनके आश्रित हो? भइया! तुम राम जी के आश्रित होओ, दया के आश्रित होओ। ज्ञान के आश्रित बनो। साहस, उत्साह के आश्रित बनो। क्षमा, कृपा के आश्रित बनो। तुम अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध के आश्रित मत होओ।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ।

'माम् आत्म पर देहेषु' अपने शरीर में और दूसरों के शरीर में मैं ही हूँ, यह आसुरी सम्पदा वाले भूल जाते हैं। वे मुझको श्रेय नहीं देते अपने उत्कर्ष का। वे श्रेय देते हैं अपने काम को, क्रोध को, अहंकार को, अपने बल को। तो उसके भीतर जो मैं परमात्मा हूँ, मेरी अवज्ञा करते हैं। मेरी आज्ञा का उल्लंघन करते हैं। इसलिए मुझसे द्वेष करते हैं। जिससे भी वे द्वेष करते हैं, दुर्व्यवहार करते हैं, दुराचार करते हैं, उसके हृदय में भी मैं ही हूँ। तो दूसरों से किया गया द्वेष भगवान् से किया गया द्वेष है। दूसरों से किया गया दुर्व्यवहार भगवान् से किया गया दुर्व्यवहार है। यह वे नहीं समझ पाते। श्रीमद्भागवत् में कहा है—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तं अवज्ञाय मर्त्य कुरुते च विडंबनाम् ।।

मैं समस्त प्राणियों में भूतात्मा होकर सदा अवस्थित हूँ। *'तं अवज्ञाय'* उस अपने भीतर रहने वाले परमात्मा की अवज्ञा या दूसरों के भी अन्तःकरण में रहने वाले परमात्मा की अवज्ञा करना यानी दूसरों को कष्ट पहुँचाना — यह विडम्बना है। भगवान् की भक्ति अगर करनी है तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमारे भीतर परमात्मा हैं। परमात्मा की प्रसन्नता के लिए हमको काम करना है, केवल अपने शरीर के सुख के लिए नहीं। दूसरों के साथ व्यवहार करते समय यह स्मरण रखना चाहिए कि दूसरों के हृदय में भी परमात्मा हैं। नर—सेवा ही नारायण-सेवा है। दूसरों से

सद्व्यवहार करना ही परमात्मा की उपासना करना है। अपने शरीर के भीतर तथा दूसरों के शरीर के भीतर मेरे स्थित रहने की अवज्ञा करके मेरी जो अर्चा करता है, वह मूर्त्ति-पूजा करे चाहे कुछ दूसरा करे— यह तो विडम्बना है। इसलिए भगवान् कहते हैं कि अपने और दूसरों के अंतःकरण में रहने वाले परमात्मा की अवज्ञा मत करो। द्वेष मत करो। उनकी आज्ञा का पालन करो। *'अभ्यसूचकाः'* वे दूसरे के गुणों में दोष देखते हैं। निन्दक क्या करता है ? दूसरों के गुण तो मानता ही नहीं, दोष तो खैर दोष है ही, गुणों में भी दोष देखता है। *'असूया'* का मतलब होता है दूसरे के गुणों में भी दोष देखना, दूसरों की निन्दा करना। तो इस तरह जो दूसरों के दोष देखेगा, उनकी निन्दा करेगा, उसका पतन होगा।

मधुसूदन सरस्वती ने एक अर्थ और बताया है— *'मां आत्मदेहेषु पर देहेषु'*— -मैंने जो अवतार लिए— रामावतार, कृष्णावतार आदि, उसको भी ये लोग *'मानुषीं परमाश्रितं'* कह कर उसकी अवज्ञा करते हैं। आत्म देह यानी परमात्मा का देह— राम, कृष्ण के रूप में और पर देह यानी दूसरे के श्रेष्ठ देह में जैसे प्रह्लाद हैं, जैसे नरसी भगत हैं, तुलसी हैं, कबीर हैं। तो इस तरह वे संतों की निन्दा करते हैं। लेकिन पहला अर्थ ज्यादा प्रचलित है। मधुसूदन सरस्वती ने दूसरा अर्थ किया है कि मुझको अपने आत्म स्वरूप में, राम कृष्ण के रूप में देखकर यह अवतार नहीं मानते, परमात्मा नहीं मानते। केवल मानुषी तन का आश्रय लेने वाला साधारण व्यक्ति मानते हैं। इसलिए मुझसे असूया करते हैं, मेरी निन्दा करते हैं। मेरे भक्तों से द्वेष रखते हैं। इनका कल्याण नहीं हो सकता, क्योंकि वे इस तरह मुझे ही कष्ट पहुँचाते हैं। उन्नीसवें श्लोक में बताया है—

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।। (१६/१९)

अर्थात् जो ऐसे निरन्तर द्वेष करने वाले, संसार में क्रूर हैं, नराधम हैं—इनको मैं लगातार आसुरी योनियों में डालता रहता हूँ। परमात्मा किसी से द्वेष नहीं करते। मैं समस्त प्राणियों में समान हूँ। कोई मेरा द्वेषी नहीं है, कोई मेरा प्रिय नहीं है। लेकिन जो जैसा काम करता है वैसा ही फल मैं देता हूँ।

जौं नहिं दंड करौं खल तोरा ।
भ्रष्ट होइ श्रुतिमारग मोरा ।। (मानस.-७/१०६-७)

अगर मैं अपराध करने वालों को दंडित न करूँ तो मेरा श्रुति-मार्ग भ्रष्ट हो जाएगा। इसलिए अपने ही कुकर्म के कारण इन लोगों का पतन अनिवार्य है। जो सदा

अकर्म करते रहते हैं, कुकर्म करते रहते हैं, जो सुकर्म से पराङ्मुख रहते हैं वे नरक से नरक में जाते हैं, भय से भय में जाते हैं, वे अपने ही दुष्कर्मों के कारण निकृष्ट से निकृष्टतर होते हैं । अपना ही दुष्कर्म उनको भोगना पड़ता है। इस तरह से वे निरंतर असुर योनियों में और गंभीर बुरी योनियों में जाते रहते हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ।। (१६/२०)

वे मुझको कैसे प्राप्त करेंगे ? जो मेरी ओर उन्मुख नहीं होते, वे दुष्कर्म करते रहते हैं और अपने उन दुष्कर्मों का फल भोगने के लिए वे उत्तरोत्तर एक जन्म के बाद दूसरे, दूसरे के बाद तीसरे जन्मों और अधमाधम गतियों को प्राप्त करते हैं तथा बुरी योनियों में जाते रहते हैं। इस बात का अर्थ यह है कि हमको आसुरी संपदा से बचना चाहिए। आसुरी संपदा से अगर हम नहीं बचेंगे तो हमारा निरन्तर पतन होता चला जाएगा। आसुरी संपदा हमको तात्कालिक दृष्टि से तृप्ति दे सकती है लेकिन अंततः उससे पतन ही होगा — भगवान् की यह वाणी हमें यह चेतावनी देती है, सावधान करती है। भगवान् कहते हैं कि मैंने आसुरी संपदा की बहुत-सी बातें बताई लेकिन उनमें से तीन बातें मुख्य हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।। (१६/२१)

'आत्मनाश' का मतलब निरन्तर पतन की ओर जाना है; आत्मा का बुरी गतियों में जाना है, बुरी योनियों में पतित होना है। आत्मनाश के तीन प्रकार के द्वार हैं। *'त्रिविधं नरकस्येदं'* इस नरक के द्वार तीन प्रकार के हैं, जो हमको अधः पतित करते चले जाते हैं। *'त्रिविधं'* के ऊपर थोड़ा सा विचार कर लिया जाए। कुछ लोग कहते हैं— काम, क्रोध और लोभ — तीन प्रकार के दरवाजे हैं। कुछ लोग कहते हैं कि दरवाजा तो एक ही है लेकिन उसका रूप तीन हो जाता है। त्रिविध यानी तीन प्रकार का, तीन रूपों का दरवाजा है। मुख्य तो एक काम ही है। काम जब खंडित होता है तो क्रोध बढ़ता है। आप इसी सोलहवें अध्याय में देखिए कि कितनी बार 'काम' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह भी इस बात का प्रमाण है कि भगवान् आसुरी सम्पदा में मूलतः 'काम' को ही प्रधानता देते हैं।

'किमन्यत्काम हैतुकम्', 'काममाश्रित्य दुष्पूरं', 'कामोपभोगपरमा', 'काम क्रोधपरायणाः', 'कामभोगार्थं' आदि-आदि। आप देखें तो नौ बार *'काम'* शब्द का प्रयोग है। आसुरी संपदा में नौ बार *'काम'* शब्द का प्रयोग होना इस बात का प्रमाण है कि

असली आसुरी संपदा तो *'काम'* है। *'काम'* किसको कहते हैं ? *'काम'* कहते हैं चाहने को। कम् धातु से काम बनता है। *काम* माने चाहना, पाना, वासना। हमारी जो कामनाएँ हैं, वे हमको किस दिशा में ले जा रही हैं ? वे अगर हमको भोग की दिशा में ले जा रही हैं, तो पतन की दिशा में ले जा रही हैं। मनुष्य पाप क्यों करता है ? आप लोगों को तृतीय अध्याय के श्लोक का स्मरण कराऊँ —

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।। (३/३६)

वहाँ भी एक अद्‌भुत बात है। कौन हमको इच्छा के विरुद्ध पाप की ओर प्रेरित करता है ? कोई पाप नहीं करना चाहता। बिना इच्छा किए कौन हमको पाप की ओर ठेल देता है ? भगवान् उत्तर देते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्‌भवः । (३/३७-१)

यह काम है, यह क्रोध है। लेकिन द्विवचन का प्रयोग नहीं करते। *'रजोगुण समुद्‌भवौ'* नहीं कहते। *'रजोगुण समुद्‌भवः'* कहते हैं। यानी वे कहते हैं कि जो काम है, वही क्रोध है। काम जब कुंठित होता है तो क्रोध हो जाता है और काम जब तृप्त होता है तो लोभ हो जाता है। रजोगुण से उत्पन्न होने वाला यह काम है, यह क्रोध है। वैसे सूक्ष्म अंतर भी बताया जा सकता है। भगवान् ने *'कामः क्रोधः तथा लोभः तस्माद् एतत्त्रयं त्यजेत्'* —तीन बात कही तो तीन बात में थोड़ा-थोड़ा अन्तर भी है। काम क्या है ? काम कैसे उत्पन्न होता है ?

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायते । ओ काम! मैं तेरी जड़ को जानता हूँ। *'संकल्पात् किल जायते'* — तू संकल्प से उत्पन्न होता है। ध्यान दीजिए। सम्यक् कल्पना जब किसी के प्रति हो जाएगी तो उसके प्रति काम उत्पन्न होगा। संकल्प मतलब ? सम्यक् कल्पना। किसी को तुमने अच्छा मान लिया। तो जिसको तुमने अच्छा मान लिया वह प्राप्त होना चाहिए— यह कामना होती है। हममें ज्ञान या विवेक या वैराग्य तो है नहीं। विवेक अच्छे से बुरे को अलग कर देता है। सम्यक् कल्पना कहाँ से आती है ? हम अज्ञान के कारण जो नश्वर है, क्षणभंगुर है, परिवर्तमान है, मिथ्या है, उस को ही सत्य मानते हैं। यह बदल रहा है लगातार। जो आज है वह कल नहीं रहेगा। हम ही लोग जो कल थे वह आज नहीं हैं, कल नहीं रहेंगे। निरन्तर परिवर्तमान जगत् को हम स्थिर मान लेते हैं, सत्य मान लेते हैं और जो वास्तव में दुःखद, दाहक, पीड़क है उसको बाहरी आवरण की रमणीयता के कारण सुखद और भोग्य मान लेते हैं। है तो वह जलाने वाला, पीड़ा देने वाला, कष्ट देने वाला लेकिन

उसका बाहरी आकार बड़ा आकर्षक है, बाहरी आकार बड़ा सुन्दर है। तो उस बाहरी सुन्दर आकार को देख कर हम उसको सुखद और रमणीय मान लेते हैं। जब हम किसी नश्वर, दुःखद, दाहक, पीड़क, कष्टप्रद को सत्य, सुखद, रमणीय मानेंगे तो संकल्प हो गया, उसके प्रति सम्यक् कल्पना हो गई और उसके प्रति सम्यक् कल्पना होते ही उसको प्राप्त करने की इच्छा होगी।

किसी को मैंने सम्यक् कल्पना से सुखद और उपभोग्य मान लिया, सत्य, सुखद, रमणीय मान लिया तो उसको प्राप्त करने की इच्छा होती है। मैं संकल्प ही नहीं करूँगा। इससे तू मुझे ग्रस्त नहीं करेगा। किसी मिथ्या, दुखद, दाहक पीड़क को मैं सत्य, सुखद, रमणीय नहीं मानूँगा तो उसके प्रति मेरी आसक्ति नहीं होगी— यह काम को जीतने का रास्ता बताया गया है। लेकिन इस काम की प्रवृत्ति जब होती है तो भोग की प्रवृत्ति होती है। काम की प्रेरणा भोग-प्रधान है। इस भोग में जिसके कारण बाधा आती है उसके प्रति क्रोध होता है। मेरी इच्छा को वह खंडित कर रहा है इसलिए क्रोध। किसी ने मेरा अपमान कर दिया, किसी ने मेरा अकल्याण कर दिया तो उसके प्रति क्रोध। क्रोध कभी-कभी दूसरे के दुर्व्यव्यहार के कारण भी उत्पन्न होता है केवल अपनी कामना में बाधा पड़ने पर नहीं। उसके दुर्व्यवहार से मेरे सम्मान पर आघात लगा, मैं सम्मानित होऊँ—यह कामना खंडित हुई लेकिन फिर भी अगर कोई दुर्व्यवहार या अपकार करता है तो उसके प्रति क्रोध होता है। एक बहुत बढ़िया श्लोक—

अपकारिणि कोपः चेत् कोपे कोपः कथं न ते
धर्मार्थ काममोक्षाणां ग्रसह्य परिपंथिनि ।

अगर अपकारियों पर तुझे क्रोध आता है तो भला बता; क्रोध पर क्रोध क्यों नहीं आता। यह क्रोध ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सबका शत्रु है। तो यह तेरा क्रोध तुझे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से विमुख कर देता है— इतना बड़ा तेरा अपकार करता है; तू क्रोध पर क्रोध क्यों नहीं करता ? हमारा क्रोध हमारा सबसे बड़ा अपकारी है। यह क्रोध, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों का प्रसह्य परिपंथी है। इसलिए क्रोध के ऊपर क्रोध करना चाहिए।

लोभ में संचय की वृत्ति होती है। देखिए 'काम' और 'लोभ' का मौलिक, सूक्ष्म अंतर क्या है ? काम की प्रेरणा भोग की होती है। लोभ की प्रेरणा संचय की होती है- *चमड़ी जाय तो जाय, दमड़ी न जाय ।*

भोग भी नहीं भोगेंगे, केवल इकट्ठा करेंगे। काम का आवेग उद्दाम है, बाढ़ की तरह चढ़ता है। सब कुछ बहा कर ले जाता है। लेकिन काम में सातत्य नहीं है। वह चढ़ता है और उतर जाता है। काम का जो आस्पद है, जिसके प्रति काम होता है, वह

प्राप्त हो जाए तो काम उतर जाता है। काम और प्रेम का मौलिक अन्तर क्या है ? काम आवेग की तरह आता है, और उतर जाता है। प्रेम कभी उतरता नहीं है।

छिनहिं चढ़ै, छिन ऊतरे सो तो प्रेम न होय ।
अहँट प्रेम पंजर बसै, प्रेम कहावै सोय ।।

प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान है। काम भोग लेने के बाद उतर जाता है, प्रेम नहीं उतरता। लोभ संग्रह की प्रवृत्ति है, यह आसुरी संपदा है। दैवी संपदा क्या है ?

त्यागात् जायते शक्तिर्भागवती । त्याग दैवी संपदा है। इससे भागवती शक्ति, दैवी शक्ति का उत्थान होता है।

'परिग्रहात् जायते शक्तिर्भोगवती' —जितना तुम परिग्रह करोगे, संचय करोगे, इकट्ठा करोगे तो भोगवती शक्ति बढ़ेगी लेकिन लोभ भोग करने में भी बाधा डालता है। काम भोग करता है, लोभ संचय करता है, परिग्रह करता है— दोनों में यह थोड़ा अंतर है। इसलिए तुलसीदास ने दोनों का प्रभु भक्ति के लिए अद्भुत प्रयोग किया। वे कहते हैं कि राम जी तुम मुझे ऐसे प्यारे लगो—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम।। (मानस.-७/१३०-ख)

जैसे कामी को नारी प्रिय लगती है। उद्दाम आवेग। लेकिन प्राप्त कर लेने के बाद आवेग समाप्त हो जाता है। भक्ति के लिए यह ठीक नहीं है। लोभी को जैसे पैसा प्यारा लगता है। आज भी प्यारा लगता है, कल भी, परसों भी। उसमें सातत्य है। काम में उद्दामता है, लोभ में सातत्य है। रामजी से मेरा प्रेम कैसा हो ? उसमें उद्दाम सातत्य हो। उससे बढ़कर और कुछ न हो। परम उद्दामता और सातत्य—ये दोनों साथ-साथ। राम जी आप मुझको ऐसे प्यारे लगो।

कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ।

तीनों को त्याग दो। कैसे त्याग दो ? त्यागने का रास्ता बताया है उपनिषद् में। आप ने वह कहानी सुनी होगी कि देवता, असुर और मानव तीनों प्रजापति के पास गए। तीनों बड़े दुखी थे। तीनों ने कहा— प्रभु! हमको उपदेश दीजिए। प्रभु ने उपदेश दिया— 'द', 'द', 'द'। तीनों बोले— समझ में आ गया, जा रहे हैं। प्रजापति ने पूछा— देवताओं! तुमको क्या समझ में आया ? देवताओं ने कहा—हमलोग बड़े भोगी हो गए हैं, कामी हो गए हैं। आपने कहा कि दमन करो। काम को हम दमन के द्वारा जीत सकते हैं। इन्द्रिय-निग्रह के द्वारा। अगर हमारी इन्द्रियों पर, हमारे मन पर हमारा नियंत्रण होगा तो काम को हम जीत लेंगे। 'द' माने दमन। बोले—ठीक समझे, जाओ। राक्षस जाने

लगे तो उन्होंने कहा—भइया, तुम लोग क्या समझे! बोले—हमलोग बहुत अत्याचारी हैं, क्रोधी हैं। आपने कहा—दया करो। बोले ठीक समझे, जाओ। क्रोध को जीतने का एक मात्र उपाय है कि तुम दया करो। क्रोध मत करो। मनुष्यों ने भी कहा समझ गए प्रभु! बोले क्या समझे ? उन्होंने कहा—हमलोग बड़े लोभी हो गए हैं, परिग्रही हो गए हैं, आपने कहा दान करो। तो याद रखो! काम को जीतना है तो इन्द्रिय और मन का दमन करना होगा, नियंत्रण करना होगा। क्रोध को जीतना है, तो दया करनी होगी। अपने हृदय में दया का संचार करना होगा। लोभ को जीतना है तो तुमने जो संचय किया है धर्म से, उसको बाँट देना होगा।

'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय' —इसका स्मरण रखो। तो काम, क्रोध, लोभ— इन तीनों का परित्याग कर दो, तब तुम आसुरी संपदा से उबर सकोगे और इन तीनों के परित्याग का रास्ता भी भगवान् ने उपनिषदों में बताया है। अब इसके बाद कहते हैं—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।। (१६/२२)

हमको नीचे कौन खींच रहा है ? हमको नरक की ओर कौन ले जा रहा है ? हमको नरक की ओर ले जा रहे हैं—काम, क्रोध और लोभ। ये प्रेय मार्ग है। दो रास्ते हैं— एक 'प्रेय' का और एक 'श्रेय' का। हमको तात्कालिक रूप से जो प्रिय लगता है, हमारी इन्द्रियों और विषयों के संयोग से जो सुख मिलता है, वह 'प्रेय' का रास्ता, वह काम, क्रोध और लोभ का रास्ता है। जैसे ही हम अंधकार के द्वार रूपी, अज्ञान के द्वार रूपी, पतन के द्वार रूपी इन काम, क्रोध और लोभ से विमुक्त होते हैं, जैसे ही हम 'प्रेय' मार्ग से अपना मुँह मोड़ते हैं तो दूसरा रास्ता तो 'श्रेय' का है ही। प्रेय मार्ग से अगर हम अलग होंगे तो श्रेय की ओर जाएँगे ही। *'आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्'* तब हमारे अपने भीतर जो आचरण होगा, वह दैवी संपदा से परिचालित होगा। इसलिए आसुरी संपदा से बचने का रास्ता भगवान् बता रहे हैं। क्या हम आसुरी संपदा में ही आबद्ध रहेंगे ? जन्म-जन्म से अभिशप्त हैं ? भगवान् ने गीता में हमें बहुत बड़ा आश्वासन दिया है। भगवान् ने बार-बार कहा है कि पतित-से-पतित व्यक्ति भी अनन्य भाव से मुझे भजता है तो वह साधु मानने योग्य है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। (९/३०)

कितना बड़ा आश्वासन! बड़े से बड़े पाप करने वाला भी अगर— *सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।।* (मानस.५/४३-३)

कितने कृपालु हैं भगवान् ! हमसे जितनी भी गलतियाँ या त्रुटियाँ हुई हों, हमने जितने भी पाप किए हों— एक बार राम की ओर चलें तो सही, एक बार श्रेय की ओर उन्मुख तो हों। उसको भी भगवान् अपना लेते हैं।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।

अगर श्रेय मार्ग की ओर चलोगे तो परा गति, परम गति, मोक्ष की प्राप्ति होगी। भगवान् आश्वस्त करते हैं। सिर्फ इसलिए कि अगर तुम 'प्रेय' मार्ग की ओर, काम-क्रोध-लोभ की ओर चलते रहोगे तो तुम्हारा अधिकाधिक पतन होगा और अगर दम-दया-दान के द्वारा तुम काम-क्रोध-लोभ को जीत लोगे तो तुम्हारा निरन्तर उत्थान होगा, विकास होगा। अब देखिए अगले श्लोक में फिर काम आया —

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।। (१६/२३)

'शास्त्रविधि' —विधि शब्द के दो अर्थ होते हैं— एक तो विधि का अर्थ है आदेश। ऐसा-ऐसा करो—यह विधि है। यह मत करो—यह निषेध है। *'अविधि'* माने जो पद्धति बताई गई है, उस पद्धति के अनुसार नहीं। तो विधि के दोनों अर्थ हुए। एक तो शास्त्र में जो आदेश दिया गया है उसका उल्लंघन मत करो। शास्त्र की पद्धति का उल्लंघन मत करो। जो शास्त्र में बताए गए आदेशों का उल्लंघन कर *'कामकारतः'* केवल अपनी इच्छा या मौज के अनुसार काम करेंगे उनका पतन होगा। *दिल जो कहेगा मानेंगे,* मन की बात मानोगे तो गड्ढे में पड़ोगे लाला! मानो मन की बात। जाओ गड्ढे में। मन तो बराबर विषयों की ओर ही जाएगा। मन इन्द्रियों से विषय की ओर जाता है। मन अंतर्मुखी होता है। मन को बड़े प्रयास से बुद्धि की ओर और बुद्धि से आत्मा की ओर लाना पड़ता है। आप लोगों ने गीता में पढ़ा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।। (३/४२)

मन बीच में है। इन्द्रियों से बाहर की ओर जाएगा तो विषयोन्मुख होगा; अंतर्मुखी होगा तो मन बुद्धि की ओर जाएगा और बुद्धि से आत्मा की ओर जाएगा। तो मन को अंतर्मुख करना साधना का विषय है। बहिर्मुख तो साधारण होता है। जो शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करके केवल काम, केवल इच्छा के अनुसार काम करता है तो *न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।*

न उसको सिद्धि मिलती है, न सुख मिलता है, न परा गति, उत्तम गति, मोक्ष मिलता है। मन-मुखी होने से काम नहीं बनेगा। संतों का शब्द है। मनमुखी नहीं गुरुमुखी होओ। जो गुरु के द्वारा उपदेश है, जो शास्त्रों के द्वारा उपदेश है, उसका अनुगमन करो। मनमुखी और गुरुमुखी—इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। मन तो कष्ट नहीं उठाना चाहता। तपस्या तो कष्ट से होती है। भगवान् की साधना, पूजा यह तो कष्ट से होती है। मन नहीं लगता। मन तो सिनेमा देखने में लगेगा। टी.वी. देखते रहो रात के बारह-एक बजे तक। चौबीसों घंटे चलता है। मन किधर जाता है, यह विचार करके देखो। परीक्षा के समय छात्रों को सबसे बड़ा कष्ट होता है। बांग्ला की पंक्ति है—

'छात्रेर जीवन सुखेर जीवन
जोदी ना थाके एक्जामिनेशन।'

छात्र का जीवन सुख का जीवन है, अगर परीक्षा न हो। क्योंकि परीक्षा के समय तो मन मार कर पढ़ना पड़ता है। कोई सहज पढ़ना नहीं चाहता। मन को उसकी सहज प्रवृत्ति से विमुख कर जब हम अच्छाई की ओर ले जाते हैं तो उसमें कष्ट है, त्याग है, तपस्या है। मन जब विषयों की ओर जाता है तो उसमें भोग है, तात्कालिक सुख है, आपात-रमणीय सुख है—अन्त में दुःख-ही-दुःख है। तो *'कामकारतः'* केवल मौज-मजे के लिए काम करना यह पतन का रास्ता है। इससे सिद्धि नहीं, सुख नहीं। इससे परा गति नहीं।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।। (१६/२४)

इसलिए क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है— इसकी व्यवस्था देने में शास्त्र ही प्रमाण है। थोड़ा-सा विचार इस पर भी कर लेना चाहिए कि शास्त्र किसको कहते हैं? शास्त्र शब्द दो क्रियाओं से बनता है— *'शंसनात् शास्त्रं'* —जो अपने विषय का ठीक-ठीक ज्ञान दे, निरूपण करे, उसकी प्रशंसा करे, स्तुति करे— वह शास्त्र है। यह एक व्युत्पत्ति हुई। दूसरी व्युत्पत्ति है जो हमें क्या करना चाहिए—इसका निर्देश दे—शासन करे, वह शास्त्र है। *'शासनात् शास्त्रम्' 'शंसनात् शास्त्रं'* —जो हमारे कर्त्तव्य का निर्णय करे, हमको आदेश दे कि यह करो, यह मत करो। यानी शासन करने वाला शास्त्र है। जो अपने विषय का सम्यक् ज्ञान करा दे—वह शास्त्र है। दोनों को मिला लीजिए। जो अपने विषय का आधिकारिक ज्ञान देता है, प्रामाणिक ज्ञान देता है —वह शास्त्र है। गीता ने अपने को भी शास्त्र कहा है—

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ। (१५/२०)

'गीता शास्त्रमिदं पुण्यं' कहकर गीता की महत्ता बताई गई। गीता, उपनिषद, वेद, रामायण, महाभारत ये सब शास्त्र हैं। लेकिन शास्त्र का केवल संकेत दिया है, कोई नाम नहीं दिया है। स्वयं गीता एक बहुत क्रांतिकारी ग्रन्थ है। गीता ने यज्ञ का अर्थ बदल दिया। यज्ञ में क्या करते थे— अग्नि प्रज्वलित करके उसमें समिधाओं की आहुति देते थे— *इदं इन्द्राय, इदं न मम..... इन्द्राय स्वाहा'* यज्ञ में आहुति देते थे। गीता ने यज्ञ को यज्ञमण्डप से उठाकर जीवन की व्यापक भावभूमि पर स्थापित कर दिया। गीता में कहा कि द्रव्य-यज्ञ तो सबसे छोटा यज्ञ है। ज्ञान-यज्ञ सबसे बड़ा है। अनेक प्रकार के यज्ञ गीता में बता दिये। यज्ञ की परिभाषा ही बदल दी। तपस्या का अर्थ बदल दिया। जंगल में जाकर, जटाजूट बढ़ाकर, विभूति रमाकर तपस्या करने का अर्थ भी बदल दिया। गीता में कहा गया कि एक शारीरिक तप है, एक वाङ्मय तप है, एक मानसिक तप है। जंगल में जाने की कोई जरूरत नहीं, परिवार में रहते हुए ही तप करो। वेदों में जो कुछ कहा गया उससे कर्म योग करने वाले की प्रतिष्ठा अधिक मानी गयी। इस तरह से गीता अपने पूर्ववर्ती शास्त्रों में निरन्तर विकास करती है। गीता, शास्त्र को जड़ नहीं मानती। गीता शास्त्र को स्वीकार करने की बात कहती है लेकिन शास्त्र यदि आजके युग के अनुरूप न रह जाएँ, अगर उसमें कोई त्रुटि हो जाए तो उसका परिमार्जन भी कोई दूसरा शास्त्र ही कर सकता है— हम-तुम नहीं कर सकते। कोई कृष्ण आएगा, वह निर्णय करेगा। कोई शंकराचार्य, कोई रामानुजाचार्य, कोई तुलसीदास—वे निर्णय करेंगे और उनके निर्णय से हम अपने को अनुशीलित करेंगे। बारबार ध्यान रखिए कि शास्त्र भी कौन समझता है?

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ।।

जिसकी अपनी प्रज्ञा विकसित नहीं है, शास्त्र उसका क्या कर सकता है ? जिसकी आँखें नहीं हैं, दर्पण उसका क्या कर सकता है ? *'ज्ञात्वा शास्त्र विधानोक्तं' ज्ञात्वा* यानी जानकर, कसौटी पर चढ़ा कर। शास्त्र का मतलब हुआ— वह प्रामाणिक ज्ञान जो उस विषय का अधिकृत उपदेश करता है। उसके सामने हमारा अहंकार विनत होना चाहिए। केवल अपनी इच्छानुसार अपने सुख-भोग के लिए नहीं, केवल अपने पांडित्य की तृप्ति के लिए नहीं; विनम्र होकर, शास्त्र का मर्म समझकर, शास्त्र के अर्थ को अंगीकार कर हम आगे बढ़ें तब हम बड़े-से-बड़ा काम करने की योग्यता प्राप्त करेंगे। तो शास्त्र भी महत्त्वपूर्ण है। इस शास्त्र के महत्त्व को ठीक से समझना चाहिए।

युगानुकूलता और देशानुकूलता ये दोनों बातें— ये दो बड़ी कसौटियाँ हैं। बाहर

से जो कुछ हमने सीखा, सब ज्यों-का-त्यों हम ले लेंगे ? ऐसा नहीं होना चाहिए। बाहर की सब बातें हमारे लिए लाभदायक नहीं हैं। रसायन, भौतिक, गणित शास्त्र ही हैं। विज्ञान भी शास्त्र ही है। वह प्रमाण द्वारा सिद्ध है लेकिन उसके द्वारा प्रतिपादित बातें हम अपनी संस्कृति के अनुकूल अपने जीवन की पद्धति के अनुकूल, देशानुकूल बना कर लेंगे। अपनी संस्कृति की बातों को हम युगानुकूल बना कर लेंगे। इसीलिए केवल जाति से ही वर्ण का निर्धारण — यह आज नहीं चल सकता। किसी भी शास्त्र की दुहाई नहीं। इस तरह गीता अपनी परंपरा में भी एक ऐसी तेजस्विता लिए है जो अपनी उपलब्धियों को, परंपराओं को परिमार्जित करने की क्षमता रखती है। उस परंपरा को परिमार्जित करते रहने की परंपरा चलती रहनी चाहिए। बड़े उद्देश्य को सामने रखकर युग के अनुकूल शास्त्र बनने चाहिए और उन शास्त्रों के प्रति हमारी श्रद्धा होनी चाहीए।

उच्छास्त्रं अनर्थाय, परमार्थाय शास्त्र इत ।

जो उच्छास्त्र है, जो शास्त्र का उल्लंघन करता है, वह तो अनर्थ की ओर जाता है। जो शास्त्र-सिद्ध बात करता है, वह परमार्थ की प्राप्ति करता है। *तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।* इसलिए बारबार इस बात की परख करो कि जो तुमको प्रेरणा मिल रही है वह काम की प्रेरणा है कि राम की प्रेरणा है? क्या कर्त्तव्य है, क्या अकर्त्तव्य है— इसका फैसला अपने मन से नहीं करना चाहिए। अर्जुन क्या कर रहा है ? अर्जुन अपने मन से फैसला कर रहा है। *'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह'।* (२/९-२) मैं युद्ध नहीं करूँगा। तुम कैसे शरणागत हो ?

कार्पण्य दोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।। (२/७)

मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, प्रपन्न शरणागत हूँ, मेरे ऊपर तुम शासन करो लेकिन मैं युद्ध नहीं करूँगा। वाह रे वाह ! अच्छे शरणागत हो ? अपनी इच्छा लाद दोगे ? याद रखिए ! शास्त्र-वाक्य भी अंतिम बात गीता के लिए नहीं हैं। हमलोग कैसे काम करते हैं— इसके तीन मार्ग गीता में बताए गए हैं—

'प्रकृतिस्त्वा नियोक्ष्यसि' हे अर्जुन-अगर तू कहेगा कि मैं युद्ध नहीं करूँगा और संन्यास लेकर जंगल में चला जाएगा तो वहाँ भी तू युद्ध करेगा। वहाँ तेरी प्रकृति तुझे युद्ध में लगा देगी। हम सब प्रकृति के द्वारा परिचालित होते हैं आसुरी संपदा की स्थिति में। प्रकृति का उल्लंघन नहीं कर सकते। लेकिन यह काम की सबसे निचली भूमिका है। यह पशुत्व का धर्म है। इससे ऊँची भूमिका है— *'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते'* —बड़े लोगों ने, ऋषियों ने, ज्ञानियों ने जो निर्णय किया है उस निर्णय का तुम्हारे ऊपर प्रयोग

होना चाहिए। उसके सामने सिर झुकाओ, उसके अनुसार आचरण करो। लेकिन यही अंतिम बात नहीं है। अंतिम बात भगवान् ने गीता में कही है— *'ततो वक्ष्यामि ते हितं'* —अगर तुम बिलकुल मुझ पर निर्भर हो जाओगे, तो मैं तुम्हारे हित की बात तुम्हें बताता रहूँगा। तुम भगवान् पर निर्भर तो हो। यह चरम बात है। शास्त्र से भी ऊँची बात है। बराबर इस बात की परख करो कि जो तुमको प्रेरणा मिल रही है वह काम की प्रेरणा है कि राम की प्रेरणा है। जो प्रेरणा तत्काल सुख वाली हो, वह काम की प्रेरणा है। जो प्रेरणा तपस्या, त्याग, दान की है, जो बलिदान, कष्टसहिष्णुता की प्रेरणा है, वह राम की प्रेरणा है। जितनी मात्रा में हम राम पर निर्भर होंगे, भगवान् ने वचन दिया है, तुम्हारा जो परम कल्याण है, वह मैं तुम्हारे हृदय में स्फुरित करूँगा। भगवान् हमको इस योग्य बनाएँ, हम उन पर निर्भर हों, भगवान् हमारे हित की बात हमको बताते रहें। श्री राम जय राम ! जय जय राम। ●

प्रवचन- ४७*

श्रद्धात्रय एवं तदनुरूप आहार तथा यज्ञ

भगवान् की कृपा है कि हम सत्रहवें अध्याय में प्रवेश कर रहे हैं। इस अध्याय को श्रद्धात्रय विभागयोग कहा गया है। इसमें श्रद्धा के तीन विभाग कर उसका विवेचन किया गया है। श्रद्धा भारतीय मनीषियों की दृष्टि में वह आधारभूत वृत्ति है जो *श्रत्* को यानी सत्य को धारण करती है। श्रद्धा में 'ध', यह क्रिया के धारण करने वाली और श्रत् इति सत् (सत्य) नाम। सत् को (सत्य को) छिपाने के लिये उसमें रेफ़ लगा दिया गया है। तो श्रद्धा का मतलब हुआ सत्य को धारण करने वाली वृत्ति। आप लोगों ने वह उक्ति सुनी होगी *'श्रद्धया सत्यमाप्यते'*। श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है, क्योंकि श्रद्धा अपने विश्लेषण में ही सत्य को धारण करने वाली वृत्ति है। यह श्रद्धा अपने मूलभूत रूप में परम सात्विकी है। श्रद्धा क्या करती है? श्रद्धा का अद्भुत काम आप समझिये। इसी अध्याय में भगवान् ने कहा *'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो'* (१७/३-२)। यह जो पुरुष है इस पुरुष को *'आत्मावाचक अहं'* तक ले जाने वाला जो सेतु है वह श्रद्धा है। मैं अपने नामरूप में विशिष्ट, अपने अहंकार के द्वारा अपने को कटा-छँटा मानने वाला यदि अपने को असीम अद्वय, अद्वैत तत्त्व से एक कर दूँ— कितनी बड़ी यात्रा है। इस लघु नामरूप सीमित अहं से उस अद्वैत *'अहं ब्रह्मास्मि'* तक की यात्रा मूलतः श्रद्धा के सेतु के द्वारा संभव होती है। इसलिये ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक श्रद्धा सूक्त आया है। उस श्रद्धा सूक्त में कहा गया है— *'ॐ श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धयाहूयते हविः श्रद्धांभगस्य मूर्धनि वचसावेदया मसि।'* ऋषि कहता है— *'श्रद्धया अग्निः समिध्यते'* श्रद्धा के द्वारा अग्नि को समिद्ध किया जाता है, तेजस्वी किया जाता है। यज्ञाग्नि को भी; ज्ञानाग्नि को भी; प्रेमाग्नि को भी। जिसमें आन्तरिक श्रद्धा नहीं होगी वह अग्नि को— चाहे वह ब्रह्माग्नि ब्रह्मावर्चो हो, ब्रह्महुतम, चाहे वह ज्ञानाग्नि हो, चाहे वह भक्ति की विरहाग्नि हो उसको समिद्ध नहीं कर सकता, तेजस्वी नहीं कर सकता। *'श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धयाहूयते हविः।'* जब यज्ञ में आहुति डाली जाती है तो देवता कौन सी

* सप्तदश अध्याय (श्रद्धात्रय विभाग योग) : श्लोक संख्या १ से १३

आहुति स्वीकार करते हैं? जो अश्रद्धा से डाली गई आहुति है उसको देवता स्वीकार नहीं करते। *श्रद्धयाहूयते हविः*, तुमने अगर श्रद्धा से कुछ दान दिया है, श्रद्धा से समर्पण किया है तो वह समर्पण स्वीकृत होगा। *श्रद्धांभगस्य मूर्धनि* अद्भुत वाक्य है। भग कहते हैं समस्त साधनों को, धन सम्पत्ति को, अनेक प्रकार की क्षमताओं को; यहाँ साधन-सम्पत्ति। *'श्रद्धांभगस्य मूर्धनि'*, जितनी भी साधन सम्पत्ति है इहलौकिक या परलौकिक, समस्त साधन सम्पत्तियों में शीर्षस्थ है श्रद्धा। *'वचसाः वेदयामसि'*— ऋषि कहता है कि मैं अपनी वाणी से सत्य को प्रसारित कर रहा हूँ, कि श्रद्धा हमारा सबसे बड़ा साधन है। *'श्रद्धया विन्दते वसु'* —वसु का मतलब होता है रत्न, वसु का मतलब होता है धन, वसु का मतलब होता है अभीष्ट। *'श्रद्धयाविन्दते वसु'*, जो तुम्हारा अभीष्ट है, वह श्रद्धा के द्वारा प्राप्त होगा। *'श्रद्धावांलभते ज्ञानम्'*—श्रद्धावान् को ही ज्ञान प्राप्त होता है। श्रद्धा हमारी वह विनम्र वृत्ति है जिस के द्वारा हम गुरु की, शास्त्र की वाणी को अनुभव के आधार पर स्वीकार करते हैं।

एक बात पर ध्यान दीजिये। किसके प्रति आपके मन में श्रद्धा होती है ? जिसमें महत्त्व का साक्षात्कार आप करते हैं, जिसके सम्पर्क में आने के बाद आपको लगता है कि इसमें कुछ बड़प्पन है, विशेषता है, जिसमें आप श्रेष्ठता का अनुभव करते हैं, उसके प्रति आपके मन में श्रद्धा होती है। यह आदर से ऊँची बात है। आदरातिशय। उस महत्त्व को आपने अनुभव किया है। यह केवल तर्क की बात नहीं है। तर्क से श्रद्धा कटती नहीं। क्यों नहीं कटती ? क्योंकि श्रद्धा अनुभव पर आधारित है। जो श्रद्धा अनुभव पर्यवसायी है, जिसका पर्यवसान, जिसका समापन अनुभव में होता है वह श्रद्धा टिकेगी। जो श्रद्धा अनुभव पर्यवसायी नहीं है, जो तुमको दिव्य अनुभव कराने में समर्थ नहीं है, जिसमें तुमको महत्त्व का अनुभव नहीं होता, वह श्रद्धा विचलित हो जायेगी, खण्डित हो जायेगी। वह या तो अन्ध श्रद्धा रह जायेगी या फिर वह अश्रद्धा हो जायेगी। अनुभव पर्यवसायी श्रद्धा। किसी बड़ी सच्चाई को सुना, उस बड़ी सच्चाई को जीवन में उतारने वाले व्यक्ति का सत्संग मिला, उसके महत्त्व का अनुभव हुआ, उस अनुभव से हमको दिव्य अनुभव हुआ, वह अनुभव पर्यवसायी श्रद्धा टिकती है। विवेकानन्द ने रामकृष्ण परमहंस से पूछा, 'तुमने भगवान् को देखा है'? वे बोले— 'देखा है। जैसे तुमको देख रहा हूँ उससे ज्यादा अच्छी तरह से देखा है और न केवल देखा है, तुमको दिखा भी सकता हूँ।' उन्होंने जब अनुभव कराया तब विवेकानन्द की श्रद्धा रामकृष्ण परमहंसदेव पर स्थिर रही। अनुभव पर्यवसायी श्रद्धा। लोग कहते हैं

अन्ध श्रद्धा ? कैसी अन्ध श्रद्धा ? किसकी बात कह रहे हो ? हम लोगों की श्रद्धा तो त्रिनयना है। तुलसीदास ने मानस के प्रारम्भ में ही कहा है—

भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ,
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्।

भगवती भवानी तो त्रिनयना है। दो आँखें जो लौकिक व्यवहार की हैं और एक ज्ञान की दृष्टि है, अनुभव की दृष्टि है जो समस्त तर्कों के परे अनुभव को समाहित करने की क्षमता देती है। वह श्रद्धा, दिव्य श्रद्धा है। वह नित्यसत्वस्था, वह भागवती श्रद्धा है। एक बात पर और ध्यान दीजिये कि यह श्रद्धा हमारे आपके अन्तःकरण में आती है, उतरती है इसलिये इसमें अन्तर रहता है। अब इसी अन्तर को समझाने की चेष्टा की जायेगी। लेकिन श्रद्धा की वास्तविक भूमिका क्या है, श्रद्धा हमको क्या देती है ? श्रद्धा से हमको क्या प्राप्त होता है इसका सबसे अच्छा अगर कोई उदाहरण है तो 'कामायनी' में श्रद्धा का गीत है— *तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन।* जब केवल तर्क का कोलाहल हो रहा हो तो तर्क के कोलाहल से मिलता क्या है ? आप जो भी बात कहिये हम उसको काट देंगे। मेरी अपनी पंक्तियाँ हैं—

हर बात औरों की कन्ने से काटी
खाई सच झूठ की तर्कों से पाटी।
जीत ली दुनिया कॉफी के प्यालों पर
शुद्ध बुद्धिजीवी की स्वस्थ परिपाटी।

आप कोई बात कहिये कॉफी हाउस के शुद्ध बुद्धिजीवी उसे काट देंगे। उसमें सच और झूठ का सवाल कहाँ है ? आपकी बात है, हम आपकी बात काट देंगे; हम उसे नहीं मानते। इस कोलाहल, इस कलह में मैं हृदय की बात करूँगा। जो बात हृदय के द्वारा अनुभूत हुई, जो बात हृदय से निकली— वही बात हृदय तक पहुँचती है। बराबर याद रखिये कि जो हृदय से निकली हुई बात होगी वह हृदय को सीधे स्पर्श करेगी। केवल दिमाग से निकली हुई बात हृदय को छूती नहीं। 'प्रसाद' कहते हैं—

तुमुल कोलाहल कलह में मैं हृदय की बात रे मन।
विकल होकर नित्य चंचल, खोजती जब नींद के पल
चेतना थक सी रही, तब मैं मलय की वात रे मन।

हमारी आपकी चेतना जब व्याकुल हो जाये, छटपटा जाये, अपने को ही न सह पाये; तो श्रद्धा विश्राम देती है। मलय की दक्षिण शीतल हवा के समान वह हमारी सारी

व्याकुलता को शान्त करती है, हमको आश्वस्त करती है। इसके बाद का पद तो अद्भुत है—

चिर विषाद विलीन मन की, इस व्यथा के तिमिर वन की।
मैं उषा सी ज्योति रेखा, कुसुम विकसित प्रात रे मन।।

आप अपने जीवन को देखिये। हमारे आपके जीवन में विषाद आता है कि नहीं ? *चिर विषाद विलीन मन की*— विषाद से आक्रान्त जब कुछ अच्छा नहीं लगता, जब अपना जीवन अच्छा नहीं लगता; जब लगता है कि सब व्यर्थ हो गया— उस विषाद में डूबा हुआ मन। *'इस व्यथा के तिमिर वन की'* व्यथा का अन्धकार पूर्ण जंगल, निकलने का रास्ता नहीं। अँधेरा अँधेरा अँधेरा.... हिंस्र पशु, ऊबड़खाबड़ रास्ता, असहायता की स्थिति। कोई शक्ति है जो इसमें रूपान्तर कर दे ? हाँ है। अगर तुम्हारी सात्विक श्रद्धा है तो वह तुम्हारे इस तिमिर के अन्धकार अच्छादित वन को ज्योतित कर सकती है। *'मैं उषा सी ज्योतिरेखा, कुसुम विकसित प्रात रे मन'* उस अन्धकार का शमन कर प्रकाश को, ज्योति को ले आने की क्षमता श्रद्धा में है। आपको मालूम है तमोगुण अंधकार का प्रतीक है, सत्त्वगुण प्रकाश का प्रतीक है। जब हम तमोगुण में डूब गये हों, तो उस घोर तामसी मनःस्थिति से सात्त्विक मनःस्थिति की ओर ले जाने की क्षमता केवल श्रद्धा में है। इसलिये यह श्रद्धा बहुमूल्य सम्पदा है। आधुनिक लोग बहुत अहंकार से पश्चिम की देखा-देखी कहते हैं कि हिन्दुस्तानी लोग, खासकर हिन्दू लोग अन्ध श्रद्धालु हैं। उनका तर्क, उनकी कुबुद्धि उनको मुबारक। हमने पीढ़ी दर पीढ़ी अनुभव के आधार पर महत्त्व का साक्षात्कार करके जो श्रद्धा अर्जित की है, वह हमारी प्रेरणा है, वह हमारा आधार है। उसकी उँगली पकड़कर हम अहंकार से आत्मा तक जायेंगे इसलिये श्रद्धापूर्वक आप इस प्रवचन को सुनें। अब आप देखें जो पहला श्लोक है उसमें अर्जुन पूछता है—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ।। (१७/१)

हे कृष्ण, जो शास्त्रविधि का परित्याग कर श्रद्धान्वित होकर, श्रद्धा से प्रेरित होकर पूजन करते हैं उनकी निष्ठा को क्या कहोगे, वह सात्त्विक है कि राजसिक है कि तामसिक है ? सोलहवें अध्याय के अंतिम प्रकरण में भगवान् ने दो बातें बिल्कुल साफ़ कहीं। एक बात कि जो शास्त्रविधि को छोड़कर आचरण करेगा, उसका पतन होगा; और जो शास्त्रविधि का अनुगमन करते हुये श्रद्धा के साथ आचरण करेगा, उसका परम उत्थान होगा। तो दो भूमिकायें एकदम स्पष्ट हो गईं — पहली, जिसके

व्यवहार में शास्त्र का समर्थन भी है और श्रद्धा भी है उसका तो निरन्तर अभ्युदय होगा और दूसरी, जिसके व्यवहार में न शास्त्र है, न श्रद्धा है उसका निरन्तर पतन होगा। तो क्या केवल ये दो भूमिकायें ही हैं ? बहुत बड़ी संख्या ऐसे लोगों की है जिनको शास्त्र का ज्ञान नहीं है। कितने लोगों को शास्त्र का ज्ञान होता है बताइये ? लेकिन ऐसे लोग जिनको शास्त्र का ज्ञान नहीं है, उन्होंने अपने माता-पिता से, अपने गुरुजनों से, वृद्ध जनों से परिवार का जो कुलाचार है वह सीखा है। वे श्रद्धा के साथ उसका व्यवहार कर रहे हैं। तो शास्त्र का ज्ञान तो नहीं है लेकिन गुरुजनों से प्राप्त श्रद्धा के आधार पर जो उनकी उपासना है, जो उनकी साधना है, वह क्या सब की सब व्यर्थ हो जायेगी ? क्या शास्त्र के सामने श्रद्धा का कोई अस्तित्व नहीं है ? शास्त्र नहीं तो शून्य ? हाँ, बहुत से लोगों में शास्त्रज्ञान नहीं है, और सच्चाई यही है कि नब्बे प्रतिशत लोगों को शास्त्र का ज्ञान नहीं है, लेकिन शास्त्र ज्ञान नहीं होते हुए भी परम्परा से, कुल परम्परा से, गुरुजनों की परम्परा से जो सीखा है, श्रद्धा के साथ उसका पालन कर रहे हैं। तो क्या वह उपासना व्यर्थ है ? उसकी क्या स्थिति होगी ? आप देखिये, इसमें शब्द आया निष्ठा। *'तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।'* उनकी निष्ठा क्या है ? निष्ठा किसको कहते हैं ? निष्ठा कहते हैं *'नितरां स्थिति'*, वह परम स्थिति जिससे विचलन नहीं होता। सामान्य स्थिति से हम विचलित हो जाते हैं। निष्ठा पक्की होनी चाहिये, निष्ठा विचारपूर्वक होनी चाहिये। निष्ठा अपने जीवन के अनुभव पर आधारित होनी चाहिए। जो हम सोच विचार कर तय करते हैं उस तय किये हुये विषय के अनुसार जो हमने व्यवहार करने की प्रक्रिया सीखी, जो प्रतिकूल स्थितियों में विचलित नहीं होती, जो प्रतिकूल स्थितियों में छूटती नहीं, वह निष्ठा है। तो जो लोग शास्त्र का पालन नहीं करते, इसलिये नहीं कि अवज्ञा कर रहे हैं। शास्त्र की उपेक्षा-अवज्ञा किये बिना, अज्ञान के कारण कुछ लोग ऐसा आचरण कर रहे हैं लेकिन उनके उस आचरण में श्रद्धा है। उनकी क्या निष्ठा हुई ? उनकी क्या स्थिति होगी ? वे पतित हो जायेंगे ? क्या उनकी वह स्थिति सात्त्विक हो सकती है ? यह प्रश्न है अर्जुन का और यह प्रश्न सामान्य जनों को, श्रद्धालु जनों को दृष्टि में रखकर किया गया प्रश्न है।

भगवान् इसका उत्तर देते हैं। देखिये, इसपर ध्यान दीजिये कि वे निष्ठा की बात नहीं कहते। पूछा गया है कि उनकी निष्ठा क्या है *'तेषां निष्ठा तु का कृष्ण'* ? हे कृष्ण ! उनकी निष्ठा क्या है ? भगवान् उत्तर देते हैं— *'त्रिविधा भवति श्रद्धा'*। पूछ रहे हैं निष्ठा, पर बता रहे हैं श्रद्धा। तो क्या असंगत बता रहे हैं ? नहीं, संगत बता रहे हैं। क्योंकि निष्ठा श्रद्धा पर निर्भर है। श्रद्धा कारण है और निष्ठा कार्य है। कार्य को समझने के लिये

कारण को समझना चाहिये। बिना कारण के समझे, कार्य को समझा नहीं जा सकता। अगर तुम निष्ठा को समझना चाहते हो तो उस निष्ठा के पीछे जो कार्यरत मूलभूत कारण के रूप में श्रद्धा है उसका विचार करना होगा।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।। (१७/२)

भगवान् कह रहे हैं कि स्वभाव के अनुसार प्राणियों की, देहधारियों की तीन प्रकार की श्रद्धा होती है— सात्त्विकी, राजसी और तामसी, उनका विवरण सुनो। *'स्वभावजा'* —स्वभाव का क्या मतलब ? इसपर आप ध्यान दीजिये। स्वभाव एक परिभाषिक शब्द है यानी अपना भाव। अपना भाव कौन-सा है ? अग्नि का स्वभाव क्या है ? अग्नि का स्वभाव है जलाना। जल का स्वभाव क्या है ? जल का स्वभाव है गीला करना। तो हमारा आपका स्वभाव क्या है, यह कैसे मालूम पड़े ? स्वभाव का अर्थ यहाँ पर क्या है ? देखिये हमारी परम्परा यह मानती है कि हमारा स्वभाव केवल इसी जीवन में ही नहीं बना है। हमारे जो असंख्य पूर्व कर्म हुये हैं, जन्म हुये हैं, उन जन्मों में जो हमने कर्म किये हैं उन कर्मों के परिणाम स्वरूप इस जन्म में हमारे स्वभाव का निर्माण होता है। पिछले जन्मों में अंतिम क्षण तक जो हमने कर्म किया उसने हमारे स्वभाव के निर्माण में योगदान दिया। अब इस जन्म में जब हम पैदा हुये तो हम प्रारब्ध को लेकर पैदा हुये। इस प्रारब्ध को समझ लीजिये। असंख्य पूर्व जन्मों में हमने जो कर्म किये किन्तु जिन कर्मों का फल नहीं भोगा वे सारे कर्म नष्ट नहीं हो गये। उन कर्मों का फल हमें भोगना पड़ेगा। जिन कर्मों का फल हम अभी तक भोग नहीं पाये, हमारे असंख्य पूर्व जन्मों के वे अभुक्त कर्म, संचित कर्म हैं। सारे पूर्व जन्मों के जिन कर्मों का फल हमने भोगा नहीं है उनका समष्टिगत नाम है *'संचित कर्म'*। उस संचित कर्म से वह जो थोड़ा सा हिस्सा हमको फल देना शुरू कर रहा है वह है *'प्रारब्ध'*। आरब्ध माने जो आरम्भ हुआ है। 'प्र' माने प्रकृष्ट रूप से। जैसे, रामचन्द्रजी मिश्र, सदानन्द सिंह *'प्राध्यापक'* हैं यानी अध्यापक से बड़े हैं। प्रकृष्ट अध्यापक हैं इसलिये प्राध्यापक हैं। तो जो काम प्रकृष्ट रूप से शुरू हुआ है, 'प्रारब्ध' हुआ। यानी प्रारब्ध हमारे पूर्व जन्मों के कर्मों का वह हिस्सा है जो इस जन्म में हमें फल देता है। तो हमारा जो स्वभाव है वह हमारे पूर्व जन्मों के कर्मों के प्रारब्ध के अनुरूप बनता है। हमारी जो वासना है उस वासना से हम बँधे हुये हैं। कोई खास व्यक्ति किसी प्रकार का काम क्यों करता है ? किसी को पढ़ना क्यों अच्छा लगता है ? किसी को सताना क्यों अच्छा लगता है ? किसी को काम करना क्यों अच्छा लगता है ? कोई हिंसा क्यों करता है ? इसका कोई

कारण तो होना चाहिये। आधारभूत कारण हम मानते हैं कि पूर्व जन्म के कर्मों का वह जो प्रारब्ध संस्कार रूपी फल है वह हमारे स्वभाव का निर्माण करता है। तो क्या हमारे पूर्व जन्म के संस्कार में जो हमारा स्वभाव बन गया वह अविचलित है ? वह बदलेगा नहीं ? हमारी मान्यता यह है कि *'स्वभावोदुरतिक्रमः'* यानी स्वभाव बहुत मुश्किल से बदला जाता है, *'दुरतिक्रम'* है। लेकिन, बदला जा सकता है। अगर सद्गुरु की प्राप्ति हो जाये, अगर हमें सत्संग मिल जाये, भगवान् की कृपा हो जाये। आखिर कैसे यह सम्भव हुआ कि दैत्यकुल में पैदा हुआ प्रह्लाद भक्त हो गया ? कैसे यह सम्भव हुआ कि राक्षस कुल में पैदा होनेवाला विभीषण भक्त हो गया ? कैसे यह सम्भव हुआ कि वानरकुल में पैदा होनेवाले हनुमानजी भक्त हो गये? यानी प्रारब्ध के कारण किसी कुल विशेष में जन्म हुआ, उस जाति का एक स्वभाव है, वह स्वभाव मुझमें भी आया है लेकिन वह स्वभाव दुरतिक्रम होने पर भी, यह नहीं कि वह नहीं ही बदला जा सकता। वह भी प्रभु की कृपा से, सद्गुरु के प्रताप से, सत्संग से, तपस्या से, साधना से बदला जा सकता है; लेकिन बहुत कठिन है। तो यह जो स्वभाव है जिसको लेकर हम पैदा हुये हैं इससे हमारी श्रद्धा उत्पन्न हुई, *'स्वभावजा'*। श्रद्धा स्वभावजा होती है। श्रद्धा स्वभाव के कारण हमारे भीतर निर्मित हुई, प्रकट हुई। आपको याद होगा कि हमने चौदहवें अध्याय में विस्तार से गुणों का विवेचन किया था। *सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।* (१४/५/१) *'सत्त्व'* का मतलब होता है प्रकाश, *'सत्त्व'* का मतलब होता है ज्ञान, सत्त्व का मतलब होता है तप, सत्त्व का मतलब होता है उत्कृष्ट वृत्तियाँ जो हमको ऊपर की ओर ले जाती हैं, प्रकाश की ओर ले जाती हैं। *'रज'* का मतलब होता है मुकाबला, प्रतिस्पर्धा, छटपटाहट, बेचैनी; जो हमको निरन्तर कर्म में व्यस्त रखती है। *'तम'* का मतलब होता है अन्धकार, अज्ञान, प्रमाद, आलस्य, निद्रा जो हमको जड़ता की ओर ले जाती है। तो यह जो हमारा स्वभाव बना है— हम सत्त्व गुणी हैं कि हम रजोगुणी हैं कि हम तमोगुणी हैं, यह बहुत कुछ हमारे पूर्व जन्म के कर्मों पर निर्भर करता है और थोड़ा सा हमारे इस जन्म के क्रियमाण कर्म पर। उसमें भगवत् कृपा, गुरु कृपा, सन्त कृपा है। रामजी ने कहा है—

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो सन्त होंइ अनुकूला।। (मानस. ३/१५-४)

सन्त अनुकूल हो जायें तो भक्ति मिल सकती है। इसलिये यह नहीं कि हमारा जो स्वभाव है वह है तो *'दुरतिक्रम'* लेकिन भगवान् की कृपा हमारे स्वभाव से बड़ी है। गुरु की कृपा, सन्त की कृपा और हमारी साधना भी हमारे स्वभाव से बड़ी हो सकती है यह मानकर श्रद्धा रखकर चलना चाहिये। सात्त्विकी, राजसी, तामसी ये तीन प्रकार

के प्राणियों की श्रद्धायें उनके पूर्व जन्म के फल के अनुरूप बने हुये स्वभाव के द्वारा बनती है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।। (१७/३)

यहाँ *'सत्त्व'* का मतलब सत्त्वगुण नहीं है। यहाँ सत्त्व का मतलब है अन्तःकरण। आप लोगों को वह श्लोक याद होगा— *क्रिया सिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे।* क्रिया सिद्धि किससे होती है ? उपकरणों से ? नहीं। आखिर भगवान् राम के पास क्या उपकरण थे ? श्लोक है—

विजेतव्यालंका चरण तरणीयो जलनिधिः
विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्येको रामः सकलमपि हन्ति प्रतिबलं
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे।।

महान् व्यक्तियों के लिये जो क्रिया सिद्धि है, सफलता है वह उनके सत्त्व के, अन्तःकरण के उत्साह में वास करती है, उपकरणों में नहीं। उपकरण रामजी के पास क्या थे ? पैदल समुद्र पार करना था, रावण से लड़ना था। सहायक थे वानर और भालू। लेकिन अकेले रामजी ने सबका वध कर दिया तो *'क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे।'* सत्त्व का मतलब है चित्त, अन्तःकरण। तो *'सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।'* श्रद्धा हमारे-आपके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। वेदान्त शास्त्र में अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, इन चारों की समष्टि है। इन चारों की समष्टि से जो हमारा भीतरी औजार, भीतरी समूह है, जो आत्मा के निकट है जिसपर आत्मा का प्रकाश पड़ता है और जो आत्मा के प्रकाश से जड़ होते हुये भी चेतन होता है। जैसे सूर्य का प्रकाश शीशे से प्रतिफलित होता है, वैसे ही आत्मा का चैतन्य अन्तःकरण में आभास के रूप में आता है तो अन्तःकरण चैतन्य होता है और व्यवहार में आता है। यह अन्तःकरण हमारा भीतरी औजार है जो अपने स्वभाव के अनुसार, अपने संस्कारों के अनुसार व्यवहार करता है। भगवान् का इसमें कोई दोष नहीं। भगवान् की कृपा से यहाँ आपने अच्छे पंखे लगवा रखे हैं। अतः पंखे चल रहे हैं पर आवाज नहीं हो रही लेकिन अगर कोई पंखा खराब होता तो खटर-खटर आवाज आती कि नहीं ? आपमें से सबके पास टी.वी. है। उसमें प्रसारण तो एक होता है लेकिन कुछ टी. वी. में बहुत साफ दिखाई देता है और किसी में झिकिर-झिकिर होता है। यह खटर-खटर करने वाला पंखा और झिकिर-झिकिर करनेवाला टी. वी. यह

प्रसारण का, विद्युत का दोष है या उस यन्त्र का दोष है ? उस यंत्र का दोष है। ऐसे ही हमारा जो सत्त्व है, हमारा जो अन्तःकरण है, हमारा जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का यह समष्टिगत अन्तःकरण है इसकी पवित्रता अपवित्रता पर, इसकी शुद्धता और अशुद्धता पर सत्त्व, रज, तमो गुण निर्भर करता है। भगवान् की शक्ति तो सब जगह समान है लेकिन हमारा यंत्र दूषित है। हमारे दूषित यंत्र से तामसी, राजसी वृत्तियाँ होती हैं। हमारा यंत्र जितनी मात्रा में शुद्ध होगा उतनी मात्रा में हम सात्विक होंगे। इसलिये चित्त शुद्धि के बिना कोई बड़ी साधना नहीं होती। चित्त शुद्धि यानी अन्तःकरण की शुद्धि। हमारे भीतरी औजार अगर दूषित हैं तो उनको पवित्र करने की साधना भगवत् प्राप्ति के लिये अनिवार्य शर्त है। तो *'सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत'*, सब प्राणियों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है।

भगवान् अद्भुत बात कह रहे हैं। *'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'* यह पुरुष श्रद्धामय है। भोजन बनता है उसमें किसी दिन नमक ज्यादा हो जाता है तो लोग झल्ला के कहते हैं 'आज तो इसमें नमक भरा हुआ है'! अरे, नमक नहीं भरा हुआ है भैया, थोड़ा सा नमक ज्यादा हो गया है। उसमें और भी सब चीजें हैं। वैसे, श्रद्धामय का मतलब क्या हुआ ? कि इसमें श्रद्धा का आधिक्य है। मनुष्य में श्रद्धा और विवेक दो सद्गुण हैं। इसी को नीचे की भूमिका में कहिये तो भाव और बुद्धि। भाव का समुद्र है और बुद्धि का छोटा सा द्वीप है। भाव के समुद्र में जब ज्वार आता है तो बुद्धि का द्वीप डूब जाता है। उस भाव को शुद्ध करके सात्विक श्रद्धा बना लोगे तो ज्वार में भी आनन्द रहेगा— नहीं तो दूषित भावों का ज्वार आयेगा और मार्गदर्शन करेगा। लेकिन एक बात सत्य है, मनुष्य मूलतः भाव-प्रवण व्यक्ति है। भावों का प्राचुर्य है, बुद्धि या विवेक अपेक्षाकृत कम है। *'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः'*। मनुष्य की जैसी श्रद्धा होगी, वैसा ही मनुष्य होगा। उसकी श्रद्धा सात्विक होगी तो सात्विक होगा; राजसी होगी तो राजसी होगा।

तुम सात्विक हो, राजसी हो कि तामसी हो, उसको कैसे पहचानें। पहचानने का क्या आधार है ? *'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'* जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही है। कोई व्यक्ति सात्विक है कि कोई व्यक्ति राजसी है कि कोई व्यक्ति तामसी है इसको पहचानने का आधार उसका आचरण है। वह चौबीस घण्टे में क्या करता है ? किसकी पूजा करता है ? क्या कामना करता है ? हम क्यों पूजा करते हैं ? हम इसलिए पूजा करते हैं कि जो चीज खुद नहीं पा सकते, जो काम हम अपने बलबूते पर नहीं कर पाते, उसके लिये हम प्रार्थना करते हैं। किससे प्रार्थना करते हैं ? जिसपर हमें श्रद्धा

होती है। जिस पर श्रद्धा होगी उससे प्रार्थना करेंगे कि हमारी यह इच्छा, हमारी यह कामना सम्पूर्ण करो। चौथा श्लोक है—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।। (१७/४)

कोई व्यक्ति सात्त्विक है कि राजसी है कि तामसी है इसको पहचानने का आधार उसका आचरण हुआ कि वह किस देव की पूजा करता है। सतोगुणी लोग देव पूजन करते हैं; राजसी स्वभाव वाले यक्षों, राक्षसों की पूजा करते हैं; जबकि तामसी प्रकृति वाले भूत, प्रेतों की आराधना करते हैं। आहार कैसा है, यज्ञ कैसा करता है। दान क्या देता है, कैसे देता है, तप क्या करता है यह बाद में विस्तार से बतायेंगे। यही बता रहे हैं कि जो वह प्राप्त करना चाहता है वह किससे प्राप्त करना चाहता है। मैंने अभी आपको बताया कि जो हम अपने बलबूते पर नहीं प्राप्त कर सकते उसके लिये प्रार्थना करते हैं। प्रकृष्ट अर्चना करते हैं। किससे प्रार्थना करते हैं ? हमारा पूज्य भाव हमारी वृत्ति के अनुसार ही बनता है।

अब एक बात और आपको बताऊँ। यह तो कहा गया है कि सोलहवें अध्याय से सत्रहवाँ अध्याय निकला है। बताया गया है कि शास्त्र और श्रद्धा से युक्त व्यक्तियों का कल्याण होता है तथा शास्त्र और श्रद्धा से हीन व्यक्तियों का अकल्याण होता है। बीच की स्थिति जिनकी है उनके लिये अर्जुन ने सवाल किया। सातवें और नौवें में भगवान् ने श्रद्धा का उल्लेख बहुत संक्षेप में किया है। इसलिये यहाँ उसका विस्तार से उल्लेख कर रहे हैं। देखिये सातवें अध्याय में भगवान् ने कहा है—

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। (७/२१)

इस बात पर फिर ध्यान दीजिए। भारतीय संस्कृति इस बात को मानती है कि 'भी' वाद चलना चाहिए, 'ही' वाद नहीं। जिसकी जिसके प्रति श्रद्धा है, रामजी उसकी श्रद्धा को दृढ़ करें। उसको अपनी श्रद्धा के अनुरूप फल मिलेगा। *'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति'* — भक्त जिस देवता के आकार के प्रति, श्रद्धा से उसकी पूजा करता है— *'तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदयाम्यहम्'* मैं, परमेश्वर, उसी में उसकी श्रद्धा दृढ़ कर देता हूँ। बराबर याद रखिये कि जिसकी जहाँ श्रद्धा है उसको आप विचलित मत कीजिये। वह उसका एक आधार है। अगर आप उसको उससे उन्नततर श्रद्धा दे सकते हैं, उसके गुरु की भूमिका निभा सकते हैं तब तो आप उसको उन्नत भूमिका पर ले जाइये; अन्यथा उसकी श्रद्धा का उपहास करके, उसकी श्रद्धा से उसको

वंचित कर यदि आप उसको कुछ देंगे नहीं तो आप उसका अकल्याण करेंगे। कभी ऐसा नहीं करना चाहिये। किसी की श्रद्धा तुम्हारी दृष्टि में निम्न कोटि की हो सकती है लेकिन अगर तुम उसको उन्नत कोटि की श्रद्धा नहीं दे सकते हो तो उसे अपनी श्रद्धा से वंचित तो मत करो। निम्न कोटि की सही, उसका कुछ आधार तो है। उससे वह कुछ तो ऊपर उठेगा। गंगा स्नान करने के लिए जाने वाले से कहा, अरे गंगा जा रहे हो ? क्यों भई ? अरे, *मन चंगा तो कठौती में गंगा।* कहा— 'मन चंगा' कैसे होगा ? पर यदि मन चंगा नहीं है तो ? तुमने उसको गंगा स्नान तो नहीं करने दिया। किया क्या ? ताश खेली, दूसरों की निन्दा की, टी. वी. देखा। यह बताओ कि 'मन चंगा' कैसे होगा। गंगा स्नान करना भी 'मन चंगा' करने का उपाय है। तुमको अगर उसका मन चंगा करने का दूसरा उपाय नहीं मालूम है तो उसे गंगा स्नान से क्यों रोक रहे हो ? इसलिये भगवान् ने कहा कि किसी की श्रद्धा का उपहास मत करो। अगर उसके गुरु की भूमिका निभा सकते हो, अगर उसको उन्नत भूमिका तक ले जा सकते हो, तब तो उसको उस विकसित श्रद्धा की ओर ले जाओ अन्यथा उसको अपनी श्रद्धा के अनुसार काम करने दो। भगवान् उसको उसकी श्रद्धा में दृढ़ करते हैं—

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। (७/२१-२)
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ।। (७/२२)

उसको अपनी श्रद्धा के अनुरूप अपने इष्ट से फल तो मिलता है। देने वाला कौन है ? देने वाले रामजी हैं। रामजी उसके इष्ट के माध्यम से उसको फल देंगे लेकिन रामजी उसको अपनी श्रद्धा से विचलित नहीं करेंगे। यह सातवें अध्याय में श्रद्धा के अनुसार अपने उपास्य की पूजा करने की बात कही गई। कम कही गई, उसको पूरा करना है। दूसरी बात, नवम अध्याय में भी उन्होंने बाइसवें-तेइसवें-चौबीसवें श्लोक में यह बात कही है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। (९/२३)

जो अन्य देवी देवताओं की श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं वे मेरी ही पूजा करते हैं लेकिन अविधिपूर्वक करते हैं। वे जानते नहीं कि अन्ततोगत्वा वे भगवान् की, परमात्मा की ही पूजा कर रहे हैं।

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम् ।
सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति ।।

आकाश से जो पानी बरसता है, कहीं भी बरसे, जायेगा कहाँ ? नदी नाले से होकर के समुद्र में जायेगा। वैसे ही किसी देवी-देवता के प्रति तुमने नमस्कार किया- किसको नमस्कार किया ? उसके माध्यम से परमात्मा को ही नमस्कार किया। इसलिये भगवान् कहते हैं कि मैं उनकी श्रद्धा को दृढ़ करता हूँ। उनको देता हूँ मैं ही, लेकिन उनको मिलता है उनके इष्ट देवों के माध्यम से। ये जो बातें सातवें और नवें अध्याय में कही गई थीं, इन दोनों बातों का सम्बन्ध भी यहाँ पर है इसलिये सत्रहवाँ अध्याय केवल सोलहवें अध्याय से निकला है, ऐसा नहीं मानना चाहिये। सोलहवें अध्याय से तो सीधे-सीधे निकला है लेकिन श्रद्धा की जो बात सातवें अध्याय और नौवें अध्याय में कही गई थी उसको यहाँ और विस्तार से समझाने की चेष्टा करते हैं। अगला श्लोक है—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्यें यजन्ते तामसा जनाः ।। (१७/४)

जो सात्त्विक लोग हैं, देवताओं की पूजा करते हैं। यदि विद्या चाहिये तो सरस्वती की पूजा करेंगे। धन चाहिये तो लक्ष्मी की पूजा करेंगे, शक्ति चाहिये तो दुर्गा की पूजा करेंगे। जिसकी पूजा करेंगे वह आपका इष्टदेव है। देवता की पूजा करना दैवी सम्पदा प्राप्त करने का एक साधन है। लेकिन अगर आप राजसी व्यक्ति हैं तो भले आप दिखावे के लिये दुर्गा की पूजा कर रहे हैं लेकिन वास्तव में राजसी व्यक्ति यक्ष और राक्षस की पूजा करते हैं। यक्ष और राक्षस प्रतीक है। किसके प्रतीक हैं? यक्ष, कुबेर है, वह धन का स्वामी है; राक्षस शक्ति का, पशुबल का स्वामी है। तो राजसी पुरुष दैवी सम्पदा प्राप्त करना नहीं चाहता। वह धनबल और पशुबल चाहेगा। धनबल के प्रतीक के रूप में यक्ष की उपासना करेगा और पशुबल के प्रतीक के रूप में राक्षस की उपासना करेगा। तो जो धनबल और पशुबल प्राप्त करने के लिये यक्ष और राक्षस की उपासना करते हैं वे राजसी व्यक्ति है और जो प्रेत-भूतों की उपासना करते हैं, दूसरे का अनिष्ट करने के लिये, वे तामसी लोग होते हैं, निकृष्ट लोग होते हैं। छोटी छोटी सिद्धियाँ निकृष्ट योनि की साधना से प्राप्त हो जाती हैं। लेकिन बहुत से ग्राम्य देवता, कुलदेवता, यहाँ तक कि ब्रह्म राक्षस की भी पूजा करते हैं। इस तरह जो पूजा करने वाले हैं ये सात्त्विक नहीं हैं। ये रजोगुणी-तमोगुणी हैं। इनके अलग-अलग उपास्यों की ओर ध्यान देकर हम उनके गुणों का निर्धारण कर सकते हैं कि उनकी श्रद्धा सात्त्विक है या राजसी है या तामसी है। इसके बाद पाँचवें और छठे, इन दो श्लोकों में भगवान् ने आसुरी भाव के व्यक्तियों का वर्णन किया है। जो घोर रजोगुण, तमोगुण से युक्त हैं उनका लक्षण क्या है ?

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।। (१७/५)

जो शास्त्र में निर्दिष्ट नहीं है, अशास्त्रीय तपस्या करते हैं जो लोग, उनके मन के भीतर यह भाव नहीं है कि हमको भगवत् कृपा प्राप्त हो। आप लोगों ने देखा होगा, बहुत से लोग मेले में काँटों पर लेटे रहते हैं। लोहे के काँटे हैं, उसपर लेटे हुये हैं। हम आप लेटें तो छिद जायें पर उन्होंने अभ्यास कर लिया है। क्यों लेटे हैं ? इसलिये कि मेले में जो आयेगा, वह कुछ चढ़ायेगा। लोक-श्रद्धा प्राप्त होगी और कुछ अर्थ की प्राप्ति भी होगी। यह अशास्त्रीय तप है। यह भगवत् प्राप्ति के लिये तप नहीं है। अगर तुमको यही लगता है कि काँटों पर लेटने से तुम्हारा बहुत उत्कर्ष होने वाला है तो अपने कमरे में अकेले में लेटो। लेकिन तुम चाहते हो लोक श्रद्धा से रुपया कमाना। तो यह अशास्त्रीय तप है। यह घोर है, घोर मतलब अत्यन्त कष्टप्रद, अत्यन्त दुखदायी। कुछ लोग उल्टा लटक जाते हैं ! आपने देखा होगा कि बहुत से तो पेड़ से उल्टे लटकते हैं, नीचे धूनी जला लेते हैं। धूनी ले रहे हैं उल्टे लटके हुये। यह सब अशास्त्रीय तप है— *अशास्त्रविहित घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।*

'दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः'— उनमें केवल दम्भ है। दम्भ कहते हैं पाखण्ड वृत्ति को, दूसरे को दिखाने की वृत्ति। मैं धर्मध्वजी हूँ। अरे भैया! तुम धार्मिक हो तो भगवान् का नाम लो। लेकिन मैं भगवान् का नाम लूँगा तो दूसरे लोग कैसे मानेंगे कि मैं धार्मिक हूँ ? इसलिये धर्मध्वजी होना, धर्मी नहीं, धर्मध्वजी होना— दिखाना, पाखण्ड करना। *'दम्भाहंकार संयुक्ताः'।* यानी देखो, कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो काँटों पर लेट सकता हो। मैं लेट सकता हूँ। मैं उल्टा लटक सकता हूँ, मैं आग पर चल सकता हूँ। लोग चलते हैं आग पर, मैंने देखा है, आग पर चलते हुये लोगों को। लेकिन तुम यह दिखावा क्यों कर रहे हो ? लोगों को क्यों दिखा रहे हो ? रामजी को दिखाओ। रामजी को नहीं दिखाते, लोगों को दिखाते हैं क्योंकि उससे नाम होगा, यश होगा, पैसा मिलेगा। यह दम्भ और अहंकार से संयुक्त होकर किया गया तप है, इसकी शक्ति क्या है ? *'कामरागबलान्विताः'* कुछ इनके मन की कामनायें हैं, कुछ आसक्तियाँ हैं, उनका बल है इनको। उन आसक्तियों की पूर्ति के लिये ये सारे के सारे कठिन काम कर लेते हैं। रावण ने सिर काट-काट कर इसलिए चढ़ाये थे कि उसे सारे संसार का राज्य मिले। भस्मासुर ने तप करके भगवान् से माँग लिया कि जिसके सिर पे हाथ रखूँ, वही भस्म हो जाये। तो ये दूसरों को सताने वाले तप है। ये जो काम राग बलान्वित होते हैं यह भगवत् बल नहीं है। भगवत् बल क्या है ? *'बलं बलवतां चाहं*

कामरागविवर्जितम्' (७/११-१)। बलवानों में मैं बलवान हूँ कहा भगवान् ने। कैसा बलवान ? *'कामरागविवर्जितम्'* जब आपके मन में ऐसा बल हो जो कामना से, आसक्ति से रहित हो। निष्काम, अनासक्त यह जो बल है यह भगवान् का बल है और जो *'कामरागबलान्वित'* है, वह भगवान् का बल नहीं है। मेरे गुरुजी बार-बार यह बात कहते थे कि तुम इस बात की परीक्षा करो कि तुमको जो कर्म करने की प्रेरणा मिल रही है वह राम से मिल रही है कि काम से मिल रही है। अगर 'राम' से मिल रही है तो उससे तुम्हारा अहंकार शमित होगा। अगर 'काम' से मिल रही है तो उसमें भोग की इच्छा होगी, पैसा कमाने की इच्छा होगी और दूसरों को दबाकर खुद को आगे बढ़ाने की इच्छा होगी। हमारा बल अगर *'कामविवर्जित'* बल है तो रामजी का बल है पर अगर वह *'कामरागबलान्वित'* है तो 'काम' का बल है। इसे आप सोच लीजिए, जाँच लीजिए कि कैसा बल आपको आगे बढ़ा रहा है। आगे कहा है—

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।। (१७/६)

अर्थात् *'कामरागबलान्वित'* लोग पंचभूतों के बने इस शरीर को व्यर्थ में सुखाते हुए इसको दुःख देते हैं— *'कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्रामचेतसः'* इसके साथ इसमें निवास करने वाले परमात्मा को भी कष्ट दे रहे हैं।

परमात्मा को कोई कैसे कष्ट दे सकता है ? परमात्मा को इसीसे कष्ट होता है कि मेरा यह भक्त कैसे गलत रास्ते पर चला गया ? यह मेरी आज्ञा का पालन नहीं करके केवल दिखावे के लिए अपने को सता रहा है। यह *'कामरागबलान्वित'* होकर यह कर रहा है। इससे परमात्मा को कष्ट होता है। हमारे आपके अकल्याण से ही भगवान् को कष्ट होता है। भगवान् को और क्या कष्ट हो सकता है ? उन्होंने हमारा निर्माण किया है अतः वे हमारा मंगल चाहते हैं। लेकिन अगर हम उनकी आज्ञा का उल्लंघन करके अमंगल के रास्ते पर चलेंगे तो हम उनको भी कष्ट देंगे और पंचमहाभूतों से बने अपने इस शरीर को भी कष्ट देंगे। हमारा, आपका शरीर क्या है ? *छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम शरीरा ।।* (मानस ४/१०-४)

तो जिनकी ऐसी प्रवृत्ति है, *'तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्'* उन्हें तू आसुरी प्रवृत्तिवाला समझ। इनको अगर अपनी तपस्या में सफलता मिलेगी तो ये लोककल्याण नहीं करेंगे बल्कि इससे लोक का अमंगल होगा। ऐसी आसुरी शक्तियाँ जब जीतती हैं तो लोक का अमंगल होता है, चाहे वह हिरण्यकशिपु हो, रावण हो, चाहे कंस हो, चाहे जरासंध हो। इनमें जो कर्मठता है वह रजोगुण है। तमस प्रेरित रजोगुण मनुष्य को राक्षस बनाता

है। वह काम तो बहुत करेगा, दौड़धूप करेगा लेकिन मनुष्य के अकल्याण के लिये करेगा। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये वह गलत ढंग से काम करेगा। यह समझ लेना चाहिये ऐसे लोग आसुरी निश्चय के लोग हैं। आप सात्त्विक हैं कि राजसी हैं या तामसी— इसकी पहचान उन्होंने बताई कि आप किसकी उपासना करते हैं।

उपास्य के द्वारा आपके सत्त्व, रज, तम गुण की पहचान होती है। आपके आचरण के द्वारा आपको पहचाना जायेगा कि आप सात्त्विक हैं, कि राजसी हैं, कि तामसी हैं। इसका अर्थ यह निकला कि हमें राजस और तामस भाव का त्याग करके सत्वभाव का ही आश्रय लेना चाहिए। इसीसे जीवन की गति कल्याणमुखी हो सकेगी। इस हेतु जीवन के कुछ विशेष कार्यों को सम्यक् रूप से जान लेना आवश्यक है।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।। (१७/७)

अर्थात् आहार, यज्ञ, तप और दान ये सभी तीन प्रकार के होते हैं। सबसे पहले आहार की बात की है। आहार किसको कहते हैं, यह जरा समझिये। *'आसमन्तात्ह्रीयन्ते इति आहाराः'* 'आ' माने चारों तरफ से। बाहर से जो भीतर आप ले आते हैं वह आहार है। यह शंकराचार्यजी का भाष्य है। जो कुछ आप देखते हैं, वह नेत्रों का आहार है; जो आप सुनते हैं, वह कान का आहार है; जो आप सूँघते हैं वह नासिका का आहार है; जो आप स्पर्श करते हैं, वह त्वचा का आहार है और जो आप मुख से भीतर ले जाते हैं, वह रसना का या मुख का आहार है। तो सबसे स्थूल तो मुख का आहार है लेकिन पाँचों आहार हैं। और *'जैसा खाये अन्न, वैसा होय मन'*। इसलिये आहार को सबसे पहले कहा गया और आहार में भी जो प्रमुखता है भोजन की, उसको कहा गया है। उस भोजन के बारे में बार-बार यह कहा है—

आहार शुद्धौ सत्त्व शुद्धिः, सत्त्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
स्मृतिलम्भे सर्व, ग्रंथिनां विप्र मोक्षः । (छांदोग्य उपनिषद् २/२६/२)

पहली सीढ़ी क्या है ? पहली सीढ़ी है आहार शुद्धि। अब टी.वी. की कृपा से हमारे और चार इन्द्रियों के आहार तो भ्रष्ट हो गये हैं। आँख गन्दी चीज देखती है, कान गन्दी बात सुनते हैं। यानी हमारे समाज की जो दयनीय स्थिति है, भोग और लालसा परक, वह प्रत्यक्ष है और उस स्थिति के बीच हम गीता सुन रहे हैं। उसमें हम अपने आहार को संयत करने की चेष्टा कर रहे हैं। तो अच्छा देखें, अच्छे लोगों से मिलें, अच्छा सुनें, अच्छी सुगन्ध सूँघें— ये सब बातें और भोजन, क्योंकि आहार शुद्धि से सत्त्व शुद्धि है। सत्त्व माने अन्तःकरण। जो हम खायेंगे वही हमारा मन बनेगा।

इसलिये आहार का बहुत सीधा प्रभाव पड़ता है। आप शराब पीजिये, नशा आयेगा कि नहीं आयेगा ? नशा आयेगा ही। जैसा भोजन आप करेंगे वैसा प्रभाव आपके मन पर पड़ेगा। उत्तेजक भोजन करेंगे तो उसमें उत्तेजना आयेगी ही। यहाँ बड़ी विचित्र बात भगवान् कह रहे हैं। भगवान् किसी भी भोजन का नाम नहीं बताते, उन्होंने कहा कि यह प्रिय है सात्त्विकों को, यह प्रिय है राजस लोगों को, यह प्रिय है तामस लोगों को। पहचान करवा रहे हैं कि तुम्हारी श्रद्धा सात्त्विकी है कि राजसी या तामसी है। यहाँ भोजन का वर्णन गौण है। भोजन के वर्णन के माध्यम से, यज्ञ-दान-तप के माध्यम से हमारी आपकी श्रद्धा को रेखांकित कर रहे हैं। दूसरी बात पर ध्यान दीजिये कि जो सात्त्विक व्यक्ति होता है वह परिणाम को देखकर काम करता है— मैं जो काम करूँगा उसका परिणाम क्या होगा। परिणाम को देखकर काम करना यह सात्त्विक लोगों का लक्षण है। इसलिये जो आठवाँ श्लोक है उसमें पहले परिणाम बताया गया है।

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः । (१७/८-१)

आपकी आयु बढ़े, ऐसा भोजन। दीर्घायु भी हों तथा जिसमें आपकी जीवनी शक्ति बढ़े और श्वास-प्रश्वास में कोई कष्ट न हो ऐसा भोजन। भोजन जिसमें जीवनी शक्ति अधिक है, जो हमारे सत्त्व को हमारे अन्तःकरण को शुद्ध करे, जो हमें बल दे, आरोग्य दे, निरोग बनाये; जो हमारे सुख और प्रेम को बढ़ाये। भोजन की चार विधियों को समझ लीजिये। चार नियम हैं भोजन के— हित भुक्, मित भुक्, रित भुक् और स्मित भुक्। *हित भुक्* मतलब हितकर भोजन करना चाहिये। पथ्य भोजन करना चाहिये। पेट खराब है तो रबड़ी नहीं खानी चाहिये। खाँसी सर्दी है तो आईसक्रीम नहीं खानी चाहिये। हितकर भोजन करना चाहिये। हितकर भोजन भी परिमित करना चाहिये, सीमित मात्रा में। दूध हितकर भोजन है तो क्या आप एक मन दूध पी लेंगे ? ऐसा नहीं होगा! हितकर भोजन भी परिमित मात्रा में होना चाहिये। यानी *मित भुक्।* तीसरा बहुत कठिन है। *रित भुक्,* ईमानदारी का खाना चाहिये। आज के जमाने में कैसे कर सकते हैं? बेईमानी का खाओगे तो तुम्हारा मन कलुषित होगा ही। *रितं च, सत्यं च,* ईमानदारी का खाना। *स्मित भुक्*—मुस्करा के खाना चाहिये, प्रसन्न होकर खाना चाहिये। लड़ते-झगड़ते, कुढ़ते, डाँटते-फटकारते नहीं खाना चाहिये। तो भगवान् ने कहा कि ऐसा भोजन करो जिससे तुम्हारी आयु बढ़े, तुम्हारा मनोबल बढ़े, तुम आरोग्य प्राप्त करो, तुम्हारा सुख, तुम्हारा प्रेम बढ़े। ये सब परिणाम हैं। सात्त्विक व्यक्ति आचरण का परिणाम सोचकर काम करता है। ऐसा करने में जो सहायक होगा

ऐसा भोजन। देखिये, फिर भी भोजन का नाम नहीं लेते। भोजन के गुण बता रहे हैं। पहले बताया परिणाम, अब बता रहे हैं भोजन के गुण—

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः। (१७/८/२)

जो रसीले हों, सरस हों। *स्निग्धाः*, हम लोगों के समय में तो घी खाना अच्छा माना जाता था; आजकल जिनको हृदय रोग है उनको घी नहीं खाना चाहिए। *स्थिरा* जो भोजन दीर्घकाल तक आपको शक्ति देता रहे, *हृद्या* जो आपको प्रीतिकर आनन्द दे। ऐसा आहार सात्त्विक लोगों को प्रिय है। आप देखिये ये सारे फलाहार, शाकाहार की ओर ले जाने के संकेत करने वाले आहार हैं। यह सात्त्विक भोजन है, ऐसा नहीं कहा। कहा, ऐसा भोजन सात्त्विक लोगों को प्रिय है। जिनको ऐसा भोजन प्रिय है वे कैसे हैं ? आप सोच लीजिये कितने लोगों को ऐसा भोजन प्रिय है। जितने लोगों को ऐसा भोजन प्रिय है वे सात्त्विक हैं। जिनको ऐसा भोजन प्रिय नहीं है और जो परिणाम का कुछ सोचते ही नहीं और भोजन करते रहते हैं, वे सात्त्विक नहीं हैं। भोजन का परिणाम सोचकर खाने वाले लोग, इन गुणों के अनुकूल भोजन करने वाले लोग सात्त्विक हैं। आगे कहा है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।। (१७/९)

राजसी लोगों का लक्षण है कि परिणाम बाद में सोचते हैं। परिणाम तो सोचते हैं लेकिन त्वरितकर्मा होते हैं न। *'राजसं चलमध्रुवम्'* (१७/१८-२) रजोगुण का लक्षण है चंचल होना, अध्रुव होना। एक जगह से दूसरी जगह, दूसरी से तीसरी। तो परिणाम सोचने की फुर्सत ही नहीं है। काम पर जुट जाओ। लो जुट गये। काम का परिणाम क्या होगा ? परिणाम बाद में देखते रहते हैं। तो इसलिये देखिये, भगवान् ने सत्त्वगुणी लोगों का परिणाम पहले बताया है और रजोगुणी आहार का परिणाम बाद में बताया और तमोगुणी आहार का परिणाम ही नहीं बताया क्योंकि वे लोग परिणाम की परवाह ही नहीं करते। अब देखिये भगवान् कैसे बोल रहे हैं। कटु का मतलब होता है साधारण तौर पर कड़ुवा। शंकराचार्यजी ने बताया कि नहीं, संस्कृत में कड़ुवा तीखे को कहते हैं और तीखा कड़ुवा को कहते हैं। खैर, जो भी है। जो ज्यादा कड़ुआ पसन्द करते हैं, खट्टा पसन्द करते हैं, नमकीन पसन्द करते हैं, बहुत गरम, बहुत तीखा, बहुत रूखा, ऐसा अचार जो एकदम छाती जला दे, कांजी उठी कि नहीं उठी ? अरे, उठी नहीं तो क्या बनी! ऐसे चटपटे आहार हैं, ये रजोगुणी आहार। ज्यादा नमकीन, ज्यादा खट्टे, ज्यादा कड़वे, ज्यादा जलाने वाले— ये सारे के सारे आहार रजोगुणी व्यक्तियों को प्रिय

हैं। इनका परिणाम क्या होता है ? इनका परिणाम होता है दुःख, शोक, बीमारी। यह सब भोजन करोगे तो तुम स्वस्थ नहीं रहोगे। तुम्हारे मन में शान्ति नहीं आयेगी। तुम्हारे मन में आक्रोश जागेगा। बहुत चटपटा तो खाओगे, लेकिन अल्सर हो जायेगा। बहुत गरम नहीं खाना चाहिये, बहुत ठण्डा भी नहीं खाना चाहिये। *अति सर्वत्र वर्जयेत्* और इसमें अति शब्द जो है, यह सब जगह है। अति उष्ण, अति अम्ल, अति कटु, अति लवण, अति तीक्ष्ण, अति रुक्ष, अति विदाहिनः। रजोगुणी व्यक्ति अति ही करता है। रजोगुणी व्यक्ति हड़बड़ाया रहता है, छटपटाता रहता है, काम ही करता रहता है। काम के परिणाम को सोचता कम है। बाद में सोचता है, सिर पीटता है। तो भगवान् ने बताया कि तुम ऐसा करोगे तो तुमको दुख होगा, शोक होगा और रोगी होगे। तमोगुणी लोगों को कैसा भोजन प्यारा है ?

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।। (१७/१०)

'यातयामं' इसके दो अर्थ बताये गये। शंकराचार्य ने बताया कि जो अधपका है, जो ठीक से पका ही नहीं। दूसरों ने बताया *'याम'* कहते हैं समय को, तीन घंटा समय को। तीन घंटे से ज्यादा जिसका समय बीत गया है; जो ठण्डा हो गया है; बासी है वह नहीं खाना चाहिये। अति उष्ण नहीं खाना चाहिये, तो बासी भी नहीं खाना चाहिये। *'यातयामं गतरसं'* जिसका रस विरस हो गया है, खट्टा हो गया, नष्ट हो गया है, उसे नहीं खाना चाहिये। *'पूति'* जिसमें दुर्गन्ध आ रही हो।

'पर्युषितं च यत्' बहुत काल का धरा हुआ, दो दिन का रखा हुआ लोग खाते हैं, बासी रोटी कुछ लोगों को अच्छी लगती है, अब क्या करें ? मैं किसी उत्तर दक्षिण की बात नहीं कहता लेकिन जो सच है वही कह रहा हूँ। दक्षिण भारत में लोग बासी भात का ही सेवन करते हैं, क्या करेंगे आप ? पानी भात खाते हैं वहाँ पर। बंगाल में भी खाते हैं, पान्ता भात। तो इससे होगा क्या ? इससे तमोगुण बढ़ेगा। *'उच्छिष्ट'*— जूठा। आजकल तो प्रेम का प्रमाण यह है कि आप जूठा खाइये। हम लोगों के संस्कार तो जूठा खाने के नहीं हैं। जूठा नहीं खाते। खड़े-खड़े खाने में हमको बहुत कष्ट होता है। खड़े-खड़े खाना माने 'बुफे'। आजकल उसका अच्छा नाम 'स्वरुचि भोज' हो गया है। *'उच्छिष्टमपि चामेध्यं'* अमेध्य माने अपवित्र, जो यज्ञ के उपयुक्त न हो। तो ये सारे के सारे भोजन तमोगुणी व्यक्तियों को प्रिय लगते है। तमोगुणी व्यक्ति भोजन खाकर क्या करेंगे ? सो जायेंगे। आज का काम कल, कल का काम परसों। प्रमाद, आलस्य और निद्रा यदि आपको प्रिय है तो ऐसा भोजन कीजिये और उसका आनन्द लीजिये।

यह तमोगुणी भोजन है, ऐसा प्रभु ने नहीं कहा। तमोगुणी लोगों को ऐसा भोजन प्रिय है। पहचान करा रहे हैं, किसका कौन सा गुण है। इसके बाद उन्होंने यज्ञ के भी तीन प्रकार बताये हैं।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।। (१७/११)

यहाँ सात्त्विक यज्ञ के चार प्रकार बताये हैं। पहले यह समझ लीजिए कि यज्ञ किसको कहते हैं। पुराने समय में यज्ञशाला में समिधा से अग्नि प्रज्वलित करके आहुति दी जाती थी। गीता उसको स्वीकार करती है, लेकिन उसको *'द्रव्ययज्ञ'* कहते हैं। गीता में उसके अलावा दस-बारह प्रकार के यज्ञ बताये हैं। *'ज्ञान यज्ञ'* को सबसे बड़ा बताया है। लेकिन दसवें अध्याय में अपने को बताया— *'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि'* यज्ञों में मैं जप यज्ञ हूँ। यज्ञ का मूल लक्षण क्या है ? जो काम बहुत से लोगों के सहयोग से लोकमंगल के लिये किया जाय वह यज्ञ है। यह इसका मुख्य लक्षण है। इसीलिये भू दान यज्ञ है, नेत्रदान यज्ञ है एवं विद्यादान यज्ञ है। इसीलिये पुस्तकालय चलाना, विद्यालय चलाना भी यज्ञ है। लोकमंगल के लिये जो भी सामूहिक काम किया जाये, गीता उसको यज्ञ कहती है। भगवान् की प्राप्ति और प्रीति के लिये किया जानेवाला हर कार्य यज्ञ है। यहाँ कहा है कि यज्ञ तीन प्रकार का होता है। इस श्लोक में सात्त्विक यज्ञ कैसा होता है, यह बताया है। भगवान् ने कहा कि सात्त्विक यज्ञ के चार लक्षण होते हैं। *अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।* पहला लक्षण है— *अफलाकांक्षिभि* —फल की आकांक्षा न करने वालों के द्वारा जो किया जाता है। आप लोकहित का काम कर रहे हैं इसलिये कि आपकी तस्वीर अखबार में रोज छपे। आप लोकहित का काम इसलिये कर रहे हैं जिससे कि आप अगली बार एम.एल.ए. हो जायें या आपको सरकार से कोई उपाधि मिल जाये। यह सात्त्विक यज्ञ नहीं है। सात्त्विक यज्ञ का पहला लक्षण है कि निष्कामता होनी चाहिए। फलाशा का त्याग करना चाहिये। बराबर याद रखिये कि हमको कर्म बाँधता कैसे है। कर्म हमको वैसे चार कारणों से बाँधता है लेकिन दो प्रधान कारण हैं। जो अहंकारपूर्वक कर्म किया जायेगा, जिसमें कर्तृत्व होगा वह बाँधेगा। जो कर्ता है, वह भोक्ता है। जो फल की आशा से किया जायेगा, वह कर्म बाँधेगा। तो *अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो* अगर आप लोकहित का मंगल काम करना चाहते हैं तो अगर आप सात्त्विक होंगे तो परमात्मा की प्रसन्नता के लिये करेंगे, जिससे भगवान् प्रसन्न हों, जिससे लोक कल्याण हो। अपने को छिपा के करेंगे, अपने को थोप के नहीं करेंगे। निष्काम का मतलब निष्प्रयोजन नहीं है। काम

निष्काम होगा, सप्रयोजन होगा। प्रयोजन क्या होगा ? भगवत् प्रीति, लोक कल्याण। अपने को प्रसिद्ध करना, अपना प्रचार करना नहीं। लोग काम पीछे करते हैं, तस्वीर छपवाने की व्यवस्था पहले कर लेते हैं। यह सात्त्विक नहीं है, राजसी है। तो *अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो* पहली बात। दूसरी बात *'विधिदृष्टो य इज्यते'* शास्त्र की विधि के अनुसार काम करेंगे। कोई भी काम आप मनमाने ढंग से नहीं करेंगे। लोकमंगल के काम की भी एक विधि होती है, एक तरीका होता है। उस तरीके से काम करेंगे तो आपका काम बड़ा होगा। मेरी पंक्तियाँ हैं—

बड़ा काम कैसे होता है, पूछा मेरे मन ने।
बड़ा लक्ष्य हो बड़ी तपस्या बड़ा हृदय मृदु वाणी ।।
किन्तु अहं छोटा हो जिससे सहज मिलें सहयोगी ।
दोष हमारा श्रेय राम का हो प्रवृत्ति कल्याणी ।।

सारा दोष मेरा और श्रेय, सफलता, रामजी की। तुलसीबाबा का दोहा है—

निज दूषन गुन राम के समुझे तुलसीदास ।
होय भलो कलिकालहू उभय लोक अनयास ।।

तो बड़ा काम, सात्त्विक काम राम की कृपा से होगा। आप देखिये, यह गीता प्रवचन हो रहा है। साढ़े पाँच साल हो गये लेकिन इसके लिए कार्ड छपता है, उसको बाँटा जाता है, इसकी व्यवस्था की जाती है। इसमें माइक्रोफोन होता है। सब विधि है, विधि के अनुसार काम हो रहा है। विधिहीन काम होगा तो बिगड़ जायेगा। लोगों को कष्ट होगा। इसके बाद चाय भी दी जाती है बिस्कुट भी दिये जाते हैं। पद्धति के अनुसार काम करना यह सात्त्विक यज्ञ का लक्षण है। विधि विधान के अनुसार काम करना चाहिये। *'यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय'* यह बहुत बड़ी बात है। *'यष्टव्य'* माने यज्ञ करना। *'यष्टव्यमेवेति'* मैं कर्त्तव्यबोध से यह काम कर रहा हूँ, फल की इच्छा से नहीं। विधि के अनुसार कर रहा हूँ। कर्तव्यता है, प्राप्तव्यता नहीं। ये दो चीजें हैं—एक कर्तव्य है, एक प्राप्तव्य है। सेवा करेगा तो मेवा खायेगा। तो मेवा खाने के लिये सेवा है तो वह सात्त्विक सेवा नहीं है। मेवा खाने की इच्छा सात्त्विक सेवा में नहीं होनी चाहिये। चौथी बात है *'मनः समाधाय स सात्त्विकः'* मन को एकाग्र करके काम करो, मन को समाधिस्थ करके काम करो। मन इधर-उधर बिखर जाये तो काम सिद्ध ही नहीं होगा। श्रद्धा ने 'कामायनी' में कहा है—

'शक्ति के विद्युत कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त विजयिनी मानवता हो जाय।।'

हमारी मन की शक्ति के कण इधर उधर बिखर गये, कैसे बिखर गये ? यह भी कर लें, वह भी कर लें। अरे ! एक साथ तुम कई काम करोगे तो कैसे करोगे ? शक्ति को समन्वित करके एक दिशा की ओर उन्मुख करो। एक ही काम के अंग, उप अंग कर लो। यह अंग थक गया दूसरे से काम शुरू। गुरुजी कहते थे कि एक काम करते करते आदमी थक जाये तो क्या करे ? कोई दूसरा काम शुरू कर दे, क्योंकि वह काम करने में अब तुम्हारा मन नहीं लग रहा है। तो ठीक है, वह छोड़ दो। दूसरा काम शुरू कर दो। निकम्मे मत रहो। चार बातें उन्होंने मुझे बताई। निकम्मे मत रहो, बुरे काम मत करो, केवल रुपया कमाने के लिये काम मत करो और वह काम करो जिससे भगवान् प्रसन्न हों। वे कहते थे अगर तुम अपने पर प्रसन्न हो, तो भगवान् प्रसन्न हैं। वह मनु का श्लोक सुनाते थे—

यत्कर्म कुरुतोसस्यात परितोषोन्तरात्मनः ।
तत् प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ।।

जिस कर्म को करने से अपनी अन्तरात्मा को परितोष प्राप्त हो। हाँ, अच्छा काम है, भगवान् का काम है, बड़ा काम है। वाह, वाह, वाह। जो काम करने पर आपकी आत्मा परितुष्ट हो *'तत् प्रयत्नेनकुर्वीत'* उस काम को प्रयत्नपूर्वक करना चाहिये। *'विपरीतं तु वर्जयेत्'* उसका जो विपरीत काम है जिसको करने से हमारी अन्तरात्मा दुखी होती है; जिसको करके हम सोचते हैं कि हमने गलत काम कर दिया; हाय पाप हो गया, हाय-हाय कैसे हो गया? ऐसा काम मत करो। जिस काम को करने से अन्तरात्मा दुखी हो, अन्तरात्मा कष्ट पाये वह काम छोड़ देना चाहिये। गुरुजी कहते थे कि अगर तुम्हारी अन्तरात्मा तुमसे प्रसन्न है तो परमात्मा भी प्रसन्न हैं। परमात्मा प्रसन्न हैं कि नहीं इसकी कसौटी यही है। *'मनः समाधाय स सात्त्विकः।'* तो ये चार प्रकार के गुण यज्ञ को सात्त्विक बनाते हैं। उसमें स्वयं फलभोग करने की इच्छा न हो, शास्त्र विधि के अनुसार, कर्तव्यताबोध से हो और एकाग्र होकर हो। अब देखिये कि राजसी यज्ञ किसको कहते हैं—

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।। (१७/१२)

राजसी यज्ञ के दो लक्षण बताये। एक यह कि उसमें मनोकामना रहती है फल प्राप्ति की। बहुत से लोग पुत्रेष्टि यज्ञ करते हैं। यह यज्ञ करेंगे तो पुत्र पैदा होगा। कामना लेकर किया गया यज्ञ राजस यज्ञ है। अच्छी कामना लेकर किया गया यज्ञ अच्छा है, बुरी कामना है तो बुरा है। *अभिसन्धाय तु फलं।* दूसरी बात— *दम्भार्थमपि चैव यत्-*

दम्भ फिर आ गया। दिखावा। मैं बहुत बड़ा याज्ञिक हूँ, मैं बहुत बड़ा धार्मिक हूँ। उसने क्या यज्ञ किया, उसने यज्ञ में केवल पाँच ब्राह्मण बुलाये थे, मैंने पच्चीस ब्राह्मण बुलाये हैं। उसने यज्ञ में दस हजार खर्च किये थे मैंने एक लाख खर्च किया है। यह दम्भ है। अगर दिखावा है और फल प्राप्ति की इच्छा है तो यह यज्ञ राजस यज्ञ है— *'तं यज्ञं विद्धि राजसम्'*। अगला श्लोक है—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।। (१७/१३)

तामसी यज्ञ के पाँच लक्षण हैं। सब कुछ नकारात्मक है। जो शास्त्रविधि से रहित है। *असृष्टान्नं* —जिसमें अन्न का वितरण नहीं हुआ है। *मन्त्रहीनं* —जिसमें मन्त्रों का उच्चारण ठीक ठीक नहीं हुआ या मन्त्र ही नहीं पढ़े गये हैं। *'अदक्षिणम्'* जिसमें यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण को दक्षिणा ही नहीं दी गई है एवं *श्रद्धाविरहितम्* —जो श्रद्धा रहित है वह तामसिक यज्ञ है। समापन करने के पहले एक बात पर ध्यान दीजिए क्योंकि यह प्रकरण अगले प्रवचन में भी चलेगा। भगवान् क्या कर रहे हैं ? भगवान् केवल वर्णन कर रहे हैं। वर्णन क्यों कर रहे हैं ? निर्देश नहीं दे रहे हैं लेकिन वर्णन में क्या उनका कोई अभिप्राय निहित नहीं है ? उन्होंने बताया कि यह सात्त्विक है, यह राजसी है यह तामसी है। हमको क्या करना चाहिये ? हमको राजसी और तामसी यज्ञ छोड़ना चाहिये और सात्त्विक यज्ञ की ओर बढ़ना चाहिये। भगवान् ने यहाँ केवल अनुशन्सन किया है, शासन नहीं किया है। शास्त्र दो प्रकार का होता है एक जो शासनात्मक होता है, जो कहता है यह यह करो, यह यह मत करो, यानी वह शास्त्र शासन करता है। व्याकरण में कहते हैं *'अथ शब्दानुशासनम्'* यानी अनुशासन कर रहा है। और दूसरा *'शंसनम्'* यानी प्रशंसा कर रहे हैं। यहाँ वर्णन है। वर्णन में ही यह संकेत निहित है कि अगर तुम राजसी भोजन करोगे तो दुख-शोक-रोग प्राप्त करोगे और सात्त्विक भोजन करोगे तो तुम्हारी आयु बढ़ जायेगी, तुम्हारा बल बढ़ जायेगा, सुख-प्रीति की प्राप्ति होगी। तमोगुणी भोजन करोगे तो केवल प्रमाद, आलस्य, निद्रा में डूब जाओगे। क्या करना चाहिये ? तमोगुणी भोजन करना चाहिये, रजोगुणी करना चाहिये ? नहीं। भगवान् ने वर्णन किया है और यह उनका विश्वास है कि श्रोता इतने बुद्धिमान जरूर हैं कि इस वर्णन को सुनकर रजोगुणी, तमोगुणी होने से बचेंगे और सत्त्वगुणी होने की ओर अग्रसर होंगे। ●

तप, दान, ब्रह्मनिर्देश में श्रद्धा की भूमिका

भगवान् की कृपा है कि हमलोगों का यह गीता ज्ञान यज्ञ चल रहा है। सोलहवें अध्याय के अन्त में यह कहा गया कि जो शास्त्र-विधि के प्रतिकूल है, शास्त्र-विधानोक्त नहीं है, वह कर्म मंगलमय नहीं है, हानिकर है। अर्जुन के मन में शंका हुई, अर्जुन ने पूछा— कुछ लोग शास्त्र की अवज्ञा करते हैं, जान बूझकर शास्त्र का अपमान करते हैं और इस तरह वे शास्त्र-विरुद्ध कार्य करते हैं। उनका अमंगल हो, यह बात तो समझ में आती है परंतु जो लोग शास्त्र का सम्मान तो करते हैं, शास्त्र के प्रति श्रद्धालु तो हैं, लेकिन उनको ज्ञान नहीं है और वे अज्ञान में शास्त्र-विधि का उल्लंघन कर सकते हैं। ऐसे लोगों के मन में परम्परा से, बड़ों से जो प्राप्त हुआ है उसके प्रति श्रद्धा है। तो क्या शास्त्र-विधि का उल्लंघन हो जाये और उत्कृष्ट श्रद्धा हो तो भी वह कर्म व्यर्थ हो जायेगा ? क्या श्रद्धा का कोई महत्त्व नहीं है ? यह प्रश्न है जिससे यह सत्रहवाँ अध्याय चल रहा है। *'श्रद्धात्रय विभाग योग'* इसका नाम है। भगवान् ने कहा कि हाँ, श्रद्धा का बहुत बड़ा महत्त्व है, लेकिन सात्त्विक श्रद्धा का है। राजसिक और तामसिक श्रद्धा वास्तविक श्रद्धा नहीं है। जो सात्त्विक श्रद्धा है, उसी श्रद्धा के अनुसार यदि कर्म किया गया और अज्ञान के कारण, अवज्ञा के कारण नहीं, और अज्ञान के कारण अगर शास्त्र-विधि का उल्लंघन भी हो गया तो भी सात्त्विक श्रद्धा फलप्रद है।

आपको यह मालूम है कि हमारे ऋषियों ने सृष्टि की सम्पूर्ण प्रक्रिया को तीन भागों में बाँट दिया है। प्रकाश, क्रिया और अंधकार। प्रकाश और प्रकाश से अनुस्यूत जो गुण हैं, सब सात्त्विक हैं। जिसमें ज्ञान है, जिसमें मन का उल्लास है, जिसमें दूसरों के हित के लिये अपना समर्पण है, प्रकाश से प्रेरित ऐसे जो काम हैं, वे सब सात्त्विक हैं। हलचल से, क्रिया से, प्रतिस्पर्धा से प्रेरित जो कार्य हैं वे राजसी हैं, और जो अज्ञान से, अंधकार से प्रेरित काम हैं, वे तामसी हैं। जो प्रकाश से प्रेरित श्रद्धा है वह श्रद्धा अगर अज्ञान के कारण शास्त्र विधि के अनुकूल कर्म नहीं भी कर पाई तो भी वह

* सप्तदश अध्याय (श्रद्धात्रय विभाग योग) : श्लोक संख्या १४ से २८

अपना फल देगी, यह संकेत बार-बार प्रभु कर रहे हैं। इसके लिये उन्होंने आहार, यज्ञ, तप और दान इन चार चीजों को चुना। उसके बाद वे बताते हैं कि जो ऐसा आहार करता है वह सात्त्विक है, जो ऐसा आहार करता है वह राजसी है और ऐसा आहार करनेवाला तामसिक है। फिर यज्ञ, तप और दान, इन तीन बातों को वे बार-बार दोहरायेंगे। आगे आप देखेंगे कि बार-बार इसमें यज्ञ, दान, तप आयेगा। क्यों इन पर बल देते हैं प्रभु ? अट्ठारहवें अध्याय में आप देखेंगे कि प्रभु कहते हैं कि और सब काम छोड़े जा सकते हैं, लेकिन यज्ञ, तप और दान नहीं— *यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।* (१८/५-२) ये साधारण मनुष्यों को ही नहीं, मनीषियों को भी पावन करने वाले हैं, इनका परित्याग नहीं किया जा सकता।

यज्ञ, तप और दान— इन तीनों पर इतना बल क्यों है ? आप इस बात पर विचार करेंगे तो यह ध्यान में आएगा कि हम लोग तीन संस्थाओं के साथ जन्म लेते हैं। सृष्टि, समाज और शरीर। सृष्टि का मंगल यज्ञ से होता है। जो भी हमारे आचरण से क्षति होती है, जो भी हमारे आचरण से अशुद्धि होती है, अपवित्रता होती है यज्ञ की भावना सृष्टि को उस अपवित्रता से मुक्त करती है, उस क्षति की पूर्ति करती है। दान से समाज पुष्ट होता है समाज में समता आती है। न्यायपरक वितरण (जिसके पास अधिक है, जिसके पास कम है) समाज में एक स्थिरता, एक शुभ स्थिति लाता है। तप से हमारा शरीर शुद्ध होता है, पवित्र होता है। तो यज्ञ दान और तप ये तीनों कर्म *'पावनानि मनीषिणाम्'* —साधारण मनुष्यों को ही नहीं, मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं। इसलिये यज्ञ, दान और तप इन तीनों पर अवश्य बल दिया जाना चाहिये। प्रभु यह बार-बार बता रहे हैं कि तुम चुन लो। तीनों की ये भूमिकायें हैं, तीनों की ये स्थितियाँ हैं; तुमको जैसा बनना हो, वैसा बन जाओ। इस बात पर भी गौर कीजिए कि प्रभु इसमें आदेश नहीं दे रहे हैं। शास्त्र दो प्रकार के होते हैं— *'शासनात् शास्त्रम्'* — जहाँ शासन किया जाय, यानी यह करो और यह मत करो। दूसरा है *'शंसनात् शास्त्रम्'* —जहाँ प्रशंसा की जाय, वर्णन किया जाय। अब तुम्हारे ऊपर छोड़ दिया गया *'यथेच्छसि तथा कुरु'* तुम जैसी इच्छा रखते हो, करो। क्या बनना चाहते हो ? तो इसमें बार-बार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक, तीनों गुणों का परिणाम बताया जा रहा है। इसके बाद चुनाव हमारे-आपके ऊपर छोड़ दिया जा रहा है। यह प्रक्रिया सत्रहवें अध्याय से अठारहवें अध्याय में भी जायेगी। अठारहवें अध्याय में भी आप देखेंगे कि बुद्धि-धृति आदि के भी तीन-तीन भेद बताये हैं। यानी मनुष्य अपने कल्याण के लिये, अपने विकास के लिये स्वयं प्रयासशील नहीं है तो दूसरा कोई उसकी उन्नति,

उसका विकास नहीं कर सकता। यह हमारा उत्तरदायित्व है कि सत्त्व, रज, तम इन तीनों को समझकर हम किस दिशा में जाना चाहते हैं, उसका निर्णय करें। इसलिये बार-बार प्रभु प्रत्येक प्रक्रिया का त्रिविध वर्णन करते जा रहे है। उस वर्णन में यथार्थ कथन है, निर्देश नहीं। यह हमारे ऊपर उन्होंने छोड़ दिया है कि हम अपनी रुचि, अपनी पात्रता, या जो बनना चाहते हैं उसके अनुसार बनें। लेकिन भगवान्, सबका निरूपण कर देंगे, उसके बाद वे अपना कर्तव्य सम्पन्न समझेंगे।

अब आप देखिये कि चौदहवें श्लोक से शुरू हो रहा है तप। तीन प्रकार के तप बताये हैं। मनुष्य शरीर की भी तीन ही स्थितियाँ हैं। एक बाह्य है जो हम सब देख रहे हैं, दूसरा हम वाणी से जो व्यवहार करते हैं और तीसरी हम मन से जो सोचते हैं, चिन्तन करते हैं। *'मनसा वाचा कर्मणा'* प्रचलित उक्ति है। जब भी व्यवहार की बात होती है तो कहते हैं सज्जन पुरुष कौन है ? *मनस्येकं वचस्येकं, कर्मण्येकं महात्मनाम्।* दुर्जन पुरुष कौन है ? *मनसेन्यत् वचसेन्यत् कर्मणेन्यत् दुरात्मना।* मन, वाणी और कर्म में अगर एकता है तो वह महात्मा है। मन, वाणी और कर्म में अगर भिन्नता है; सोचता कुछ है, कहता कुछ है, करता कुछ है तो वह दुष्ट है, दुरात्मा है। तो मन, वाणी और कर्म यह त्रिविध स्थितियाँ हमारी पूर्णता का संकेत करती हैं और इसलिये शारीरिक तप कहा गया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।। (१७/१४)

इनमें से प्रत्येक क्रिया केवल शारीरिक क्रिया नहीं है। इस शारीरिक क्रिया के पीछे मानसिक प्रेरणा होनी चाहिये। बिना मानसिक प्रेरणा के यह शारीरिक क्रिया सध नहीं सकती। फिर भी इनको शारीरिक तप कहा। क्यों कहा ? क्योंकि सिद्धान्त यह है कि स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाया जाता है। मन के ऊपर नियन्त्रण सबसे कठिन काम है, *'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः'*। चित्त की वृत्ति को निरुद्ध कर देना, यह समाधि की स्थिति में ही सम्भव है। यह तो अंतिम परिणति है। इसलिये मन में अशुद्धि आ भी जाये, मन अगर अभी शुद्ध नहीं हुआ है तो क्या किया जाये ? मेरे गुरुजी कहते थे कि मन में कोई बुरी बात आ जाये तो दो काम करो। बुद्धि से उसका समर्थन मत करो, शरीर से उसको क्रियान्वित मत करो। अगर तुम शरीर से क्रियान्वित नहीं करोगे, बुद्धि से समर्थन नहीं दोगे तो धीरे धीरे मन को बदल सकोगे। लेकिन सीधे-सीधे मन पर नियंत्रण कर लेना, यह बहुत कठिन काम है। मन पर नियंत्रण करने से पहले शरीर पर नियंत्रण आवश्यक है। अगर कोई दुर्भावना, अगर कोई बुरी कामना, मन में आ जाये तो कम से कम उसे

शरीर से क्रियान्वित तो मत करो। अच्छा काम शरीर से करोगे तो उस अच्छे काम की प्रतिध्वनि बुद्धि में होगी, फिर मन में भी होगी। इसलिये यह मानते हुये भी कि जो बात इसमें कही जा रही है चूँकि ये क्रियायें शरीर से क्रियान्वित की जायेंगी; शरीर की इन्द्रियों से इनको अमल में लाया जायेगा इसलिये शारीरिक तप कहा है। लेकिन इसके पीछे मानसिक योगदान भी है, इसको समझना चाहिये। अब आप देखिये पहली बात क्या कह रहे हैं— *'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं'* —देवता, द्विज, गुरु और प्राज्ञ का पूजन करो। सहज में क्या हम किसी का पूजन करना चाहते हैं ? अपने से किसी को बड़ा मानना और बड़ा मानकर उसकी पूजा करना यानी अभिमान के वश में न होना है। इस बात को समझिये। इसके पीछे मानसिक क्रिया क्या है ? अपने अभिमान का हम त्याग करेंगे तब दूसरों को अपने से बड़ा मानेंगे और उनकी हम पूजा भी करेंगे। कहा है—

अभिवादनशीलस्य सततं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्यवर्धन्ते आयुर्विद्या यशोबलम् ।।

अगर किसी को तुमने बड़ा माना है और तुमने उनका अभिवादन किया तो तुम्हारा अहंकार तो दूर हुआ और हमको चार बातें मिल गईं—आयु, विद्या, यश और बल। *'पइये असीस लचइये जो सीस लची रहिये तब ऊँची कहैये'* अकड़ करके खड़े होंगे तो कौन आपको आशीर्वाद देगा। बड़ों के सामने, गुरु के सामने, प्राज्ञ के सामने, देवता के सामने अकड़ के खड़े रहने से आशीर्वाद नहीं मिलता। मेरी नानी माँ एक बात कहती थीं कि जब लक्ष्मी आती है तो पीठ पर लात मारती है अतः आदमी अकड़ जाता है और जब लक्ष्मी जाती है तो छाती पर लात मारती है तो उसका सिर झुक जाता है। अकड़ा हुआ आदमी किसी के सामने झुकेगा नहीं। नहीं झुकेगा तो उसे आशीर्वाद नहीं मिलेगा। नहीं झुकेगा तो उसको ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। *'देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं'* —अभिमान त्याग कर देवता का, द्विज का, गुरु का, प्राज्ञ का पूजन। देवता का मतलब? देवता की व्याख्यायें आचार्यों ने अलग-अलग ढंग से की हैं। तैंतीस देवता वेदों में प्रधान माने गये हैं। बारह आदित्य, आठ वसु, एकादश रुद्र और दो अश्विनी कुमार। तैंतीस देवता या तैंतीस कोटि। तैंतीस प्रकार के देवता चाहे तैंतीस करोड़ देवता। तो देवों का पारम्परिक अर्थ हुआ, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, अष्ट वसु और दो अश्विनी कुमार। अगर हम आज का अर्थ लें तो कम से कम विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश। पर हम जिनको देवता मानते हैं, हनुमान जी भी उसमें आ जायेंगे, उसमें लक्ष्मी आयेंगी, सरस्वती आयेंगी, सब आयेंगे। तो जिनको हमने देव के रूप में स्वीकार किया है उनका पूजन करें। द्विज का सम्मान करें। द्विज में संस्कार निहित है। मनुष्य

द्विज कब होता है ? जब उसका यज्ञोपवीत संस्कार होता है। लेकिन जिस पर हम बल देना चाहते हैं, रेखांकित करना चाहते हैं वह यह कि व्यक्ति को सुसंस्कारित होना चाहिये। द्विज वही होगा जो संस्कारसम्पन्न हो। जो असंस्कृत है, जिसने संस्कार स्वीकार नहीं किया है, जो सुसंस्कृत नहीं हुआ है— वह पूजन का अधिकारी नहीं है। संस्कार का मतलब होता है— *दोषापनयन, गुणाधान* और *हीनांगपूर्ति*। अपने दोषों की ओर दृष्टि जानी चाहिये और दोषों को दूर करना चाहिये। लोगों को दूसरों का दोष तो दिखता है लेकिन अपना नहीं—

खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति।
आत्मनः बिल्व मात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति।।

जो दुष्ट लोग हैं दूसरों के सरसों बराबर दोष को भी देख लेते हैं पर अपना बेल बराबर दोष नहीं देख पाते। भगवान् से प्रार्थना करनी चाहिये कि रामजी, हमको आप वह दृष्टि दें जिससे हमें अपना दोष दिखे—

हे समर्थ, हे करुणासागर, विनती यह स्वीकार करो।
दोष दिखाकर, उन्हें मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो।।

हम अपने दोष देख पायें। बराबर याद रखिये कि दोष और दुःख दोनों में कार्य-कारण सम्बन्ध है। जब आपमें दोष होगा, तभी आपको दुख होगा। हम रामजी को केवल आधी बात सुनाते हैं, केवल दुख सुनाते हैं। लेकिन वह दुख किस कारण हुआ है, वह दोष नहीं सुनाते। तुलसीबाबा ने कहा है, ऐसा मत करो— *तुलसी राम कृपालु को कहि सुनाव दुख दोष* — दुःख भी सुनाओ और दुःख का कारण दोष भी सुनाओ। जिस स्तर का दुःख है उसी स्तर का दोष है। वैयक्तिक दुःख है तो वैयक्तिक दोष है। पारिवारिक दुःख है तो पारिवारिक दोष है। सामाजिक दुःख है तो सामाजिक दोष है। राष्ट्रीय दुःख है तो राष्ट्रीय दोष है। अन्तर्राष्ट्रीय दुःख है तो अन्तर्राष्ट्रीय दोष है। जिस स्तर का दुःख है, उसी स्तर का दोष है। बिना दोष को दूर किये दुःख दूर नहीं होता। इसलिये संस्कार का पहला लक्षण है *'दोषापनयन'* दोषों को दूर करना। संस्कार का दूसरा लक्षण है *'गुणाधान'*। अच्छे गुण अर्जित करने चाहिये। अच्छे गुण अपने आप नहीं आते, वह भी एक तपस्या है इसलिये उसकी तपस्या करनी चाहिये। ठीक समय पर उठना, ठीक समय पर काम करना, सच बोलना, जितने अच्छे गुण हैं, ये अर्जित किये जाते हैं तपस्या करके। संस्कार का तीसरा लक्षण है *'हीनांगपूर्ति'*। जो चीज अपने पास नहीं है हमको दूसरे से लेने में संकोच नहीं होना चाहिये। जो अभाव है अच्छी बात का, वह अगर अपने पास नहीं है तो हम कहीं से भी उस अच्छी बात को लेकर अपनी

कमी को पूरा कर लें। इस प्रकार सुसंस्कृत होने पर व्यक्ति द्विज होता है और द्विज का, सुसंस्कृत व्यक्ति का सम्मान होना चाहिये। *'गुरु'* —गुरु का अर्थ केवल जिससे हमने दीक्षा ली है या जिससे विद्या का अर्जन किया है वही नहीं होता; माता पिता और हमारे वरिष्ठ जन, सब हमारे गुरुजन हैं। गुरु माने जो अपने से बड़ा है। जिससे हमने अध्यात्म की दीक्षा ली वे भी, जिससे विद्या प्राप्त की वे भी और जो सहज हमारे श्रेष्ठ हैं—माता, पिता, बड़े भाई, भाभी आदि। जो बड़े हैं उनका सम्मान करना चाहिये। *'प्राज्ञ'* का मतलब होता है जिसने प्रज्ञा से अपना अध्ययन किया है। भगवत् कृपा से प्रज्ञा प्राप्त किसी भी जाति का कोई हो सकता है। जो प्राज्ञ है चाहे किसी भी जाति का हो उसका पूजन होना चाहिये।

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिये ज्ञान ।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान ।।

अगर प्राज्ञ है, ज्ञानी है तो किसी भी जाति का क्यों न हो वह पूज्य है। आप जब तक प्रज्ञा का सम्मान नहीं करेंगे, आपमें प्रज्ञा आयेगी कैसे ? आप प्राज्ञ होंगे कैसे ? आप जिसका सम्मान करेंगे वही गुण आपमें आयेगा। जिसका आप अपमान करेंगे वह गुण आपमें नहीं आयेगा। *'शौचमार्जवम्'* —*शौच* यानी शुचिता। अपने शरीर पर ध्यान दीजिए। शरीर में कोई चीज शुचि है ? अशुचि वस्तुओं से यह शरीर बना है। हम यह हाड़, चाम, मल-मूत्र, रक्त-मांस, वसा, चर्बी के थैले हैं। शरीर से कोई अच्छी चीज निकलती है ? शरीर से जो चीज निकलती है मल, मूत्र, थूक, खँखार, बलगम, पसीना, नाखून, दाँत—सब अपवित्र हैं। यह जो ऊपर की चमड़ी है इसको जरा-सा हटा दो, सारा सौंदर्य किनारे रह जाता है। भीतर क्या है ? भीतर हड्डी है, रक्त है, मांस है, मज्जा है, मल है, मूत्र है।

'शौचात्स्वांगजुगुप्सा' —योगसूत्र के अनुसार अगर शौच की भावना विकसित होती है तो *'स्वांगजुगुप्सा'*, अपने अंगों के प्रति जुगुप्सा यानी घृणा हो जाती है। मैं यह शरीर नहीं हूँ। यह शरीर मेरा साधन है, यह शरीर मेरा वाहन है, यह शरीर थोड़े समय के लिये मिला है। यह तो जड़ है, मैं तो शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य स्वरूप हूँ। तो शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य और यह जड़, अपवित्र।

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।
जदपि मृषा छूटति कठिनई।। (मानस.७/११६-४)

जड़ और चेतन की ऐसी गाँठ पड़ गई है कि हमने अपने को नामरूप से एक कर लिया है। हम यह रूप नहीं हैं। हम यह शरीर नहीं हैं। तो अगर पवित्रता का

अनुभव होगा तो अपने ही अंगों के प्रति वितृष्णा हो जायेगी, शरीर का अभिमान नहीं होगा। *'आर्जवम्'*—यानी सरलता, ऋजुता।

सर्वं जिह्वं मृत्यु पदं, आर्जवं ब्रह्मणः पदं ।
एतावान् ज्ञान विषयः, प्रलापं किं करिष्यति ।।

यानी जो कुटिलता है, टेड़ापन है वह मौत का रास्ता है। जो आर्जव है, ऋजुता है, सरलता है— वह भगवान् का रास्ता है, ब्रह्म का पद है। *एतावान् ज्ञान विषयः।* अष्टावक्र डंके की चोट पर कहते हैं— ज्ञान का विषय सिर्फ इतना ही है। *किंप्रलापः करिष्यति ।* बक-बक क्या करता है। जीवन को सरल बनाओ, ऋजु बनाओ। जैसा बोलो, वैसा करो। अगर आर्जव है, ऋजुता है तो तुम श्रेष्ठता की ओर जा रहे हो।

'ब्रह्मचर्यमहिंसा च' —यानी हम काम के अधीन नहीं होंगे। हम अभिमान के अधीन नहीं होंगे, हम विनम्र होंगे। ब्रह्मचर्य का मतलब है कि हम काम के अधीन नहीं होंगे। यह शारीरिक तप है। देखो काम दो प्रकार का है— *'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ'।* धर्म से अविरुद्ध काम। इसलिये गृहस्थ लोग ब्रह्मचारी हैं अगर पति-पत्नी के साथ काम क्रिया करते हैं। तो धर्म के अविरुद्ध जो क्रिया है वह भी ब्रह्मचर्य के अन्तर्गत आयेगी, लेकिन धर्म के विरुद्ध जो क्रिया है वह बुरी बात है। अतः ब्रह्मचर्य को भी शारीरिक तप बताया गया।

मन में अगर पाप आ भी गया तो उसको बुद्धि का समर्थन नहीं और शरीर से उसकी क्रियान्विति नहीं। इसलिये, ब्रह्मचर्य मूलतः है तो मानसगुण, लेकिन शारीरिक तप कहा है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जायें, हम कम-से-कम काम के अधीन तो न हो जायें। इसलिए ब्रह्मचर्यम्। *'अहिंसा च'* यानी हम क्रोध के अधीन न हो जायें। यह आप देखिये— काम, क्रोध और अहंकार ये तीनों मानस दुर्गुण हैं लेकिन शारीरिक तप क्यों बता रहे हैं, ताकि स्थूल से सूक्ष्म की ओर जायें। हम किसी की हत्या तो न कर दें, छोटी सी बात पर इतना गरज कर तो न बोलें कि सामनेवाला बेचारा स्तब्ध हो जाये। लोग बोलते हैं, हाथ चला देते हैं। नहीं, ऐसा नहीं करना चाहिये। *ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।* ये शारीरिक तप है। आगे कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।। (१७/१५)

देखिये! गीता में धर्म का कहीं विशेष विश्लेषण नहीं किया गया है। तप के माध्यम से धर्म का विश्लेषण किया गया है। याद कीजिये, जहाँ-जहाँ 'तप' आया है, वहाँ-वहाँ उन्होंने मानव धर्म को बार-बार रेखांकित किया है। वाणी का तप याद दिलाया

है। आप सोचिए लोग कैसे बोलते हैं। कड़वी बात बोलते हैं, कच्ची बात बोलते हैं। पक्की बात बोलनी चाहिये, कच्ची बात नहीं बोलनी चाहिये। अगर उसके पीछे वाणी का तप होगा तो हम कच्ची बात नहीं बोलेंगे, तप से पका कर दुख न पहुँचाने वाली बात बोलेंगे। थोड़ा-सा क्रोध आया, गाली दे दी। गाली नहीं दे सके तो ऐसा व्यंग कि सामने वाले का चित्त जल जाये। हम ऐसा वाक्य बोलेंगे, ऐसी बात कहेंगे कि सुननेवाले को उससे कोई उद्वेग, दुःख, कष्ट न हो। *अनुद्वेगकरं वाक्यं*— सहज बोलेंगे, पेंच नहीं लगायेंगे, व्यंग नहीं करेंगे, ताना नहीं मारेंगे, कड़वा नहीं बोलेंगे। *'सत्यम्'*— सच बोलेंगे। सच का मोटा अर्थ यह है कि जो हमारा ज्ञान है उस ज्ञान के अनुरूप बोलेंगे। जिसका हमको ज्ञान नहीं उसके बारे में नहीं बोलेंगे। बहुत से लोग जानते नहीं हैं, बिना जाने भी बोलते जाते हैं।

अपने ज्ञान के अनुरूप बोलना सत्य बोलना है। बिना ज्ञान के बोलना असत्य बोलना है। ज्ञान के प्रतिकूल बोलना असत्य बोलना है। सत्य के बाद वाणी का अगला तप उसको 'प्रिय' बनाना है। देखिये सनातन धर्म की बहुत व्याख्याएँ हैं। जो मुझे सबसे अच्छी व्याख्या लगती है वह है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात्, एष धर्मः सनातनः ।।

यह सनातन धर्म है। सनातन धर्म माने तीनों कालों में जो अव्याहत रहनेवाला है। किसी भी काल में, किसी भी देश में परिवर्तित नहीं होगा। क्या है सनातन धर्म ? *'सत्यं ब्रूयात्'* —सच बोलना चाहिये। *'प्रियं ब्रूयात्'* —प्रिय बोलना चाहिये। लोग कहते हैं कि हम सच बोलेंगे, सच तो कड़वा होता है। सच कड़वा नहीं होता, तुम्हारा अहंकार उसको कड़वा बनाता है। तुम जब अपने को बड़ा दिखाना चाहते हो और दूसरे को छोटा बनाना चाहते हो तब सत्य कड़वा होता है ; नहीं तो सत्य कड़वा नहीं होता है। सत्य को प्रिय बनाकर बोलना चाहिए — *'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्। न ब्रूयात् सत्यमप्रियं'।* देखिये दो तरह से और बाँधा है, प्रिय सत्य बोलो, अप्रिय सत्य नहीं बोलो। तो क्या प्रिय बोलने के लिये झूठ बोलें ? *'प्रियं च नानृतं ब्रूयात्'* प्रिय मिथ्या मत बोलो। एकदम बाँध के रख दिया है। सच बोलो, प्रिय बोलो, कड़वा सच मत बोलो, झूठा प्रिय मत बोलो। सत्य को प्रिय बनाकर बोलो। सत्य को कैसे प्रिय बनाकर बोला जाय, यह तपस्या है। सच को तुमने कह दिया, सामनेवाले को अपमानित कर दिया। यह तपस्या नहीं है। यह कच्ची बात बोलना है। तुम्हारे मुँह से कच्ची बात निकल गई। उसको पका कर बोलो, उसको तप के साथ बोलो। अब यह भी कहते हैं-

सुलभाः सततं राजन् सत्यं प्रिय हितं च यत् ।
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता हि दुर्लभः ।।

तो क्या जो सतत प्रियवादी होगा वह झूठा भी होगा ? जो सतत प्रियवादी होगा वह खुशामदी भी होगा ? नहीं। हमको बोलने की कोई आवश्यकता नहीं अगर हम प्रिय और हित देखें। देखिये उसके बाद हित आया है— *'सत्यं प्रियहितं च यत्'* न केवल सत्य बोलना है सच को प्रिय बनाके बोलना है और ऐसा सत्य बोलना है जिससे सुनने वाले का हित हो, मंगल हो। अगर सुनने वाले का हित नहीं हो रहा हो तो हमको बोलना कोई जरूरी नहीं है। बोलने की कोई बाध्यता नहीं है, मौन रह सकते हैं। लेकिन अगर हम बोलें, तो कैसे बोलें ? बोलना अगर सीखना हो तो भरत जी से सीखना चाहिये। वे कैसे बोलते हैं ? भगवान् चौदह वर्ष के लिये वन में चले गये। पिता का काम किया। पूरा समाज जोड़ा। वसिष्ठ जी ने दोहाई देकर सत्य की महिमा बताते हुये आदेश दिया कि भरत तुम सिंहासन पर बैठ जाओ। कौशल्या माता ने समर्थन किया और फिर भरत जी बोले, वाणी को अमृत में डुबा करके बोले। तुलसीदास जी ने लिखा है—

'बचन अमिअँ जनु बोरि देत उचित उत्तर सबहि' (अयोध्या. सो० : १७६/२)

न गुरु की बात मानी, न माँ की बात मानी लेकिन ऐसे ढंग से बोले कि सब लोग उनके साथ हो गये। उन्होंने कहा कि नहीं, मेरा मंगल तो इसी में है कि मैं प्रातःकाल ही प्रभु के दर्शन के लिये वन में जाऊँगा। यह कहते हुए कि आप जो कहते हैं सब ठीक है, सब सच है, मेरे ही योग्य बात कही है। पर मैं छोटा हूँ, मैं बालक हूँ, मैं हिमालय कैसे उठा लूँगा ? इस प्रकार सबका समर्थन, सबका आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। भरत की वाणी अद्भुत वाणी है। चित्रकूट में कैसा बोले *'अरथ अमित अति आखर थोरे'।* अमित अर्थ है थोड़े से अक्षर हैं। इस प्रकार की अद्भुत वाणी, यह तपस्या है। अगर हमको वाणी की तपस्या करने का ढंग सीखना है तो हम रामचरित मानस में भरत की वाणी का रहस्य समझ लें। वाणी की तपस्या से सत्य को मधुर बनाया जा सकता है। जो हमारा मत नहीं स्वीकार करने वाले हैं, उनको भी अपने मत की स्वीकृति कैसे कराई जा सकती है यह भरत से सीखने लायक बात है। वाणी का चरम उत्कर्ष श्री भरतलाल की वाणी में है। आगे कहा है—

'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव' वाणी के तप में स्वाध्याय का तप भी रहना चाहिए। ज्ञान बढ़ाना चाहिये। ज्ञान कैसे बढ़ेगा ? स्वाध्याय से बढ़ेगा। *'स्वाध्याय'* शब्द पर ध्यान दीजिये। लौकिक जानकारी वाली पुस्तकों का अध्ययन स्वाध्याय नहीं है। अदृष्ट

लाभ जिससे होता है उन आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन स्वाध्याय है, और स्वाध्याय का एक दूसरा अर्थ है अपना अध्ययन। 'स्व' माने अपना, 'आध्याय' माने अध्ययन। अपने को पहचानो। हम सारी दुनिया को पहचानते हैं, अपने को नहीं पहचानते। हममें क्या अच्छाइयाँ हैं, हममें क्या बुराइयाँ हैं, हममें क्या कमियाँ है, हममें क्या त्रुटियाँ हैं? हम अपनी बुराई को कैसे ठीक कर सकते हैं, अच्छाई कैसे बढ़ सकती है। अपना अध्ययन करो। जो पूज्य आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं, उनका अध्ययन करो। एक बार ही नहीं। *'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव'* । *अभ्यसनं* माने अभ्यास। बार बार पढ़ो। बड़े ग्रन्थ एक बार में अपना मर्म नहीं बताते। अच्छा, आपसे पहली बार जो मिले उसको आप अपने मन की बात बताइयेगा ? तो बड़ा ग्रन्थ अपना रहस्य आपको पहली बार कैसे बता देगा ? बार-बार पढ़ने से कभी कोई शब्द समझ में आता है, कभी कोई समझ में आता है। कभी कोई बात कौंध जाती है, कभी कोई बात चमक जाती है। बचपन से मैं गीता, रामचरितमानस पढ़ रहा हूँ फिर भी अज्ञ का अज्ञ ही रह गया। रोज थोड़ा-थोड़ा पढ़ता हूँ। हमारे गुरु जी कहते थे कि जैसे संन्यासी भिक्षा लेने जाता है, भिक्षा लेने गया तो किसी दिन किसी गृहस्थ ने भिक्षा नहीं दी। उसकी मर्जी, भाई। दूसरे दिन फिर गये कड़वी बात सुना दी, कोई बात नहीं। तीसरे, चौथे दिन फिर गये तो भिक्षा दे भी दी। तो भिक्षा जैसे पहले ही दिन सब नहीं दे देते, कभी कभी बाद में दे भी देते हैं। वैसे ही बड़े ग्रन्थ अपना रहस्य, अपना मर्म, एक बार पढ़ने पर नहीं बताते। श्रद्धा के साथ बार-बार, बार-बार उसका अनुशीलन करने पर उसका रहस्य, उसका मर्म, उसका सौंदर्य उद्घाटित होता है। हमारे भीतर जितनी पात्रता आयेगी, बड़ा ग्रन्थ उतना हमको अपना अर्थदान करेगा। इसलिये *'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव'* उसका बार-बार अभ्यास करना चाहिये। वाणी के तप के बाद अब मानस तप बता रहे हैं—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।। (१७/१६)

मानस तप सबसे कठिन तप है, क्योंकि मन पर नियन्त्रण करना सबसे कठिन है। शरीर पर नियन्त्रण करना अपेक्षाकृत कम कठिन है। कठिन तो है, पर स्थूल है। स्थूल से सूक्ष्म की ओर जा रहे हैं। शरीर से वाणी सूक्ष्म है और वाणी से भी मन सूक्ष्म है। मन में हमारे द्वेष हो सकता है, हम मीठा बोल सकते हैं पर मन में हमारे अहंकार हो सकता है। हम किसी का पैर छू सकते हैं लेकिन मन में अहंकार न हो, मन में द्वेष न हो यह बहुत कठिन तप है। आप देखिये पहली बात क्या है— *मनः प्रसादः।* *प्रसाद* माने निर्मलता। प्रसाद का मतलब प्रसन्नता भी होता है, मगर यहाँ प्रसाद का मतलब है

निर्मलता। मन में निर्मलता होनी चाहिये। मन में काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर जितने घुले रहेंगे, मन उतना ही मलिन होगा। अतः *'मनः प्रसादः'* पहली बात कि हम काम को, क्रोध को, मोह को, लोभ को, मद को, मत्सर को कैसे जीतें ? कशाय से कैसे इसको विमुक्त करें, निर्मल करें ? अतः पहली बात है कि मन को निर्मल बनाओ। मेरे गुरुजी एक बात और कहते थे। मन को निर्मल बनाने के लिये अतीत और भविष्य से भी इसको मुक्त करो। अतीत की बात बहुत सोचोगे तो तुम शोकग्रस्त होने का प्रमाण दोगे और भविष्य की बात बहुत सोचोगे तो तुम भयग्रस्त हो इसका प्रमाण दोगे। अतीत के दुखों का सामूहिक नाम है शोक। भविष्य के आशंकित दुखों का सामूहिक नाम है भय। यह हो जायेगा तो क्या होगा ? क्या होगा ? गुरुजी कहते थे — वर्तमान में सहज रूप से जियो।

जो होना था हो चुका, जो होगा सो हो।
वर्तमान क्षण काम का, इसको तो मत खो।।

यह जो वर्तमान क्षण है, इस क्षण को सम्भालो। तुम्हारा अधिकार भविष्य पर नहीं है। तुम जो चाहते हो वही हो ऐसा कोई जरूरी नहीं है। भविष्य पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। जो बीत गया उसको क्या तुम बदल सकते हो ? सिर पटक के मर जाओ, बदल नहीं सकते। तो अतीत और भविष्य से अपने मन को दूषित मत करो। यह जो सामने का क्षण है, यह क्षण अच्छा बीतना चाहिये। यह क्षण अच्छे काम में जाना चाहिये। यह क्षण सार्थक होना चाहिये। अगर यह क्षण सार्थक है, तो भविष्य अच्छा होगा ही। चूँकि वर्तमान ही तो अतीत होता है। अगर वर्तमान अच्छा होगा तो अतीत भी धीरे-धीरे अच्छा होगा और भविष्य भी अच्छा होगा। इसलिये अतीत की चिन्ता किये बिना, भविष्य का भय किये बिना—वर्तमान पर हम पूरा ध्यान केन्द्रित करेंगे कि यह खराब न हो, यह अच्छा बीते। इसको हम मंगलमय बनायेंगे, तो हमारा मन निर्मल रहेगा।

'मनः प्रसादः' —काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मद, मत्सर से, या अतीत के शोक और भविष्य के भय से मुक्त कर, वर्तमान में अपने मन को सही काम में लगाना यह मन की निर्मलता है। बहुत तपस्या की बात है यह। *'सौम्यत्वं'* —सोम कहते हैं चन्द्रमा को, सोम के गुण जिसमें होते हैं उसे सौम्य कहते हैं। अपने उपनिषदों में शिष्यों को सौम्य कहा गया है। हमलोग अपने छोटे बच्चों को कहते हैं प्यार से—सौम्य। सौम्यत्वं, सौम्य होने का गुण। जैसे चन्द्रमा अपनी चाँदनी से सबको आनन्द देता है, सबको प्रकाश देता है, प्रसन्नता देता है, स्निग्धता देता है। चाँदनी का जैसा जादुभरा, मन

को मोह लेने वाला आकर्षण है वैसा ही आपका-हमारा व्यवहार सौम्य हो, सौम्यतायुक्त हो जिससे उसको शीतलता मिले, उसको प्रकाश मिले, उसको प्रेम मिले।

'मौनं' —केवल वाणी का मौन नहीं। वाणी से हम चुप हैं अन्दर गाली दिये जा रहे हैं। यह मौन नहीं। मौन यानी मन का मौन। मौन का मतलब केवल वाणी से चुप रहना नहीं। *'मुनेः भावः मौनं'* —यानी मुनियों का भाव। मुनि का मतलब मननशील, मौन का मतलब चुप रहकर भगवान् का मनन करना। जिस बड़े ग्रन्थ का अध्ययन किया है उसके अर्थ का मनन करना। मननशीलता मुनि का गुण है और मौन मुनि का भाव है। तो अगर हम चुप रहकर किसी बड़े विषय का भीतर ही भीतर मनन कर रहे हैं, आत्मचिन्तन कर रहे हैं, भगवत् चिन्तन कर रहे हैं, भगवत् गुण की विषेशता को समझ रहे हैं, तब वह मौन सार्थक है। *'मौन'* मन का गुण, मन की तपस्या है।

'आत्मविनिग्रहः' —आत्म कई अर्थों में आता है। शरीर के भी, बुद्धि के भी, मन के भी। यहाँ आत्म शब्द का अर्थ है अन्तःकरण। अन्तःकरण के ऊपर नियन्त्रण। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, चारों नियन्त्रित होने चाहियें। चंचल नहीं होने चाहियें, अनियन्त्रित नहीं होने चाहियें। यदि मेरा मन मेरी बात ही नहीं मानता, तो कैसा है मेरा मन? देव की एक पंक्ति है—

ऐसो जो हौं जानतों कि जैहे तू विषय के संग,
ऐ रे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतों।

ओ मेरे मन! अगर मुझको मालूम होता कि तू विषय के संग जायेगा तो मैं तेरे हाथ पाँव तोड़ देता। पर अब पछताये होत क्या! तो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार को नियन्त्रित करना चाहिए। *'भाव संशुद्धि'*—यह सबसे कठिन बात है। इसीलिये सबसे बाद में है। मन में जो भाव है वह किसी के प्रति अशुद्ध हो ही नहीं। किसी के प्रति द्वेष नहीं, किसी के प्रति राग नहीं। राग द्वेष से विमुक्त शुद्ध भाव। भाव की पवित्रता, भाव संशुद्धि। जो कह रहे हैं वही कर रहे हैं। कोई दुर्भाव नहीं, किसी के प्रति हीन भाव नहीं, अहंकार नहीं। *'भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते'* —ये मन के तप हैं। ये तीनों इतने बड़े तप हैं अतः मैंने थोड़ा-सा विस्तार कर दिया यह जानते हुये भी कि समय कम है लेकिन यही हमारी आपकी वैयक्तिक साधना है। मैंने आपको बताया कि तीन संस्थायें हैं—सृष्टि, समाज और शरीर। यह जो शरीर है, इस शरीर को तप से कैसे परिशुद्ध किया जाय, इसके तीन रास्ते हैं। अब इसके बाद प्रभु बताते हैं कि तीनों प्रकार के तप तीन-तीन तरह के होते हैं। शारीरिक तप भी सात्त्विक हो सकता है, राजसिक हो सकता है और तामसिक हो सकता है; ऐसे ही वाचिक तप और मानसिक तप भी। लक्षण देखिये—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।। (१७/१७)

शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों तपों को, तब सात्त्विक कहा जायेगा जब परम श्रद्धा के साथ निष्काम भाव से फलाशा रहित होकर ईश्वर के प्रति समर्पित भक्तियुक्त चित्त से किया जाय। *'श्रद्धयापरया'* —परम श्रद्धा के साथ। श्रद्धा माने सत्य को धारण करने वाली वृत्ति। इसको समझ लें कि ये हमारे मंगल की परम स्थिति है, इसलिये हम इन तीनों तपों को अवश्यमेव साधेंगे उस परम श्रद्धा के साथ। हम अगर कमजोर होंगे तो रामजी हमको सहायता देंगे। जहाँ हम थक जायेंगे वहाँ राम की कृपा आयेगी। बड़ा काम कैसे होता है ? *'तपः प्रभावात् देवप्रसादाच्च ।'* हम जब तपस्या करते करते थक जायेंगे, जहाँ हमारी शक्ति समाप्त होगी वहाँ भागवती शक्ति उतरेगी। तुम आलसी बने बैठे रहोगे, कुछ नहीं करोगे और चाहोगे कि कोई तुम्हारे सिर पर हाथ रख दे और तुमको शक्तिपात हो जाये और तुम अच्छे हो जाओ ? यह नहीं होगा। अपनी तरफ से परिपूर्ण परिश्रम करने के बाद, तपस्या करने के बाद जहाँ हमारा तप समाप्त होगा, हमारी शक्ति जहाँ जवाब देगी वहाँ पर उनकी शक्ति उतरेगी; भगवान् की कृपा उतरेगी।

अगले श्लोक में राजस तप की चर्चा करते हुए बताया गया है कि सत्कार, सम्मान, पूजा और व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्धि के लिए दम्भ से युक्त होकर जो तप किया जाता है वह राजस तप है—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।। (१७/१८)

अगर हम तप कर रहे हैं, दुनिया को दिखाने के लिये, लोगों का सम्मान पाने के लिये; सत्कार, मान और पूजा पाने के लिए, तो वह राजस है। सत्कार माने? कोई कहे कि यह बड़ा तपस्वी है, बड़ा योग्य है, बड़ा ज्ञानी है, बड़ा विद्वान् है। 'मान' माने? आपके सामने खड़े हो गये और कहा – आइये, आइये। 'पूजा' माने आपके पाँव धोकर माला पहना कर बैठाया। तो सत्कार, मान और पूजा इसके लिये अगर कोई तप करे तो वह राजस तप है। सम्मान, पूजा तो लोग अपने आप करेंगे भैया, तुम क्यों मरे जा रहे हो?

छिपने नहीं दिया फूलों को फूलों के उड़ते सुवास ने।
रहने नहीं दिया अनजाना शशि को शशि के मंद हास ने।।

फूल खिलेंगे तो सुवास तो फैलेगी ही, भौंरे तो आयेंगे ही। रात में चन्द्रमा अगर

अपना मन्द प्रकाश बिखेरेगा तो लोग उससे आनन्दित होंगे ही। लेकिन तुम्हारे हाय-हाय से कुछ नहीं होगा। 'दम्भ' मतलब जो हम नहीं है, वैसा दिखा रहे हैं। दाम्भिक वह होता है; जो विद्वान् है नहीं, पर विद्वता प्रदर्शित कर रहा है। जो धार्मिक है नहीं, लेकिन धर्मध्वजी बना हुआ है तो वह 'दाम्भिक' है। यानी जो हम नहीं है वैसा प्रदर्शित करते हुये अगर हम ये सारे तप कर रहे हैं तो वह राजस तप है। *'राजसं चलमध्रुवम्'* राजस का मतलब है चंचल, आज है, कल नहीं रहेगा। अभी है, अभी नहीं रहेगा, *'अध्रुव'* है। उसका फल हो तो हो, न हो तो न हो। पक्का नहीं है कि फल होगा ही होगा। अध्रुव है। निश्चय नहीं है। राजस फल अल्प होता है और ज्यादा से ज्यादा इसी लोक में होता है, परलोक में नहीं। तो यह आपका चुनाव है, आप चाहे राजस तप करें, चाहे सात्त्विक करें। तामस तप के बारे में कहा है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।। (१७/१९)

'मूढग्राह' — ग्राह माने पकड़ लेना। ग्रह माने ग्रहण, पकड़ना। मूढ़ माने विवेक रहित, अविवेकी। व्यवसायात्मिका बुद्धि किसको कहते हैं ? व्यवसायात्मिका बुद्धि कहते हैं जो काम शुरू करने से पहले आदि से अन्त तक विचार कर लेता है कि इसमें ये-ये बाधायें आयेंगी और इस बाधा का हम ऐसे निरसन करेंगे और इसका यह परिणाम होगा। आदि से अन्त तक कार्य की समग्रता को समझ लेना, यह व्यवसायात्मिका बुद्धि है। व्यवसाय का मतलब व्यापार नहीं है — *अवसानं अवसायः* — जो आरम्भ से अवसान तक विशेष रूप से समझ लेता है वह व्यवसायात्मिका बुद्धि होती है। *'मूढ़ ग्राह'* माने अविवेकी, बिना सोचे–

बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय।
काम बिगारे आपनो जग में होत हसाय।।

किसी चीज को पकड़ लिया, वह गलत है तो भी हम उसको किये चले जायेंगे। तो अविवेक के द्वारा किसी चीज को पकड़ कर अपने शरीर को, अपने मन को, अपनी बुद्धि को और अपनी अन्तरात्मा को जो पीड़ित करता रहता है या दूसरे के अकल्याण के लिये तप करता है, वह 'मूढ़ग्राही' है। अपने मंगल के लिये नहीं दूसरे के अमंगल के लिए। उसके यहाँ अमुक की मृत्यु हो जाये उसके लिये 'मारण' प्रयोग करते हैं, 'सम्मोहन' का प्रयोग, 'उच्चाटन' का प्रयोग करते हैं। दूसरे का अकल्याण करके तुम्हारा कल्याण कैसे हो सकता है? ये सब तमोगुणी हैं। तो ये जो तमोगुणी लोग हैं इनके तप का न इस लोक में, न परलोक में लाभ होता है। रजोगुणी लोग इस

लोक में थोड़ा फल पा सकते हैं परलोक उनका बहुत ही अस्थिर है। सत्त्वगुणी लोगों का जो तप है वह वास्तव में फलदाता है इस लोक में भी, परलोक में भी। अब इसके बाद दान का वर्णन किया गया है—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।। (१७/२०)

'दातव्यमिति यद्दानं'— दान देना ही धर्म है, यह समझकर जो दान किया जाता है। *दीयतेऽनुपकारिणे* — जिसने हमारा कोई उपकार नहीं किया ऐसे लोगों को देना, यही योग्य है। आजकल हमलोग दान करते हैं, अपने सम्बन्धियों को। जिनसे हमें उपकार प्राप्त हुआ है, उनको देना सात्त्विक दान नहीं है। अपरिचित व्यक्ति को, जिसने हमारा कोई उपकार नहीं किया, दान देना 'सात्विक दान' है। *'देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम्'*। जो उचित समय में, उचित देश में और योग्य पात्र को दान देता है, वह सात्त्विक दान कहलाता है। 'पात्र' कौन है ? जो हमको पतन से रोके, जिसमें ऐसी पात्रता है। पात्र हम बर्तन को भी कहते हैं उसमें कोई चीज रखो, वह ठहर जाती है, गिरती नहीं। तो जो पतन से बचाता है वह पात्र है। तो सात्विक दान क्या है ? देने वाले का भी कल्याण करे और लेने वाले का भी कल्याण करे। हमारे गुरुजी कहते थे– एक बार मान लो कि जो सामने है वह नारायण है। नारायण समझ कर जिसको दोगे उसका भी कल्याण और देने वाले का भी कल्याण है। हमारे यहाँ कहा गया है— *'श्रद्धयादेयं हया देयं धिया देयं अश्रद्धयाअदेयम्'* —श्रद्धा के साथ देना चाहिये, संकोच के साथ देना चाहिये कि सामने वाले को अपमान का अनुभव न हो। यह समझकर देना चाहिये कि हमने बहुत कम दिया। लज्जा के साथ देना चाहिये। अश्रद्धा के साथ नहीं देना चाहिये। देश, काल और पात्र तीनों की महत्ता है। किसी पुण्य स्थान में, किसी पुण्य काल में योग्य व्यक्ति को देना सबसे अच्छी बात है। लेकिन नारायण समझ कर जिसको जहाँ दोगे वही उचित स्थान हो जायेगा, उचित काल हो जायेगा, उचित पात्र हो जायेगा। शर्त यह है कि तुम्हारी वृत्ति में औचित्य हो। अगर तुम अनुपकारी को दे रहे हो, और श्रद्धा के साथ दे रहे हो तो यह दान 'सात्त्विक' है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।। (१७/२१)

देने वाले लोग भी कई बार यह सोचकर देते हैं कि अभी हम इसको देंगे तो बदले में वह हमारा यह काम कर देगा। उससे हमें यह काम करवा लेना है इसलिये अभी दे रहे हैं। प्रत्युपकार की आशा से अगर तुमने दान दिया, अगर तुमने फल पाने

की इच्छा से दान दिया, अगर तुमने क्लेश के साथ दान दिया, (हाय इतना रुपया खर्च हो गया! इतना क्यों दे दिया) तो देने का रस नष्ट हो जाता है। 'परिक्लिष्टं' यानी क्लेश पूर्वक। क्लेशपूर्वक दिया गया दान राजस दान है। उस दान का फल बहुत कम है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।। (१७/२२)

तामस दान क्या है ? पवित्र स्थान नहीं है। पवित्र समय नहीं है और अपात्र है। याद रखिए – दान दुष्ट व्यक्ति को नहीं देना चाहिये, दुश्चरित्र को नहीं देना चाहिये; बुरे समय नहीं देना चाहिये; बुरी जगह में नहीं देना चाहिये और किसी का भी अपमान करके नहीं देना चाहिये। असत्कार के साथ अवज्ञा के साथ नहीं देना चाहिये। जा, जा, आया है। ले जा, मर, हट यहाँ से! क्या यह दान है ? तुमने असत्कार कर दिया, अवज्ञा कर दी, तुम्हारा दान व्यर्थ हो गया। छिः ! यह तामसी दान है। तो इस तरह से अपमान करके, अवज्ञा करके, दुष्ट व्यक्तियों को, दुराचारी व्यक्तियों को जो दिया जाता है, वह तामसी दान है। वह ठीक नहीं है। अब इसके बाद एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात बता रहे हैं। देखिये! यज्ञ, दान और तप तीनों को हम अच्छी तरह से करना चाहते हैं। लेकिन जितनी भी सावधानी से करें, हम मनुष्य हैं, हमारी दुर्बलतायें हैं, सीमायें हैं। बहुत सावधानी से करने पर भी गलतियाँ हो जाती हैं, कुछ त्रुटियाँ हो जाती हैं। तो क्या किया जाय? जो काम हम कर रहे हैं सात्त्विक बुद्धि से कर रहे हैं। लेकिन, पूरी सावधानी के बाद कोई गलती हो गई, कोई त्रुटि हो गई, तो क्या किया जाय ? भगवान् का नाम लेकर किया जाये। यह आगे बता रहे हैं—

ओम् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।।
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।। (१७/२३-२४)

अर्थात् ओम, तत्, सत् इन तीन शब्दों से जिस ब्रह्म का निर्देश किया गया है उसी ने आदिकाल में ब्राह्मणों, वेदों और यज्ञ की सृष्टि की है। सच्चे ईश्वरभक्तों का प्रत्येक कर्म— यानी यज्ञ, दान और तप—ओम् के उच्चारण से ही आरंभ होता है। भारतवर्ष में जितने भी पंथ या सम्प्रदाय प्रारंभ हुए है सबमें साझा नाम 'ओम्' ही है।

हमने बहुत सावधानी से काम किया, गलती रह गई। कोई अंग कम हो गया। जिसको कहते हैं अंगवैगुणी। कोई अंग छूट गया, मंत्र का उच्चारण गलत हो गया। नहीं आया। तो कैसे किया जाये ? श्रद्धा में कमी नहीं है, लेकिन त्रुटि हो गई, तो कहते हैं

भगवान् का नाम लेकर करोगे तो कमी भी परिपूर्ण हो जायेगी। वह श्लोक तो आपने सुना होगा—

यस्यस्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञ क्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्योवन्देतमच्युतम् ।।

यस्यस्मृत्या च नामोक्त्या —जिसका नाम स्मरण करने मात्र से, जिसका नाम लेने मात्र से; तप, यज्ञ, दान आदि क्रियाओं में अगर कोई चीज कम रह गई, वह तुरंत पूर्णता प्राप्त कर लेती है। ऐसे अच्युत नारायण भगवान् श्री विष्णु को मैं नमस्कार करता हूँ। भगवान् का नाम। और एक बात पर ध्यान दीजिये। इस देश में जितने धर्म हैं, सब में जो साँझा नाम है वह है '३ॐ'। वेदों में तो कहा है— *'३ॐ इति ब्रह्मः'* यानी ३ॐ ही ब्रह्म है। *'३ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म'* गीता में कहा गया है। *'प्रणवः सर्ववेदेषु'* —भी कहा गया है। हम लोग जितना मंत्र जप करते हैं उसके पहले '३ॐ' लगाते हैं। बौद्ध लोगों में ३ॐ मणिपद्म हुम्। जैन लोगों में णमोकार मन्त्र में ३ॐ जोड़ देने से बहुत लाभ होता है। बहुत से लोग णमोकार मन्त्र बिना ३ॐ के भी बोलते हैं, लेकिन हमने बहुत से बड़े बड़े जैनी आचार्यों को '३ॐ' के साथ णमोकार मन्त्र बोलते हुये सुना है। सिक्ख लोग एक ओंकार तत्कार सत्नाम कर्ता..... यानी वैदिक, बौद्ध, जैन, सिक्ख, भारतवर्ष की भूमि पर जो धर्म पैदा हुये उन सब धर्मों ने ३ॐ को साँझा माना है। इसलिये ३ॐ हमारी सबसे बड़ी साँझी सम्पदा है। पवित्र नाम, हमारे हृदय को पवित्र करने वाला और ३ॐ तत् सत् — ३ॐ अकेला भी, तत् अकेला भी, सत् अकेला भी ब्रह्म का नाम है। लेकिन अगर तीनों हो जायें तो क्या बात है! मेरे पिताजी *'३ॐ तत् सत्'* कह कर ही सब काम शुरू करते थे। उनका जो पत्रशीर्ष था उस पर लिखा हुआ था '३ॐ तत् सत्'। तो *'३ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'* —ब्रह्म का त्रिविध निर्देश है। तीन प्रकार से ब्रह्म को निर्दिष्ट किया गया *'३ॐ तत् सत्'* के द्वारा। ये तीनों ब्रह्म के नाम हैं।

३ॐ से, तत् से, सत् से यानी परमात्मा से पहले ब्राह्मण, वेद और यज्ञ बने। वेद संविधान हैं, ये यज्ञ करने की प्रक्रिया का निर्देश करते हैं। ये विधान हैं। ब्राह्मण यज्ञ कराते हैं और यज्ञ क्रिया है। तो ये तीनों ब्राह्मण, वेद और यज्ञ ये तीनों '३ॐ तत् सत्' के द्वारा निर्मित हुये हैं, पहले बनाये गये हैं। कहते हैं अ उ म = ३ॐ – जाग्रत, स्वप्न, सुसुप्ति और जो अर्ध मात्रा है वह तुरीय। तो ब्रह्म के चारों रूपों को वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय, चारों रूपों को '३ॐ' समेट लेता है। ३ॐ सम्पूर्ण नाम है, समग्र है। ३ॐइत्येकाक्षंब्रह्मः तो ३ॐ तत् सत् । तैत्तरीय उपनिषद् में आया है— *सच्चत्याभवत्* वही तत् हुआ वही सत् हुआ। तो तत् और सत् उसी का नाम है। *'तत्त्वमसि'* वही तू

है। तो तत् माने 'वह', परमात्मा। *'सत् चित् आनन्द'* में सत् है कि नहीं ? तो ॐ भी ब्रह्म का नाम है, तत् भी ब्रह्म का नाम है और सत् भी ब्रह्म का नाम है।

जो ब्रह्मवादी हैं वे बराबर विधान के अनुसार यज्ञ-तप-दान आदि क्रियायें आरम्भ करने से पहले 'ॐ' बोलते हैं। मेरे गुरुजी ने कहा तो हम *'हरिः ॐ'* बोलते हैं। पहले 'ॐ' ही बोलते होंगे। हरिओम क्यों बोलते हैं, बोले 'हरि' बोलने से तो ओम् की पात्रता आएगी। ॐ बोलने की पात्रता भी अर्जित करनी पड़ती है। इसलिये 'हरिः' बोलने से 'ॐ' बोलने की पात्रता आयेगी। उन्होंने कहा कि *हरिः ॐ* बोलना शिष्टाचार है। तो कहा गया है — *'तस्मादोमित्युदाहृत्य'* —इसलिये 'ॐ' का उच्चारण करके *'यज्ञदान तपः क्रियाः'* —यज्ञ दान तप आदि क्रियाओं को जो विधान के अनुसार जैसा कहा गया है, ब्रह्मवादी आरम्भ करते हैं। क्यों भगवान् का नाम लेकर शुरू करते हैं ? क्योंकि अनजाने में भी, अनचाहे में भी जो हमारी कमी रहेगी भगवान् का नाम उसको पूर्ण करेगा। इसलिये कोई भी काम शुरू करने से पहले हम लोग भगवान् का नाम लेते हैं। मालवीयजी ने कहा कि कोई भी काम शुरू करो तो चार बार नारायण बोलो, नारायण नारायण नारायण नारायण। जैसा जिसका संस्कार हो, जो नाम आपको प्रिय हो। सब नाम भगवान् के हैं। कोई एक नाम बाध्यतामूलक नहीं है। पुराना नाम, सबसे पुराना नाम 'ॐ' है, जैसा कि मैंने आपको बताया समस्त भारतीय धर्मों में यह साँझा नाम है। न केवल सबसे पुराना नाम है, बल्कि साँझा है इसलिये ॐ की महिमा सबसे अधिक है। जितने भी मन्त्र हैं, 'ॐ नमः शिवाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय', 'ॐ रां रामाय नमः' बिना ॐ के मन्त्र पूरा नहीं होता और बल्कि यह कहते हैं कि आरम्भ में भी होना चाहिये और अन्त में भी होना चाहिये। गायत्री का जप करते हुये पहले आरम्भ में ही बोलते थे, अब आरम्भ में भी ॐ और अन्त में भी ॐ। सम्पुटित करो ॐ से। तो इसलिये ॐ का उच्चारण करके सब काम करते हैं। एक नाम। इसके बाद भगवान् कहते हैं—

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।। (१७/२५)

यज्ञ-दान-तप बराबर चलता है क्योंकि यज्ञ से सृष्टि का मंगल, दान से समाज का मंगल और तप से व्यक्ति का मंगल होता है। तीनों संस्थाओं को साथ-साथ लेकर चलने के लिये, तीनों संस्थाओं का बार-बार उल्लेख है। 'तत्' माने परमात्मा का नाम, जो परे है। ॐ तत् सत्। *'तत्, त्वम् असि'*। वह तुम हो, तुम वही हो। जो हमारी दृश्यमान दृष्टि से भी परे है— जो कुछ दिखाई पड़ता है सृष्टि क्या उतनी ही है ? नहीं

नहीं, जो दिखता है वह तो बहुत कम दिखता है। यह तो एक पाद में है त्रिपाद तो इससे अलग है। तो वह जो परमात्मा है 'तत्', वह सृष्टि में भी है और सृष्टि के परे भी है- — *'तत्'*। उस परमात्मा का 'इति' —ऐसा, *'अनभिसंधायफलं'* —बिना फल की आशा के। फल की आशा की नहीं, कि बँधे। कर्म तभी तुमको बाँधेगा जब तुम सकाम भावना से कर्म करोगे। जब निष्काम भाव से कर्म करोगे, फलाशा का त्याग करके कर्म करोगे तो कर्म नहीं बाँधेगा।

जो मोक्ष के इच्छुक हैं, वे कोई भी काम करने के पहले 'तत्' परमात्मा का नाम बिना फलाशा के, भगवान् की प्रीति के लिये, प्रसन्नता के लिये लेते हैं और उससे वह काम पूर्ण होता है, उस काम का मंगल परिणाम होता है। तो 'ॐ' हो गया, तत् भी हो गया। अब आगे—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।। (१७/२६)

हे पार्थ, हे अर्जुन! 'सत्' शब्द का प्रयोग किस-किस अर्थ में होता है इसे जानो। पहला अर्थ है अस्तित्व भाव, सत्ता। कहते हैं न *'सत् चित् आनन्द'*। परमात्मा है; अनादिकाल में भी था, आज भी है और आगे भी रहेगा। गुरु नानकदेवजी ने इसको बहुत अच्छी तरह से कहा *आदिसचु जुगादि सचु, है भी सच, नानक होसी भी सचु।* वह सत् है। जब काल का विभाजन नहीं हुआ था उस आदिकाल में भी सत्य था, जब काल विभाजन हुआ युगादि, तब भी वह सत्य था। आज भी वह सत्य है और भविष्य में भी सत्य रहेगा। अगर किसी की सत्ता है तो उसी की है। सत् माने सत्ता, अस्तित्व। *'साधुभावे च'* वह मंगलमय है। परमात्मा कभी अमंगल कर सकता है? परमात्मा का स्मरण ही मंगलमय है। हमारे भीतर जो साधुता है, श्रेष्ठता है, अच्छाई है; *'साधुभावे'* माने अच्छाई के अर्थ में। *'सदित्येतत्प्रयुज्यते'* —सत् शब्द का प्रयोग होता है। तीसरा अर्थ होता है *'प्रशस्ते कर्मणि तथा'*, जो अच्छे कर्म हैं, जैसे कहते हैं सत्कर्म हैं। तो अच्छे काम में, मंगलमय भाव में और अस्तित्व में, इन तीनों अर्थों में सत् शब्द का प्रयोग होता है। ऐसे महत्वपूर्ण सत् शब्द के ये तीन अर्थ बताकर सत् शब्द की महिमा बताई कि सत् शब्द का अस्तित्व निरन्तर रहता है, वह मंगलमय है और वह अच्छे कामों के लिये प्रयुक्त होता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।। (१७/२७)

यज्ञ, तप और दान में जिसकी निष्ठा है उसको भी सत् कहा है। भगवान् आगे

बतायेंगे कि और बातें छोड़ सकते हो लेकिन ये तीन काम *'नत्याज्यम् कार्यमेवतत्'*, इनका त्याग नहीं किया जा सकता। इन तीनों को तो करना ही चाहिये। कैसे करना चाहिये यह तरीका है। तो यज्ञ, तप और दान में जिसकी निष्ठा है उसको ही सत् कहा जाता है। और *'तदर्थीय कर्म'* —इसकी दो व्याख्यायें की हैं। एक तो तत् भगवान् का नाम है, भगवान् के लिये किया गया कर्म सत् है या यज्ञ, तप और दान के लिये किया गया कर्म सत् है। भगवान् के लिये किया गया कर्म, भगवान् की प्रसन्नता के लिये किया गया कर्म, भगवान् का स्मरण करके किया गया कर्म, वह मंगलमय होगा ही। *'सदित्येवाभिधीयते'* —उसको *'सत्'* कहा जाता है। अब आप सोलहवें अध्याय और सत्रहवें अध्याय के अन्त को देखिए। सोलहवें अध्याय के अन्त में कहा गया है कि जो शास्त्र विधि का त्याग करके काम करते हैं उनका कल्याण नहीं होता। इसलिये अर्जुन ने इस अध्याय में यह प्रश्न उठाया कि शास्त्र बड़ा है कि श्रद्धा बड़ी है। भगवान् कहते हैं कि शास्त्र भी बड़ा है, श्रद्धा भी बड़ी है। लेकिन अगर शास्त्र में थोड़ा वैगुणी हो जाये, अवज्ञा से नहीं अज्ञान से तो श्रद्धा सहारा देगी। और अगर श्रद्धा सहारा न दे तो कोई नहीं दे सकता। आप देखिये अंतिम श्लोक क्या है—

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।। (१७/२८)

'अश्रद्धया' —यानी बिना श्रद्धा के, बिना विनम्रता के, बिना विश्वास के। केवल दिखावे के लिये या लोगों को सन्तुष्ट करने के लिये तुमने एक धर्म कार्य कर दिया, एक वैदिक कर्म कर दिया। *'अश्रद्धया हुतं दत्तं'* —बिना श्रद्धा के तुमने यज्ञ में आहुति डाली। *'तपस्तप्तं'* बिना श्रद्धा के तुमने तपस्या की। *'कृतं च यत्'* —यज्ञ, दान, तप के अतिरिक्त जो भी तुमने किया अगर बिना श्रद्धा के किया, *'असदित्युच्यते पार्थ'* —वह सत् नहीं है। तीनों अर्थों में सत् नहीं है। न उसका अस्तित्व है, न उसमें मंगल है, न उसमें प्रशस्तता है। वह निकृष्ट है, वह ढोंग है, वह दिखावा है, वह झूठा है, वह बेईमानी है। बिना श्रद्धा के तुमने यज्ञ किया तो वह केवल धुँआ है। धुआँ जैसे उड़ गया। तुम्हारा कर्म उड़ गया। *'असदित्युच्यते पार्थ'*, वह असत् है। *'न च तत्प्रेत्य'* मरने के बाद उसका कोई फल नहीं मिलेगा। *'नो इह'* इस जीवन में भी कोई फल नहीं मिलेगा। बिना श्रद्धा के अगर कोई काम करोगे तो उसका कोई फल नहीं मिलेगा चाहे वह शास्त्र के विधान के अनुकूल ही क्यों न हो, यह मैं जोड़ रहा हूँ। दिखावे के लिये तुमने शास्त्र विधान के अनुकूल काम किया, पर भीतर से विश्वास नहीं है, भीतर से श्रद्धा नहीं है, भीतर से समर्पण नहीं है तो लोकदिखावा, ढोंग, पाखण्ड ही है।

'च तत्प्रेत्य नो इह' —मरने के बाद भी उसका फल नहीं है, इस जीवन काल में भी उसका फल नहीं। हम जो भी करें श्रद्धा के साथ करें, विनम्रता के साथ करें, विश्वास के साथ करें, भगवान् की प्रसन्नता के लिये करें। फल की आशा का त्याग करके करें और अपनी सीमाओं को जानकर के करें। हम कमजोर हैं, हम अज्ञानी हैं— हमसे गलती हो सकती है। हे प्रभु, हमारी गलतियों को आप क्षमा कीजिये। हम *'ॐ तत् सत्'* —आपका नाम लेकर यह काम कर रहे हैं, आप हमारी सारी न्यूनता को पूर्णता में रूपान्तरित कर दीजिये। 'ॐ तत् सत्' ●

प्रवचन-४९*

संन्यास और फल त्याग की सीमाएँ

गीता प्रवचन का क्रम निर्बाध चल रहा है इसमें प्रभु की कृपा का अनुभव बार-बार हो रहा है। यह मात्र वाणी का विलास नहीं है। एक कठिन काम, करीब-करीब असम्भव जैसा काम सिद्ध हो रहा है; अतः इसमें प्रभु की कृपा का अनुभव हो रहा है। आज हम लोग अठारहवें अध्याय में प्रवेश कर रहे हैं। यह अध्याय गीता का सबसे बड़ा अध्याय है। भगवान् ने पहले जो कुछ कहा है उसका सार सर्वस्व इस अध्याय में दुहराया है। साथ ही उनका जो चरम सन्देश है, उस संदेश का समावेश भी इसी अध्याय में है। इस दृष्टि से यह अध्याय बहुत महत्त्वपूर्ण है। हम लोग श्रद्धा के साथ इसको समझने की चेष्टा करें। अर्जुन का यह अंतिम प्रश्न है इसके बाद अर्जुन कोई प्रश्न नहीं करता। यह प्रश्न पहले किये गये प्रश्नों की ही पुनरावृत्ति है। इस बात पर आप ध्यान दीजिये कि जो बात समझ में नहीं आती उस बात को समझने के लिये अच्छा विद्यार्थी, निष्ठावान विद्यार्थी बार-बार प्रयास करता है; बार-बार जानना चाहता है। अर्जुन को कभी-कभी लगता है कि भगवान् हमको गोरखधन्धे में डाल रहे हैं। कभी कहते हैं कि ज्ञान महत्त्वपूर्ण है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । (४/३८-१)

x x x

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः । (४/१९-२)

फिर उनको कर्म में क्यों लगाते हैं ? अगर ज्ञान सबसे बड़ा है तो हमको ज्ञान ही दे दें। और कर्म भी कैसा घोर कर्म— जिसमें अपने गुरुजनों का, अपने नाते रिश्तेदारों का वध करना पड़ेगा। ज्ञान का अर्थ अगर संन्यास है तो संन्यास की सामान्य भूमिका तो लोग स्वरूपतः कर्म त्याग को मानते हैं। यानी स्मार्त धर्म के अनुसार चतुर्थ आश्रम में संन्यास है तो सब कर्मों का त्याग कर देना चाहिये। जब सब कर्मों का त्याग ही अन्त में करना है तो पहले ही क्यों नहीं कर देते ? अभी क्यों नहीं कर देते ? बार-

* अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या १ से १२

बार उसने यह सवाल पूछा है कि तुम हमको कर्म की बात भी बताते हो, ज्ञान की बात भी बताते हो। तो बताओ बड़ा कौन है ? ठीक क्या है हमारे लिये ? हम क्या करें ? भगवान् उसको बताते रहे लेकिन उसके मन में कहीं न कहीं थोड़ी-सी शंका बची रह गयी इसलिये वह प्रश्न पूछता है कि भगवान् हमको संन्यास और त्याग का तत्त्व समझाइये। अर्जुन ने सवाल किया है—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।। (१८/१)

इस एक ही श्लोक में तीन सम्बोधन हैं। एक बार महाबाहो, एक बार सम्पूर्ण इंद्रियों के स्वामी और एक बार केशी राक्षस जो छली है, प्रपंची है घोड़ा बनकर आया था, उसका वध करने वाले। अर्जुन कह रहा है कि आप मेरे अज्ञान रूपी, मेरे संशय रूपी केशी का वध करें। मुझे बतायें कि त्याग और संन्यास का तत्त्व क्या है ? देखिये तत्त्व क्यों पूछा ? क्योंकि शब्दार्थ तो मालूम है। त्याग और संन्यास का शब्दार्थ एक ही है। संन्यास शब्द कैसे बना है ? *'सं'* उपसर्ग सम्यक् रूप से, *'नि'* का मतलब है नितरां, *'अस'* धातु का मतलब होता है फेंकना, छोड़ना। तो सम्यक् रूप से *'नितरां'* सब कुछ जब छोड़ दिया जाये, फेंक दिया जाये, त्याग दिया जाय तो वह संन्यास है। और *'त्याग'* का मतलब है त्यागना, छोड़ना। तो शब्दार्थ तो संन्यास का भी यही है कि सब कुछ छोड़ दो और त्याग का भी अर्थ है छोड़ दो। तो इन दोनों में पार्थक्य क्या है? अगर शब्द के अर्थ से जायें तो अर्थ तो एक जैसा लगता है। लेकिन संन्यास का एक विशिष्ट तत्त्व है, त्याग का भी एक विशिष्ट तत्त्व है। तो अर्जुन भगवान् से कहता है कि यह बताइये कि संन्यास का और त्याग का तत्त्व क्या है ? दोनों अलग-अलग करके समझाइये।

भगवान् ने जो उत्तर दिया उस उत्तर को लेकर विद्वानों में बहुत मतभेद है। जो ज्ञानमार्गी हैं, जैसे शंकराचार्य, मधुसूदन सरस्वती, मेरे गुरु स्वामी अखण्डानन्द जी सरस्वती महाराज और दूसरे भी ज्ञानमार्गी आचार्य-टीकाकार, वे कहते हैं कि यह उत्तर अर्जुन को सामने रखकर दिया गया था। अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान किया गया है, अर्जुन को समझाया गया है। अर्जुन कर्माधिकारी है और इसलिये कर्माधिकारी के रूप में, जिसका अधिकार कर्म में है उसके लिये जो उत्तर देना चाहिये वह उत्तर दिया गया है। भगवान् यह बताते हैं कि कर्माधिकारी को कर्म करना चाहिये। लेकिन यह बात वास्तविक ज्ञानियों पर लागू नहीं होती। यहाँ संन्यास शब्द से जिस संन्यास का अर्थ लिया गया है वह गौण संन्यास है। एक मुख्य संन्यास होता है। यहाँ गौण संन्यास का

अर्थ बताया गया है। मुख्य संन्यास किसको कहते हैं ? मधुसूदन सरस्वती ने बताया कि मुख्य संन्यास दो प्रकार का होता है। एक 'विद्वत्' संन्यास होता है और दूसरा 'विविदिषा' संन्यास होता है। विद्वत् संन्यास फलभूत संन्यास है। ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद जो फलभूत संन्यास है उस संन्यास को कर्म स्पर्श नहीं कर पाते, कर्म का त्याग अपने आप हो जाता है। और जो विविदिषा संन्यास है जिसमें अभी ब्रह्मज्ञान हुआ तो नहीं लेकिन जिसमें प्रबल बोधेच्छा है। बोध, ज्ञान की इच्छा को कहते हैं विविदिषा। आप में से बहुतों को नहीं मालूम होगा कि विवेकानन्द जी ने कुछ समय तक अपना नाम विविदिषानन्द रखा था। कुछ लोग कहते हैं स्वयं विवेकानन्द ने ही विवेकानन्द नाम रख लिया, कुछ लोग कहते हैं कि खेतड़ी के नरेश अजितसिंह जी ने कहा कि विविदिषानन्द बहुत कठिन है आप सीधा नाम रखिये तो फिर विवेकानन्द नाम रखा गया। विविदिषानन्द का अर्थ क्या है? 'विविदिषा' का अर्थ है विषय को, ज्ञान को जानने की प्रबल इच्छा। जो प्रबल बोधेच्छा है उसका नाम है विविदिषा। तो जो ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ लेकिन ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यक तैयारी हो गई है उस परम बोधेच्छा की स्थिति में जब संन्यास लिया गया तो उसको कहते हैं विविदिषा संन्यास। ये दोनों प्रकार के संन्यास त्रिगुणातीत होते हैं। देखिये, मूल अन्तर समझिये। भगवान् ने अर्जुन को भी कहा है—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन । (२/४५-१) वेद सत्व, रज और तम, इन तीन गुणों के अधीन हैं। तुम निस्त्रैगुणी हो जाओ और निस्त्रैगुणी हो जाने के बाद त्रिगुणातीत का वर्णन है, चौदहवें अध्याय में। उन्होंने कहा है—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।। (१४/२२)

अर्थात् जो त्रिगुणातीत हो गया है वह देख रहा है कि हमारे शरीर में गुणों का खेल चल रहा है। यह 'प्रकाश' यानी सतोगुण आ गया। यह 'प्रवृत्ति' यानी रजोगुण आ गया। यह 'मोह' यानी तमोगुण आ गया। तो अपने शरीर में चलने वाले इस खेल को वह देख रहा है। *'न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति'* और उसको किसी से द्वेष नहीं है। आओ तो आओ और जब निवृत्त हो जाता है तो उसको पुनः चाहता नहीं। जाओ तो जाओ। यह त्रिगुणातीत की भूमिका है उसमें कहा है *सर्वारम्भ परित्यागी* — जो समस्त आरम्भों का परित्याग कर देता है वह त्रिगुणातीत होता है। सब कर्मों का त्याग करने वाला त्रिगुणातीत होता है। उस त्रिगुणातीत को जो संन्यास प्राप्त है, विद्वत् संन्यास या विविदिषा संन्यास— उसकी यहाँ चर्चा नहीं है। उसकी यहाँ चर्चा इसलिए

नहीं है क्योंकि तीन रूप बताते हैं—एक तामस, एक राजस और एक सात्विक। तो अगर तामस, राजस, सात्विक भेद हैं तो यह जाहिर है कि वह विद्वत् संन्यास या विविदिषा संन्यास नहीं है जो कि निस्त्रैगुणी हो गया है। तो यह संन्यास गौण संन्यास है। यह गौण संन्यास कर्माधिकारियों को समझाने के लिये, विचार के लिये, रखा गया है। यह बात ज्ञानी लोग कहते हैं, शंकराचार्य आदि। जो लोग कर्म पर आस्था रखते हैं, निष्काम कर्म पर, कर्मयोग पर, वे कहते हैं कि यह बात ठीक नहीं, क्योंकि यहीं नहीं अन्यत्र भी भगवान् ने संन्यास का विशिष्ट अर्थ किया है। जैसे छठे अध्याय के पहले श्लोक में भगवान् कहते हैं—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ।। (६/१)

यह बड़ा विचित्र श्लोक है। *अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः* —जो कर्म के फल के लिये काम नहीं करता, उससे निरपेक्ष होकर काम करता है। जिसने कर्म के फल का त्याग कर दिया है, फलाशा का त्याग कर दिया है। जो करणीय कार्य है, *कार्यं* माने जो कर्त्तव्य है, करणीय कार्य है उसको जो करता है, *'स संन्यासी च योगी च'*, वही संन्यासी है, वही कर्मयोगी है। संन्यासी और कर्मयोगी को एक ही साथ कह दिया। उसके बाद जो कहा वह बहुत ही विलक्षण है — *न निरग्निर्न चाक्रियः* —निरग्नि को संन्यासी नहीं कहना चाहिये, अक्रिय को संन्यासी नहीं कहना चाहिये। निरग्नि किसको कहते हैं ? निरग्नि उसको कहते हैं जिसने अग्नि का त्याग कर दिया हो। अग्नि का त्याग कर दिया मतलब जिसने गृह त्याग कर दिया, जिसने भोजन बनाने का त्याग कर दिया। अग्नि पत्नी को भी कहते हैं। तो जिसने गृह त्याग कर दिया, पत्नी त्याग कर दिया, वही संन्यासी हो गया ऐसा नहीं है। *न निरग्निर्न चाक्रियः*, और जो अक्रिय हो गया, जिसने काम छोड़ दिया वह संन्यासी हो गया ऐसा भी नहीं। संन्यासी कौन है ? संन्यासी वही है— *अनाश्रितः कर्म फलं कार्यं करोति यः।* तो इसलिये संन्यास का एक विशिष्ट अर्थ गीता में कहा गया है कि जो कर्मयोग की ओर उन्मुख है। बार-बार उन्होंने कहा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।। (५/२)

कर्म संन्यास और कर्म योग दोनों निःश्रेयस, परम कल्याण करने वाले हैं लेकिन कर्मसंन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है। तो वे लोग कहते हैं कि इसमें उन्होंने अंतिम निर्णय दे दिया है कि संन्यास का और त्याग का अभिप्राय क्या होना चाहिये। निष्काम

कर्मयोग को गीता का प्रधान उपदेश मानने वालों का यह मत है। जो लोग यह मानते हैं कि गीता में निष्काम कर्मयोग भी है, ध्यानयोग भी है, भक्तियोग भी है, ज्ञानयोग भी है और शरणागति योग भी। वे, खासकर ज्ञानी लोग कहते हैं कि अलग अलग उसका महत्त्व है, अलग अलग भूमिका पर अलग अलग योगों का विशेष उपयोग है और इसमें सिर्फ एक ही योग को प्रधानता देकर निर्णय नहीं करना चाहिये। तो मैंने विवाद के दोनों पक्ष बता दिये। एक बात और समझिये, कि बात तो बताई जाती है एक ही लेकिन श्रोता ग्रहण करता है अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार। भगवान् जो उपदेश दे रहे हैं वह तो सबके लिये समान है, शंकराचार्य उसे अपनी दृष्टि से ग्रहण करते हैं, लोकमान्य तिलक ने अपनी दृष्टि से ग्रहण किया होगा। आपको वह कथा याद होगी, देवता, मनुष्य और दानव गये प्रजापति के पास, उन्होंने कहा, 'द', 'द', 'द'। देवताओं ने कहा, समझ गये। बोले क्या समझ गये ? देवताओं ने कहा कि हम लोग बहुत ही भोगी हो गये हैं, विलासी हो गये हैं तो 'द' का मतलब है 'दम'। अपने ऊपर नियन्त्रण करना, संयम करना। बोले ठीक समझ गये, जाओ। दैत्य बोले— समझ गये महाराज। पूछा— क्या समझे ? दैत्य बोले, हमलोग बहुत हिंसक हो गये हैं, क्रूर हो गये हैं, आपने 'द' से कहा कि दया करना चाहिये। बोले, ठीक है समझ गये, जाओ। मनुष्य बोले, समझ गये महाराज। बोले, क्या समझे ? मनुष्य बोले, हम लोग बहुत परिग्रही हो गये हैं, बहुत जोड़ जोड़ कर रखते हैं, आपने कहा दान करना चाहिये। बोले ठीक समझ गये, जाओ। अब आप देखिये, उपदेश तो एक ही हुआ— 'द', 'द', 'द', लेकिन उपदेश का अर्थ ग्रहण करने वाले ने अपनी भूमिका से उसका अर्थ ग्रहण किया। किसका अर्थ सही था ? देवताओं का, मनुष्यों का, कि दानवों का ? देवताओं के लिये देवताओं का अर्थ सही था, दानवों के लिये दानवों का अर्थ सही था, मनुष्यों के लिये मनुष्यों का अर्थ सही था। किसका अर्थ सही है शांकरभाष्य या गीतारहस्य ? दोनों अपनी अपनी भूमिका पर भगवान् के अर्थ को ग्रहण कर रहे हैं और दोनों को अपनी-अपनी भूमिका पर अर्थ ग्रहण करने का अधिकार है। यह बात अगर हम नहीं समझेंगे तो हम विवाद में ही फँसे रहेंगे। एक ही अर्थ नहीं होता। बहुत से अर्थ होते हैं और उन बहुत से अर्थों में हमारे लिये जो अर्थ संगत है वही अर्थ हमको ग्रहण करना चाहिये। उस अर्थ को ग्रहण करके अपने जीवन में उसको उतारना चाहिये केवल वाक् विलास तक उसको नहीं रखना चाहिये। कहा है—

वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुण, भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन तमनिवृत्त नहिं होई।।

वाक्य ज्ञान में, वाचिक ज्ञान में, तोते की तरह रट्टू विद्या में आपने उस बात को दुहरा दिया तो आपका कल्याण नहीं होगा। उदाहरण दिया तुलसीबाबा ने, कि रात में कोई दीपक के ऊपर व्याख्यान दे एक घण्टा प्रकाश पर, ताप पर बोले तो भी अंधेरा दूर नहीं होगा। परन्तु जिसको कुछ भी नहीं आता, पर दियासलाई से मोमबत्ती जला देगा तो अंधेरा दूर हो जायेगा। दीपक प्रज्ज्वलित होगा तो अंधेरा दूर होगा। इसलिये वाक्यज्ञान महत्त्वपूर्ण नहीं है। एक सीमा तक महत्त्व है उसका। लेकिन जो भी अर्थ तुमने ग्रहण किया उस गृहीत अर्थ को जीवन में जबतक नहीं उतारा जायेगा तबतक कल्याण नहीं होगा, इस बात को निश्चय ही समझिये।

भगवान् ने कहा कि ठीक है, तुमने जो प्रश्न पूछा बहुत अच्छा है। अब भगवान् पहले अपनी बात नहीं कहते। चार बातें पहले कही दूसरों की और फिर उन चारों बातों का सम्वाद उन्होंने किया। अर्जुन कहता है कि हमको तत्त्व बताइये, शब्दार्थ हमको मालूम है। शब्दार्थ तो दोनों का है त्यागना। भगवान् कहते हैं—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।। (१८/२)

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः —यानी यह कवियों का मत है, भगवान् का मत नहीं है। कवियों माने *'कवयः क्रान्तदर्शनः'*, जो ज्ञानी हैं, विद्वान हैं उनका मत है। वे कहते हैं कि— काम्य में कर्मों का त्याग— यह संन्यास है। *काम्यानां कर्मणां त्यागं।* अच्छा इसमें एक मजे की बात देखिये। कर्म कितने प्रकार के होते हैं ? जो पारम्परिक विचारक हैं और विशेष कर जिन्होंने ज्ञान मार्ग पर बल दिया है, उन्होंने कहा देखो भई कर्म हैं— नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्यकर्म और निषिद्ध कर्म। तो चार प्रकार के कर्म उन्होंने बताये और उसमें कहा कि काम्य कर्मों का त्याग विद्वानों की दृष्टि से संन्यास है। जो कर्मयोगी हैं, कर्मयोग पर बल देते हैं वे कहते हैं कि कर्मयोग में कर्म दो ही प्रकार के हैं, चार प्रकार के नहीं। कर्मयोग में कुछ कर्म काम्य होते हैं जो फलाशा के साथ किये जाते हैं। जिन कर्मों का फल आप प्राप्त करना चाहते हैं वे हैं काम्य कर्म। जिन कर्मों का फल आपने त्याग दिया, भगवान् को अर्पित कर दिया, वे हैं निष्काम कर्म। तो कर्मयोग की दृष्टि से सारी सृष्टि के कर्मों को दो भागों में बाँट दिया गया है— काम्य कर्म और निष्काम कर्म। यह मैंने आपको इसलिये बता दिया कि आगे इसका भी थोड़ा विवाद आया है। तो *काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।* विद्वत्गण यह बताते हैं कि फल पाने के लिये जो किया जाय वह काम्य कर्म है। जैसे *पुत्रेष्टि यज्ञ।* पुत्रेष्टि यज्ञ क्यों किया जाता है ? पुत्र प्राप्त हो। जैसे पाण्डवों ने किया

'राजसूय' यज्ञ। राजसूय यज्ञ क्यों किया जाता है ? चक्रवर्तित्व प्राप्त हो। तो कामना को सामने रख कर किया गया कर्म, यह काम्य कर्म है। इन कर्मों का त्याग विद्वानों के अनुसार संन्यास है। काम्य कर्मों का स्वरूपतः त्याग बताया गया है। यह अर्थ ज्ञानमार्ग के निकट है। *सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः* जो विचक्षण लोग हैं, विशिष्ट चक्षु वाले हैं, ज्ञान नेत्र वाले हैं और जानकार लोग हैं उनके अनुसार *'त्याग'* कहते हैं सारे कर्म-फलों के त्याग को। *सर्वकर्मफलत्यागं*— देखिये, ज्ञान में स्वरूपतः कर्म का त्याग है, चाहे वह काम्य कर्म का ही त्याग हो। स्वरूपतः कर्म का मतलब ? काम को नहीं छोड़ना, काम को कर रहे हैं लेकिन उसका जो फल है उसका त्याग है। परन्तु जो विचक्षण लोग हैं वे कहते हैं कि सब प्रकार के कर्मों का फल त्याग ही वास्तव में त्याग है। यह दूसरा मत बताया। अब आगे के श्लोक में तीसरा मत बताया है—

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।। (१८/३)

देखिये, पहला मत कवियों का है, दूसरा मत विचक्षणों का है और तीसरा मत मनीषियों का है। मनीषी मतलब ? *मनसःईशाः।* जो अपने मन पर शासन करे। जिनका मन उनके अधीन हैं, वे मनीषी हैं। जो मन के अधीन हैं वे मनीषी नहीं है। तो मनीषी लोग कहते हैं कि *त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः*। कुछ मनीषी कहते हैं कि सारे कर्म दोषवत् होने के कारण त्याज्य हैं। दोषवत् शब्द के दो अर्थ हैं। दोषवत् का अर्थ होता है दोषवान। जैसे लक्ष्मीवत्, श्रीमत् आदि। 'वत्' माने 'वाला' सारे कर्म सदोष हैं इसलिये सब कर्मों का त्याग कर देना चाहिये। देखिये, सांख्य मानता है कि प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व हैं। प्रकृति ही कर्म करती है पुरुष कर्म नहीं करता। तो प्रकृति के साथ हम लिप्त होते हैं तब कर्म है। तो कर्म करना माने प्रकृति से लिप्त होना। प्रकृति से लिप्त होना माने बन्धन में जाना और आत्मा में स्थित होना यानी कर्म त्याग कर देना। तो सारे कर्म दोषवान हैं यानी सारे कर्मों में दोष होता ही होता है। इस लिये सारे कर्मों का ही त्याग कर देना चाहिये। यह एक अर्थ हुआ। दूसरा दोषवत् माने दोष की तरह। जैसे हम दोषों का त्याग करते हैं वैसे ही कर्मों का त्याग कर देना चाहिये। स्वरूपतः कर्मों का त्याग कर देना चाहिये। यह जो संन्यास का ज्ञानमार्गी अभिप्राय है— *त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।* चूँकि कर्म सदोष हैं इसलिये उनका त्याग करना चाहिये, यानी दोषों की तरह कर्म का भी त्याग कर देना चाहिये, ऐसा तीसरे लोग कहते हैं। चौथे लोग क्या कहते हैं ? *यज्ञ दान तपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे।* वे कहते हैं कि नहीं नहीं, तुमने सारे कर्मों के ऊपर डण्डा चला

दिया, कैंची चला दी ? ऐसा नहीं। यज्ञ, दान और तप जैसे कर्म का त्याग नहीं करना चाहिये। तो चार मत आपके सामने आ गये। भगवान् क्या कहते हैं ?

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः।। (१८/४)

हे भरत श्रेष्ठ ! मेरा निश्चय 'त्याग' के विषय में सुनो। हे पुरुष श्रेष्ठ, हे पुरुष व्याघ्र ! त्याग तीन प्रकार का बताया गया है। कौन से तीन प्रकार? इस पर फिर थोड़ा-सा विवाद है। अधिकतर लोगों ने त्याग के तीन प्रकार तामस, राजस और सात्विक बताये हैं। लेकिन रामानुज प्रभु ने कहा कि नहीं, त्याग तीन प्रकार का होता है इसका अर्थ समझना चाहिये। पहला त्याग है फल त्याग। कर्म किया लेकिन कर्म का फल हमने छोड़ दिया। तो कर्म का फल त्याग यह पहला त्याग है। दूसरा त्याग है संगत्याग। 'मैं यही कर्म करूँगा यह कर्म मुझको बहुत प्रिय है। मैं व्याख्यान ही दूँगा, प्रवचन ही करता रहूँगा।' क्यों, भैया? प्रवचन क्यों करोगे? रामजी चाहेंगे तो तुम झाड़ू क्यों नहीं लगाओगे? झाड़ू लगाना भी तो रामजी का ही काम है। रामजी जो काम तुमको दे दें वह काम तुमको करना चाहिये। किसी कर्म विशेष के प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिये। तो दूसरा है संगत्याग। संग माने आसक्ति। किसी कर्म विशेष के प्रति आसक्ति का त्याग करना। जो रामजी देंगे वह काम हम करेंगे, अपनी तरफ से हम काम चुनने नहीं जायेंगे। रामजी ने दिया, कर दिया, रामजी ने बदल दिया, बदल दिया। पढ़ाने को कहा पढ़ाया, राजनीति करने को कहा राजनीति की, उन्होंने राजनीति छोड़ने को कहा, राजनीति छोड़ दी। यह नहीं कि एक ही काम से हम चिपके रहेंगे। तो दूसरा त्याग है संगत्याग। तीसरा त्याग है कृतित्व के अहंकार का त्याग। सब काम प्रभु की इच्छा से होते हैं। भक्त क्या कहता है? भक्त कहता है कि हम कर्त्ता नहीं हैं हम प्रेरित कर्त्ता हैं। मैंने पहले यह बात बताई थी। एक 'प्रेरक-कर्त्ता' दूसरा 'प्रेरित कर्त्ता' है। प्रेरक हैं प्रभु और हम सब हैं प्रेरित। जैसे कलम लिख रही है। अब जुगलजी लिख रहे हैं या कलम लिख रही है? लिख तो भई कलम ही रही है लेकिन कलम क्या लिख रही है? कलम वही लिख रही है जो जुगलजी उसको लिखने को कह रहे हैं। तो कलम के द्वारा जो लिखा गया है वह प्रेरित कर्म है। अपने कर्म का अहंकार व्यर्थ है। मेरी चतुष्पदी है–

बदला-बदला सा लगता है जीवन का क्रम,
बिसर गया सा लगता अपना मदमय उपक्रम ।
लगता भ्रान्ति विलास सदृश सब करतब अपना,
किसी हाथ के एक खिलौने का क्या विक्रम ?

जब आप पहले अपने को कर्त्ता मानते थे तो आप बहुत उपक्रम करते थे— ओह, मैं करने वाला, मेरे समान करने वाला कौन ? मैं सबको हरा दूँगा। अब सारा बदल गया – *बदला सा लगता है जीवन का क्रम। बिसर गया सा लगता अपना मदमय उपक्रम।* मदमय उपक्रम करते थे, यह करेंगे, वह योजना बनायेंगे! हम करने वाले! *लगता भ्रान्ति विलास सदृश सब करतब अपना*— सारा करतब भ्रान्ति लगता है— मैंने किया ? राम, राम! शान्तं पापं! रामजी ने कराया, कर दिया। बराबर याद रखो कि यह अच्छे काम के लिये कहना चाहिये, बुरे काम के लिए नहीं। बुरा काम रामजी ने कराया, ऐसा नहीं कहना चाहिये। भक्त का लक्षण नहीं है वह। भक्त का लक्षण है-

निज दूसन गुन राम के, समुझे तुलसीदास।
होय भलो कलिकालहू, उभय लोक अनयास।।

भगवान् ने हमसे करा लिया काम। हम करनेवाले कौन ? अपना सारा विक्रम अपनी आँखों में जँचता ही नहीं। किसी हाथ के खिलौने हैं। किसी हाथ के एक खिलौने का क्या विक्रम, कठपुतली नाच रही है कि सूत्रधार नचा रहा है ?

उमा दारु जोषित की नाईं । सबहिं नचावत रामु गोसाईं ।। (मानस.४/१०-७)

यह भक्त का लक्षण है कि हम तो उसके हाथ की कठपुतली हैं; हम प्रेरित-कर्त्ता हैं, वह प्रेरक-कर्त्ता है। कर्त्ता तो वह ही है इसलिये तीसरा त्याग हुआ कर्तृत्व का त्याग। रामानुचार्य ने बताया कि *त्यागोहि पुरुष व्याघ्रः त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।* यानी फल त्याग, कर्म के प्रति संगत्याग और कर्तृत्व का त्याग। कर्तृत्व का त्याग हुआ तो भोक्तृत्व का त्याग अपने आप हो गया। क्योंकि जो कर्त्ता है, वह भोक्ता है।

यत्कृतं यत्करिष्यामि तत्सर्वं न मयाकृतम् ।
त्वयाकृतं तु फलभुक् त्वमेव रघुनन्दन ।।

हे रामजी, जो मैंने किया है और जो कर रहा हूँ, न मैंने किया और न मैं कर रहा हूँ। तुमने कराया, तुमने किया उसका फल तुम भोगो। यह फल त्याग, संगत्याग और कर्तृत्व का त्याग ये तीन प्रकार के त्याग हैं। बराबर याद रखें कि हमारी परम्परा में यह माना गया है— *'न कर्मणा न प्रजा न धनेन त्यागे न केनअमृत्वतत्व मानषु'* अर्थात् अमृतत्व की प्राप्ति कर्म से नहीं होती, धन से नहीं होती, पुत्र, पुत्री उत्पन्न करने से भी नहीं होती— वह तो केवल त्याग से होती है। त्याग तुमने किया कि नहीं किया? जो तुम कर रहे हो उस किये हुये का फल तुमने रामजी को समर्पित कर दिया कि नहीं? कर्म के प्रति आसक्ति का त्याग किया कि नहीं और कर्तृत्व के अहंकार का त्याग किया कि नहीं ? पुरुषव्याघ्र! हे अर्जुन ! समझो कि त्याग तीन प्रकार का होता

है। यह अर्थ जो मैंने अभी आपको बताया — यह रामानुज का अर्थ है। दूसरे विद्वानों ने तामस, राजस और सात्विक त्याग बताया है, क्योंकि भगवान् ने आगे वैसा किया भी। रामानुज कहते हैं कि जो तीन प्रकार के त्याग बता रहे हैं वे अलग चीजें हैं। लेकिन प्रत्येक त्याग के तीन पक्ष हैं और उन तीनों पक्षों में निष्णात होना है। जब आप त्याग करें तो केवल फलाशा का त्याग न करें। फलाशा का त्याग कर दिया और आसक्ति यह कि यही काम करते रहें, ऐसा नहीं करना चाहिये। फलाशा का त्याग कीजिए, कर्म के संग का, आसक्ति का त्याग कीजिए और कर्तृत्व के अहंकार का त्याग भी कीजिए। कबीर बाबा का दोहा है—

यह तो है घर प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुई धरे तब पैठे घर माँहि ।।

अरे भैया, सीस उतार लिया तो भी अहंकार हो जावेगा तब ? देखो, देखो दुनिया वालों, तुम लोग तो सब अपने-अपने में लिपटे हुये हो मैं एक ऐसा भक्त हूँ, मैंने रामजी के लिये अपना सिर काट के रख दिया। कबीर बाबा ने एक दोहा और कहा है-

सीस उतारे भुई धरे ता पर राखे पाँव ।
दास कबीरा यों कहे ऐसा होय तो आव ।।

कटे हुये सिर को अपने ही पाँव से रौंदते हुये आओ। कटा हुआ सिर माने अहंकार। मैं करने वाला, उस अहंकार को भी तुच्छ मानने वाला। अपने अहंकार को अपने ही पाँव से रौंदते हुये आओ तब तुम भगवान् की शरण में आने योग्य बनोगे, अन्यथा नहीं। *'येन त्यजसि तत् त्यज'* जिससे त्याग कर रहे हो उस अहंकार का भी त्याग करो। तो ये चार बातें बताने के बाद भगवान् अपना निर्णय दे रहे हैं और सुनिश्चित उत्तर देते हैं—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।। (१८/५)
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।। (१८/६)

यह मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है। हे अर्जुन, तुम सुनो! अब इसके बाद तुम्हारे मन में कोई शंका नहीं होनी चाहिये। क्योंकि ये चार मत पहले बता दिये, उन चारों मतों के बाद मैंने तीन प्रकार के त्याग का संकेत दिया और अब अंतिम उत्तर दे रहा हूँ जो सुनिश्चित है, जो उत्तम है।

यह उत्तर कर्मयोग के लिये बहुत ही अनुकूल उत्तर है। कर्मयोगी इस उत्तर से

बहुत ही गद्‌गद् हैं कि भगवान् ने अंतिम सुनिश्चित उत्तर दे दिया और उसमें कर्मयोग की जय हो गई। ज्ञानयोगी लोग यह कहते हैं कि उत्तर तो दिया उन्होंने, लेकिन यह कर्माधिकारी के लिये दिया। विविदिषा संन्यास वाले के लिये यह उत्तर नहीं है। क्यों ? क्योंकि विद्वत्संन्यास या विविदिषा संन्यास त्रिगुणातीत संन्यास है।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् —भगवान् निर्णय करके आदेश दे रहे हैं कि यज्ञ, दान, तप रूपी कर्मों को कभी नहीं छोड़ना चाहिये, करते ही रहना चाहिये। 'एव' लगाया *कार्यमेव तत्।* बराबर याद रखिये यज्ञ, दान, तप बड़े व्यापक अर्थ में गीता में प्रयुक्त हुये हैं। अनेक प्रकार के यज्ञ हैं, जैसे द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ, ज्ञान यज्ञ और जप यज्ञ आदि।

यज्ञ एक सामूहिक कल्याण का प्रयास है। पहले हम द्रव्यमय यज्ञ को ही समझें। बड़े कष्ट से हमने जो धन कमाया है, उस कमाये हुये धन को सर्वलोक हित के लिये यज्ञ के माध्यम से लोकमंगल के लिये, त्याग करने के लिये हम तैयार हैं। उसमें हम संयम से रहेंगे, प्रातःकाल से रात्रिकाल तक। हम तपस्या करेंगे, यज्ञ की आहुति सामने रखेंगे और उसमें हम दान करेंगे। तो यज्ञ बड़ी चीज है। उसमें लोकमंगल, लोकहित है। इसीलिये आजकल भूदान, नेत्रदान, विद्यादान इत्यादि जो भी बड़ा काम लोकमंगल के लिए किया जाता है उसे हम यज्ञ कहते हैं। क्योंकि भगवान् ने गीता में यज्ञ शब्द का यह विस्तार कर दिया, 'यज्ञ' के अर्थ का विस्तार कर दिया। यज्ञ शब्द का विस्तार करते हुये जप यज्ञ, जो केवल अपने द्वारा होता है; ज्ञानयज्ञ जो इस समय यहाँ चल रहा है और द्रव्यमय यज्ञ, सबको उन्होंने यज्ञ के भीतर शामिल कर लिया। तो यज्ञ जरूर करना चाहिये, यज्ञ से लोकहित होता है, मंगल होता है, समता की भावना आती है। तप जरूर करना चाहिये लेकिन भगवान् ने गीता में तप भी तीन प्रकार के बता दिये। मैंने उसका वर्णन किया है। एक शारीरिक तप है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।। (१७/१४)

यानी अपने से गुरुजनों का सम्मान, पवित्रता, ऋजुता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, ये शारीरिक तप हैं। दूसरा है वाणी का तप—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।। (१७/१५)

किसी को हमारी बात से चोट न पहुँच जाये ऐसी अनुद्वेगकर वाणी बोलें, सच बोलें, प्रिय बोलें। बहुत कठिन बात है। सत्य को प्रिय बनाने का तरीका आना चाहिये।

प्रायः लोग उसे बहुत अप्रिय बनाकर बोलते हैं— दूसरों को चोट लगाने के लिये, अपना अहंकार दिखाने के लिये। सनातन धर्म में ऐसा नहीं है। कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः।।

चार तरह से कहा है— सच बोलो, प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य मत बोलो, प्रिय बोलने के लिये झूठ मत बोलो। कितना कठिन निर्देश है। यह वाणी का तप है।

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भाव संशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।। (१७/१६)

यह मानस तप है। गीता में कहा गया है कि हमारा भाव शुद्ध हो, मन में किसी के प्रति द्वेष न आये, राग न आये। सबका कल्याण हो।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत ।।

यानी सबके मंगल की कामना की है। किसी को दुःख न हो। जंगल में जाकर विभूति लगाकर, जटा बढ़ाकर जो तप होता है गीता में उस तप की चर्चा नहीं है। घर में रहते हुये भी तुम कैसे शारीरिक तप करो, कैसे वाणी का तप करो, कैसे मानसिक तप करो— यह बताया है। दान अवश्य देना चाहिये। अनुपकारी को देना चाहिये, यानी जिससे अपना कोई स्वार्थ नहीं।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।। (१७/२०)

ठीक समय पर ठीक व्यक्ति को ठीक चीज देनी चाहिए। तुलसीबाबा कह रहे हैं—

तुलसिदास जाचक रुचि जानि दान दीजे,
रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजे ।

अर्थात् हे रामजी, याचक को क्या अच्छा लगता है जानकर आप दान दीजिये। आप तो दानी हैं, आप कुछ भी देने में समर्थ हैं। मैं जो चाहता हूँ वह दीजिये। हे रामजी, आप मेरे लिये चन्द्रमा हैं, मैं आपके लिये चकोर बन जाऊँ यह दान मुझे दीजिये। भक्ति का दान दीजिये। तो यह यज्ञ, दान और तप ये कर्म कभी त्याजनीय नहीं हैं, अवश्य करणीय हैं। *यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्* ये बड़े मनीषियों, विद्वानों को भी पवित्र कर डालते हैं। *योगिनः कर्मकुर्वन्ति संङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।* (५/११) बराबर याद रखिये, कर्मयोगी काम क्यों करता है ? काम करते हैं, *संगं त्यक्त्वा* आसक्ति को

त्याग कर, *आत्मशुद्धये* अपनी शुद्धि के लिये। तो अगर चित्त की शुद्धि नहीं हुई तो तुमने जो किया वह व्यर्थ है। इसलिये *यज्ञोदानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्* यज्ञ दान और तप मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं, मनीषियों की भी चित्त शुद्धि करने वाले हैं। बिना चित्त शुद्धि के आपका कल्याण हो ही नहीं सकता अतः चित्त शुद्धि आवश्यक है।

विवेकानन्द गये थे पवहारीबाबा के यहाँ। पवहारीबाबा का नाम आपने सुना होगा। गाजीपुर के बड़े महात्मा थे। विवेकानन्द की उन पर बड़ी श्रद्धा थी। बोले बाबा आपका लोटा चमकता रहता है। बाबा बोले, बेटा रोज मलता हूँ। जैसे लोटे को रोज मला जाता है वैसे अपने मन को रोज मला जाना चाहिये। आप इस बात पर ध्यान दीजिये, पवहारीबाबा क्या बोल रहे हैं। हमलोग अपने शरीर को रोज माँजते हैं। रोज साबुन लगाते हैं। कपड़ा अच्छा पहनते हैं, कंघी फेरते हैं, आईना देख लेते हैं। मन को शुद्ध करने का कोई प्रयास करते हैं क्या ? जितनी मात्रा में हम सात्त्विक दान, यज्ञ और तप करेंगे उतनी मात्रा में ही हमारे चित्त की शुद्धि होगी। अपने मन को रोज पवित्र करना, रोज धोना चाहिए। किससे धोओगे भैया ? शारीरिक तप करो, वाणी का तप करो, मानसिक तप करो। जो है उसको दो। लोगों के हित के लिये, मंगल के लिये कुछ करो। यज्ञ, दान और तप करने पर तुम्हारा चित्त पवित्र होगा, शुद्ध होगा ऐसा भगवान् का कहना है।

एतान्यपि तु कर्माणि —यज्ञ दान तप रूपी कर्मों को भी *संगं त्यक्त्वा फलानि च।* आसक्ति भी छोड़ दो और उसका फल भी छोड़ दो। काम करेंगे, यह आसक्ति भी नहीं। यह मेरा काम है यह आसक्ति भी नहीं। ममत्व बोध भी नहीं। मेरा काम क्या है? कुछ भी नहीं। जो रामजी ने काम दे दिया, वह मेरा है। रामजी का दिया हुआ काम मेरा है। मेरा अपना कोई काम नहीं है।

संग का मतलब हुआ आसक्ति 'मेरापन'। दो चीजें हैं— एक है ममता दूसरा है अहं। आप किधर से शुरू करेंगे ? ज्ञानी लोग अहंता को शुद्ध करते हैं, भक्त लोग ममता को शुद्ध करते हैं। इस पर ध्यान दीजिये आप, संसारी लोग ममता किसमें लगाते हैं। संसारी लोग अपने शरीर पर, अपनी पत्नी, अपने पुत्र-पुत्री पर, अपने घर पर, व्यापार पर ममता लगाते हैं। ममता के पेटे में भगवान् को ले आओ तो ममता शुद्ध होगी। भक्त लोग पहले ममता की शुद्धि करते हैं। भगवान् हमारे ममत्व के आलम्बन हैं। मेरा कौन? मेरे भगवान्, और कोई नहीं।

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई।

यह ममता की शुद्धि, यह भक्ति का रास्ता है। अहंता की शुद्धि ज्ञान का रास्ता है। आपका अहंकार शुद्ध हो जायेगा तो ममता होगी ही नहीं। ममता अगर शुद्ध होगी तो फिर क्या होगा? ममता में अगर यह भाव आ गया कि रामजी मेरे हैं तो फिर मैं कौन हूँ ? मैं बड़ा विद्वान् हूँ, मैं बड़ा धनी हूँ, मैं बड़ा नेता हूँ, मैं बड़ा शूरवीर हूँ ? यह भाव आयेगा ही नहीं।

अहं तु नारायण दासदासो दासस्यदासस्य च दास दास।

मैं तो नारायण के दास के दास के दास के दास के दास के दास का दास हूँ। ज्ञानी और भक्त में एक बार विवाद हो गया। ज्ञानी ने कहा *'सोहम्'* — वही मैं हूँ। भक्त ने कहा उसमें एक *'दा'* जोड़ दो— *'दासोहम्'* — फिर कहा उसमें एक 'स' जोड़ दो *'सदासोहम्'*। उसमें एक और 'दा' जोड़ दो *'दासदासोहम्'*। बोले एक और 'स' जोड़ दो— *'सदासदासोहम्'*। बोले एक और 'दा' जोड़ दो— *'दासदासदासोहम्'*। यह *'सोहम्'* और *'दासोहम्'*। अहं का शुद्धिकरण है ज्ञान। मैं यह नामरूपधारी व्यक्ति नहीं हूँ, मैं तो परमात्मा हूँ— *सोहम्।*

अहंता की जब शुद्धि होती है तो वह दास हो जाता है— कहता है कि मुझे ज्ञानी होने की जरूरत नहीं है। लक्षण क्या है ?

अस अभिमान जाइ जनि भोरे।
मैं सेवक रघुपति पति मोरे।। (मानस.३/१०-२१)

ग्यान मान जहँ एकहु नाहीं, देख ब्रह्म समान सब माहीं। ज्ञान उसको कहते हैं जहाँ कोई मापदण्ड नहीं है, कोई सीमा नहीं है सब ब्रह्म हैं। भक्त ने कहा-नहीं-नहीं *'अस अभिमान'।* यह मान नहीं है श्रेष्ठ मान है। 'अभि' माने श्रेष्ठ। तो मेरा यह श्रेष्ठ मान है। भूल कर भी यह श्रेष्ठ मान न जाये कि मैं सेवक हूँ, और रामजी मेरे स्वामी हैं। ममता के पेटे में रामजी को लाइए। मेरा कौन ? मेरे रामजी। *अस अभिमान जाय जनि भोरे। मैं सेवक, रघुपति पति मोरे।* यह ममता की शुद्धि है—

एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।। (१८/६)

मेरा यह निश्चित किया हुआ उत्तम मत है कि यज्ञ, दान और तप आदि कर्मों को भी कर्तव्य समझ कर, करणीय समझ कर करो। करणीय समझ कर मतलब ? यश के लिये नहीं, लोभ के लिये नहीं, कुछ प्राप्त करने के लिये नहीं— यह मेरा कर्तव्य है, किये बिना रहा नहीं जा सकता, करना ही है। भगवान् का दिया हुआ है इस लिये मैं कर रहा हूँ। इस प्रकार का विश्वास करके आसक्ति और फलेच्छा का त्याग

कर यज्ञ, दान और तप रूपी कर्मों को करना चाहिये। अब इसके बाद देखिये एक बड़े मजे की बात है—

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।। (१८/७)

क्या कुछ कर्म स्वरूपतः त्याज्य हैं ? हाँ, कुछ कर्म स्वरूपतः त्याज्य हैं और उन कर्मों में काम्यकर्म आते हैं, उन कर्मों में तामस और राजस कर्म आते हैं। *नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते* जो नियत है उसका त्याग, यहाँ संन्यास का अर्थ है त्याग। नियतकर्म का क्या मतलब होता है ? जो लोग 'स्मृति' का पालन करते हैं वे कहते हैं नित्यकर्म चार प्रकार के होते हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध (त्याज्य)। तो यहाँ 'नियत' का मतलब है— सन्ध्या वन्दन करना है, पाँच प्रकार के यज्ञ करने हैं, ये सब जो नित्य कर्म हैं उसका त्याग उचित नहीं है। कर्मयोगी कहते हैं कि जो नियत कर्म हैं, जो निर्धारित कर्म हैं, कर्तव्य कर्म हैं, उनका त्याग उचित नहीं है। *मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः* —कोई मोह के अधीन होकर कर्तव्य कर्म का त्याग कर दे, तो वह त्याग 'तामस' है। तामस त्याग का तो तामस फल होगा, त्याग का क्या फल है— *त्यागात् शांति अनन्तरम्*। त्याग करते ही मन में शान्ति आती है। *'वैराग्यशतक'* में भर्तृहरि का एक बढ़िया श्लोक याद आ रहा है—

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ।।

अर्थात् ये जो तुम्हारे विषय हैं ये जायेंगे ही जायेंगे तुमको छोड़ कर। बहुत दिनों से तुम्हारे पास हैं तो क्या हमेशा तुम्हारे पास रहेंगे ? ये सारे विषय भोग, ये सारे पदार्थ कुछ दिनों तक तुम्हारे पास भले रह लें, लेकिन जायेंगे ही जायेंगे। *'वियोगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून्'* —जब इनका वियोग होना ही है तो अपने आप त्याग दो। वियोग में क्या है ? वे खुद चले गये या तुमने त्याग दिया दोनों में ही वियोग हुआ। वियोग में तो कोई भेद नहीं ? अतः जो जाने ही वाला है उसका त्याग स्वयं क्यों नहीं कर देते ? *'व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः'* देखो, जब अपनी इच्छा से ये विषय जायेंगे तो तुम्हारे मन को अतुल परिताप होगा। जिस चीज के ऊपर हमारी आसक्ति है वह चोरी हो जाय, किसी प्रियजन की मृत्यु हो जाय तो तुम्हारे मन को अतुल परिताप होगा, परन्तु *'स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति'* अगर तुम

इनका त्याग स्वयं कर दोगे तो तुमको अनन्त शन्ति की प्राप्ति होगी। भगवान् ने गीता में भी कहा है— *'त्यागात् शांति अनन्तरम्'* (१२/१२-२) —अगर तुमने शुद्ध बुद्धि से त्याग किया है तो त्याग करते ही शान्ति मिलेगी; लेकिन अगर तुमने तामस त्याग किया है, अगर तुमने राजस त्याग किया है तो उस त्याग में शान्ति नहीं मिलेगी।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।। (१८/८)

तुमने काम छोड़ दिया, क्यों छोड़ दिया ? इसलिये नहीं छोड़ा कि वह 'काम्य कर्म' था, इसलिये छोड़ दिया कि यह काम करेंगे तो बड़ा दुख होगा। *'दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत'* इसे करेंगे तो इसमें शरीर को बहुत मेहनत पड़ेगी। छोड़ो यार, बड़ी मेहनत से रुपया कमाया है, वह रुपया निकल जायेगा। या यज्ञ करेंगे तो सुबह से लेकर शाम तक पंडितजी धुयें में यज्ञ की ज्वाला में बैठाये रखेंगे, कायाक्लेश होगा। तो त्याग करने में दुख होगा, शरीर को क्लेश होगा इस भय से अगर तुमने कोई कर्म त्याग दिया तो यह राजस त्याग है। इससे तुमको त्याग का फल 'शान्ति' नहीं मिलेगी। त्याग का सही फल सात्विक त्याग से प्राप्त होता है— तामस त्याग से, राजस त्याग से नहीं। मोह से किया गया, कायाक्लेष से या दुख के भय से किया गया त्याग क्या कोई त्याग है ? अब आप मिलाइये। संन्यासी लोग कहते हैं कि यह संन्यास विद्वत् संन्यास का तो नहीं हो सकता। विद्वत् संन्यास, विविदिषा संन्यास जो है वह निस्त्रैगुणी है वह त्रिगुणातीत है और तामस त्याग या तामस संन्यास यह गौण संन्यास है यह विद्वत् संन्यास, विविदिषा संन्यास नहीं हो सकता। राजस त्याग गौण है। इसलिये वे लोग कहते हैं कि यह सारा प्रकरण कर्माधिकारियों के लिये है, वास्तविक ज्ञानियों के लिये नहीं है। ज्ञानीलोग अपना यह भाव रखते हैं। कर्मयोगी लोग कहते हैं कि यहाँ भगवान् निर्णय दे रहे हैं कि तुमको सात्विक त्याग करना चाहिये और कर्म नहीं छोड़ना चाहिये। देखिये, एक बात बताइये। फल त्याग करके कोई चोरी करेगा ? *'काम्यानां कर्मणा न्यासं संन्यास कवयो विदुः'* काम्य कर्मों का अगर स्वरूपतः त्याग करना है तो तुम इसको कसौटी पर कसके देख लो। फल त्याग किया तुमने, फलाशा त्याग कर काम करोगे तो फिर चोरी क्यों करते हो भाई ? कुछ लाभ हो जायेगा इसलिये करते हो। झूठ क्यों बोलते हो ? व्यभिचार क्यों करते हो ? बेईमानी क्यों करते हो ? कुछ न कुछ लाभ होगा, कुछ न कुछ सुख मिलेगा, इसीलिये न। अगर तुम फल की आशा छोड़ोगे तो फलाशा का त्याग करते ही निषिद्ध कर्म भरभरा कर गिर पड़ेंगे। फलाशा का त्याग भी है और निषिद्ध कर्म भी है ऐसा नहीं होता। फलाशा का

त्याग करते हो काम्यकर्म भी शुद्ध हो जाते हैं। तो इसलिये कहा गया कि राजस त्याग यानी दुख होगा, काया को क्लेश मिलेगा। यह सोचकर किया गया त्याग वास्तविक त्याग नहीं है। सात्विक त्याग क्या है—

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।। (१८/९)

सात्त्विक त्याग श्रेष्ठ त्याग है, वह क्या है ? *कार्यमित्येव यत्कर्म* —जो काम कर्त्तव्य है। अकर्त्तव्य को हम नहीं करेंगे। हमारा काम ही नहीं, हम क्यों करने जायें ? हमको उससे क्या लेना है ? *'नियतं'* का अर्थ है नित्य कर्म; जो हमारा निर्धारित कर्म है, वही कर्म करना चाहिये। कैसे करना चाहिये *'सङ्गं त्यक्त्वा'* —उसकी आसक्ति छोड़ कर। *'फलं चैव'* —उसके फल का लोभ छोड़ कर। कर्तृत्व का अहंकार छोड़कर, वह त्याग सात्त्विक है। आगे कहा है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।। (१८/१०)

अर्थात् सतोगुण से आपूर्ण, सच्चा त्यागी, मेधावी और संशय रहित व्यक्ति न तो कठिन कर्त्तव्य-कर्म में वितृष्णा अनुभव करता है, न ही सरल कार्य में आसक्ति।

अर्थात् जो अकुशल कर्म है, जो हमको करना नहीं आता, लेकिन हमको रामजी ने सौंप दिया तो उसे हम कर देंगे। *कुशले नानुषज्जते* —अगर हम किसी काम को करने में कुशल नहीं हैं, पर रामजी ने सौंपा तो वह भी हम कर देंगे।

तोमार पताका जारे दाओ तारे बहीबारे दाओ शक्ति ।
तोमार सेवार महान दुःख सहिबार दाओ भक्ति ।।

तुमने पताका हमको सौंपी है तो पताका लेकर चलने की शक्ति भी तुम्हीं दोगे। तुमने पताका दी है तो हम उसे ले चलेंगे। तुम्हारी सेवा करने में यदि महान् दुख है तो *'महान दुख सहिबार दाओ भक्ति'* —उसको मैं सह सकूँ ऐसी भक्ति भी दो। उनका दिया हुआ कर्म मैं करूँगा। जो मेरी योग्यता के बाहर का कर्म है तो भी। उससे मुझे द्वेष नहीं। तुमने सौंप दिया तो मैं करूँगा। जिस काम को मैं बहुत अच्छी तरह जानता था उसे तुमने मुझसे छीन लिया तो कोई बात नहीं, मैं छोड़ दूँगा। मुझे कर्म से क्या लेना देना ? मुझे तो तुमसे लेना-देना है।

गुरु ने कहा चबूतरा बनाओ, चबूतरा बनाया। कहा, तोड़ दो। तोड़ दिया। फिर बनाओ—फिर बनाया। तोड़ दो—तोड़ दिया। मुझको तो आपकी आज्ञा का पालन करना है जो कहेंगे, करूँगा।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।। (१८/११)

अब इसमें देखिये, त्यागी की परिभाषा है। जो देहधारी है वह सब काम तो छोड़ ही नहीं सकता। पूर्णतया सब काम छोड़ना संभव ही नहीं है। आखिर परमज्ञानी को भी जिससे शरीर-यात्रा चले उतना भर काम तो करना ही पड़ता है। बड़े से बड़े ज्ञानी को भी कुछ न कुछ तो खाना ही पड़ेगा कुछ न कुछ, पानी पीना ही पड़ेगा। वह लेटा है लेटना भी एक कर्म है, बैठा है तो बैठना भी एक कर्म है। जो कुछ भी हम कर रहे हैं, वह कर्म ही है। इसलिये बिल्कुल ही कर्म त्याग की स्थिति संभव नहीं है देहधारियों के लिये। अतः सारे कर्म त्याग करने का मोह मत पालो— *'यस्तु कर्मफल त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते'* —त्यागी उसी को कहते हैं जो कर्म के फल का त्याग करता है। कर्म के फल का त्याग—यह कर्मयोग है और इसलिये कर्म का स्वरूपतः त्याग करना..... जो आज का विषय है, इसमें संन्यास और त्याग की सीमायें हैं। त्याग की कोई सीमा है कि नहीं ? हम केवल कर्मफल का त्याग करेंगे कि कुछ स्वरूपतः कर्मों का भी त्याग करेंगे ? निषिद्ध कर्मों का स्वरूपतः त्याग करेंगे। काम्य कर्मों का स्वरूपतः त्याग करेंगे और निष्काम कर्म भी आसक्ति का त्याग करके करेंगे। ये त्याग की सीमायें हैं। निषिद्ध कर्म का अपने आप त्याग हो जायेगा, क्योंकि फलाशा छोड़ते हैं तो निषिद्ध कर्म करेंगे ही क्यों ? फलाशा छोड़ी तो काम्य कर्म करेंगे ही क्यों? फलाशा छोड़कर हम निष्काम कर्त्तव्य कर्म करेंगे, कर्त्तव्य कर्म को निष्कामतापूर्वक करेंगे। यह त्याग इतना अंश स्वरूपतः कर्म-त्याग है। जो परमज्ञानी हैं वे तो कहते हैं कि ज्ञान हो जाने पर, विद्वत् संन्यास होने पर कर्म ही तुमको त्याग देगा, तुम कर्म को क्यों त्यागोगे। वह अलग भूमिका है उसको भगवान् ने यहाँ स्पष्ट नहीं किया है। लेकिन इसी अध्याय में आगे कहेंगे—

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति । (१८/४९-२)

संन्यास से परमानैष्कर्म्यसिद्धि होती है। देखिये, यहाँ बात नहीं कही गई, वहाँ कही गई है। *'परमानैष्यकर्म्य सिद्धि'*। शरीर धारण करने वाले कर्मों को छोड़कर और सारे कर्म छूट जायेंगे अगर हम विद्वत् संन्यास या विविदिषा संन्यास लेंगे। ऐसा शंकराचार्य और उनके अनुयायियों का मत है। तो— *'स त्यागीत्यभिधीयते'*।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।। (१८/१२)

जो भी काम हम करते हैं उसके तीन प्रकार के फल होते हैं। *अनिष्ट*—जो

फल दूषित है, हानिकारक है जो हमको नरक में ले जायेंगे, जो हमको अधःपतित करेंगे। कहा है न—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।। (१४/१८)

जो तामस कर्त्ता है, जो तमोगुणी है उसका अधःपतन होगा। जो कर्म हमारा पतन करायेगा वह है अनिष्ट। जो इष्ट है, वह हमको ऊपर ले जायेगा उससे हमको स्वर्ग की प्राप्ति होगी, उससे हम ऊँची भूमिका पर जायेंगे। और मिश्र ? जो थोड़ा इष्ट है थोड़ा अनिष्ट है। कई आचार्यों ने इसका अर्थ बताया कि जो नरक की ओर ले जानेवाले हैं या यों कहिये जो पशु पक्षी बनाने वाले हैं, भूत प्रेत बनाने वाले हैं वे कर्म के अनिष्ट फल हैं। जो हमको देवता बनाने वाले हैं वे इष्ट कर्म हैं और जो हमको मनुष्य ही बनाये रखने वाले हैं वे मिश्र हैं। क्योंकि मनुष्य का जीवन हमको तब मिलता है जब हमारे अच्छे और बुरे कर्म का सामंजस्य होता है। बुरा कर्म ज्यादा है तो हम पशु-पक्षी हो जायेंगे, अच्छे कर्म ज्यादा हैं तो हम देवी-देवता हो जायेंगे और मनुष्य हम तब बनेंगे जब पुण्य-पाप की समष्टि, बराबर-बराबर। तो अलग-अलग अर्थ हैं। चाहे आप ऊर्ध्वगामी, अधोगामी या मध्यस्थ रहने वाला समझिये; स्वर्ग, नरक या इस भूमि में जन्म लेने वाला समझिये, पशु-पक्षी, मनुष्य, देवी-देवता समझिये, जो आपको स्वीकार अर्थ हो वह अर्थ आप स्वीकार कीजिये।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।

कर्मों के तीन प्रकार के फल होते हैं। किनको ये फल चिपकते हैं ? *'भवत्यत्यागिनां प्रेत्य'* —संसारी व्यक्ति जब मरेगा जिसने कर्मफल का त्याग नहीं किया, जिसने कर्म की आसक्ति का त्याग नहीं किया, जिसने कर्तृत्व की आसक्ति का त्याग नहीं किया— ऐसा अत्यागी व्यक्ति, जब मरेगा तो उसको ये तीनों फल होंगे— *'न तु संन्यासिनां क्वचित्'* —विद्वानों ने कहा है कि यहाँ संन्यासी शब्द में संन्यासी और त्यागी दोनों आते हैं। क्योंकि, त्यागी और संन्यासी इन दोनों का शब्दार्थ एक है। मैंने आपको बताया 'त्यज' धातु से त्याग बनता है और 'अस्' धातु से 'सङ्ग', 'नि' उपसर्गपूर्वक संन्यास बनता है। दोनों का अर्थ है छोड़ना। दोनों एक ही जाति के निकटवर्ती प्रयोग हैं। संन्यास और त्याग का उपाधिगत अन्तर अलग-अलग है। कर्म करते हुये कर्मफल का त्याग, यह त्याग है। कर्मों का अच्छे बुरे सब प्रकार के फलों का स्वरूपतः त्याग यह विद्वत् संन्यास या विविदिषा संन्यास है। तो त्याग और संन्यास दोनों का अर्थ है छोड़ना। यही भगवान् ने अत्यागियों के मुकाबले में संन्यासी को रखा— *'भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु*

संन्यासिनां क्वचित्।' अत्यागी के मुकाबले में जब वे संन्यासी को लाते हैं तो सब टीकाकारों ने बताया है कि यहाँ संन्यासी शब्द का मतलब संन्यासी भी है और त्यागी भी। क्योंकि अत्यागी के मुकाबले में त्यागी। तो हम कर्म करते रहें लेकिन कर्म के फल की, कर्म के आसक्ति की और कर्तृत्व के अहंकार की वृत्ति का त्याग करें। यह त्याग सात्त्विक त्याग है और इसी सात्त्विक त्याग के द्वारा हम भगवान् की ओर अग्रसर हो सकेंगे, ऊर्ध्वगामी हो सकेंगे, भगवान् को भी प्राप्त कर लेंगे। क्योंकि भगवान् ने आगे कहा है कि कर्मयोग और संन्यास योग दोनों निःश्रेयष्कर हैं अगर हम सचमुच कर्तृत्व के अहंकार का, सङ्गत्याग का और फलत्याग का निर्वाह कर सकेंगे। तो हम कर्मयोग के माध्यम से भी भगवान् को प्राप्त कर सकेंगे और अगर विविदिषा संन्यास के बाद विद्वत् संन्यास की स्थिति तक पहुँच सकेंगे तो हम *'अहंब्रह्मास्मि'* का अनुभव कर सकेंगे। भगवान् हमको अपनी-अपनी भूमिका से ऊपर उठने का रास्ता बतायें। जो हम सुन रहे हैं, समझ रहे हैं, उसको हम अपनी भूमिका पर जितना जीवन में उतार सकते हैं, उसका प्रयास करें। श्री राम, जय राम, जय-जय राम। ●

प्रवचन-५०*

कर्म के हेतु, प्रेरक ज्ञान, प्रकार एवं कर्त्ता

भगवान् की कृपा है कि गीता का ज्ञान-यज्ञ निर्बाध चल रहा है। अठारहवें अध्याय के आरम्भ में भगवान् ने यह बताया कि यज्ञ, दान और तप, ये मनीषियों को भी पवित्र करने वाले हैं; इसलिये जो त्यागी कर्मत्याग की बात करते हैं उनको भी आसक्ति का त्याग कर, ज्ञानपूर्वक यज्ञ, दान और तप, इन तीनों कार्यों को करना ही चाहिये। *कार्यमेव तत्*, अवश्य करना चाहिये, यह उनको संकेत है। जब भगवान् ने यह स्वीकार कर लिया कि कुछ पवित्र कर्म अवश्य ही किये जाने चाहिये, तो फिर उनको यह भी लगा कि कर्मों के जो भिन्न-भिन्न हेतु हैं; प्रेरक तत्व हैं और जो उनके स्वरूप हैं – कर्म के भी, कर्त्ता के भी उन सबका विवेचन करना आवश्यक है; जिससे अर्जुन को और अर्जुन के माध्यम से सब गीता पढ़ने वालों को कर्म करने की सही प्रेरणा प्राप्त हो। अर्जुन तो माध्यम हैं–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

अर्थात् सारी उपनिषदें गायें हैं, दोग्धा भगवान् श्रीकृष्ण हैं। बछड़ा जब गाय के थन में मुँह मारता है तो दूध उतरता है। तो अर्जुन बछड़ा है, लेकिन उस दूध का उपभोग करने वाले, दूध का सेवन करने वाले सुधी लोग हैं, बुद्धिमान लोग हैं, आप लोग हैं।

भगवान् ने आने वाले कर्त्ताओं को भी दृष्टि में रखकर यह बताना उचित समझा कि जो काम करना है वह कैसे किया जाना चाहिये। काम कैसा होता है, काम कितने प्रकार के होते हैं, करनेवाले कितने प्रकार के होते हैं, काम को करने की प्रेरणा कहाँ से आती है, इस प्रेरणा का स्वरूप क्या है ? ये सब बातें अगर स्पष्ट होंगी तो हम सही रास्ते पर चल सकेंगे। उन्नत प्रेरणा लेकर उन्नत प्रकार का कर्म कर सकेंगे। इसलिये यह जो आज का विषय हमने लिया है– इसमें कर्म के विविध पक्षों को समझने की चेष्टा है। हम श्रद्धापूर्वक उनको समझने की चेष्टा करेंगे।

* अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या १३ से २८

पंचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।। (१८/१३)

भगवान् कहते हैं कि किसी भी प्रकार के काम को करने के लिये पाँच ही प्रधान घटक हैं और इन पाँचों कारणों को तुम अच्छी तरह मुझसे समझ लो। इसमें एक अद्भुत शब्द का प्रयोग है— *'सांख्ये कृतान्ते'* — 'कृतान्त' यमराज को भी कहते हैं। कृतान्त कहते हैं कृत् को समाप्त कर देनेवाला। हमलोग जो यह सब कर रहे हैं यमराज सब कुछ समाप्त कर देंगे, इसलिये वे *'कृतान्त'* हैं। *'सांख्ये कृतान्ते'* —सांख्य के विशेषण के रूप में कृतान्त शब्द आया इसलिये *'कृत्'* शब्द का अर्थ अगर कर्म लिया जाये तो वह शास्त्र, जो समस्त कर्मों का अन्त कर देता है। *'सांख्ये कृतान्ते'* ––सही-सही ज्ञान देकर जो शास्त्र, ज्ञान कर्मों के अहंकार की समाप्ति कर देता है, वह सांख्य है। अब *'सांख्य'* शब्द पर फिर विचार किया शंकराचार्य ने। उन्होंने कहा कि यहाँ सांख्य शब्द का अर्थ है *'वेदान्त'*। क्योंकि गीता में बताया गया है कि दो प्रकार की निष्ठायें हैं— एक ज्ञानयोगियों की निष्ठा है सांख्य के द्वारा और एक कर्मयोगियों की निष्ठा है योग के द्वारा। सांख्य और कर्मयोग के द्वारा योग की दो प्रकार की परम्परायें चल रही हैं, तो यहाँ 'सांख्य' शब्द का अर्थ है ज्ञान। यहाँ उस ज्ञान की बात कही गई है जो कर्म को समाप्त कर देगा। कर्म को समाप्त कर देने की बात भी गीता में कही है। गीता में एक बहुत प्रसिद्ध उक्ति है जिसमें कहा गया है कि— *सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।* (४/३३-२) तो ज्ञान अगर ठीक-ठीक हो जाये तो हम जो कर्म कर रहे हैं, उस कर्म करने की आसक्ति से हम मुक्त हो जायेंगे। हम सब लोग सोचते हैं कि हम जो काम करते हैं वह 'हम' करते हैं। तो क्या 'हम' काम करते हैं ? जैसे पंचों के किये हुये काम को कोई कहे कि मैंने किया है, तो यह ठीक नहीं है। उसने अकेले तो किया नहीं। वैसे ही जो पाँच चीजें मिल कर काम करती हैं उन पाँच चीजों द्वारा हुए कर्म को कोई अगर अपना कर्म बताता है तो ठीक नहीं। यह हुई एक बात। दूसरी बात यह भी कि हम शुद्ध-बुद्ध आत्मा हैं। तो आत्मा बिल्कुल अकर्त्ता है, प्रकृति ही कर्त्ता है यह बात भी बार-बार गीता में कही गई है—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। (३/२७)

अर्थात् सब प्रकार के गुणों के अधीन होकर जो कर्म करने वाली है वह है प्रकृति। लेकिन व्यक्ति जब अहंकार से विमूढ़ हो जाता है तो अपने को कर्त्ता मानता है। वास्तव में कर्त्ता कौन है, इसको भी समझाया है इसमें। आत्मदृष्टि से हम सब

अकर्त्ता है और प्रकृति की दृष्टि से ही कर्त्ता है; इसलिए अगर हमने अपने को आत्मा के रूप में समझ लिया तो सारे कर्मों का समापन हो जायेगा— *'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञानेपरिसमाप्यते'* —इसका अर्थ वे वेदान्त लेते हैं। लेकिन दूसरे आचार्यों ने 'कृतान्त' का अर्थ लिया है 'सिद्धान्त'। और *'सांख्ये कृतान्ते'* का अर्थ लेते हैं— सांख्य सिद्धान्त के अनुसार। सांख्य सिद्धान्त में भी यह बात कही गई है। सांख्य सिद्धान्त का एक पक्ष वेदान्त को स्वीकार है, एक पक्ष स्वीकार नहीं है। सांख्य में दो तत्त्व माने जाते हैं एक पुरुष और दूसरा प्रकृति। यह द्वैत, सांख्य का आधारभूत सिद्धान्त है। वेदान्त इस द्वैत को तो नहीं स्वीकार करता। वेदान्त तो अद्वैत है—चाहे केवलाद्वैतवादी हो, चाहे विशिष्टाद्वैतवादी हो, चाहे शुद्धाद्वैतवादी हो। वेदान्त का पक्ष अद्वैत है। सांख्य के द्वैत पक्ष को तो वेदान्त अस्वीकार करता है, लेकिन सांख्य के अन्य पक्षों को अर्थात् त्रिगुणात्मिका प्रकृति को स्वीकार करता है। यह त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही कार्य करती है। जो आत्मा है वह अकर्त्ता है इस बात को वेदान्त स्वीकार करता है। इसलिये *'सांख्ये कृतान्ते'* का अर्थ दूसरे लोगों ने यह बताया कि यहाँ सांख्य सिद्धान्त के अनुसार बताई गई वह बात है कि सारे कर्म प्रकृति के पाँच विभाग करते हैं। कौन से पाँच विभाग?

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।। (१८/१४)

आचार्यों ने इस श्लोक का अर्थ करते हुये अध्यात्म को यानी अपने शरीर को आधार मानकर इसका निरूपण किया। लेकिन यह जिस तरह अध्यात्म पक्ष में सत्य है उसी प्रकार व्यवहार पक्ष में भी सत्य है। मैं उसकी चर्चा बाद में करूँगा। अभी आपके सामने पहला पक्ष है अधिष्ठान। *अधिष्ठान* का मतलब होता है आधार। हम सब जो काम करते हैं, उसके तीन प्रधान रूप हैं, शारीरिक, वाचिक और मानसिक। वाचिक और मानसिक भी शरीर में आधारित हैं। तो अधिष्ठान से लिया गया 'आधार' और आधार को बताते हुये कहा गया मन, बुद्धि, इच्छा, राग-द्वेष, इंद्रियाँ आदि का जो आधार है—शरीर, यह अधिष्ठान है, क्योंकि मन, बुद्धि, इंद्रियों, राग-द्वेष, इच्छा के द्वारा ही हम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं और इन सब का आधार शरीर है तो अधिष्ठान का अर्थ शरीर हुआ। कर्त्ता कौन है ? हमारे शरीर में भगवान् ने चौदह करण दिये हैं। दस बाह्यकरण हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ और चार अन्तःकरण हैं- मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। इसमें जो अहंकार है वह हमारे चौदहों करणों को, चौदहों उपकरणों को, चौदहों इन्द्रियों को और शरीर को समन्वित करता है। अहंकार यह बोध कराता है कि मैं दूसरों से पृथक् और अपने में विशिष्ट हूँ। तो कर्त्ता, जो अहं विशिष्ट

चेतना है, इस शरीर के भीतर भगवान् के शुद्ध आत्म स्वरूप का जिसके ऊपर आभास पड़ता है और उस आभास के कारण ही चेतन होता है। देखिये, इस बात को समझिये सूर्य की किरणें पड़ती हैं शीशे पर, तो शीशे से भी प्रकाश निकलता है। तो जो प्रकाश आ रहा है वह शीशे से आ रहा है। लेकिन प्रकाश क्या शीशे का है ? प्रकाश शीशे का नहीं है, सूर्य का है। लेकिन शीशे की गुणवत्ता के कारण प्रकाश आ रहा है। वही प्रकाश पत्थर पर पड़े, वही प्रकाश लकड़ी पर पड़े, वही प्रकाश कपड़े पर पड़े तो प्रतिफलित नहीं होता। शीशे पर पड़े तो वह प्रतिफलित होता है वैसे ही अन्तःकरण में जो अहं है, अन्तःकरण में भगवान् का जो आत्मस्वरूप है उसका जब प्रकाश पड़ता है तब वह चेतन हो जाता है। उसकी वह चेतना अपनी नहीं है, वह चेतना आत्मा की आभा है, चिदाभास है। लेकिन उस चिदाभास से युक्त जो 'मैं'-पन का बोध है—अहं, वह अहं अपनी इन्द्रियों को, अपने शरीर को समन्वित करता है और अपने को एक पृथक् अस्तित्व देता है तो वही कर्त्ता है। हमारे शरीर के भीतर जो हमारा अहं बोध है, वह अहं बोध है तो जड़ लेकिन वह जड़ अन्तःकरण, यानी हृदय में स्थित आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होकर अपने को कर्त्ता मानता है। वही है कर्त्ता, क्योंकि वह सारे शरीर को, सारी इन्द्रियों को समन्वित करता है। *'करणं च पृथग्विधम्'*। हाथ पाँव, वाणी, मल-मूत्र त्याग करने के स्थान, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और आँख, नाक, जिह्वा, कान, त्वचा ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, इन तमाम इन्द्रियों को जो काम में लाता है, उपयोग में लाता है, ये इन्द्रियाँ और *'विविधाश्च पृथक्चेष्टा'* — इन्द्रियों के द्वारा की गई अनेक चेष्टायें और पांचवाँ हुआ 'दैव'।

'दैव' के अर्थ को लेकर बहुत विस्तार से विवेचन किया गया है। 'दैव' का अर्थ होता है देवता। दैवयज्ञ माने देवताओं के लिये किया गया यज्ञ। दैव शब्द का अर्थ अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार से अलग-अलग बताया है। जैसे शंकराचार्य ने बताया है कि प्रत्येक इन्द्रिय का अनुग्राहक देवता है। आँख का देवता सूर्य, हाथ का देवता इन्द्र, पाँव का देवता विष्णु है। तो हर अनुग्राहक देवता अपनी इन्द्रिय को ठीक शक्ति देता है। प्रेरणा न दे तो ठीक काम नहीं होता। तो दैव का अर्थ विविध अनुग्राहक शक्तियाँ, जो कि देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित हैं, उनका प्रभाव होता है। रामानुजाचार्य ने कहा कि 'दैव' शब्द का अर्थ होता है— परमात्मा की प्रेरणा। उन्होंने यह श्लोक उद्धृत किया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।। (१८/६१)

अर्थात् हृदय में रहनेवाला ईश्वर जिस प्रकार प्रेरणा देकर अपनी माया के द्वारा

सबको क्रिया की ओर ऐसे प्रेरित करता है जैसे वे किसी यन्त्र से परिचालित हों। वैसे 'दैव' का मतलब होता है वह भागवती शक्ति, वह भागवती इच्छा जो हमको, आपको अपने-अपने संस्कारों के अनुरूप, अपने-अपने गुणों के अनुरूप कार्य करने की प्रवृत्ति, प्रेरणा देती है। लेकिन कुछ और विद्वान् 'दैव' शब्द का अर्थ बताते हैं— हमारे पूर्वजन्म के कर्मों का फल, जिसे प्रारब्ध या भाग्य कहते हैं, वह 'दैव' है। *'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमितिकथ्यते'* । पूर्वजन्म में जो किये हुये कर्म हैं उनको तो कहते हैं *संचित*। उन समस्त संचित कर्मों का जो हिस्सा इस जन्म में फल देना शुरू करता है उसको कहते हैं *प्रारब्ध*। प्रारब्ध माने जिसने प्रकृष्ट रूप से फल देना शुरू कर दिया है। 'आर्ध' माने शुरू कर दिया है, 'प्र' माने प्रकृष्ट। तो हमने जो असंख्य पूर्वजन्मों में जो कर्म किये हैं और जिन कर्मों का फल हमने भोगा नहीं है। लेकिन कर्मों का फल तो हमको भोगना ही पड़ेगा। तो हमारे असंख्य पूर्व जन्मों के वे कर्म, जिनका हमने फल नहीं भोगा है उनका समष्टिगत नाम होता है *'संचित कर्म'*, इकट्ठे कर्म। उन संचित कर्मों का एक छोटा सा हिस्सा इस जन्म में हमको फल देता है। उस संचित कर्म के हिस्से को कहते हैं— *'प्रारब्ध'* — जिसने फल देना शुरू कर दिया है। तो प्रारब्ध को ही *'दैव'* कहते हैं। इसी को कुछ लोग भाग्य कहते हैं।

इस बात पर ध्यान दीजिए कि हम जो काम अभी कर रहे हैं वह काम अभी पूरा हो जायेगा, यह केवल हमारे ऊपर निर्भर नहीं है, यह कई बातों पर निर्भर है। उनमें से चार बातों को हम थोड़ा-सा चुन भी सकते हैं। लेकिन जो पाँचवीं बात है 'दैव' चाहे इसका जो भी अर्थ आप लीजिये, इन्द्रियों का अनुग्राहक देवता लीजिये, चाहे भगवत् प्रेरणा लीजिये, चाहे अपने ही पूर्वजन्मों के कर्मों का फल, जो इस जन्म में मिलना शुरू हुआ है वह लीजिये। यह 'दैव' वाला पक्ष है। अरविन्द घोष ने कहा— वे तमाम शक्तियाँ जो हमारे ऊपर नियंत्रण रखती हैं, अदृष्ट हैं, जिनको हम देख नहीं पाते और जिस कारण को हम समझ नहीं पाते। जैसे कुछ काम हम करते हैं तो उसमें अनायास सहायता मिलती है और काम हो जाता है। कुछ काम हम करते हैं, उसमें अप्रत्याशित रूप से बाधाएँ आती हैं और काम नहीं होता। अपनी तरफ से पूरी चेष्टा करने पर भी कभी-कभी काम नहीं होता और कभी-कभी अपनी तरफ से कम चेष्टा करने पर भी काम हो जाता है। तो काम के होने न होने का और एक प्रेरक पक्ष है, एक अन्य कारण है जो हमारे अधिकार के बाहर है। उसको 'दैव' कहा है। अतः पहली बात यह कि दैव हमारे ही पूर्व जन्म के किये हुये कर्मों का फल है इसलिये अपने कर्म अच्छे करो। दूसरी बात यह कि 'दैव' को भी परास्त कर सकते हैं—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः दैवेन देयमिति कापुरुषाः वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।।

यानी उद्योगी हैं, परम पुरुषार्थी, परम दृढ़ता के साथ काम करने वाले हैं, वे दैव को बदल सकते हैं। क्योंकि आखिर दैव उनके ही किये हुये कर्मों का फल है। उससे और उत्कट कर्म करके हम 'दैव' को भी परास्त कर सकते हैं— यह बात भी हमारी संस्कृति में कही गई है और यह भी कहा गया है कि परमात्मा की इच्छा, प्रभु की कृपा, दैव को भी बदल सकती है — *मेटत कठिन कुअंक भाल के* (मानस.१/३१-९)। हमारे माथे पर विधाता ने प्रारब्ध के रूप में जो लिख दिया है, रामजी उसको भी मिटा सकते हैं। यानी दैव की स्थिति को, सत्ता को स्वीकार करके भी उस बात को अनुल्लंघनीय नहीं मानते, इस बात को समझ रखना चाहिये। तो अभी जो मैंने आपको बताया यह तो है अपने शरीर पर आश्रित करके इन पाँचों घटकों को समझने की चेष्टा।

व्यावहारिक क्षेत्र में भी यह सही है। आप कोई काम करना चाहते हैं तो उस काम की सफलता कहाँ हो सकती है उसके अनुकूल स्थान चुनिये। देखिये, मैं एक छोटा सा उदाहरण दूँ। जमशेदजी नौशेरवान जी टाटा कहाँ रहते थे ? रहते थे मुम्बई में। क्या करना चाहते थे ? इस्पात का कारखाना खोलना चाहते थे। बम्बई में क्यों नहीं बनाया ? क्योंकि बम्बई में न कोयले की खान थी, न लोहे की खान। तो जो काम करना चाहता है उस काम को कहाँ सफलतापूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है, उसके योग्य स्थल का चुनाव, योग्य अधिष्ठान का चुनाव। अगर योग्य अधिष्ठान नहीं होगा तो वह काम विफल हो जायेगा। अगर टाटा बम्बई में कारखाना खोलते तो उनको सारा कोयला भी बिहार से मँगाना पड़ता, लोहा भी बिहार से मँगाना पड़ता और यातायात में इतना खर्च होता कि उत्पादित वस्तु बहुत महँगी हो जाती, उसकी तुलना में बिहार में कोई लोहे का कारखाना होता तो उससे वे पिट जाते। इसलिये उन्होंने बहुत बुद्धिमत्तापूर्वक अधिष्ठान चुना बिहार अब झारखंड में टाटानगर (जमशेदपुर) को, क्योंकि उसके निकट ही कोयले की भी खान है और लोहे की भी खान है। तो अपने कर्म के उपयुक्त स्थान का चयन यह पहली बात है। दूसरी बात है कर्ता। तुम उस योग्य हो कि नहीं हो। मेरा जैसा अगर स्वभाव है, मैं व्यापार करने लगूँगा तो कल ही मेरा दिवाला निकल जायगा। अगर जिसने सिर्फ व्यापार ही किया है, कल गीता पर प्रवचन करने का अहंकार करेगा, तो आप हँसेंगे। तो जो काम जो कर सकता है वही उसके उपयुक्त कर्ता है। अतः जो आप कर सकते हैं—वही कीजिये। उसके लिये उपकरण बनाइये। पुरानी मशीनें अब नहीं चल सकतीं, नई मशीनें लाइये। नये उपकरण होने चाहियें। अब

कम्प्यूटर आने ही चाहियें। उससे आगे भी बढ़ रही है दुनिया। नये और वास्तविक उपकरण चाहिये। अनेक प्रकार की चेष्टायें चाहियें। उसमें भी फिर 'दैव' है। तो ये जो पाँचों कारण हैं ये जैसे अपने शरीर के ऊपर घटते हैं, वैसे ही ये पाँचों कारण व्यवहार में, दूसरे सामाजिक क्षेत्र में भी घटते हैं— इस बात को याद रखिये।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः।। (१८/१५)

शारीरिक, वाचिक, मानसिक तीन ही प्रकार के काम हम कर सकते हैं। या तो हम मन से सोचते हैं, कल्पना करते हैं, चिन्ता करते हैं, या हम वाणी से बोल रहे हैं या हाथ से कुछ काम करते हैं। तो शारीरिक, वाचिक और मानसिक तीनों प्रकार के कर्मों के पीछे, चाहे वे न्यायोचित कर्म हों या वे अन्यायपरक कर्म हों, उचित हों या अनुचित हों, पाँच प्रधान हेतुओं को समझ लो। ये पाँचों प्रधान हेतु मिलके काम करते हैं। यही प्रकृति के पक्ष हैं पाँचों। क्योंकि अहं जो मैंने बताया यह भी चिदाभास है। अन्तःकरण का वह पक्ष, जो सारी इंद्रियों को समन्वित करके अपने पृथक् अस्तित्व को स्वीकार करता है। वह कर्त्ता, अविद्या से उपलक्षित जीवात्मा, वह कर्त्ता भी प्रकृति का ही अंश है। अब इसके बाद देखिये क्या कह रहे हैं सोलहवें श्लोक में—

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।। (१८/१६)

इन पाँचों प्राकृतिक हेतुओं के रहते हुये भी जो विशुद्ध आत्मा को कर्त्ता मानता है वह मूर्ख है। यानी गीता बार-बार यह कहती है कि जो शुद्ध-बुद्ध आत्मा है वह कर्त्ता नहीं है, वह अकर्त्ता है। अविद्या से उपलक्षित जो जीवात्मा है वही कर्त्ता है। *केवलं आत्मानं कर्तारं तु यः पश्यति* — जो शुद्ध आत्मा को ही कर्त्ता के रूप में देखता है, *अकृतबुद्धित्वात* यानी उसकी बुद्धि ठीक नहीं है। उसने गुरुओं की सेवा नहीं की, उसने शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया है। कुछ लोग *'अकृतबुद्धि'* होते हैं, कुछ लोग *'कृतबुद्धि'* होते हैं। विद्या अध्ययन और सत्संग से बुद्धि में चमत्कार, बुद्धि में ज्ञान उत्पन्न होता है। तो अकृत बुद्धि होने के कारण जिन्होंने गुरुओं की सेवा नहीं की, जिन्होंने शास्त्र का अध्ययन नहीं किया वे दुर्बुद्धि लोग ही शुद्ध आत्मा को कर्त्ता मानते हैं। वास्तव में शुद्ध आत्मा कर्त्ता नहीं है। सारा का सारा कार्य प्रकृति का है। आत्मा की उपस्थिति में प्रकृति कार्य करती है। यह बात भी समझिये। जैसे आप लोगों ने देखा होगा कि अगर लोहे का चूरा नीचे बिखरा दिया जाये और लोहे के चूरे के ऊपर चुम्बक को ले आया जाये तो सारे के सारे नीचे के लोहे के चूरे एक विशेष आकार धारण कर

लेंगे। छुइये मत। छूने से तो लोहे का चूरा चुम्बक से चिपक जायेगा, केवल ऊपर रखिये। ऊपर रखने मात्र से लोहे के चूरे सक्रिय हो जाते हैं और वे काम करने लगते हैं। तो लोहे के चूरे तो जड़ हैं– उनमें चेतना नहीं है, उनमें कर्म नहीं है। केवल चुम्बक की सन्निधि में, चुम्बक की उपस्थिति में जैसे लोहे का चूरा सक्रिय हो जाता है, वैसे ही शुद्ध-बुद्ध आत्मा की सन्निधि में अन्तःकरण सक्रिय हो जाता है। यह शुद्ध-बुद्ध आत्मा की सन्निधि में सक्रिय हुआ चिदाभासयुक्त जीवात्मा, वही कर्त्ता होता है। उसको कर्त्ता न मानकर, प्रकृति के उस अंश को कर्त्ता न मानकर जो केवल आत्मा को कर्त्ता मानने की मूर्खता करते हैं, गीता उनको 'दुर्मति' कहती है। गीता कहती है वे दुर्बुद्धि हैं, उनकी बुद्धि ठीक नहीं है। विपरीत बुद्धि है, दूषित बुद्धि है। उन्होंने अपनी बुद्धि को परिमार्जित नहीं किया, अकृत बुद्धि है। कृतबुद्धि माने परिमार्जित बुद्धि। गुरु, शास्त्र, सत्संग के द्वारा जिनकी बुद्धि परिमार्जित हो गई है वे शुद्ध आत्मा को कर्त्ता नहीं मानते। वे जानते हैं कि कर्म प्रकृति के द्वारा आत्मा की सन्निधि में होता है। आत्मा की असन्निधि में कभी नहीं होता। परमात्मा अगर ईक्षुण न करें, देखें नहीं, तो काम नहीं होता। उनकी उस ईक्षा से, देखने से सारी सृष्टि काम करने लगती है। तो फिर हमको कैसे काम करना चाहिये? भगवान् बताते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।। (१८/१७)

जिसने इस बात को समझ लिया है कि मेरा शुद्ध चैतन्य आत्मा काम करता ही नहीं, वह तो अकर्त्ता है। यह जो काम हो रहा है, जीवात्मा के द्वारा, वह भी पाँच घटकों की सहायता से हो रहा है इसलिये उसको अहंकार नहीं करना चाहिये। *'यस्य नाहंकृतो भावो'* — 'मैं' पन का भाव नहीं है, अहंकार का भाव नहीं है, माने इसमें कर्तृत्व का निषेध हो गया। अगर 'मैं' कर्त्ता नहीं हूँ, अहंकार का भाव नहीं है तो कर्तृत्व का निषेध हो गया। वह अपने को अकर्त्ता मानता है। याद रखिए, जो कर्त्ता होता है, वही भोक्ता होता है; जो अकर्त्ता है वह अभोक्ता होगा। अगर आपका बोध अहंकारपूर्ण नहीं है, अहंकार का भाव नहीं है तो *बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।* यह जो दूसरी बात कही है वह भोक्तापन का निषेध है। बराबर याद रखिए कि कर्म में दोष नहीं होता, बुद्धि में दोष होता है। अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए किसी को गोली मारकर उसकी चीज छीन ली तो तुम डाकू हो, तुमने हत्या की है। किन्तु देश की रक्षा के लिये शत्रु पर जब हमारे सैनिक शुद्ध बुद्धि से गोली चलाते हैं, तो वे देश के रक्षक हैं। उन्होंने हत्या तो की लेकिन वे देश के रक्षक माने जाते हैं। हम अगर किसी का शरीर छुरी से काट दें, तो

हम अपराध करेंगे परन्तु डाक्टर अगर शल्यक्रिया करके किसी का शरीर काटे तो वह उसकी सेवा कर रहा है। काटने का काम तो एक ही रहता है परन्तु काटना, यह गौण है। किस बुद्धि से काट रहा है ? उसके मंगल के लिये काट रहा है या अमंगल के लिये काट रहा है ? स्वार्थ के लिये काट रहा है या सेवा के लिये काट रहा है? लक्ष्य प्रधान है, कर्म गौण है। लेकिन जिसमें अहंकार का भाव ही नहीं है, जिसमें अकर्ता का भाव है, यह उससे भी एक कदम ऊपर है, तो उसकी बुद्धि लिप्त ही नहीं होगी। वह सारे काम करेगा, लेकिन उसमें बुद्धि लिप्त नहीं होगी। 'मैं कर रहा हूँ', 'यह मेरा किया हुआ काम है' जब यह बुद्धि ही नहीं होगी तो इस कर्म का फल मुझको मिले यह बुद्धि भी नहीं होगी। जब मैंने कर्म ही नहीं किया— *यस्य नाहंकृतो भावः* जिसका भाव है कि मैं कर्म करनेवाला नहीं हूँ— *नाहंकृत*—भाव है तो उसकी बुद्धि उस कर्म में 'अपना' कर्म मानकर लिप्त नहीं होगी। अगर 'मेरा' कर्म है यह मानकर बुद्धि लिप्त नहीं हुई तो उसका फल भी उसको नहीं मिलेगा। तो पहले चरण — *यस्य नाहंकृतो भावो* — से उन्होंने कर्तृत्व का निषेध किया। दूसरे चरण — *बुद्धिर्यस्य न लिप्यते* से उन्होंने भोक्तृत्व का निषेध किया। जो अपने को कर्त्ता नहीं मानेगा वह भोक्ता भी नहीं होगा। और जो कर्त्ता-भोक्ता नहीं होगा वह कर्म से बँधेगा भी नहीं।

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते — वह हत्या करके भी, सारे शत्रुओं की हत्या करके भी न हत्या करता है, न उससे बँधता है। इस श्लोक का यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान प्राप्त हो गया तो तुम किसी का भी खून कर दो। यह किसको सुना रहे हैं ? यह सुना रहे हैं अर्जुन को। अर्जुन के मन में शंका क्या है ? अर्जुन के मन में शंका है—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।। (२/४)

हे कृष्ण ! बताओ जो हमारे पूज्य हैं, पितामह हैं उन भीष्म के ऊपर, जो हमारे गुरु हैं उन द्रोणाचार्य के ऊपर मैं कैसे बाण चलाऊँ ? मैं कैसे उनकी हत्या करूँ ? मैं गुरुजनों की हत्या करूँगा तो मैं पापी हो जाऊँगा। यह उसके मन की एक आशंका है। उस आशंका को दूर करने के लिये वे कह रहे हैं कि अगर तुम कर्त्तव्य बोध से नियत कर्म कर रहे हो और कर्म के करते समय तुममें कर्तृत्व और भोक्तृत्व नहीं है, तो केवल भीष्म और द्रोण को ही नहीं, सारी सेना का वध करके भी तुम अपराध नहीं करोगे। तुम उसमें बद्ध नहीं होगे, उन कर्मों से लिप्त नहीं होगे। एक बात पर ध्यान दीजिये। जो इस प्रकार का विज्ञानी व्यक्ति होगा, वह अपने स्वार्थ के लिये तो कोई

दुष्कर्म करेगा नहीं। कर्तृत्व का लोप होते ही समस्त काम्य कर्मों का लोप हो जाता है। इस बात को मैं बार-बार बताता हूँ आप भी बार-बार समझिये। अगर आपमें कर्तृत्व का अहंकार नहीं होगा तो तमाम तामस और राजस गुण अपने आप ढह जायेंगे। तमाम तामस-राजस गुण चोरी, बेईमानी, व्यभिचार, भ्रष्टाचार आदि ये सब तात्कालिक लाभ की इच्छा से होते हैं। तात्कालिक सुख भोग की इच्छा से, मौज-मजा कर लेने की इच्छा से होते हैं। उसमें कर्तृत्व होता है, उसमें भोक्तापन की भावना होती है। हम उस सुख को भोगना चाहते हैं जो उस बेईमानी के, अन्याय के काम से मिलने वाला है। अगर हममें अभोक्ता की भावना है, अगर हम उस कर्म से लिप्त ही नहीं होते तो सारे राजस-तामस कर्म अपने आप भरभरा कर गिर पड़ेंगे। ऐसा अकर्ता, ऐसा अभोक्ता व्यक्ति कभी पाप कर्म कर ही नहीं सकता। अतः कर्त्तव्य कर्म के रूप में अगर उसको द्रोण और भीष्म पर भी बाण चलाने होंगे तो चलायेगा ; उनका वध भी करेगा लेकिन वह अकर्ता के रूप में करेगा, अभोक्ता के रूप में करेगा। अकर्तव्य को, बेईमानी को मन में रखकर कोई काम नहीं करेगा।

सत्रहवें श्लोक का अर्थ यह नहीं है कि ज्ञानी व्यक्ति चाहे बुरे से बुरे काम कर ले और वह बँधेगा नहीं। वह बुरे काम करेगा ही नहीं। यह उदाहरण कि सबको मारकर भी वह नहीं मारता और उसके फल से वह बँधता नहीं, एक विशेष सन्दर्भ में दिया गया उदाहरण है। धर्मक्षेत्र के सम्बन्ध में अर्जुन की शंका का निरसन करने के लिये दिया गया उदाहरण है और इसका अर्थ केवल इतना है कि कर्त्तव्य कर्म घोर से घोरतर यानी कठिन और भयावह भी क्यों न हो तो भी हमको करना चाहिये, लेकिन उस कर्म के कर्त्ता के अहंकार को छोड़कर, उस कर्म के फल की लिप्सा यानी फलेच्छा को छोड़कर। हमलोग काम करते हैं तो उसके दो पक्ष होते हैं। पहले हम मन में तय करते हैं कि यह काम करने लायक है कि नहीं। काम करेंगे तो क्या फल मिलेगा ? काम करने की प्रक्रिया क्या है ? कर्म में उत्साह के तीन स्रोत हैं—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।। (१८/१८)

'ज्ञानं' —माने किसी कर्म विशेष को करने की प्रक्रिया की जानकारी। *'ज्ञेयं'* – माने वह काम अगर हम करेंगे तो उसका क्या फल होगा। हम लें चाहे न लें, लेकिन प्रयोजन भी तो होता है। निष्काम कर्म, निष्प्रयोजन कर्म नहीं। मैंने इस बात को बार-बार समझाया है। जो निष्काम कर्म करते हैं उनका भी कोई एक वृहत्तर, महत्तर प्रयोजन होता है। भगवत् प्रीति के लिये, लोकहित के लिये, कर्त्तव्य कर्म का निर्वाह

करने के लिये एक प्रयोजन होता है। तो जब उदात्त प्रयोजन से प्रेरित होकर हम काम करते हैं तो उसका 'ज्ञेय', उसका कर्म, उसका फल क्या होगा यह हम समझते हैं। जिस तरह से समझते हैं उसको हम *'ज्ञान'* कहते हैं एवं जिसे समझते हैं उसको हम *'ज्ञेय'* कहते हैं और जो समझनेवाले हम हैं उसको *'परिज्ञाता'* कहते हैं। अब जैसे समझ लीजिये कि यह गीता का प्रवचन हो रहा है तो गीता का प्रवचन करने के पहले गीता का प्रवचन करने का विचार मन में आया तो यह सोचकर कि यह उत्तम कार्य है, इससे भगवान् की कृपा प्राप्त होगी, इससे मेरा अपना और सुननेवालों का भला होगा यह 'ज्ञेय' हुआ। और उसको बोलने के लिये कैसी तैयारी करनी चाहिये, कैसे उसको समझना चाहिये यह 'ज्ञान' है। इस 'ज्ञान' और 'ज्ञेय' का आधार 'परिज्ञाता' है। इन तीनों की समष्टि किसी काम को करने की योजना बनाने वाली, प्रेरणा देने वाली सत्ता है। इसको कहते हैं कर्म प्रेरणा की सत्ता। तीन चीजें हैं– कौन सा कर्म करना चाहिये, क्यों करना चाहिये, करने का तरीका क्या है और करने वाला कैसा है? तो ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता ये कर्म की प्रेरणा हैं। जब काम तय कर लिया गया कि यह काम होगा तो वह काम निष्पन्न कैसे होगा ? कर्म संग्रह माने ? कर्म को निष्पन्न कर देने का आशय। कैसे होगा? प्रवचन के कर्म में हमें एक माइक्रोफोन की जरूरत है जिससे पीछे तक सुनाई पड़े। बाद में पुस्तक प्रकाशित हो सके इसके लिये कोई एक टेप भी हो। किन किन किताबों का आधार लेकर तैयारी की जा सकती है, वह करण है। ये सब करण हैं। बोलनेवाला कर्त्ता है और बोलने की यह जो प्रक्रिया है यह कर्म है। इन तीनों की समष्टि—जो योजना बनी है। तो *'कर्मचोदना'* माने कर्म को प्रेरित करनेवाले तत्त्व। कर्म संग्रह पूरा करने वाले पक्ष या तत्त्व। तो ये ज्ञान, कर्म और कर्त्ता तीन चीजें उन्होंने छहों में से चुन लीं। क्योंकि कर्त्ता और परिज्ञाता एक ही है इसलिये उन्होंने कर्त्ता को ले लिया, ज्ञेय और कर्म एक ही है इसलिये कर्म को ले लिया और ज्ञान के द्वारा काम की प्रमुख प्रेरणा होती है इसलिये ज्ञान को चुना क्योंकि ज्ञान ही हमको प्रेरित करता है। एक बात और समझिए। किसका काम कैसा होता है, अच्छा होता है कि बुरा होता है, या मँझला होता है, यह उसके ज्ञान पर निर्भर है। जैसा प्रेरक ज्ञान होगा वैसा ही आचरण होगा। इसलिये ये तीनों चीजें बता रहे हैं ज्ञान, कर्म और कर्त्ता। इनके भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद बताये हैं—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।। (१८/१९)

अर्थात् ज्ञान, कर्म और कर्त्ता भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन-तीन भेदों

में बँटे हुए हैं। इसलिये बाँट रहे हैं कि हम अपने को जाँचें, दूसरे को न जाँचें। तुरन्त इसको पढ़ लेने के बाद— अच्छा, अच्छा यह सात्त्विक है, यह राजस है यह तामस है। इसका कर्म जो है यह तामस कर्म है। यह तो बिल्कुल राजस ज्ञान से प्रेरित होता है। दूसरे को मूल्यांकित करने के लिये भगवान् नहीं बता रहे। अपने को समझने के लिये बता रहे हैं। हम कहाँ खड़े हैं, हमारा ज्ञान कैसा है ? हमारा ज्ञान अगर तामस-राजस है तो हम उसको कैसे सत्संग के द्वारा आत्मानुशीलन के द्वारा सात्त्विक करें। हमारा प्रयास अगर राजस-तामस है, हमारा कर्म अगर राजस-तामस है, तो उसको कैसे सात्त्विक करें ? हम अगर तामस कर्त्ता हैं, राजस कर्त्ता हैं, तो हम कैसे सात्त्विक कर्त्ता बनें ? यह बराबर याद रखिये कि जब भगवान् तीन-तीन गुणों में बाँट कर बताते हैं तो हमें अपने को जाँचने का आधार देते हैं। हम कहाँ खड़े हैं, किस भूमिका पर खड़े होकर यह जीवन जी रहे हैं, इसको हम समझें और अपनी उन्नति के लिये क्या प्रयास करना चाहिये इसकी प्रेरणा प्राप्त करें। भगवान् की कृपा से आपको ऐसी प्रेरणा मिले। दूसरे के ऊपर फतवा देने के लिये आप यह जानकारी मत हासिल कीजिये। इससे बुरा होगा। भक्तों का कहना है कि तुम अगर दूसरों में दोष देखोगे तो तुममें दोषों की वृद्धि होगी। तुम दूसरों के गुण देखोगे तो तुममें गुणों की वृद्धि होगी। दुनिया में कोई ऐसा पैदा नहीं हुआ, जिसमें केवल गुण हों। दुनिया में कोई ऐसा पैदा नहीं हुआ, जिसमें केवल दोष ही दोष हों। तुलसीबाबा कहते हैं—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ।। (मानस.१/६/०)

हंस के समान जो सन्त हैं वे दूसरों का गुण तो ग्रहण करेंगे, दोष त्याग देंगे। भगवान् उसको सुधारना चाहेंगे तो योग्य गुरु देंगे। और अगर भगवान् उसे किसी कर्म का दण्ड देना चाहते हैं, तो वह दण्डित होगा। हम तो उसके सम्पर्क में आकर यदि कुछ गुण सीख सकते हैं तो सीख लें। उसके दोषों को देखकर अपने दोषों को बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। ये जो *'गुणसंख्याने'* शब्द आया है— ज्ञान, कर्म और कर्त्ता इन तीनों के तीन-तीन गुण हैं— सत्त्व, रजस, तमस। *'गुणसंख्याने'* माने गुणों को बताने वाले। सांख्य शास्त्र के अनुसार। सांख्य शास्त्र गुण का आधारभूत विवेचक शास्त्र है। आप इसमें अपने बड़ों की महिमा, अपने गौरव का अनुभव कीजिये। सारी सृष्टि में जो कुछ हो सकता है, सारी सृष्टि में जो कुछ है उसको उन्होंने तीन बातों में बाँट दिया— प्रकाश, क्रिया, और स्थिति। *'प्रकाश'* यानी जब हमारे जीवन में प्रकाश आये, हमारे जीवन में आनन्द आये, उल्लास आये। हमारे जीवन में दूसरे के उपकार की भावना

आये। यह सब सात्त्विक है—प्रकाश आ गया जीवन में। *'क्रिया'* यानी जब हमारे जीवन में हलचल हो, स्पर्धा हो, मुकाबला हो, जब लोभ बहुत बढ़े और-और-और की चाह हो तो रजोगुण बढ़ता है।

और-और की ध्वनि है केवल तृप्ति प्रलय पर्यन्त नहीं।
किस किस को याद कीजिये, किस किस को रोइये,
आराम बड़ी चीज है, मुँह ढँक के सोइये।

यदि ऐसा हो तो। समझ लो तमोगुण आ गया। *'स्थिति'* यानी अपने को बार-बार देखिये, कहाँ हो तुम ? जड़ता तो नहीं बढ़ रही, तमोगुण तो नहीं बढ़ रहा, लिप्सा तो नहीं बढ़ रही ? केवल प्रतिस्पर्धा ? नहीं, नहीं, नहीं ! प्रकाश आना चाहिये। क्रिया प्रेरित प्रकाश। रजस से प्रेरित सत्त्वगुण मनुष्य से अच्छे और बड़े काम करवाता है। केवल सत्त्वगुण होगा तो भी कर्म छूट जायेगा। वैसे तो परमात्मा ने हरेक को त्रिगुणात्मक बनाया है। केवल सत्त्वगुण किसी में नहीं है, केवल रजोगुण किसी में नहीं, केवल तमोगुण भी किसी में नहीं है। अगर आप में अच्छे और बड़े काम करने की प्रेरणा हो तो 'सत्त्व' को आगे रखकर उसके पीछे रजस को रखिये। तब आप अच्छे और बड़े काम करेंगे। भगवान् आगे कहते हैं—

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।। (१८/२०)

सब प्राणियों में, सब वस्तुओं में, जो अलग-अलग दिखाई पड़ने वाले पदार्थ हैं उनमें भी, जो एक ही अविभक्त सत्ता को देखता है, वह सात्त्विक ज्ञान है। अच्छा देखिए, यहाँ जितने लोग बैठे हुये हैं ये एक ही हैं या सब अलग-अलग हैं ? व्यवहार में तो लगता है सब अलग-अलग हैं। सबका रूप अलग है, सबका नाम अलग है, सबका आकार-प्रकार अलग-अलग है। तो ये सब अलग-अलग दिखाई पड़ने वाले इतने विभक्त रूप हैं, इतनी विभक्त सत्तायें हैं इनमें अविभक्त को देखने का मतलब क्या हुआ ? यह सात्त्विक ज्ञान कैसे इन विभक्त सत्ताओं में एक अविभक्त पूरी सत्ता को देखता है। उसकी दृष्टि की क्या विशेषता है? उसकी दृष्टि की विशेषता समझिए। समुद्र के किनारे जाकर तुम तरंग देख रहे हो, सब तरंगें अलग-अलग हैं, लेकिन जल? सब तरंगों में क्या है ? जल तो एक ही है। अच्छा, तुम मिट्टी के पात्र देखते हो— सुराही है, घड़ा है, थाली है, सब में मिट्टी है कि नहीं ? सोने के गहने सब देखते हैं। यह अंगूठी है, यह कड़ा है, यह बाजूबन्द है, यह हार है, यह करधनी है, सबमें सोना है कि नहीं ? जैसे अलग-अलग मिट्टी के खिलौनों में एक ही मिट्टी है, सोने के

गहनों में एक ही सोना है; जैसे अलग-अलग दिखाई पड़ने वाली तरंगों में एक ही जल है, वैसे ही विभक्त सत्ताओं में अविभक्त सत्ता पूरी की पूरी ज्यों की त्यों समाई हुई है, उसका भेद नहीं हो सकता। जैसे छोटे-बड़े सब घटाकाश में एक ही महाकाश है। हम अलग-अलग साँस ले रहे हैं लेकिन वायु तो एक है। इस तरह से जो मूल कारण को देख लेगा वह अलग-अलग विभक्तों में भी उस अविभक्त एक सत्ता का अनुभव कर सकता है; यह सात्त्विक ज्ञान है। त्रिगुणातीत ज्ञान कैसा होता है ? भगवान् ने यहाँ त्रिगुणातीत ज्ञान का निरूपण नहीं किया क्योंकि काम में हमको-आपको जोड़ रहे हैं। सात्त्विक ज्ञान में विभक्त का अनुभव होता है और विभक्तों में अविभक्त दिखाई पड़ता है। त्रिगुणातीत ज्ञान में विभक्त होता ही नहीं, यह त्रिगुणातीत ज्ञान है। ब्रह्म की दृष्टि से कोई विभाजन है क्या ? गहने की दृष्टि से अगर देखोगे तो हार अलग है, चूड़ी अलग है। सोना तो एक ही है। त्रिगुणातीत ज्ञान यानी ब्रह्म की दृष्टि के ज्ञान में विभाजन भी लुप्त हो जाता है। सात्त्विक ज्ञान में हम यह अनुभव करते हैं कि अलग-अलग दिखाई पड़ने वाले विभक्त पदार्थों में, विभक्त सत्ताओं में एक अविभक्त सत्ता, पूर्ण सत्ता है। कबीरदास ने कहा है—

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हेराय ।
समुँद समाना बूँद में, सो कत हेरा जाय ।।

एक एक बूँद में पूरा समुद्र समाया हुआ है। यह बात तो समझ में आती है कि बूँद समुद्र में समा जाय। लेकिन कबीर यह नहीं कहते, अद्वैत वेदान्त यह नहीं कहता कि केवल बूँद ही समुद्र में समाती है। अद्वैत वेदान्त कहता है कि पूरा का पूरा समुद्र, बूँद में समाया हुआ है। *'अविभक्तं विभक्तेषु'* —ये जो इतनी विभक्त सत्तायें यहाँ बैठी हुई हैं, इन प्रतीत होने वाली विभक्त सत्ताओं में एक ही अविभक्त परमात्मा पूरा का पूरा सब में समाया हुआ है। *'समुँद समाना बूँद में सो कत हेरा जाय'* —इस स्थिति की ओर संकेत करना यह है सात्त्विक ज्ञान। राजस ज्ञान क्या है, इसे आगे कहते हैं—

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।। (१८/२१)

इस श्लोक में सात्त्विक ज्ञान के बाद राजस ज्ञान को समझा रहे हैं। भगवान् कहते हैं कि उस ज्ञान को तू राजसिक ज्ञान समझ, जहाँ नाना प्रकार की सत्ताओं में एकत्व का भान न होकर पृथकता का भान होता है। जो विभक्त दिखने वाले जीवों को, पदार्थों को, विभक्त ही मानकर व्यवहार करता है। जो विभक्तों में अनुस्यूत कोई एक सामान्य तत्त्व का साक्षात्कार नहीं करता और जो यह मानता है कि हरेक की सत्ता

अलग-अलग है। सबों को अलग-अलग विभक्त मानकर जब हम व्यवहार करेंगे तो फिर हम दूसरों को हराकर आगे बढ़ेंगे। सही तरीके से या गलत से गलत तरीके से। इसलिये राजस में प्रतिद्वन्द्विता है, क्योंकि वह दूसरों को अपने से अलग मानता है। सात्त्विक ज्ञान में प्रतिद्वन्द्विता नहीं है, क्योंकि सब में वही है। एक ही तत्त्व सबमें है, कौन किससे प्रतिद्वन्द्विता करे ? दायाँ हाथ बाँये हाथ से प्रतिद्वन्द्विता करेगा ? एक ही है। जब सात्त्विक ज्ञान होता है तो प्रतिद्वन्द्विता का, राग-द्वेष का शमन हो जाता है। और जब विभक्त ज्ञान ही बरकरार रहता है, तब राग-द्वेष, प्रतिद्वन्द्विता, स्पर्धा, दूसरों को हराकर आगे बढ़ जाने की लालसा, अधिक से अधिक प्राप्त करके बड़ा बन जाने का अहंकार बना रहता है। यह सब रजोगुण का प्रभाव है। आगे तामस ज्ञान के बारे में कहा गया है—

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।। (१८/२२)

अर्थात् जो ज्ञान किसी एक कार्य को ही अज्ञानवश सब कुछ मान लेता है, जो कारण का पता नहीं लगाता, तत्त्व का भी पता नहीं लगाता और चीजों को सम्पूर्णता में नहीं देखता, ऐसा ज्ञान तामस ज्ञान है। यह कसौटी हमें परखने का अवसर देती है कि हम अपने व्यवहार से किस वर्ग के अधिकारी हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि अपना जन्म हुआ तो सृष्टि हो गई, मरण हुआ तो लय हो गया। अरे भाई, तुम्हारे लिये हुआ होगा, सृष्टि में तो ऐसा नहीं होता। तो एक ही कार्य में या अपने ही शरीर को, या किसी के शरीर को समग्रवत् महत्त्व देकर उसी से आसक्त हो जाना यह तामसिक ज्ञान है। पश्चिमी देशों में प्रकृति को भोग्य मानकर और अपने को भोक्ता मानकर जो अधिक से अधिक उसका शोषण किया जाता है यह राजस-तामस ज्ञान का दुष्परिणाम है। मैं ही भोक्ता हूँ, मैं ही सब कुछ भोग करूँ, सारी दुनिया मेरे लिये बनी है यह राजस-तामस ज्ञान का दुष्परिणाम है।

याद रखिए कि जब जब हम आप राजस ज्ञान और तामस ज्ञान की प्रेरणा से काम करेंगे तब-तब वैसे ही राग-द्वेष बढ़ाने वाले, हिंसा करने वाले और अशान्ति उत्पन्न करने वाले काम करेंगे। जब हम सात्त्विक ज्ञान से प्रेरित होकर काम करेंगे तो हम अपने और दूसरों के मंगल के लिये, अपनी और दूसरों की शान्ति के लिये काम करेंगे।

अब देखिए, तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं, और फिर तीन प्रकार के कर्त्ता ये तीनों अनुस्यूत हैं। जो सात्त्विक ज्ञान है वही सात्त्विक कर्म में प्रतिफलित होगा। जो सात्त्विक ज्ञान है वही सात्त्विक कर्त्ता में प्रतिफलित होगा और वही सात्त्विक कर्त्ता

सात्त्विक कर्म कर सकता है। तो इसमें प्रधानता ज्ञान की है। ज्ञान को सबसे पहले विवेचित किया और ज्ञान से कर्म को जोड़ रहे हैं। प्रेरक के अनुसार ही प्रेरित होता है। प्रेरक ज्ञान यदि सात्त्विक है तो प्रेरक कर्म भी होगा सात्त्विक। अब आगे बता रहे हैं कि सात्त्विक कर्म किसको कहते हैं ?

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।। (१८/२३)

'नियतम्' — यानी जो शास्त्रों के द्वारा निर्धारित है, निरूपित है, जो अनिवार्य है। जो शरीर धारण करने के लिये अनिवार्य है। जैसे हर एक को थोड़ा खाना होगा, हर एक को थोड़ा विश्राम करना होगा, थोड़ा व्यायाम करना होगा, सर्दी-गर्मी से बचने के लिये थोड़ा कपड़ा पहनना होगा। वे सारे काम जिससे शरीर बना रहे; वे सारे काम जिनके न करने से पाप लगता है— नित्य अनिवार्य करणीय कर्तव्य कर्म हैं। तो नियतकर्म को भी कैसे करना चाहिये? *'संगरहितम्'* —यानी आसक्ति रहित होकर। सब प्रकार की आसक्ति को छोड़कर। कई बार कर्मों की आसक्ति हो जाती है। मैं केवल गीता प्रवचन ही करूँगा ऐसी आसक्ति को छोड़ कर। रामजी अगर कहें कि तुमको झाड़ू देना होगा तो मुझको सहर्ष झाड़ू देना चाहिये। किसी भी काम में आसक्ति क्यों होनी चाहिये ? जो भी रामजी काम देंगे उनका दिया हुआ काम करेंगे।

'अरागद्वेषतः कृतम्' —राग कहते हैं रंजन को। रँग जाने को। किसी को आप पसन्द करने लगें तो उसके प्रति रंग से आप की आँख रँग जाती है। उसका दोष आपको नहीं दिखाई देता, उसका गुण ही गुण आपको दिखाई देता है। जिसके प्रति आपके मन में द्वेष आ जायेगा उसके गुण नहीं दिखेंगे, उसके दोष ही दोष दिखेंगे। तो *'अरागद्वेषतः कृतम्'* —काम को बिना राग, बिना द्वेष के किया जाना चाहिये। जो नियत कर्तव्य कर्म आसक्ति रहित, बिना राग, बिना द्वेष के, बिना फल की प्राप्ति की इच्छा के किया जाता है वह काम सात्त्विक है। मैं कोई भी काम करूँ, या आप भी कोई काम करें अच्छा काम, तो क्या इसलिये करेंगे कि आपको माला पहनने को मिलेगी? इसलिये करेंगे कि आपका नाम अखबारों में छपेगा? इसलिये करेंगे कि इससे आपको लाभ होगा? *'अफलप्रेप्सुना'* —सात्त्विक कर्म जो है उसमें फल प्राप्त करने की इच्छा नहीं होनी चाहिये। फल आ गया तो आ गया, भगवान् की कृपा; नहीं आया कोई बात नहीं, भगवान् की इच्छा। यह जो भगवान् की कृपा, भगवान् की इच्छा मानकर हम अपना कर्तव्य कर्म किये जायेंगे—फल मिले, न मिले, यह रामजी जानें। भक्त तो फल रामजी को अर्पित करता है। *'यत्करोषि यदश्नासि'* —देखो इसमें तीन दृष्टियाँ हैं,

सबकी बात नहीं कहेंगे। एक ज्ञान की दृष्टि है, एक भक्तों की दृष्टि है, एक निष्काम कर्मयोग की दृष्टि है। ज्ञान की दृष्टि में तो कोई कर्म हम करते ही नहीं, चलो छुट्टी हुई। निष्काम कर्मयोग की दृष्टि से हम जो काम कर रहे हैं उसका कर्तृत्व-भोक्तृत्व छोड़कर कर रहे हैं इसलिये हमें इसकी फल की लालसा नहीं है। भक्त कहता है कि हम भगवान् की प्रीति के लिये काम कर रहे हैं और हम यह भगवान् को ही अर्पित कर रहे हैं। भगवान् की प्रीति के लिये भगवान् की प्रेरणा से काम कर रहे हैं तो भगवान् उसका फल किसको देंगे? भगवान् को ही देंगे।

यत्कृतं यत्करिश्यामि तत्सर्वं न मयाकृतम् ।
त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव रघुनंदन।।

हे रामजी, जो कुछ मैंने किया, करूँगा, वह मैंने नहीं किया। तुमने कराया यानी तुम्हीं ने किया। तुमने किया तो तुम कर्ता हो, फल भी तुमको मिलेगा। भक्त कर्मों का फल भगवान को अर्पित करता है। *अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।* चाहे ज्ञानी हो, चाहे निष्काम कर्मयोगी हो, चाहे भक्त हो— जो भी फल की प्राप्ति की इच्छा से कर्म नहीं करता, ऐसा कर्म सात्त्विक कहलाता है। जो कर्म कामना से किया जाय, जो अहंकार के साथ किया जाये जिसमें कामना यानी फल की इच्छा हो, जिसमें भोक्तापन आ गया, वह कर्तृत्व का अहंकार बाँधेगा। तुम अगर सात्त्विक काम करोगे तो कर्म तुमको बाँधेगा नहीं। सात्त्विक कर्म करनेवाले के लिये कहा गया है— *'हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते'* (१८/१७-२) सारे लोक की हत्या करके भी वह बँधता नहीं है। नहीं बँधता—क्योंकि वह कर्त्ता ही नहीं है, अतः भोक्ता भी नहीं है। उसका फल उसको नहीं मिला उसकी बुद्धि उसमें लिप्त नहीं हुई। आगे कहा है—

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।। (१८/२४)

जब तुम कामना से प्रेरित होकर अहंकारवश कोई काम करोगे— *'क्रियते बहुलायासं'*। *'बहुलायासं'* का एक अर्थ यह हुआ कि बहुत प्रयास करके, बहुत परिश्रम करके, बड़ी योजना करके, बहुत रुपया इकट्ठा करके, बहुत लोगों को जोड़कर कोई काम करना। दूसरा अर्थ है कि जिस काम को करने में तुमको बहुत आयास करना पड़े। यानी जो काम करने में तुम्हारा मन खुश नहीं हो रहा है, तुमको लग रहा है कि यह काम ठीक नहीं है, यह काम असंगत है। लेकिन तुमको यह भी लग रहा है कि यह काम करने से हमको फायदा होगा। तो अपने विवेक को ठग कर जब हम काम करते हैं तो वह है 'बहुलआयास'। चित्त पर एक दबाव बना रहता है, उस दबाव को झेलते

हुये हम वह काम करते हैं। तो ऐसे बहुत आयास वाले मानसिक दबाव को झेलता हुआ अगर कोई काम कर रहा है तो समझ लो वह किसी ऐसी कामना से काम कर रहा है जो बहुत अच्छी कामना नहीं है। मेरे गुरुजी एक श्लोक कहते थे। बहुत बार उन्होंने कहा इसलिये मैं भी कई बार सुनाता हूँ—

यत्कर्मकुरुतेस्य स्यात् परितोषांतरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्।।

जिस काम को करने से आपकी अंतरात्मा को परितोष प्राप्त हो— वाह, भगवान् की कैसी कृपा है, भगवान् ने यह काम हमसे करा लिया। *'तत्प्रयत्नेन कुर्वीत'* इस प्रकार के कामों को प्रयत्न पूर्वक कीजिये। *'विपरीतं'* —जिस काम को करने से आपकी अंतरात्मा दुखी हो जाये, जिस काम को करने से आपकी आत्मा आपको धिक्कारे *'विपरीतं तु वर्जयेत्'* उस काम को रोक दीजिए। मेरे गुरुजी कहते थे रामजी तुमसे खुश हैं कि नहीं उसकी कसौटी दे देता हूँ। उन्होंने कहा— जब तुम अपने पर खुश रहोगे तो रामजी तुम पर खुश रहेंगे। जब तुम विवेकपूर्वक काम करने के बाद खुश होगे— आह, आज भगवान् की कृपा से अच्छा काम हुआ तो निश्चित समझो कि रामजी तुम पर खुश हैं। और जिस दिन तुम अपने से नाखुश हो जाओगे कि आज कैसा काम किया। क्यों इतना कड़वा कह दिया ? क्यों इस तरह हड़का दिया ? जब तुम अपने पर नाखुश हो जाओगे तो समझो रामजी भी तुम पर नाखुश हैं। यह मेरे गुरु की दी हुई कसौटी है। रामजी आप पर प्रसन्न या अप्रसन्न हैं, यह सहज रूप से आप जाँच सकते हैं। मानसिक दबाव झेलते हुये आप अगर काम कर रहे हैं तो कहीं न कहीं आपका स्वार्थ आपसे कुछ न कुछ गलत करवा रहा है, वह राजस काम है। आप सात्त्विक काम करेंगे तो आपको प्रसन्नता होगी। सात्त्विक काम करेंगे तो उत्फुल्लता होगी। काम करने से थकावट नहीं होती, इस बात की गाँठ बाँध लीजिये। चौबीस घण्टा काम कीजिये। लेकिन काम अगर प्रीतिकर है, आपका मन अगर नहीं थका है तो आपको थकावट नहीं होगी। शरीर नहीं थकता, शरीर से ज्यादा मन थकता है। मन के विपरीत जो काम कर रहे हैं, विवेक के विपरीत जो काम कर रहे हैं उन्हें ही थकावट आती है। विवेक के विपरीत कर्म से *'बहुलआयास'* होता है, *'तद्राजसमुदाहृतम्'* वह है राजस कर्म। आगे तामसिक कर्म के बारे में बताते हैं—

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।। (१८/२५)

अनुबंध माने बाद में आपको जो बाँध लेगा। अनुबन्ध माने परिणाम। तर्कशास्त्र

में चार बातें कही गई हैं। जैसे कोई काम करते हैं तो उसमें किसके लिये काम कर रहे हैं, उसका अधिकारी कौन है ? जो काम कर रहा है उसका विषय क्या है ? जो काम कर रहे हैं उसकी योग्यता क्या है ? और सम्बन्ध ? ये चारों चीजें अनुबन्ध के रूप में स्पष्ट की जाती हैं। मोटे तौर पर अनुबन्ध शब्द का अर्थ हुआ—परिणाम। 'अनु' माने पीछे, 'बन्ध' माने बाँधने वाला। आप पीछे बँध जायेंगे उसके। पीछे किससे बँधा रहे हैं? इसकी जानकारी होनी चाहिए। 'क्षय' माने इसमें नुकसान कितना हुआ ? 'हिंसा' यानी दूसरों को पीड़ा पहुँचाना। हिंसा का मतलब केवल खून करना ही नहीं होता। आप अगर दूसरे के मन को चोट पहुँचा रहे हैं तब भी आप हिंसा कर रहे हैं। अकारण दूसरे के मन को कष्ट देते हैं। हिंसा माने पर-पीड़ा। *'अनवेक्ष्य च पौरुषम्'* यानी वह काम आपके सामर्थ्य के अनुकूल है या सामर्थ्य से बहुत बड़ा है ? जो काम हमारी सामर्थ्य से बहुत ज्यादा बड़ा है उसे क्यों उठाना चाहिये ? सामर्थ्य से कुछ ऊपर तो काम जरूर उठाना चाहिये क्योंकि अगर सामर्थ्य ही से काम करोगे तो ऊपर नहीं उठ सकोगे। जहाँ हम खड़े हैं उससे एक सीढ़ी ऊपर। ऐसा काम करना चाहिये। लेकिन हम खड़े हैं एक तल्ले पर और सौ तल्ले पर छलांग मारने की कोशिश करेंगे तो गिर पड़ेंगे। इसलिये *'पौरुषं सामर्थ्यं'*, इन सब का विचार किये बिना अगर कोई मोहपूर्वक, अज्ञानपूर्वक, भ्रमपूर्वक काम शुरू कर देता है तो उसको दुख ही भोगना पड़ेगा। यह तामस कर्म है। तामस कर्म उन अविवेकी व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है जो काम के द्वारा होने वाले नुकसान, दूसरों को पहुँचने वाली पीड़ा और अपनी सामर्थ्य का विचार किये बिना, केवल मोह के वश होकर किया जाता है। दूसरा कर रहा है तो मैं भी करूँ! भैया क्यों कर रहे हो ? वह कर रहा है तो मैं क्यों नहीं करूँगा ? अरे, वह कर रहा है तो करे तुम क्यों कर रहे हो, भाई ? *देखा देखी साधे योग, छींजे काया उपजे रोग।'* वह योग साध रहा है मैं भी योग साधूँगा। अरे, तुमने किसी योग्य गुरु से शिक्षा ली है ? देखा-देखी काम नहीं करना चाहिये। अपनी पात्रता, अपनी क्षमता, अपनी योग्यता और उसको करने के फल-परिणाम का विचार करके जो काम किया जायेगा वह अच्छा काम होगा। बिना विचार किए काम कैसा होता है —

बिना विचारे जो करै सो पाछे पछिताय।
काम बिगारै आपनो जग में होत हँसाय।।

तमोगुणी लोग ऐसा करते हैं। अब जो आगे श्लोक कहा जा रहा है वह अद्भुत है। इसके कुछ गुण मुझमें आप में भी आयें। दुनिया में जिन्होंने बड़े काम किये हैं, उनमें कुछ न कुछ गुण, जो इस श्लोक में बताये गये हैं, अवश्य रहे हैं। श्लोक है—

मुक्त संगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते।। (१८/२६)

पहली बात है *'मुक्त संगः'* यानी आसक्ति छोड़ना। आसक्ति माने चिपक जाना। चिपकूराम मत बनो, किसी से मत चिपको। जो आया, आइये आइये। गया, जाइये जाइये। अपना कर्त्तव्य तो हम किए ही जायेंगे। किसी से चिपक गये तो अपना कर्त्तव्य छूट जायेगा। मेरे गुरुजी बताते थे कि *'मुक्तसङ्ग'* का सबसे अच्छा उदाहरण *'दर्पण'* है। अच्छे शीशे का क्या लक्षण है ? अच्छे शीशे का लक्षण है कि उसके सामने जो खड़ा है उसको ज्यों का त्यों प्रतिफलित कर दे। उसकी समग्रता में प्रतिफलित कर दे। पूरी तरह से उसको ग्रहण कर लिया और जब वह चला गया तो कुछ चिपका रह गया ? नहीं। कैसे हम 'मुक्त संग' हो सकते हैं ? जैसे अच्छा शीशा। खराब शीशे में तो मुँह चौड़ा हो जाता है, लम्बा हो जाता है। बढ़िया शीशा ज्यों का त्यों समग्रता में प्रतिफलित करेगा, पूरी तरह से ग्रहण करेगा, समझेगा। अगर वह चला जायेगा तो पूरी तरह से साफ हो जायेगा। जो किया पूरी तरह से किया, खत्म हो गया। फिर नया काम शुरू कर दिया। दूसरी बात है— *'अनहंवादी'* यानी —

मैं मैं बड़ी बलाय है, सकौ तो निकसौ भागि ।
कह कबीर कब लगि रहै, रुई लपेटी आगि ।।

अहंकार को छोड़ देने वाला। मैं-मेरा, मैं-मेरा, यही करते-करते बहुतों का जीवन नष्ट हो जाता है। तीसरी बात है— *'धृत्युत्साहसमन्वितः'* यानी जिसमें धैर्य है, उत्साह है। अगर कोई काम शुरू किया है, उसमें बाधायें आयेंगी तो क्या हम छोड़कर भाग जायेंगे? नहीं, एकबार काम शुरू किया तो उसे धैर्य एवं उत्साह रखते हुए अन्त तक ले जाएँगे। धृति और उत्साह दोनों साथ-साथ। भर्तृहरि का एक बढ़िया श्लोक है-

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ते।। (नीति शतक-२६)

अर्थात् जो दुर्बल लोग हैं, अधम लोग हैं वे डर के मारे बड़ा काम शुरू ही नहीं करते। जो मध्यम कोटि के लोग हैं, विघ्नों के आ जाने पर दुखी होकर बीच में ही काम छोड़ देते हैं क्योंकि उनमें धीरज नहीं है, धृति नहीं है। विघ्नों के द्वारा बार-बार प्रहार होते रहने पर भी एक बार काम शुरू किया तो उसको अन्त तक ले जाते हैं; काम को पूरा करके ही दम लेते हैं। बुद्धि का पहला लक्षण काम शुरू मत करो यदि वह आपके

हौसले से ज्यादा बड़ा है। और यदि शुरू कर दिया है तो उसे अन्त तक ले जाओ यह बुद्धि का दूसरा लक्षण है। सब काम तुम्हीं करोगे इसकी ठेकेदारी ली है क्या तुमने? सहज प्राप्त कर्त्तव्य कर्म करना चाहिये। प्रयासपूर्वक माँग कर, किसी से छीना झपटी करके कोई काम नहीं करना चाहिये। और जो काम ले ही लिया तो उसे अपनी धृति-धीरज के साथ पूरा करें। रोते हुये नहीं, उत्साह के साथ, प्रफुल्ल चित्त के साथ, धृति और उत्साह– ये दोनों साथ-साथ।

जिसमें धृति होती है उसको धीर कहते हैं। धीर का लक्षण क्या है ? *'विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीरः'* समस्त विकारों के, हेतु के रहते हुये भी जिनकी चेतना विकृत नहीं होती वे धीर पुरुष हैं। उनमें धृति भी है और उत्साह भी है।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मंजुल मंगलप्रदा।।

(रामचरितमानस, अयोध्या काण्ड–प्रारंभ)

हमारे रामजी, कल उनका राज्याभिषेक होगा, उनके चेहरे पर कोई प्रसन्नता की छाया नहीं। राज्याभिषेक होते-होते चौदह साल का वनवास हो गया– तो कोई दुःख नहीं। सदा खिले हुये कमल की तरह मुस्कुराते हुये मेरे रामजी की जो शोभा है वह मेरे लिये मंगलदायिनी हो। मैं भी सदा दुःख में, सुख में मुस्कराता रहूँ। राज्याभिषेक हो तो फूलकर कुप्पा न हो जाऊँ, वनवास मिले तो सूखकर छुहारा न हो जाऊँ, रोने न लगूँ। सहज ही मैं सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहकर काम करता रहूँ। ऐसा कर्त्ता सात्त्विक कर्त्ता है। बड़ा काम सात्त्विक कर्त्ता ही करते हैं। अगला श्लोक राजसिक कर्त्ता के बारे में है—

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्ष शोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।। (१८/२७)

यानी रँगे हुये, 'राग' माने रंजन। रंजनात्मक होता है राग। रँग देता है। जो तुमने देखा उसका वही रंग दिखेगा, दूसरा पक्ष दिखेगा ही नहीं। *'कर्मफलप्रेप्सु'* यानी जो काम किया उसका फल मुझको मिलना ही चाहिये। *'हिंसात्मको'* यानी दूसरे को दुख पहुँचाकर, वध करके।

अशुचि —यानी सब प्रकार की अपवित्रता। साधन की अपवित्रता, साध्य की अपवित्रता, व्यवहार की, वाणी की, शरीर की– सब तरह की अपवित्रता। सबसे बड़ी पवित्रता क्या है ? मनुस्मृति में कहा गया है—

सर्वेषां एव शौचानां अर्थ शौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिः स शुचिः न मृद्वारि शुचिः शुचिः ।।

सब प्रकार की पवित्रताओं में आर्थिक पवित्रता सबसे बड़ी पवित्रता है। जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है, वही पवित्र है; केवल साबुन लगाकर नहाने से कोई पवित्र नहीं होता। *'हर्षशोकान्वितः कर्ता'* —जो थोड़े में फूल जाये, थोड़े में दुखी हो जाय— ऐसा कर्त्ता राजस है, राजसी कर्त्ता है। आगे कहा है, तामसी कर्त्ता कैसा है ?

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।। (१८/२८)

'अयुक्तः' यानी जो युक्तिहीन काम करे। हमें युक्तिसंगत काम करना चाहिये। अज्ञानी कैसे काम करेगा ? जिस डाल पर बैठा है उसी को काटेगा। आपने कालिदास वाली कहानी सुनी होगी। *'प्राकृतः'* माने ? जिसमें कोई भी परिमार्जन, शोधन न हुआ हो। जैसा था वैसा ही। हम लोग माँ के पेट से सीखकर पैदा होते हैं क्या ? अच्छी बातें, बुरी बातें जो भी सीखते हैं, बाद में सीखते हैं। अगर हम प्रकृति के अधीन रहते तो जानवर होते। सारे पशु प्राकृत हैं। और इसलिये आज से दस हजार साल पहले जैसे थे, आज भी वैसे ही हैं। हम लोग प्राकृत नहीं हैं, हम लोग परिमार्जित हो चुके हैं। हम लोग परिष्कृत हैं लेकिन जो तामस कर्त्ता होता है वह अपने को परिष्कृत परिमार्जित नहीं करता। प्राकृत, ऐंठूखाँ ! किसी के आगे झुकेगा नहीं। लट्ठ की तरह खड़ा है, शठ है। जिसने उसका अच्छा काम भी किया उसको भी धोखा देगा, उसका भी बुरा करेगा। *'नैष्कृतिक'* माने दूसरे की वृत्ति को छेद देने वाला, काटने वाला। दूसरे को नुकसान पहुँचाओ। अपना लाभ हो, न हो। भर्तृहरि का वह श्लोक आपने सुना होगा—

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान्परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ।। (नीतिशतक-७१)

अर्थात् सत्पुरुष कौन है ? जो अपने स्वार्थ की बलि देकर भी दूसरे का भला करे। सामान्य पुरुष कौन है ? जो अपने स्वार्थ की रक्षा करते हुए दूसरे का भी भला करे। और जो अपने स्वार्थ के लिये दूसरों का बुरा करते हैं वे मानवरूपी राक्षस हैं। परन्तु जो निरर्थक ही दूसरों का अहित करते हैं उन्हें भला क्या कहा जाए, यह मैं नहीं जानता। वे हैं तामसी कर्त्ता। ये युक्तिविहीन, गँवार, विवेकशून्य, शठ होने के साथ-साथ *'नैष्कृतिक, अलसः'* आलसी, *'विषादी'* शिकायती राम हैं।

जिनकी बराबर रोनी सूरत रहती है। *दीर्घसूत्री* आज का काम कल, कल का काम परसों। एक दिन का काम एक महीने में भी नहीं, साल में भी नहीं। काम पूरा नहीं करेंगे क्योंकि काम उनके पास ज्यादा है? नहीं। एक पूरा हो जायेगा तो करेंगे क्या? तो दीर्घसूत्री। ऐसे लक्षणवाले तमोगुणी हैं। अब आप चुनिये कि आप कैसे कर्त्ता होंगे। तमोगुणी कि रजोगुणी ? भगवान् ने ये तीनों बातें बताईं कि कैसा कर्ता, कैसा कर्म और कैसा प्रेरक ज्ञान। ये तीनों बातें इसलिये बताई गई हैं कि हम अपने जीवन में कैसा बनें, इसकी योजना करें। हम आप चेष्टा करें कि भगवान् की कृपा से हम सात्त्विक बनें, हमारा कर्म सात्त्विक हो, हमारा ज्ञान भी सात्त्विक हो। श्रीराम जय राम जय जय राम। ●

प्रवचन-५१*

बुद्धि, धृति एवं सुख के त्रिविध भेद

प्रभु की महती कृपा है कि प्रवचन-क्रम निर्विघ्न चल रहा है। आगामी तीन प्रवचनों के बाद हम गीता माता की परिक्रमा सम्पन्न कर सकेंगे—यह परम संतोष की बात है।

पिछले प्रवचन में ज्ञान, कर्म एवं कर्ता के तीन-तीन भेदों की चर्चा की गई थी और राजस, तामस भावों को त्याग कर सात्त्विक भाव ग्रहण करने का परामर्श दिया गया था। आज का प्रवचन *'बुद्धि, धृति एवं सुख के त्रिविध भेद'* विषय पर केन्द्रित है। चूँकि ज्ञान और कर्म के मेल से ही कर्तृत्व होता है, अतः प्रभु ने पहले ज्ञान, कर्म और कर्ता का गुणों के अनुसार भेद वर्णित किया। विनोबाजी कहते हैं कि ज्ञान और कर्म का स्वरूप निर्भर है बुद्धि और धृति पर। बुद्धि और धृति करण रूप हैं तथा ज्ञान और कर्म कार्य रूप— इसलिए मूल करण की शुद्धि हेतु भगवान् पहले बुद्धि एवं धृति के तीन भेद गुणानुसार सम्पूर्णता से बताते हैं और अलग-अलग भी। वे कहते हैं—

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।। (१८/२९)

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणस्त्रिविधं शृणु —बुद्धि एवं धृति के गुणों के अनुसार तीन प्रकार के भेद ध्यानपूर्वक सुनो। *गुणतः* यानी गुणों के अनुसार। *त्रिविधं* —तीन प्रकार के। प्रभु इन भेदों को पूर्णता से *(अशेषेण)* और अलग-अलग *(पृथक्त्वेन)* समझाते हैं। वे कहते हैं कि बुद्धि और धृति से संबंधित जानने योग्य आवश्यक बातें पूर्णता से मैं कहूँगा। यहाँ भगवान् अर्जुन को धनंजय कहकर संबोधित करते हैं। यह सम्बोधन साभिप्राय है। पांडवों द्वारा जब राजसूय यज्ञ किया गया था, उस यज्ञ में कई राजाओं को जीत कर बहुत सारा धन लेकर अर्जुन आए थे — तभी से उनका नाम 'धनंजय' पड़ा। यहाँ भगवान् 'वास्तविक' धन की प्राप्ति हेतु अर्जुन को प्रेरित कर रहे हैं। वे कहते हैं कि सात्त्विकी बुद्धि और धृति के द्वारा गुणातीत तत्त्व की प्राप्ति ही वास्तविक धन है।

* अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या २९ से ४०

'*धृति*' शब्द पर ध्यान दीजिए। इसका सीधा अर्थ है धारण करना। धृति अर्थात् संकल्प की दृढ़ता; मानसिक प्रकृति की वह शक्ति, जो कर्म को धारण कर उसे दृढ़ता प्रदान करती है। कर्तव्य कर्म को बुद्धि के द्वारा निश्चय कर लेने के बाद जब इन्द्रियाँ उसे कर्मचेष्टा के माध्यम से कार्यरूप में रूपान्तरित करती हैं, इस लगे रहने का नाम ही धृति है। यानी प्रारंभ किए गए कार्य में दृढ़ता एवं निष्ठा के साथ लगे रहना ही '*धृति*' है। बुद्धि द्वारा किए गए निश्चय को दृढ़ रखकर लक्ष्य से विचलित न होने देनेवाली धारण-शक्ति ही धृति है। मनुष्य जो भी काम करता है, वह विचारपूर्वक बुद्धि के साथ ही करता है। कार्य करते हुए बड़े धैर्य की जरूरत होती है। यदि बुद्धि और धृति दोनों श्रेष्ठ हैं तो लक्ष्य से भटकाव नहीं होता, संकल्पित कार्य पूर्ण होता है।

बुद्धि एवं धृति का अंतर भी ठीक-ठीक समझना चाहिए। ये दोनों ही मानव-वृत्तियाँ हैं। ऊपरी तौर पर देखने से धृति, बुद्धि का एक गुण प्रतीत होती है— लेकिन बुद्धि का गुण होते हुए भी धृति बुद्धि से विशिष्ट है। धृति के कारण ही मनुष्य बुद्धि का ठीक-ठीक प्रयोग करता है। मेरे गुरु स्वामी अखंडानंदजी सरस्वती के अनुसार साधारण धारणात्मक वृत्ति का नाम बुद्धि है तथा विशेष धारणात्मक वृत्ति का नाम धृति है। बुद्धि दिशा दिखाती है, धृति कार्य को गति प्रदान करती है। दोनों के मेल से ही कार्य सम्पन्न होता है।

बुद्धि एवं धृति के तीन-तीन भेदों को बताने का भगवान् का उद्देश्य यह है कि राजसी-तामसी वृत्तियों को त्यागकर सात्त्विक बुद्धि एवं सात्त्विक धृति को धारण करना चाहिए। ऐसा करने पर ही साधक उच्च स्थान प्राप्त कर सकता है। गीता में बुद्धि एवं धृति की महिमा अन्यत्र भी बताई गई है। छठें अध्याय में भगवान् कहते हैं कि धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करो—

'शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया' (६/२५-१)

इसी (अठारहवें) अध्याय में *'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च'* (१८/५१-१) कहकर भगवान् ने विशुद्ध बुद्धि और सात्त्विक धृति की महत्ता रेखांकित की है। यानी यदि विचार शक्ति (बुद्धि) और धारण शक्ति (धृति) श्रेष्ठ होगी तो मनुष्य लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं होगा। अगले श्लोक में सात्त्विक बुद्धि का लक्षण बताते हुए भगवान् कहते हैं—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।। (१८/३०)

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च — संसार से कहाँ तक जुड़ना चाहिए, कहाँ निवृत्त हो

जाना चाहिए। *कार्याकार्ये* — क्या कर्त्तव्य है, क्या अकर्त्तव्य है। *भयाभये* — किस काम को करते हुए डरना चाहिए और किस कार्य को निडर होकर करना चाहिए। ये सभी बातें समझनी चाहिएँ। सात्त्विक बुद्धि इसे जानती है। वह समझती है कि बन्धन क्या है और मोक्ष क्या है। वास्तव में अहंकार, स्वार्थ एवं आसक्ति से रहित होकर काम करना *निवृत्ति* है और स्वार्थ के वशीभूत होकर अहंकार की पुष्टि के लिए किया गया काम *प्रवृत्ति* है। *कार्याकार्ये भयाभये* — मर्यादा के अनुकूल जो कार्य किया जाता है, वह कार्य है तथा जो कार्य मर्यादा-विरुद्ध है, वह अकार्य है। अकार्य में बंधन है, भय है। कार्य अर्थात् कर्त्तव्य कर्म वह है, जिसको करने से जीव का कल्याण होता है। कर्त्तव्य अकरणीय कार्य को टालता है और करणीय कर्म की ओर प्रेरित करता है। ऐसा कार्य करने से अभय की, मोक्ष की प्राप्ति होती है। अकरणीय कार्य करनेवाले व्यक्ति के मन में यश, अपयश आदि की आशंका बनी रहती है, जो भय का हेतु है। सात्त्विक बुद्धि सही-सही निर्णय करती है। '*अकार्य*' करने से भय होता है, '*कार्य*' में प्रवृत्ति से अभय होता है।

सांसारिक कार्य करना प्रवृत्ति है और एकान्त में भजन-पूजन निवृत्ति है। याद रखिए सांसारिक कामना रहने पर निवृत्ति भी प्रवृत्ति हो जाती है और सांसारिक कामना से रहित प्रवृत्ति भी निवृत्ति हो जाती है। शांकर भाष्य के अनुसार प्रवृत्ति है बंधन का हेतु रूप कर्म मार्ग तथा निवृत्ति है मोक्ष का हेतुरूप संन्यास मार्ग। बंध और मोक्ष के साथ प्रवृत्ति और निवृत्ति की समान-वाक्यता है अतः प्रवृत्ति का अर्थ कर्म-मार्ग तथा निवृत्ति का अर्थ संन्यास मार्ग है। रामानुज भाष्य के मतानुसार लौकिक उन्नति के साधन रूप धर्म का नाम प्रवृत्ति है तथा मोक्ष के साधन रूप धर्म का नाम निवृत्ति है। मधुसूदनी टीका के अनुसार प्रवृत्ति मार्ग में मिथ्या ज्ञान जन्य कर्तृत्व का अभिमान होता है। निवृत्ति मार्ग में तत्त्वज्ञान के कारण अज्ञान के सब कार्यों का अभाव होता है। एक बन्धन का तो दूसरा मोक्ष का हेतु है। सीधा अर्थ है कि प्रवृत्ति संसारोन्मुख करती है और निवृत्ति ईश्वरोन्मुख करती है। इसलिए साधक को कामना - वासना रहित प्रवृत्ति-निवृत्ति ग्रहण करने का परामर्श दिया गया है। कबतक कर्त्तव्य करना है और कब संन्यास लेना है—यह भी जानना आवश्यक है। कहाँ तक प्रवृत्ति रखनी है और कहाँ तक निवृत्ति— इसकी सीमा रेखा मन में होनी चाहिए और उसे बुद्धि से ठीक-ठीक समझना चाहिए।

'*बन्धं मोक्षं च या वेत्ति*' — बंधन क्या है, मोक्ष क्या है— इसके वास्तविक तत्त्व को सात्त्विकी बुद्धि जानती है। बाहर से दान, यज्ञ, तप आदि उत्तम कार्य करते हुए भी यदि मन में लौकिक भोगों एवं स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा है, तो वह बंध अर्थात्

बंधनकारक है। परमात्मा के अलावा और कुछ पाने की इच्छा न होने पर ही मोक्ष यानी मुक्ति है। अज्ञान से, अशुद्ध अंतःकरण से बंधन होता है। ज्ञान से, शुद्ध अन्तःकरण से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह बात जब समझ में आ जाय तब बुद्धि सात्विक है। तात्पर्य यह है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय, बंधन-मोक्ष आदि को ठीक-ठीक जान लेती है सात्त्विकी बुद्धि। बुद्धि मनुष्य की श्रेष्ठतम शक्ति है। बुद्धि अगर शुद्ध है, तो सब प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं— *'शुद्धाहि बुद्धिः किलकामधेनुः।'*

राजसी बुद्धि क्या है, इसे अगले श्लोक में बता रहे हैं—

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।। (१८/३१)

'यया' — जिसके द्वारा। जिसके द्वारा मनुष्य धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य को ठीक तरह से नहीं जानता और अच्छे-बुरे सब काम करता रहता है, वह बुद्धि राजसी-बुद्धि है। *'अयथावत्प्रजानाति'* — यथावत् नहीं जानता, यानी अधूरा जानता है। कल्याण का मार्ग धर्म का मार्ग है; स्वार्थ का रास्ता दूसरे को दुःख देकर, सुख या अधिकार प्राप्त करना अधर्म का रास्ता है। अधर्म-मार्ग जीव को बंधन में डालता है। शास्त्रोक्त तथा मर्यादा में रहकर किया गया कार्य कर्त्तव्य है। इसके ठीक विपरीत अमर्यादित आचरण और स्वार्थ - अभिमान के पोषण के लिए किया गया कार्य अकर्त्तव्य है। राजसी बुद्धि स्वार्थ, पक्षपात, वैषम्य आदि दोषों से युक्त होती है।

राजसी बुद्धि शुद्ध परिष्कृत नहीं होती, वह रंजित होती है। रँगी हुई होने के कारण; अहंकार एवं स्वार्थ में डूबी हुई होने के कारण वह बुद्धि अधूरा जानती है। वह धर्म-अधर्म, कार्य-अकार्य को ठीक-ठीक नहीं समझ पाती। आज के समय में कर्त्तव्य को त्यागकर अकर्त्तव्य करनेवाले अनेक लोग हम अपने इर्द-गिर्द देख सकते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण राजनेता हैं। राष्ट्र एवं समाज का हित-चिन्तन छोड़कर अधिकांश नेता स्वार्थ एवं भ्रष्टाचार में संलग्न हैं। विजय निर्बाध की पंक्तियाँ याद हो आईं—

सच सूली पर चढ़ा हुआ है, झूठ हृदय का हार हो गया
बात फर्ज की क्या करते हो, अब सब कुछ अधिकार हो गया।
इस कोने से उस कोने तक, सदाचार के महल ढह गए
शासन का सरताज साथियों, सचमुच भ्रष्टाचार हो गया।।

तमोगुण से आवृत बुद्धि कैसी होती है? भगवान् अगले श्लोक में बता रहे हैं-

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।। (१८/३२)

तमोगुण से ढकी बुद्धि 'अधर्म' को ही धर्म मानती है तथा अन्य सभी बातों का विपरीत अर्थ लगाती है। वह हित की बात को भी अहितकर मानती है। तुलसीबाबा ने मानस में असन्तों के स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि तामसी बुद्धि के लोग अकारण सबसे दुश्मनी करते हैं और अपना हित चाहने वाले का भी अहित करते हैं।

बयरु अकारन सब काहू सों।
जो कर हित अनहित ताहू सों।। (मानस.७/३८-६)

'तमसावृता' —तमोगुण से घिरी हुई। *अधर्मं धर्मं इति मन्यते* — अधर्म को धर्म मान लेती है। *'सर्वार्थान्'* यानी सभी वस्तुओं को। *'विपरीतान्'* —उलटा। *'सर्वार्थान्विपरीतांश्च'* का तात्पर्य समझना चाहिए। सब वस्तुओं को विपरीत देखती है तामसी बुद्धि। यह बुद्धि उलटा चलती है, सीधा काम नहीं करती। ईश्वर को न मानकर जगत् को सत्य मानना, दूसरों को हेय और मूर्ख समझकर अपने को श्रेष्ठ और विद्वान् मानना, अपवित्र को पवित्र मानना, संतों, महात्माओं, गुणीजनों के वचनों का निरादर करना —यह तामसी बुद्धि का उलटा व्यवहार है। तामसी बुद्धि पतन की ओर ले जाती है।

तीसवें, इकतीसवें तथा बत्तीसवें श्लोक में बुद्धि के तीन भेद— सात्त्विकी, राजसी, तामसी बताए गए। अब भगवान् धृति के तीन भेद बताते हुए सात्त्विकी धृति के लक्षण बता रहे हैं—

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।। (१८/३३)

अर्थात् हे पार्थ ! वह धृति सात्त्विकी है, जो योगाभ्यास करके अव्यभिचारिणी धरणा से मन, प्राण, इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करती है। *योगेनाव्यभिचारिण्या*— योगेन + अव्यभिचारिण्या। *मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः* यानी मन, प्राण और इन्द्रिय की क्रियाओं को। यानी जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं पर नियंत्रण हो जाता है— वह सात्त्विकी धृति है। मेरे गुरु स्वामी अखंडानंद जी सरस्वती कहते थे— बुद्धि का अर्थ है समझना और धृति का मतलब है रोकना। सात्त्विकी धृति गलत दिशाओं में जाने नहीं देती, हमें रोकती है। ऐसा तभी संभव होता है जब बुद्धि योगाभ्यास द्वारा अव्यभिचारिणी बन जाय। व्यभिचारिणी बुद्धि स्थिर नहीं होती, विचलित होती रहती है। वह ठीक से काम नहीं करती।

अव्यभिचारिणी धृति का अर्थ समझना चाहिए। शांकर-भाष्य के अनुसार अव्यभिचारिणी धृति सदा समाधि में लगी हुई धारणा है। समाधि योग से मन, प्राण और इन्द्रियों की सब क्रियाएँ धारण की जाती हैं। तात्पर्य यह है कि सात्त्विकी धृति द्वारा

धारण की गई इन्द्रियाँ शास्त्र-विरुद्ध विषय में प्रवृत्त नहीं होती। रामानुजाचार्य कहते हैं कि जिस अव्यभिचारिणी धृति से पुरुष योग के उद्देश्य से मन, प्राण, इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह सात्त्विकी धृति है। स्वामी रामसुखदासजी ने *योगेनाव्यभिचारिण्या* की व्याख्या करते हुए कहा है कि सांसारिक लाभ-हानि, जय-पराजय, सुख-दुख, सिद्धि-असिद्धि में सम रहने का नाम 'योग' (समता) है। वे कहते हैं कि परमात्मा को चाहने के साथ इस लोक में सिद्धि और परलोक में सुख-भोग की कामना 'व्यभिचार' है। इस लोक तथा परलोक के सुख, भोग, वस्तु, पदार्थ आदि की इच्छा न रखकर केवल परमात्मा को चाहना 'अव्यभिचार' है। यह अव्यभिचार जिसमें होता है, उसकी धृति *अव्यभिचारिणी* कही जाती है। अव्यभिचारिणी धृति से मनुष्य योग द्वारा परमात्मा से युक्तता के अभ्यास में दृढ़ता से प्रवृत्त होता है। यह विषयान्तर को न धारण करनेवाली धृति है। अव्यभिचारिणी धृति से अटल उद्देश्य को धारण करना संभव होता है। संक्षेप में कहें तो मन-प्राण इन्द्रियों को परमात्मा की ओर एकनिष्ठ रहकर उन्मुख करना ही सात्त्विकी धृति है। राजसी धृति क्या है ? भगवान् आगे कहते हैं—

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।। (१८/३४)

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या — धर्मकामार्थान् + धृत्या। यानी जिस धृति के द्वारा धर्म, काम और अर्थ को। *धारयते* — धारण करता है। अर्थात् जिस धृति या अटल संकल्प के द्वारा मनुष्य धर्म-काम-अर्थ को ठीक-ठीक धारण करता है और प्रसंगानुकूल फलाकांक्षा करता है, वह राजसी धृति है। राजसी धृति के लिए कहा— *'प्रसंगेन फलाकांक्षी'।* यानी प्रसंग अनुकूल हो तो वह धृति फल की आकांक्षा भी कर लेती है। राजसी धृति के लोग कामना पूर्ति के लिए धर्म का अनुष्ठान करते हैं, दान देते हैं, तीर्थ-व्रत-उपवास करते हैं। सात्त्विकी धृति फल-त्यागी होती है तो राजसी धृति फलाकांक्षी। कामना और आसक्ति रजोगुण का मुख्य लक्षण है— यह बात पहले भी बताई जा चुकी है। उन गुणों से युक्त धृति राजसी धृति है। अब तामसी धृति का लक्षण बता रहे हैं—

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।। (१८/३५)

जो धृति निद्रा, भय, शोक, दुःख, अभिमान को पकड़े रहती है— इन्हें किसी भी तरह नहीं छोड़ती, वह तामसी धृति है। *न विमुंचति* — नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किए रहता है। जिसे छोड़ना चाहिए, उसे पकड़े रहना; जिसे पकड़ना चाहिए उसे त्याग

देना— यह तामसी धृति का लक्षण है। तामसी धृति के व्यक्ति सांसारिक भोग में लिप्त मत्त लोग हैं।

भय क्या है? मैंने पहले भी बताया है कि अनिष्ट की आशंका से होनेवाली व्याकुलता ही भय है। इसी तरह अतीत की घटना के कारण मन में होनेवाली दुश्चिन्ता से युक्त पीड़ा या विकलता *शोक* है। *विषाद* यानी दुःख। *मद* का तात्पर्य होता है घमण्ड। किसी को रूप-यौवन का घमण्ड होता है, किसी को धन सम्पत्ति का; किसी को पद-प्रतिष्ठा का अहंकार होता है तो किसी को बल का। विवेक एवं दूरदर्शिता से रहित उन्मत्त वृत्ति ही मद है। इस श्लोक में *स्वप्न* का तात्पर्य निद्रा या तन्द्रा से है यानी मन और इंद्रियों को बाह्य क्रियाओं से रहित मूढ़ बनाने का भाव।

तामसी धारण शक्ति वाले लोग निद्रा, शोक, भय, चिन्ता, दुःख आदि में डूबे रहते हैं तथा अनुकूल स्थिति में घमण्ड में चूर रहते हैं। *एव च* यानी 'और भी' से तात्पर्य अन्य दुर्गुण-दुराचारों से है, जो तामसी धृति के सूचक हैं। तामसी धृति अनर्थकारी होती है— कल्याण की कामना करनेवाले मनुष्य को इसे हर प्रकार से त्याग देना चाहिए।

इस श्लोक में *'दुर्मेधा'* शब्द पर ध्यान जाना चाहिए। जो बुद्धि धारण करती है, यानी धारणवती बुद्धि *'मेधा'* कहलाती है। अर्थ को नष्ट कर देनेवाली, छिन्न-भिन्न कर देने वाली बुद्धि *'दुर्मेधा'* कही जाती है। दुर्मेधा का तात्पर्य है कुत्सित बुद्धि वाला। जो बुद्धि अत्यन्त मलिन और मन्द होती है वह दुर्मेधा कहलाती है। इस प्रकार की बुद्धि वाले व्यक्ति के अंतःकरण में दूसरों का बुरा करने का भाव रहता है। बुद्धि तो वह है जो अज्ञान का नाश कर दे। निद्रा, भय, शोक, विषाद से ग्रस्त मदमस्त लोगों की धृति उलटी होती है— तामसी होती है। शुद्ध एवं निर्मल बुद्धि से ही कामनाएँ पूर्ण होती हैं। हमलोग भगवती सीता की वंदना करते हैं, ताकि हमें निर्मल मति प्राप्त हो। तुलसीबाबा की पंक्तियाँ हैं—

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की।।
ताके जुग पद कमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ।।

(मानस.१/१७-७)

क्रिया एवं कारकों का त्रैविध्य निरूपित करने के उपरांत भगवान् अब उनके फलस्वरूप सुख का त्रैविध्य कहते हैं। मनुष्य सारे कर्म सुख की प्राप्ति हेतु ही करता है। अतः उसके भी तीनों भेद विवेचित किए गये। अगले चार श्लोकों में भगवान् अर्जुन को सुख के तीन प्रकार बताते हैं। वे कहते हैं—

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।। (१८/३६)
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धि प्रसादजम्।। (१८/३७)

मनुष्य चूँकि सारे कर्म सुख के लिए करता है, अतः उसके भी तीन भेद विवेचित किए गए। डेढ़ श्लोक में सात्त्विक सुख का स्वरूप निर्दिष्ट किया गया। तत्पश्चात् राजसी सुख एवं तामसी सुख के बारे में भगवान् ने बताया—

सुखं तु इदानीम् यानी अब सुख को भी। *'शृणु'* — सुनो। *'त्रिविधं'* — तीन प्रकार के। *'मे'* —मुझसे। अर्थात् हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! अब तीन प्रकार के सुख को भी मुझसे सुनो। यहाँ *'भरतर्षभ'* संबोधन का भी अभिप्राय है। यानी जो भरतवंशियों में श्रेष्ठ है वह। वह श्रेष्ठ व्यक्ति राजस-तामस सुखों में लुब्ध-मोहित होने वाला नहीं है।

यहाँ भगवान् कृपापूर्वक उस सात्त्विक सुख को बता रहे है, जो ईश्वर की ओर उन्मुख करनेवाला है और जो संसार के आकर्षण से विमुख करता है। संसार के राजसी-तामसी सुख में लिप्त मानवों को; लोभ-भोग तथा इन्द्रियजन्य सुख को वास्तविक सुख समझ लेने वालों को प्रभु बताना चाहते हैं कि इन सुखों से अलग सच्चा और स्थायी सुख 'सात्त्विक सुख' है। इस सात्त्विक सुख में — *'अभ्यासाद्रमते यत्र'* — अभ्यास से रमण होता है।

अभ्यास से क्या तात्पर्य है ? सात्त्विक सुख प्राप्ति के लिए जिस अभ्यास की बात कही गई है, वह श्रवण, मनन शास्त्रों का विवेचन-चिंतन तो है ही, सद्वृत्तियों को विकसित करने और असद्वृत्तियों को हटाने का भी अभ्यास है। यानी राजसी-तामसी वृत्तियों को हटाने का अनवरत अभ्यास भी आवश्यक है। चूँकि राजस और तामस सुख की ओर प्राणिमात्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, अतः उससे पृथक् नवीन सात्त्विक वृत्ति का अभ्यास आवश्यक है।

यहाँ *'रमते'* का तात्पर्य 'रमण' या भोग नहीं है, नवीन सात्त्विक वृत्ति के अभ्यास में रुचि या प्रवृत्ति होने को ही यहाँ रमण कहा गया है। यानी सात्त्विक सुख में साधक भजन, ध्यान, पूजन, सेवादि के अभ्यास से रमण करता है। ऐसा करने से क्या होता है ? *'दुःखान्तं च निगच्छति'* —दुखों का अन्त हो जाता है। सीधा अर्थ यह है कि सात्त्विक सुख में आप अभ्यास से जितनी रुचि दिखायेंगे, परिणामस्वरूप उतना ही दुःख नष्ट होता जायेगा और सुख तथा आनन्द की प्राप्ति होगी।

राजस-तामस सुख में विषयजन्य, भोगजन्य, निद्राजन्य स्वतः प्रवृत्ति होती है। उसके लिए अभ्यास नहीं करना पड़ता। कोई आपकी प्रशंसा करे तो अच्छा लगता है कि नहीं ? अच्छा लगता है। कई लोग तो ऐसे हैं जो प्रशंसा में कमी रह जाने पर नाराज भी हो जाते हैं। प्रशंसा के साथ नींद और विषय-वासनाओं के सुख की ओर हमारी सहज प्रवृत्ति होती है। उसके लिए अभ्यास नहीं करना पड़ता।

खाने-पीने का सुख, नींद का सुख यह तो पशु-पक्षियों को भी प्राप्त है। मनुष्य का श्रेष्ठ सुख, उन्नत सुख क्या है ? शास्त्र का अध्ययन-मनन, गुरु से प्राप्त शिक्षा एवम् उचित प्रज्ञा से कर्त्तव्य का निर्णय कर उस कर्त्तव्य का अभ्यास कर प्राप्त किया सुख ही सात्त्विक सुख है। प्रातःकाल उठकर नित्यकर्म से निवृत्त होकर संध्या-वंदन, पूजन का सुख सात्त्विक सुख है। यह सुख भी अभ्यास से ही प्राप्त होता है। इसके पालन में आरंभ में भले ही कष्ट हो, परन्तु अभ्यास द्वारा निरन्तर इसका पालन सुख प्रदान करता है। फिर तो नियम-भंग होने पर तकलीफ एवं ग्लानि होती है। ब्रह्म मुहूर्त में नियमित प्रातःभ्रमण करनेवाले, बारहों महीने—सर्दी, गर्मी, वर्षा में— अपना नियम नहीं तोड़ते। उनकी सुबह की सैर यदि किसी कारण नहीं हो पाती तो उस दिन वे उद्विग्न रहते हैं। तात्पर्य यह कि अभ्यास करके मन को अच्छे कामों में लगाना चाहिए। जैसे खेल-कूद में आसक्त विद्यार्थी के लिए विद्या का अध्यास या विषय-वासनाओं में लिप्त व्यक्ति को संयमपूर्वक भजन-पूजन आरंभ में विष की तरह प्रतीत होता है; परन्तु उसका फल अमृतोपम होता है। यानी अभ्यास करते समय पहले तो विष की तरह प्रतीत होता है; परन्तु परिणाम अमृतवत् होता है— *'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।'*

'यत्' यानी जो। *'अग्रे'* यानी आरंभ में। सांसारिक आकर्षण एवं आसक्ति के कारण जो सुख आरंभ में विष की तरह लगता है, वह परिणाम में अमृततुल्य होता है। आप किसी बड़े काम को हाथ में लीजिए। आरंभ में इतनी बाधाएँ–रुकावटें आयेंगी कि आप विचलित हो जायेंगे। सोचेंगे कि कैसी ज़हमत मोल ले ली। लेकिन आप यदि आरंभिक कष्टों को झेलते हुए दृढ़ता के साथ कर्मरत रहेंगे, तो सफलता सुनिश्चित है। मुझे अपनी एक चतुष्पदी याद आ रही है—

काम होता नहीं, किया जाता है,
हृदय मिलता नहीं, लिया जाता है।
किनारे बैठना तो साँस लेना है,
बीच तरंगों के जिया जाता है।।

बड़े काम को हाथ में लेकर उसकी पूर्ति में आयी तमाम बाधाओं, विपदाओं

को झेलने की क्षमता जिसमें होती है, सफलता उसे ही मिलती है। और जब सफलता मिलती है तो उसकी प्राप्ति सारे दुःख-क्लेश को भुलाकर तरोताजा कर देती है। हम सबने अध्ययन काल में परीक्षाएँ दी हैं। इम्तहान के दौरान विद्यार्थी जब पढ़ाई में जुटता है तब कभी-कभी उसे कष्ट की प्रतीति होती है। उसे लगता है कि संसार का सबसे दुखी व्यक्ति वही है। सभी मौज-मजा कर रहे हैं, टी.वी. देख रहे हैं, सिनेमा एवं खेल का आनन्द ले रहे हैं—मैं किताबों से जूझने के लिए अभिशप्त हूँ। लेकिन वही विद्यार्थी जब सफलता प्राप्त करता है, अच्छे अंक, अच्छा स्थान प्राप्त करता है— तब ? तब वह आनन्द और प्रफुल्लता की अनुभूति करते हुए अपने कष्टकारी दिनों को भूल जता है। श्रीकांत वर्मा की पंक्तियाँ हैं—

चाहता तो बच सकता था
मगर कैसे बच सकता था
जो बचेगा, कैसे रचेगा ?
पहले मैं झुलसा, फिर धधका, चिटखने लगा।
कराह सकता था,
मगर कैसे कराह सकता था,
जो कराहेगा, कैसे निबाहेगा ?

जो बिना कराहे, सृजन की ज्वाला झेलेगा, कष्ट सहेगा—वही समाज को अच्छा से अच्छा दे सकेगा। तो परिणाम में अमृतवत् लगनेवाला सुख सात्त्विक सुख है—

'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' (१८/३७-१)

भगवान् आगे बता रहे हैं कि ऐसा सुख सात्त्विक सुख है जो परमात्म विषयक बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न हो—

'तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तं आत्मबुद्धि प्रसादजम्'। (१८/३७-२)

बुद्धि जब निर्मल होती है, तब उसे बाहर की वस्तुओं से सुख की अनुभूति नहीं होती, वह अपनी आंतरिक शान्ति से, अन्तःकरण के सुख से प्रसन्न होती है। बुद्धि जब निर्मल हो जायेगी तो पद में, मान-सम्मान में, मकान में, धन में वाहन में सुख की प्राप्ति नहीं होगी। सुख मिलेगा परमात्म-विषयक चिन्तन में। ऐसा तब होगा जब अंतःकरण में स्वच्छता एवं निर्मलता होगी। यह सुख अभ्यास से ही प्राप्त होता है। अभ्यास के पहले तो सारा सुख संसार में दिखता है, परिवार में, संबंधों में, धन संपत्ति-वैभव में; परन्तु सतत अभ्यास से बुद्धि के निर्मल हो जाने के उपरान्त वास्तविक सुख पर पड़ा पर्दा हट जाता है और सात्त्विक सुख की प्राप्ति होती है। स्वामी रामतीर्थ की पंक्तियाँ हैं—

न बाप-बेटा, न दोस्त-दुश्मन
न हम हैं आशिक सनम किसी के।
अजब तरह से हुई फरागत
न कोई अपना न हम किसी के।।
न हमने बोया, न हमने जोता
न हमने काटा, न हमने गाहा।
उठा जो दिल से भरम का परदा
तो उसके उठते ही फिर अहा-हा।।

शुद्ध बुद्धि, निर्मल बुद्धि वास्तविक सुख पर पड़े भ्रम के पर्दे को हटा देती है और आन्तरिक आनन्द की प्रतीति कराती है। सात्त्विक सुख दुखदायी नहीं होता— वह आरंभ में विषवत् प्रतीत होता है परन्तु निर्मल बुद्धि के प्रभाव से वह अभ्यास द्वारा अमृत-तुल्य हो जाता है। आत्मज्ञान का सात्त्विक सुख ही सच्चा सुख है; राजस, तामस सुख तो सुखाभास मात्र है। अगले श्लोक में राजस सुख का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं—

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। (१८/३८)

'विषयेन्द्रिय संयोगात्' —विषय और इन्द्रियों के संयोग से। *'यत्तदग्रेऽमृतोपमम्'* जो आरंभ में अमृत की तरह लगता है वह। विषय और इन्द्रियों का संयोग होने पर जो सुख आरंभ में अमृततुल्य प्रतीत होता है परन्तु परिणाम में विष के समान है — वह राजस कहा गया है।

जिन्हें मधुमेह की, शुगर की बीमारी है, वे अगर मीठा खायेंगे — या जिनका पेट खराब है — वे रबड़ी खायेंगे तो खाने में तो आरंभ में बड़ा मजा आयेगा लेकिन परिणाम क्या होगा ? *परिणामे विषमिव।* जीभ को सुख देने के लिए निषिद्ध भोजन तो कर लिया लेकिन परिणाम तो हानिकारक ही हुआ। यानी राजस सुख आरंभ में तो आकृष्ट करता है लेकिन परिणाम में बल, वीर्य, धन, विवेक का नाश करनेवाला होता है। राजस सुख आत्मबुद्धि की निर्मलता से प्राप्त सुख नहीं है, वह विषयों – इन्द्रियों के संयोग से प्राप्त सुख है। यह सुख भोगानुभव के काल में अमृत जैसा लगता है किन्तु परिणाम में इस लोक और परलोक दोनों में दुखदायी होता है।

राजस-सुख आधिभौतिक होता है, सच्चा और नित्य सुख इन्द्रिय-भोग में नहीं होता। भोगों से उत्पन्न राजस सुख परिणाम में दुःख-क्लेश देता है। चूँकि परिणाम में

दुःख मिलता है, अतः वास्तव में यह सुख नहीं है परन्तु आरंभ में सुख की प्रतीति के कारण मानव इसके लिए सतत प्रयास करता रहता है। लगातार विषयों के भोग से भोग-शक्ति कमजोर पड़ जाती है और उससे अरुचि हो जाती है। ऐसी अवस्था में यदि भोग अनवरत जारी रहा तो दुःख एवं रोग का कारण बनता है। गीता में कहा भी है– *'रजसस्तु फलं दुखम्'* (१४/१६)

आगे तामस सुख का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि वह पहले और बाद में भी मोहग्रस्त करता है। वह निद्रा, आलस्य और प्रमाद से युक्त करता है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्य प्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।। (१८/३९)

'यदग्रे चानुबन्धे च' —जो आरंभ में और परिणाम में भी। *अनुबन्धे* यानी परिणाम में। *मोहनं आत्मनः* —अपने को मोहित करने वाला। जो सुख भोगकाल में और परिणाम में भी आत्मा को मोह में डालनेवाला है। मोह किसको कहते हैं ? वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न समझने का नाम ही मोह है। विवेक में बाधक होता है मोह। *निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्* —निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा गया है। यह ऐसा सुख है जिसमें मोह के कारण विवेक लुप्त हो जाता है। जब बुद्धि ही नष्ट हो जाय तब जो गति होती है— वह। लोग अपने दुःखों को भूलने के लिए मादक वस्तुओं का सेवन करते हैं। ग़म ग़लत करने के लिए शराब पीने वालों की चर्चा आपने सुनी ही होगी। नींद का, आलस्य और व्यर्थ की चेष्टाओं का, प्रमाद का सुख तामस सुख है।

'निद्रा' —नींद का सुख भोगकाल में भी मोहकारक है। यह तमोगुणी सुख है। निद्रा प्रेमी लोग कहते ही हैं— *मुँह ढक के सो रहो आराम बड़ी चीज है।* मैंने पहले भी आलसी रईसजादों की चर्चा की है, जो निद्रा-सुख में लीन रहते हैं—

बड़े बाप के बेटे हैं, जब से पैदा हुए हैं, लेटे हैं।

गीतकार नीरज ने कहा है *'नींद आती है तो तकदीर भी सो जाती है'।* जागरण का संदेश देते हुए वे कहते हैं—

जागते रहिए जमाने को जगाते रहिए,
मेरी आवाज़ में आवाज़ मिलाते रहिए।
नींद आती है तो तकदीर भी सो जाती है,
कोई अब सो न सके, गीत वो गाते रहिए।।

कबीर का दोहा आप सबको याद होगा—

सुखिया सब संसार है, खाए और सोए।
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोए।।

निद्रा के दो प्रकार होते हैं— युक्त निद्रा और अति निद्रा। समय पर सोना और समय पर जागना— युक्त निद्रा है। इस निद्रा से शरीर को विश्राम मिलता है। ऐसी निद्रा स्फूर्तिदायिनी होती है। अधिक सोना अति निद्रा है। इस प्रकार की निद्रा के कारण शरीर में सदैव आलस्य बना रहता है। साधक की निःस्वप्न निद्रा समाधि तुल्य है — उसको तामस की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। इस निद्रा से ताज़गी और प्रतिभा की प्राप्ति होती है। यहाँ निद्रा से तात्पर्य ऐसी निद्रा से है जो आलस्य, प्रमाद आदि जड़ भावों को उत्पन्न करती है। ऐसी निद्रा तामस कोटि की है।

'*आलस्य*' —इंद्रिय व्यापार की मंदता को ही आलस्य कहते हैं, इसके परिणाम स्वरूप ज्ञान भी मंद हो जाता है। चर्चित सूक्ति है— '*आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः।* शरीर का सबसे बड़ा शत्रु है आलस्य। आलसी व्यक्ति का सिद्धांत ही है–

आज करे सो काल्ह कर, काल्ह करे सो परसों।
इतनी जल्दी क्या पड़ी, जीना तो है बरसों।।

आज के काम को कल पर और आगामी दिन के कार्य को टालते रहना ही उसका स्वभाव है। *प्रमाद* किसको कहते हैं ? कर्त्तव्य में असावधानी का नाम प्रमाद है। प्रमादजन्य तामस सुख ऐसे लोगों को मिलता है जो व्यर्थ समय नष्ट करते हैं। प्रमाद भी दो तरह का बताया गया है— एक अक्रिय प्रमाद, दूसरा सक्रिय प्रमाद। अक्रिय प्रमादी व्यक्ति आवश्यक कार्यों को टालते हुए निठल्ला बैठा रहता है। दुर्व्यसनों, दुराचारों में लिप्त तथा झूठ-कपट-बेईमानी में युक्त व्यक्ति सक्रिय प्रमादी होता है।

कवि सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने व्यर्थ समय नष्ट करने वालों पर मीठा व्यंग्य करते हुए कहा है कि ऐसे लोग हर समय काम के नाम को रोते रहते हैं; यहाँ तक कि खाली समय के निकम्मे कामों को भी 'काम' में शुमार करते हैं—

खाली समय में भी बहुत सा काम है,
किस्मत में भला कहाँ लिखा आराम है।

ऐसे निकम्मे लोगों की लम्बी कार्य-योजना के एक छोटे अंश का रोचक वर्णन सर्वेश्वर के ही शब्दों में—

गालियाँ दे-देकर मक्खियाँ उड़ायें।
आँगन के कौओं को भाषण पिलायें।।

कुत्ते के पिल्ले से हालचाल पूछें।
चित्रों में लड़कियों की बनायें मूछें।।
धूप पर राय दें, हवा की वकालत करें।
दुमड़-दुमड़ तकिये को जो कहिये हालत करें।।

ऐसे लोग मिथ्याचार, कपट, बेईमानी करने में आनन्द पाते हैं। निद्रा, आलस्य और प्रमाद का सुख तमोगुणी सुख है, ऐसे तामस सुख को दुःख ही समझना उचित है। प्रकरण का उपसंहार करते हुए भगवान् कहते हैं—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिःस्यात्त्रिभिर्गुणैः।। (१८/४०)

पृथ्वी में, स्वर्ग में अथवा देवताओं में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो इन तीनों गुणों से रहित है। सभी में सत्त्व, रज, तम तीन गुण हैं। *'पृथिव्यां'* यानी पृथ्वी में। इसमें मृत्युलोक और पृथ्वी के नीचे के अतल-वितल सभी लोक समाहित हैं। *'दिवि'* यानी स्वर्ग में। *देवेषु* — देवताओं में। अर्थात् ईश्वर से लेकर कीट-पतंग तक — सभी इन तीनों गुणों के अंतर्गत आते हैं। तीनों लोकों और समस्त ब्रह्माण्ड में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो इन तीनों गुणों से रहित हो, अर्थात् सब के सब त्रिगुणात्मक हैं।

मेरे गुरु स्वामी अखंडानंद जी कहते थे कि जहाँ से जो चीजें निकलती हैं, वे वहाँ से अपने उपादान का गुण लेकर आती हैं। चिड़िया का उदाहरण देकर समझाते हुए वे कहते थे कि उसकी प्रकृति तो उड़ना है। लेकिन क्या उसने योगाभ्यास द्वारा उड़ना सीखा ? नहीं। उसके माँ-बाप को उड़ना आता था, उस प्रकृति से वह भी सीख गई। इसी तरह संसार में जितनी भी चीजें पैदा होती हैं, वे इन तीन गुणों से किसी-न-किसी गुण की प्रधानता लेकर आती हैं।

ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति, सुख— इनके तीन-तीन भेदों को बताने का भगवान् का उद्देश्य यह है कि साधक को राजस-तामस का त्याग कर सत्त्वगुण बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए। प्रभु कृपा से हम इस ओर अग्रसर हों। श्रीराम जय राम जय जय राम। ●

प्रवचन-५२*

स्वकर्म से प्रभु-पूजन द्वारा ब्रह्म लाभ की योग्यता

भगवान् की कृपा है कि हम गीता ज्ञान-यज्ञ की परिक्रमा की पूर्णता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। विघ्न तो आते ही रहते हैं और राज्यपाल बनना भी एक प्रकार का विघ्न ही है**। एक और नयी उपाधि। उपाधि जो अपना वास्तविक स्वरूप नहीं है। वास्तविक स्वरूप के निकट जो है, उसको उपाधि कहते हैं। जैसे स्फटिक मणि का कोई रंग नहीं होता लेकिन अगर जवा-फूल उसके पीछे रख दिया जाए तो वह लाल रंग की दिखाई देती है। तो स्फटिक मणि में लालिमा जवा पुष्प की निकटता के कारण आरोपित हो गई है। हम विशुद्ध स्वरूप हैं। हम पर नाम-रूप की उपाधि आरोपित है। एक कल्पित नाम, एक रूप को 'मेरा अपना रूप है'—यह मान कर हम उसमें फँस जाते हैं, और भ्रम से ग्रस्त हो जाते हैं। इसलिए उपाधि-विनिर्मुक्त होना चाहिए। ज्ञान को प्राप्त करने के लिए, ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए, योग्यता अर्जित करने के लिए उपाधि-मुक्त होना होगा। अगर उपाधि बढ़ जाए तो समझो एक नया विघ्न और आ गया। यह भगवान् की कृपा है कि इस नए विघ्न के बावजूद यह क्रम चल रहा है। और यह भी कितनी बड़ी कृपा है कि यह विघ्न कार्य समापन के अवसर पर आया है।

आज का विषय इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है कि हम भगवान् की सच्ची पूजा कैसे करें? जो हमको भगवान् ने दिया है, जो हमारी सहज स्थिति है उस सहज स्थिति के अनुसार हम भगवान् की पूजा कैसे करें ? हमको भगवान् ने क्या दिया है ? हमको भगवान् ने स्वभाव दिया है। स्वभाव का सीधा मतलब है अपना भाव। मनुष्य शरीर लेकर पैदा होता है अपने पूर्वजन्म के कर्मों के अनुरूप। उस शरीर में एक विशेष प्रकार का भाव होता है। वह भाव भी हमको पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार प्राप्त होता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि हम इस जन्म में इसमें कोई सुधार या परिमार्जन-

**१२ दिसम्बर १९९९ को दिए गए इस प्रवचन के पूर्व १ दिसम्बर १९९९ को आचार्य शास्त्री को हिमाचल प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया था। —संपादक

* अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या ४१ से ५३

परिवर्तन नहीं कर सकते। जो कुछ अतीत में हमने किया है—अच्छा या बुरा, उसका अच्छा या बुरा परिणाम हमको इस जन्म में मिलेगा। लेकिन उस अच्छे या बुरे का जो परिणाम है, उसको भगवान् की कृपा से, संतों के सत्संग से, अपने परिश्रम से हम इस जीवन में परिवर्तित कर सकते हैं। हमारा सिद्धांत बराबर यह रहा है कि मनुष्य जिस स्थान पर पहुँचा है, उससे ऊपर उठने की आधारभूत योग्यता उसको प्राप्त है; क्योंकि हम सब भगवत्-स्वरूप हैं। इसलिए हम जिस स्तर पर हैं वह स्तर अंतिम है— यह कभी नहीं मानना चाहिए, अन्यथा कर्म के स्वातंत्र्य की जो कल्पना है, वह खंडित हो जाएगी। हमलोग बराबर यह मानते हैं कि हम कर्म करने में स्वतंत्र हैं और फल भोगने में परतंत्र हैं। हम कर्म करने में कितनी मात्रा में स्वतंत्र हैं— यह विवाद का विषय हो सकता है; लेकिन इस स्वातंत्र्य को निकाल कर हम-आप जिस भी स्थिति में हैं, उससे उन्नततर स्थिति की ओर जा सकते हैं— यह गीता माता का निश्चित मत है, यह हुई एक बात। दूसरी बात कि हमारी प्राचीन संस्कृति प्रकृति महामाया की मानव सृष्टि में चार बड़े विभाजनों को स्वीकार करती है। उसको चातुर्वर्ण्य कहा गया है। यह चातुर्वर्ण्य जन्मना है कि कर्मणा है—इस पर पुराने समय से बहस चली आई है। श्रीमद्भगवद्गीता में ही अन्यत्र कहा गया है कि—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ।। (४/१३)

मैंने चारों वर्णों की सृष्टि गुण-कर्म के आधार पर की। उस सृष्टि के कर्ता के रूप में मुझको जान कर भी मुझको अकर्त्ता समझो। परमात्मा जो भी करता है, वह कर्म नहीं करता। कर्म होता है लेकिन कर्म उसका स्वरूप नहीं है। कर्म का फल उसको प्राप्त नहीं होता क्योंकि वह कर्म करने के अहंकार से, फलेच्छा से कर्म ही नहीं करता। तो जो अहंकार विमुक्त होकर, मैं कर्ता हूँ, कर्तृत्व का अहंकार छोड़ कर; मैंने यह कर्म किया— इसका फल मुझको मिलना चाहिए— इस प्रकार की फलेच्छा छोड़कर; जो कर्म किए जाते हैं, वे कर्म वस्तुतः अकर्म हो जाते हैं।

बराबर याद रखिए कि कर्म हमको बाँधते कैसे हैं ? कर्मों का हमको फल क्यों भोगना पड़ता है ? क्योंकि हम यह मानते हैं कि यह हमने किया। मैं इसका कर्ता हूँ और चूँकि मैंने यह कर्म किया इसलिए स्वाभाविक रूप से इसका फल मुझको मिलना चाहिए। फल की इच्छा की भावना से जो कर्म किए जाते हैं— वे लिप्त होते हैं, वे हमको बाँधते हैं। लेकिन जब हम अपने को प्रभु का आश्रित मान कर, प्रभु का उपकरण मान कर या जब हम ज्ञान से अपने को अकर्त्ता मान कर या जब हम प्रभु को

समर्पित करके कर्म करते हैं तो उस कर्म का अहंकार नहीं होता और इसलिए कर्म का फल भी हमको प्राप्त नहीं होता— यह बात भी समझ में आनी चाहिए।

जो कर्म से ऊपर उठ सकते हैं— ऐसे लोग बहुत ही कम हैं, हजारों-लाखों में से कोई एक। अधिकांश लोग कर्तृत्व के अहंकार के लिए कर्म करते हैं, फल पाने के लिए कर्म करते हैं और इसलिए उन कर्मों का फल उनको प्राप्त होता है। उन तमाम अच्छे-बुरे कर्मों के फल के अनुरूप उनका अपना भाव बनता है। आप अक्सर कहते होंगे कि हम संसार का प्रपंच छोड़ देंगे। बहुत लोग हैं जो कभी आहत होते हैं, कष्ट पाते हैं तो कहते हैं कि प्रपंच छूट जाए। प्रपंच छोड़ने की इच्छा-मात्र से क्या प्रपंच छूटता है ? नहीं। प्रपंच क्यों नहीं छूटता ? क्योंकि प्रपंच छोड़ने की हमारी इच्छा सामयिक है, उस समय की इच्छा है। वह एक संचारी वृत्ति है। वह आकर बदल जाने वाली वृत्ति है। स्थायी वृत्ति क्या है ? स्थायी वृत्ति यही होती है कि इस संसार से हमको कुछ लाभ हो जाए, इस संसार में हमको यश या अधिकार प्राप्त हो जाए। इस संसार का हम भोग कर सकें। संसार का भोग, सुख; संसार में यश, क्षमता प्राप्त करने की लालसा बनी रहती है। यह हमारी स्थायी वृत्ति है। इस स्थायी वृत्ति के साथ जब हम बीच-बीच में भक्ति के क्षणों में या विरक्ति के क्षणों में संसार त्याग की भावना रखते हैं तो वह हमारी संसारी वृत्ति है। इसलिए इससे बात बनती नहीं है। असली बात तब बनेगी जब इस संसार से ऊपर उठ जाने की, इस संसार के सुखों के भोग करने की वृत्ति का त्याग हो जाए और वह सम्पूर्णतः भगवान् को समर्पित कर दी जाए। तब जो वृत्ति बनेगी उससे हम इस संसार के प्रपंच से, गर्व से ऊपर उठ कर निष्कर्मता को, उस ब्रह्म भाव को प्राप्त करेंगे। 'ब्रह्म सब कुछ करके कुछ नहीं करता। ब्रह्म अकर्त्ता है।' ब्रह्म के अकर्तृत्व को हम कैसे अपने जीवन में ले आएँ—कैसे हम ब्रह्म बन जाएँ ? हम कैसे अपने को ब्रह्म के रूप में अनुभव करें ? कितनी बड़ी बात, कितनी बड़ी चुनौती है ? हम इसी नाम रूप में रहते हुए, इसी नाम रूप के ऊपर उठ कर ब्रह्म बन जाने की योग्यता कैसे प्राप्त कर लें—उसको ध्यान में रख कर आज के प्रवचन का विषय रखा गया है। जितना बड़ा लक्ष्य है, उतनी बड़ी तैयारी, उतनी अधिक योग्यता, उतनी ही बड़ी साधना का अर्जन होना चाहिए। बड़ा लक्ष्य और छोटे आचरण—यह कैसे होगा ? उस बड़े लक्ष्य के लिए बड़ी बात कैसे होती है— इसे भी आज के प्रवचन में स्पष्ट करने की चेष्टा की जाएगी।

पहली बात— ये जो प्रकृति के द्वारा चार बड़े विभाग किए जाते हैं—ये चार बड़े विभाग भी त्रिगुणों के ऊपर आश्रित हैं—यह मैंने आपको कई बार बताया है कि

हमारी परंपरा यह मानती है कि सत्त्व-रज-तम— इन तीनों गुणों के मिश्रण से ही सारी सृष्टि बनी है। सारी दुनिया त्रिगुणाश्रित है— सत्त्व-रज-तम— इन तीनों गुणों पर आश्रित है। इस सत्त्व-रज-तम के मिश्रण असंख्य हो सकते हैं। कितना सत्त्व, कितना रज, कितना तम ? इनके मिश्रण में, इनके समन्वय में इतनी भिन्नता है कि कोई भी दो व्यक्ति एक जैसे नहीं होते। आप लोग यहाँ अगर हार्टिकल्चर सोसायटी में जाएँ तो वहाँ एक पगला पेड़ है, जिसकी कोई भी दो पत्तियाँ एक जैसी नहीं है। आपने नहीं देखा तो जाकर जरूर देखें। साधारण तौर पर जो पेड़ होते हैं उनकी पत्तियाँ समान होती हैं लेकिन पगला पेड़ की यह विशेषता है कि उसकी सब पत्तियाँ अलग-अलग रूप की हैं, अलग-अलग आकार की हैं। प्रकृति ने जो सृष्टि की है, उस सृष्टि में सब अलग-अलग रूप के हैं। कोई दो व्यक्ति ऐसे नहीं हैं जिनका स्व-भाव, अपना भाव एक जैसा हो। यह क्यों है ? क्योंकि इसके पीछे उनके पूर्व जन्म के कर्म उनको इतनी भिन्नता देते हैं, उनका जो स्व-भाव बनता है उसमें इतने प्रकार के रूप होते हैं कि वे अलग-अलग अपने भावों के अनुरूप अपने को प्रतिफलित करते हैं। लेकिन मोटे तौर पर उनका चार में विभाजन किया गया है। (१) जिसमें सत्त्व गुण की प्रबलता है, रजो गुण गौण है और तमो गुण बहुत कम है उसको ब्राह्मण कहा जाता है। वह ब्राह्मण स्व-भाव है। (२) जिसमें रजो गुण की प्रधानता है, सत्त्व गुण गौण है और तमो गुण न्यून है, वह क्षत्रिय स्व-भाव है। (३) जिसमें तमो गुण की प्रधानता है सत्त्व गुण गौण है, रजो गुण कम मात्रा में है वह वैश्य है और (४) जिसमें तमोगुण की प्रधानता है, रजगुण गौण है और सत्त्व गुण बहुत कम है वह शूद्र है। ये चार प्रकार के स्वभाव प्रकृति में हैं। कोई जरूरी नहीं कि इनका नाम ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र दिया जाए। कोई जरूरी नहीं कि यह बात केवल भारत देश के लिए कही जाए। दुनिया के किसी भी देश में, किसी भी समाज में जो व्यक्ति हैं, वे मोटे तौर पर चार प्रकार के विभाग में आएँगे। किसी में सत्त्व गुण की प्रधानता है, वह ब्राह्मण; किसी में रजोगुण की प्रधानता है, वह क्षत्रिय; किसी में तमो गुण प्रधान और सत्त्व गुण गौण तो वह वैश्य; किसी में तमो गुण प्रधान और रजो गुण बहुत कम तो वह शूद्र। इस प्रकार चार विभाग हैं। उन विभागों के अलग-अलग भोग हैं और कर्म हैं। प्रश्न है कि कोई जिस कुल में पैदा हो गया, उसी कुल के कर्म को, धन्धे को स्वीकार करे, कर्म करे ? वे जो जन्मना व्यवस्था को मानने पर बल देते हैं, पिता के गुणों को ही, माता-पिता के गुणों को ही, माता-पिता के कर्म को ही, माता-पिता के धन्धे को ही पुत्र-पौत्रों द्वारा किया जाना उचित मानते हैं। गीता ऐसा स्पष्टतः नहीं मानती। गीता गुण और कर्म पर बल देती है। जन्म पर नहीं। मैं भी

यह मानता हूँ, मेरे गुरुजी स्वामी अखंडानन्दजी भी इसका समर्थन करते हैं क्योंकि ब्राह्मण वर्ण में पैदा हो गया व्यक्ति भी कई बार अ-ब्राह्मणोचित काम करता है और जो ऐसा करता है उसको ब्राह्मण नहीं कहेंगे और अगर शूद्र वर्ण में पैदा होकर उसके गुण-कर्म उन्नत हैं, श्रेष्ठ हैं, उसका स्वभाव अगर सत्त्व-गुण प्रधान है तो कोई कारण नहीं कि उसको हम हीनता की दृष्टि से, घृणा की दृष्टि से, लघुता की दृष्टि से देखें। अर्थात् गुण और कर्म पर जन्म से अधिक बल देती है गीता। एक मान्यता इस प्रकार की है।

कुछ ऐसे भी परंपरागत विचारक हैं जो जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था को स्वीकार कर जन्मना-व्यवस्था मानते हैं। मैं समझता हूँ कि आज के युग में चातुर्वर्ण्य का विभाजन गुण-कर्म के आधार पर अधिक स्वीकार करना चाहिए, जन्म के आधार पर नहीं। क्योंकि आज हम समाज में क्या देख रहे हैं ? ब्राह्मण का बेटा क्या वेद पढ़ता है? ब्राह्मण के बेटे में जो अभी गुण बताए जाएँगे – शम, दम, आस्तिक, शान्ति वे हैं क्या? जरूरी नहीं हैं। आज अधिकांश ब्राह्मण या तो नौकरी करना चाहता है— परिचर्या यानी शूद्रों का लक्षण या वह व्यापार करना चाहता है यानी वैश्यों का लक्षण। स्वेच्छादायक वृत्ति को स्वीकार करके कर्म को प्रधानता देते हुए केवल ज्ञान के लिए अर्पित जीवन जीने वाला ब्राह्मण कितना विरल है। इसलिए केवल कोई ब्राह्मण-कुल में पैदा हो गया लेकिन उसने संस्कृत का 'स' नहीं जाना, उसे वेद का 'व' नहीं मालूम, एक श्लोक तक शुद्ध नहीं बोल सकता और उसको ब्राह्मणत्व का अहंकार हो— यह पाप की बात है। इसलिए स्वभाव का निर्माण करने वाले तत्त्व को समझने की चेष्टा की जाए तब हम इस बात को ठीक-ठीक समझ सकेंगे। भगवान् कहते हैं—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।। (१८/४१)

'स्वभावप्रभवैं' —यानी स्वभाव से उत्पन्न गुणों के द्वारा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के गुणों का विभाजन किया जा रहा है। *'परंतप'* शत्रुओं को ताप पहुँचाने वाला है यानी —अर्जुन का संबोधन है यह। स्वभाव के आधार पर जिन गुणों का विकास मनुष्यों में होता है, उन गुणों के आधार पर चार वर्णों का विभाजन है। गुणों के आधार पर, जन्म के आधार पर नहीं—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।। (१८/४२)

देखिए ! इसमें क्या सूक्ष्मता है—इसकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट कर रहा हूँ। कह रहे हैं— ब्राह्मणों का स्वाभाविक कर्म क्या है ? *'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'* —

स्वभाव से उत्पन्न स्वाभाविक ब्राह्मण कर्म क्या है ? ब्रह्म-कर्म है यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह— ये छः कर्म ब्राह्मणों के हैं यानी पूजा करना, पूजा कराना, अध्ययन करना, अध्यापन करना, दान लेना और दान देना। ब्राह्मणों के इन स्वाभाविक कर्मों की यहाँ चर्चा नहीं है। उनके गुणों की चर्चा है। ब्राह्मण के भीतर जिन गुणों का प्राचुर्य होना चाहिए, जिन गुणों के प्राचुर्य से युक्त कोई व्यक्ति ब्राह्मण-संज्ञा का अधिकारी होता है—उन गुणों का संकेत है। ब्राह्मण की जीविका किस कर्म से चलती है—इसका उल्लेख इस श्लोक में नहीं है। यह इस बात का पुनः संकेत है कि जिन व्यक्तियों में ये गुण हैं, वे ब्राह्मण हैं। अगर ब्राह्मण वर्ण में उत्पन्न किसी व्यक्ति में ये गुण न हों तो उसे ब्राह्मण नहीं माना जाना चाहिए। इन गुणों के आधार पर ब्राह्मणत्व का निर्धारण होता है। *'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'*।

पहली ही बात है *'शमोः दमस्तपः शौचं'*—कितनी कठिन बात है। *'शमः'* माने मन की शांति। स्वाभाविक रूप से मन में शांति रहनी चाहिए। स्वाभाविक रूप से मन में लालसा, कामना, स्पृहा, प्रतिस्पर्धा—हमको आगे बढ़ जाना चाहिए, दूसरे को हरा देना चाहिए—इस प्रकार का भाव नहीं होना चाहिए। जब मन में शांति आए, जो कुछ मिला है वह प्रभु की कृपा से मेरे लिए यथेष्ट है—इस प्रकार का विचार करके मन में शांति बनी रहे, मन अशांत न हो—यह पहला लक्षण है। *'दमः'*—अपनी इंद्रियों के ऊपर जिसका नियंत्रण हो। जिसको देखना उचित नहीं है, उसको आँख नहीं देखेगी; जिसको खाना उचित नहीं है, उसको जीभ स्वीकार नहीं करेगी; जो सुनने योग्य नहीं है, उसको कान नहीं सुनेंगे, जो सूँघने योग्य नहीं है उसको नाक नहीं सूँघेगी। जो स्पर्श करने योग्य नहीं है—उसको त्वचा स्पर्श नहीं करेगी। अपनी तमाम इंद्रियों पर नियंत्रण है। इंद्रियों के अधीन मन और मन के पीछे चलने वाली बुद्धि नहीं है। बुद्धि के अधीन मन है और मन के द्वारा नियंत्रित इंद्रियों का कार्य है—यह *'दम'* है। अपनी समस्त इंद्रियों का निग्रह करना, अपनी इंद्रियों का स्वामी होना—यह दूसरा बड़ा गुण है। *'तपः'*—तप माने बड़े लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए की गई कष्टपूर्ण साधना। आराम में तप नहीं होता। आराम से कोई बड़ा काम नहीं होता। कोई बड़ा काम करोगे तो उसके लिए अपने को झोंक देना पड़ता है। मन कह रहा है—चलो सिनेमा देखें। नहीं! हम पढ़ेंगे, हमारी परीक्षा है। नहीं, हमको प्रवचन की तैयारी करनी है। इस तरह मन को बड़ी अभीप्सा के लिए तैयार करना और उसके लिए किया गया परिश्रम, किया गया संयम, कष्टवरण— वह तप है। तप होना चाहिए मनुष्य में। *'तपो हि दुरतिक्रमः'*—तप ही दुरतिक्रम है। तप से बड़े-बड़े काम सिद्ध होते हैं। जो दुर्गम हैं, जो दुष्कर कार्य हैं वे तप से पूरे होते हैं।

....तप सुखप्रद दुख दोष नसावा ।।
तप बल रचइ प्रपंचु बिधाता । तप बल बिष्नु सकल जग त्राता।।
तप बल संभु करहिं संघारा । तप बल सेषु धरइ महिभारा ।।
तप आधार सब सृष्टि भवानी। करहि जाइ तपु अस जियँ जानी।।

(मानस.१/७२/२-५)

शैलपुत्री पार्वती या उमा द्वारा शिव को पति के रूप में पाने के संदर्भ में ये पंक्तियाँ कही गई हैं। शिव को पति के रूप में प्राप्त करने के लिए कितनी बड़ी तपस्या करनी चाहिए—यह बताया गया है। यह तप है। जिस तप की महिमा का वर्णन किया गया, वह तप हमारे जीवन में है कि नहीं ? *'शौचं'* —भीतरी और बाहरी पवित्रता। शुचिता होनी चाहिए। *'सर्वेषामेव शौचानां अर्थ शौचं परं स्मृतम्।'*

सब प्रकार की शुचिताओं में अर्थ-शुचिता सबसे बड़ी है। आज के जीवन में अर्थ-शुचिता कितने लोगों में है ? बड़े-बड़े लोगों के अर्थ-घोटालों की खबरें हम पढ़ते ही रहते हैं। *योर्थः शुचिः स-शुचिः, न मृदुवारि शुचिः शुचिः ।* पुराने समय में मिट्टी से हाथ धोया जाता था। आज साबुन से धो लीजिए, आप सेंट छिड़क लीजिए—उससे कोई पवित्र नहीं हो जाता। आर्थिक कार्यों में अगर पवित्रता नहीं है तो आप पवित्र नहीं हैं। *'क्षान्ति'* — किसी ने आपका अपमान कर दिया, किसी ने आपका अकल्याण कर दिया, आप क्या क्रोध से उसको शाप दे देंगे ? ब्राह्मण का स्वभाव है उसको क्षमा कर देना। मूर्ख है, उसने अपनी मूर्खता के कारण गलत काम कर दिया तो मैं भी क्या गलत काम करने पर उतर आऊँ ? क्षमा की वृत्ति होनी चाहिए। *'आर्जव'* —ऋजुता, सरलता होनी चाहिए। जो आदमी सरल नहीं है, वह आदमी भक्त नहीं है। बाबा ने कहा है—

सूधे मन-सूधे वचन, सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल बिधि, रघुवर प्रेम प्रसूति।।

रामजी के प्रति अगर प्रेम होगा तो उससे सरलता उत्पन्न होगी। वाणी सरल होगी, मन सरल होगा, आचरण सरल होगा। कुटिलता क्यों होनी चाहिए ? कहें कुछ, मतलब कुछ। ऐसा क्यों होना चाहिए ? जो मन में है वह वाणी में है, वह आचरण में है। मन-वाणी-कर्म की एकता होनी चाहिए, सरलता होनी चाहिए। *'ज्ञानं'* —शास्त्र के द्वारा या अनुभव के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसका साक्षात्कार होना चाहिए। केवल रट्टू तोता नहीं। जो ज्ञान हमने सीखा है, उसको आचरण में उतारना चाहिए। विज्ञान है —जाने हुए को जीवन में, स्वभाव में उतार लेना। ज्ञान को आचरण में उतार लेना। *'आस्तिक्यं'* —यानी 'अस्ति' का भाव जिसमें है वह है आस्तिक और आस्तिक का

गुण आस्तिक्य है। एक परम सत्ता है, एक चरम शक्ति है। जिस सत्ता, जिस शक्ति के आधार पर यह सारी सृष्टि चल रही है—उसको स्वीकार करके, उसके प्रति समर्पित बुद्धि से काम—यह आस्तिक्य है।

नास्तिको वेदनिन्दकः —यह कहा गया। जो वेदों की निन्दा करे वह नास्तिक है। तो वेदों का जो सम्मान करे उसको आस्तिक माना गया लेकिन आस्तिक का जो धातुपरक अर्थ है, वह ज्यादा उचित है। जो परमात्मा के, उस मंगलमयी शक्ति के अस्तित्व पर विश्वास करके जीवन-यापन करता है—उसमें आस्तिक्य है, उसमें आस्तिकता है। इतनी बातें अगर हो तो *'ब्रह्मकर्म स्वभावजम्'* —स्वाभाविक रूप से जो ब्रह्म का कर्म है, वह कर सकेगा। अब यहाँ जो ब्राह्मण वर्ण के लोग बैठे हैं, वे छाती पर हाथ रखकर सोच लें कि इनमें से कितने गुण उनमें हैं ? इसलिए केवल ब्राह्मण माता-पिता का पुत्र होने के नाते ब्राह्मण होने के अहंकार का दावा करना—यह बात ठीक नहीं है। गीता कहती है कि जिनमें स्वाभाविक रूप से (अर्जित भी नहीं) ये गुण विकसित हों, वही व्यक्ति ब्राह्मणत्व का अधिकारी है। मैंने आपको बताया कि ये सारे के सारे गुण हैं, कर्म नहीं हैं। इन गुणों के अनुरूप कर्म होते हैं। अगले श्लोक में क्षत्रिय के गुणों का वर्णन किया है। *क्षतात् त्रायते इति क्षत्रियः।* जब समाज पर आक्रमण होता है, उससे जो त्राण कर सके, वह क्षत्रिय है। कौन क्षत्रिय हो सकता है ? कहा है—

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।। (१८/४३)

क्षात्र का आचरण सिर्फ शासन करना— यह नहीं, गुण बताए हैं। *'शौर्यं'* —शूर का भाव, शौर्य होना चाहिए। बड़ी चुनौती है तो हम दुम दबाकर, मुँह मोड़ कर भाग गए—ऐसा नहीं। बड़ी चुनौती है तो हम उठकर उसका सामना करेंगे ऐसा शौर्य होना चाहिए, वीरता होनी चाहिए। *'तेज'*—जो दूसरे से दबना न स्वीकार करे। जो सामने वाले के प्रभाव से दब गया वह दब्बू है, वह तेजस्वी नहीं है। जो प्रतिकूल परिवेश स्वाभाविक रूप से अपनी विशेषता को प्रकट करे, वह तेजस्वी है। *'धृतिः'*— कठिन-से-कठिन समय में भी धीरज को न खोना। धृतिः माने धैर्य। अभी हमारा अच्छा समय नहीं चल रहा है, तो हम क्या रोने बैठ जाएँ ? बुरे समय में भी मन को विकृत किए बिना काम में लगे रहना। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों अवश्य सिद्धि होगी, अवश्य भगवत् कृपा प्राप्ति होगी— यह मान कर बिना दीनता के कर्म में जुटे रहना— यह *'धृति'* है। *'दाक्ष्यं'* —दक्षता। काम जैसे-तैसे कर देंगे ? नहीं। काम योग्यता के साथ करेंगे, पूरी गुणवत्ता के साथ करेंगे, अच्छे काम को भी ज्यों-का-त्यों

नहीं बल्कि अच्छे ढंग से करेंगे। यह दक्षता, कुशलता होनी चाहिए। *'युद्धे चाप्यपलायनम्'* —युद्ध अगर आ गया तो *'अपलायनम्'* भग्गू नहीं। मृत्यु को स्वीकार करके, मौत से पंजा लड़ाने की बहादुरी जिसमें है, वह स्वाभाविक रूप से क्षात्र-कर्म है। *'दानमीश्वरभावश्च'* —बड़े हो, तुमको ज्यादा प्राप्ति हुई है तो उसको बाँटो; उसको समाज के साथ समरस होकर भोगो, केवल अपने लिए नहीं। शासन करने की क्षमता है—यह *'ईश्वर भाव'*, यह क्षत्रियों का स्वाभाविक कर्म है। ये ही क्षत्रिय के स्वाभाविक गुण हैं।

इसके बाद जो दो श्लोकों में वैश्य और शूद्र के कर्म बताए गए— वे वास्तव में वृत्तियाँ बता दी गईं, जीविका के साधन बता दिए गए। उनके आधारभूत गुण नहीं बताए, उनको उतना महत्त्व नहीं दिया गया। कहा गया है कि—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् । (१८/४४-१)

खेती करना और गौओं का पालन करना— ये वैश्य का स्वाभाविक कर्म है। आज तो दोनों काम वैश्य नहीं करते। न तो खेती करते हैं, न पशुपालन करते हैं। आज तो वैश्य मूलतः व्यापार करते हैं। तो जो खेती करता है, गो-रक्षा करता है उसको तो ग्वाला कहते हैं, शूद्र कहते हैं। गीता के अनुसार यह बात नहीं है। वाणिज्य को स्वीकार किया है वैश्य के लिए लेकिन आज कृषि और गौरक्षा वैश्यों ने छोड़ दिया है। 'गौ' का मतलब केवल गाय नहीं होना चाहिए, कृषि करने वाले को पशुपालन करने वालों को भी आज शूद्र कह दिया गया है।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।। (१८/४४-२)

जो केवल शारीरिक श्रम से, शारीरिक सेवा से या बौद्धिक सेवा से काम कर रहा है— उसको शूद्र कहा गया है।

मैं आपको बताना यह चाहता हूँ कि किसी भी समाज में, किसी भी काल में मोटे तौर पर ये चार विभाजन हैं। कुछ लोग होंगे जो ज्ञानी होंगे, विज्ञानी होंगे, पढ़े-लिखे होंगे। कुछ लोग होंगे जो योद्धा होंगे, जो शासक होंगे। कुछ लोग होंगे जो कृषि, गौरक्षा या व्यापार करेंगे और कुछ लोग सेवा करेंगे। उनको आज की भाषा में मजदूर कह दीजिए। उनको आज की भाषा में व्यापारी कह लीजिए। उनको आज की भाषा में आई.ए.एस., आई.पी.एस. अधिकारी कह दीजिए, उनको आज की भाषा में बुद्धिजीवी कह दीजिए लेकिन मोटे तौर पर समाज के ये चार विभाग स्वीकृत किए गए। गीता उनमें गुण और कर्म पर अधिक बल देती है, जन्म पर अपेक्षाकृत कम बल देती है— ऐसा मुझको प्रतीत होता है। इसके बाद उन्होंने कहा कि जिसका जो स्व-भाव है, जिसका जो अपना भाव है, उस भाव के अनुसार काम करे।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।। (१८/४५)

एक बड़ी बात बताई गयी है। भगवान् की सेवा में कोई कर्म छोटा नहीं है। विद्या पढ़ना, प्रवचन करना जितना महत्त्वपूर्ण कर्म है, उतना ही महत्त्वपूर्ण झाड़ू-देना, जूता गाँठना भी है, क्योंकि अपने-अपने स्व-भाव के अनुसार अगर हमने कर्म किया तो हम भगवान् को प्राप्त कर लेंगे। देखिए ! *'स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः'* —निरत, लगे रहते हुए *'संसिद्धिं लभते नरः'* —मनुष्य को सम्यक् सिद्धि प्राप्त होती है। ब्राह्मण को जो ज्ञान-विज्ञान के द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है, शूद्र को सेवा के द्वारा वही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। *'नरः'* —इस नर की कोई व्याख्या नहीं है। इस नर के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नहीं कहा गया। किसी भी वर्ण का व्यक्ति क्यों न हो; नर माने नारी भी सम्मिलित है। किसी भी वर्ण में पैदा हुआ हो लेकिन अगर उसमें ब्राह्मणोचित कर्म है तो वह ब्राह्मण का कर्म कर सकता है, वैश्योचित या शूद्रोचित हो तो उनका काम कर सकता है। अपने स्वभाव के अनुसार कर्म को निष्ठापूर्वक करने वाला व्यक्ति सम्यक् सिद्धि को प्राप्त करता है। वह सम्यक् सिद्धि क्या है ?

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।

किस प्रकार अपने कर्म में लगे रहकर अपने कर्म को निष्ठापूर्वक करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है, उसका क्रम वे आगे बता रहे हैं। उसके बाद का जो श्लोक है, वह गीता का आधारभूत श्लोक है। यह बहुत महत्वपूर्ण श्लोक है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।। (१८/४६)

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां' —जिसके द्वारा समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति होती है। हमको जिसके द्वारा काम करने की शक्ति मिलती है, काम करने की योग्यता मिलती है, जो हमको काम करने की क्षमता देता है, वह परमात्मा है। समस्त प्राणियों की प्रवृत्ति जिसके द्वारा निर्धारित होती है, नियमित होती है, प्रदत्त होती है। *'येन सर्वमिदं ततम्'* —और जो तत्त्व सब वस्तुओं में ओत-प्रोत है वह सर्वव्यापी परमात्मा, यहीं इसी जगह, इस टेबुल, पुस्तक, मुझमें, आपमें अगर नहीं है, तो परमात्मा कहीं नहीं है। *'सर्वमिदं ततम्'* —सृष्टि की जितनी वस्तुएँ हैं, सब वस्तुओं में जो ओत-प्रोत है। यानी इस बात पर फिर ध्यान दीजिए कि गीता वेदान्त के उस सिद्धांत का संकेत करती है जिसमें उपादान और प्रेरक दोनों बताया है। जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है, तो मिट्टी उस घड़े का उपादान है, और चाक या सूता जिससे काट लिया जाता है— यह निमित्त है।

गीता कहती है— उपनिषद् कहते हैं कि परमात्मा इस सृष्टि का *'अभिन्न निमित्तोपादान'* कारण है। और दुनिया के दूसरे धर्म परमात्मा को 'निमित्त' कारण मानते हैं, 'उपादान' नहीं मानते। ईसाई धर्म और इस्लाम में जिस वस्तु से परमात्मा ने सृष्टि बनायी, वह अलग है। परमात्मा केवल बनाने वाला है। परमात्मा 'निमित्त' कारण है, 'उपादान' कारण अलग है। हमारे यहाँ भी दूसरे दर्शनों में 'निमित्त' और 'उपादान' अलग हैं। किन्तु वेदान्त मानता है, गीता मानती है कि परमात्मा इस सृष्टि का अभिन्न 'निमित्तोपादान' कारण है। बनाने वाला भी परमात्मा है और जो सृष्टि बनी, वह भी परमात्मा ही है। ईशावास्योपनिषद् में कहा है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।

इस सृष्टि में जो कुछ भी है, वह सब ईश्वर के द्वारा आवास्य है, आच्छाद्य है, ईश्वरमय है। परमात्मा कण-कण में व्याप्त है। *'येन सर्वमिदं ततम्'* जिस परमात्मा के द्वारा इस सारी सृष्टि की प्रत्येक वस्तु ओत-प्रोत रूप से भरी हुई है—हम उसको पहचान न पाएँ, हम उसका अनुभव न कर पाएँ—यह हमारी मूर्खता है, यह हमारी अज्ञता है, यह हमारी सीमा है। लेकिन परमात्मा अभिन्न निमित्तोपादान कारण के रूप में अपनी सृष्टि में निहित है। सृष्टि में स्रष्टा समाया हुआ है। सृष्टि के रूप में स्रष्टा ने अपने को प्रतिफलित किया है यह मानकर अब इस व्यापक परमात्मा की पूजा कैसे की जाए ? हमलोग जब पूजा करते हैं तो यह मानते हैं कि धूप-दीप-अक्षत से, चन्दन से, फल से, नैवेद्य से भगवान् की पूजा करनी चाहिए। उस पूजा के विधान में हमको आपत्ति नहीं है। अपनी-अपनी पात्रता के अनुसार आप वैसी पूजा भी कर लीजिए; लेकिन सर्वव्यापी परमात्मा की सबसे बड़ी पूजा कैसे हो सकती है ? गीता बताती है — *'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'* —जो परमात्मा समस्त मनुष्यों को जन्म देता है और उनको कर्म करने की प्रेरणा देता है; जिस परमात्मा से इस सृष्टि का कण-कण ओत-प्रोत है, उस परमात्मा की पूजा *'स्वकर्मभ्यर्च्य'* —अपने कर्मों के द्वारा *'सिद्धिं विन्दति मानवः'* मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। तुमने मंदिर में जाकर तो धूप-दीप-चन्दन-अक्षत-नैवेद्य से पूजा कर ली और घर में आकर बेईमानी की, घर में आकर चोरी, अन्याय, अत्याचार किया। यह परमात्मा की पूजा नहीं है। परमात्मा की पूजा अपने कर्मों द्वारा होती है। कर्म ही जब पूजा हो जाते हैं, तब परमात्मा की प्राप्ति होती है। इसमें मानव कहा— हिन्दू नहीं कहा, भारतीय भी नहीं कहा। *मानवः* कहा। किसी देश में, किसी काल में रहने वाला कोई भी, किसी भी जाति का मनुष्य अगर

अपने कर्मों से प्रभु की पूजा कर रहा है, अगर उसने अपने कर्मों को प्रभु को समर्पित कर दिया है और वह प्रभु के लिए कर रहा है उसे ही सच्ची सिद्धि प्राप्त होती है। मेरे गुरुजी कहते थे—भक्ति क्या है ? भक्ति कर्त्ता में निहित नहीं है। करने वाला हिन्दू है कि मुसलमान है, कि ईसाई है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र है कि हिन्दुस्तानी है या पाकिस्तानी, रूसी, अमरिकी— भक्ति को इससे कुछ लेना-देना नहीं है। भक्ति 'कर्त्ता-निरपेक्ष' है। भक्ति 'क्रिया निरपेक्ष' है। आप पढ़ते-लिखते हैं कि आप झाड़ू लगाते हैं, कि आप किताब बाँटते हैं कि आप सेवा करते हैं, नौकरी करते हैं, भक्ति का इससे कुछ लेना-देना नहीं है। रैदास जूता गाँठते थे, कबीर कपड़ा बुनते थे, धन्ना जाट खेती करता थे।, तुलसीदास ज्ञान का उपदेश देते थे। सभी भक्ति है।

भक्ति 'कर्त्ता-निरपेक्ष' है, भक्ति 'क्रिया निरपेक्ष' भी है। भक्ति 'उद्देश्य-सापेक्ष' है। किसके लिए ? असली सवाल है कि तुम जो कर रहे हो, किसके लिए कर रहे हो। केवल अपने अहंकार की तृप्ति के लिए कर रहे हो, केवल अपने सुख-भोग के लिए कर रहे हो ? अगर तुम अपने अहंकार की तृप्ति के लिए, सुख-भोग के लिए काम कर रहे हो, तो वह भक्ति नहीं है। हम जो कुछ भी कर रहे हैं, वह भगवान् का कर्म है, भगवान् की प्रसन्नता के लिए, भगवान् के लिए कर रहे हैं— कार्य के पीछे यदि यह भाव है, तब वह कर्म भक्ति है। तब वह कर्म पूजा है। *स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य* अपने कार्यों के द्वारा उसकी पूजा करके *सिद्धिं विन्दति मानवः* मानव को सिद्धि प्राप्त होती है। हम अपना कर्म किसके लिए कर रहे हैं, बार-बार इसका परीक्षण होना चाहिए और बार-बार इसकी चेष्टा होनी चाहिए कि हम परमात्मा को समर्पित करके कर्म करें। भागवत का श्लोक है—

कायेन वाचा, मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ।।

(भागवत-११/२/३६)

काया, वाणी, आत्मा, मन, बुद्धि से जो भी काम किया, वह नारायण को समर्पित करके किया तो वह कर्म पूजा हो गया। क्या किया— यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। किसने किया— यह भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। अगर वह तुमने परमात्मा की प्रसन्नता के लिए किया, तब तुम्हारा वह कर्म पूजा है और तब तुमको सिद्धि प्राप्त होगी, तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध होगा। ऊपर उठने की क्षमता हमारे मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार की शुद्धि के द्वारा प्राप्त होती है। इसलिए मेरा जो स्वाभाविक कर्म है, वही मुझे करना चाहिए। स्वाभाविक कर्म से कम पैसा मिलता है, स्वाभाविक कर्म से कम प्रतिष्ठा मिलती है,

इसलिए मैं अपना स्वाभाविक कर्म छोड़कर दूसरे का कर्म नकल करके करने लगूँ— तो मैं भ्रष्ट हो जाऊँगा।

ये जो अध्ययन-अध्यापन, यजन-याजन ब्राह्मण करता है अगर उसमें असंतुष्ट होता है तो कहा गया *'असंतुष्टः द्विजो नष्टः'*। असंतुष्ट ब्राह्मण नष्ट हो जाता है और *'संतुष्टश्च महीभृतः'* संतुष्ट राजा नष्ट हो जाता है—राजा को तो प्रतिस्पर्धा करनी ही चाहिए। इसलिए अपने स्वभाव प्राप्त कर्म को पूरी निष्ठा के साथ करना चाहिए। उस पूरी निष्ठा के साथ किए गए कर्म में अगर कुछ दोष भी हों तो भी। अब यही देखिए कि श्रीमद्भगवद्गीता युद्ध क्षेत्र में कही जा रही है। क्यों कही जा रही है? क्योंकि अर्जुन के मन में मोह आया कि जो मेरे गुरुजन हैं, माता-पिता हैं, सगे-सम्बन्धी हैं, आत्मीय नाते-रिश्तेदार हैं, क्या मैं उनकी हत्या करूँ ? यह तो बड़ा निष्ठुर कर्म है। मुझे तो हत्या नहीं करनी चाहिए। मुझे तो भीख माँगकर खा लेना भी अच्छा लगेगा; लेकिन मैं हत्या नहीं करूँगा। मेरे इस कर्म में दोष है — यह सोच कर संन्यासी हो जाऊँगा, भीख माँग कर खा लूँगा, ब्राह्मण की तरह आश्रित हो जाऊँगा; तो भगवान् ने समझाया कि इससे तो तुम पतित हो जाओगे। तुम जंगल में भी जाओगे तो वहाँ पशु-पक्षियों को मारोगे। मारने की वृत्ति तुम्हारी कहाँ जाएगी। इसलिए हमारा जो स्व-भाव प्राप्त धर्म है उसके अनुरूप काम करना चाहिए। भक्ति भी स्वभाव से की जाती है—इस बात को अच्छी तरह समझना चाहिए।

भक्ति के असंख्य भाव हैं। लेकिन आपका भाव क्या है ? अपने भाव का बोध कैसे होता है ? अपने भाव का बोध अभाव से होता है। आपको किस चीज का अभाव है ? अगर आपको लाख रुपए देकर बाजार भेज दिया जाए तो आप अंट-शंट सब खरीद लेंगे। अगर आपसे कहा जाए कि आप एक ही चीज खरीद सकते हैं, दूसरी नहीं— तो फिर आप छोड़ते चले जाएँगे कि इसके-इसके बिना हमारा काम चल सकता है। इसको छोड़ दो। इसके बिना काम नहीं चल सकता, जिसका आपको वास्तविक अभाव का बोध होगा तो आपको अपने भाव का भी बोध होगा। देखिए ! भगवान् की भक्ति कैसे की जाती है ? भगवान् के साथ एक संबंध जोड़ा जाता है। संबंध कौन-सा जोड़ें। आपको किसका अभाव है ? जो आदमी अपने को अपूर्ण मानता है, अंश मानता है और वह समग्र या पूर्ण होना चाहता है तो उसकी भक्ति अंशांशी भाव की हुई। वह अपने को अंश, परमात्मा को अंशी मानता है। वह अपने को अंशी के साथ जोड़ना चाहता है तो उसकी भक्ति ज्ञान से युक्त अंशांशी भाव की होगी। जो अपने को दुर्बल, अरक्षित, अनाथ मानता है, कोई मेरा माँ-पिता-गुरु-स्वामी

हो, उसको किसी त्राता-रक्षक, संरक्षक का अभाव है, तो उसको भक्ति दास्य भाव की, सेवक-सेव्य भाव की होगी। उसको माँ, पिता, गुरु, आचार्य चाहिए। आपका अभाव क्या है ? अगर आपका अभाव मित्र का है जिससे आप मन खोल कर सारी बातें बता सकें, जिससे आप बराबरी का व्यवहार कर सकें, तो आपकी भक्ति सख्य-भाव की होगी। आपके लिए परमात्मा आपका सखा होगा। अपने अभाव का जो स्थान है, उस अभाव को पूर्ण कर देंगे परमात्मा। अगर आपके मन में मातृ-पितृभाव है, आपको लगता है कि आपको एक बच्चा चाहिए, तो परमात्मा आपके लिए बच्चा होगा, वात्सल्य-भाव की उपासना होगी—

अरे अशेष ! शेष की गोदी तेरा बने बिछौना-सा।
आ मेरे आराध्य, खिला लूँ मैं भी तुझे खिलौना-सा।।

भगवान् को खिलौने के समान खिला लिया कौशल्या माता, यशोदा माता ने। नन्द बाबा ने, दशरथ ने। वात्सल्य-भाव की भक्ति की। अगर आपको अपने प्रियतम का अभाव है, कांता भाव की भक्ति होगी। केवल पाँच बड़े भाव हैं— शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। लेकिन और असंख्य भाव हैं। मेरे एक गुरु-तुल्य मित्र रहे हैं, सुदर्शन सिंह 'चक्र'। मैं एक बार उनसे मिलने मथुरा गया। वे भगवान् कृष्ण की पूजा कर रहे थे। मैं चुपचाप बैठ गया। उन्होंने पूजा समाप्त की और कृष्ण को आशीर्वाद दिया। मैंने आश्चर्य से पूछा— आप भगवान् को आशीर्वाद दे रहे हैं ? वे बोले— हाँ, कृष्ण मेरा छोटा भाई है। मैंने आश्चर्य से पूछा— छोटा भाई ? वे बोले— मेरा एक छोटा भाई था। अट्ठारह-उन्नीस वर्ष की अवस्था में उसकी मृत्यु हो गई। मैं बहुत दुःखी हुआ। दो-तीन दिनों तक रोता रहा तो कन्हैया आया। उसने कहा— वही तेरा छोटा भाई है, क्या मैं तेरा छोटा भाई नहीं हूँ? मैंने कहा—आज से तू मेरा छोटा भाई है। तो कन्हैया को जब मैंने छोटा भाई मान लिया तो उसको आशीर्वाद भी देता हूँ कि उसका मंगल हो।

मैं आपको बताना यह चाहता हूँ कि जिस चीज का वास्तविक अभाव है, उस अभाव की पूर्ति परमात्मा करेंगे। अगर परमात्मा उसका आलंबन बन जाएँगे तो आप अपने स्व-भाव के अनुसार उस परमात्मा की पूजा, उपासना करेंगे। स्व-भाव के अनुसार भक्ति होती है, कर्म होता है और आचरण होता है। अपने भाव का अतिक्रमण कर, त्याग कर अगर हम काम करेंगे, तो हमारा पतन होगा। हम अपने भाव को पहचानते नहीं, इसीलिए गुरु की आवश्यकता होती है। गुरु हमारे आचरण को पहचान कर भाव निर्धारण करेंगे उसके अनुरूप आलंबन के रूप में संबंध बताएँगे। अगला श्लोक है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । (१८/४७-१)

'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः' —अपना धर्म अगर गुणहीन प्रतीत होता है, कम आकर्षक प्रतीत होता है तो भी वह धर्म है, इसलिए मेरे लिए श्रेष्ठ है। आजकल लोग पैसे में अच्छाई मानते हैं, ब्राह्मण कर्म में अच्छाई प्रतीत नहीं होती। लेकिन पैसे वाले क्या सुखी हैं ? बहुत दुःखी हैं। मैं पिछले दिनों न्यूयार्क गया था। वहाँ जिस परिवार में ठहरा था वहाँ के बच्चे अपने अमरीकी दोस्त के यहाँ गए हुए थे। भारतीय बच्चों की माँ ने कहा कि इनके अमरीकी दोस्त इनसे एक बात में बड़ी ईर्ष्या करते हैं। मैंने कहा-- किसकी ? बोलीं—इनके दोस्त कहते हैं कि जैसे तुम्हारे अपने माँ-बाप हैं, वैसे ही हमारे भी अपने माँ-बाप होते तो कितना अच्छा होता। किसी की अपनी माँ है तो सौतेला बाप है। किसी का अपना बाप है, तो सौतेली माँ है और किसी-किसी अभागे का तो न बाप है, न माँ है। किसी दूसरे ने उसको गोद ले लिया है। संतान की चिंता छोड़कर सिर्फ अपने सुख के लिए कई विवाह करना क्या वास्तविक सुख है ? पैसे से मनुष्य क्या सुखी हो जाता है ? हमारे यहाँ भी जो अभाव, दरिद्रता, हीन आचरण है, जिस प्रकार का आलस्य है— यह पाप है। कुछ गुण विदेशियों के अच्छे हैं, कुछ गुण हमारे अच्छे हैं। गीता बताती है कि अगर दूसरे का गुण आकर्षक प्रतीत हो लेकिन हमारे स्वभाव के अनुकूल न हो, तो हमको वह कर्म नहीं करना चाहिए। जो हमारे अपने स्व-भाव के अनुकूल है, हमको वही काम करना चाहिए।

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् । (१८/४७/२)

अपने स्वभाव के अनुरूप अगर हम कर्म करेंगे तो हमको पाप नहीं लगेगा। हत्या करना तो पाप है, लेकिन कारगिल में जब हमारे सैनिकों ने आक्रान्ताओं पर गोली चलाई तो क्या उनको पाप हुआ ? उनको पाप नहीं हुआ। अपने स्व-भाव के अनुसार किए गए कर्म से पाप नहीं होता। यह बात दृढ़ता के साथ मानी जानी चाहिए। हमको प्रभु के द्वारा जो भाव प्राप्त हुआ है, उस भाव में हम और उन्नति करेंगे— यह तो संगत है। आखिर आदमी सत्संग करता क्यों है ? सत्संगति का फल प्रत्यक्ष है। कहा है कि कौवा भी सत्संग से हंस हो जाता है। तो संगति से, गुरु की कृपा से, भगवद् आशीर्वाद से हमारा निरन्तर उत्थान हो—यह तो ठीक है, लेकिन अभी जो हमारा भाव है—हम उसके अनुसार काम करते रहेंगे तो हमको पाप नहीं लगेगा। आगे कहा है—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।। (१८/४८)

आग जलाएँगे तो धुआँ निकलेगा, वैसे ही कोई भी कर्म शुरू करेंगे तो उसमें

थोड़ा-न-थोड़ा दोष होगा। पानी पीओगे तो मुँह में थोड़े-न-थोड़े जीव चले जाएँगे। पाँव रखोगे तो उसमें कुछ जीव मारे जाएँगे। कोई भी काम करोगे तो उसमें थोड़े दोष रहेंगे। जैसे आग धुएँ से ढकी हुई है वैसे ही जो भी काम हम करेंगे उनमें कोई-न-कोई दोष है। तो उन दोषों के भय से हम काम करना नहीं छोड़ सकते। हमारे भाव के अनुरूप जो कर्म है, *'सहजं कर्म कौन्तेय'* — 'सहजं' माने हमारे जन्म के साथ-साथ जो हमको मिले। हम अपने पिछले जन्म के अनुरूप स्वभाव लेकर पैदा हुए, उसके अनुरूप कर्म अगर दोषयुक्त हैं, तो भी हम करें। महाभारत में कथा आती है कि तुलाधार वैश्य से ब्राह्मण शिक्षा लेने गया। तुलाधार वैश्य ने कहा मैं डंडी को सीधा रखता हूँ, सारा धर्म उसमें है। जितनी चीज देनी है, ठीक उतनी चीज देता हूँ। डंडी मारता नहीं। तो अपना-अपना कर्म करना चाहिए। अगर भगवत्-कृपा, गुरु-कृपा, संतों की कृपा से और ऊँची भूमिका पर पहुँच गया तो बात अलग है। दोष से युक्त होने पर भी वह काम छोड़ना नहीं चाहिए। नहीं छोड़ना चाहिए तो क्या काम लिप्त होकर करना चाहिए ? नहीं। यही बात बता रहे हैं—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।(१८/४९)

नैष्कर्म्यसिद्धि हमारे यहाँ ब्रह्म का भाव है। हमलोग कहते हैं कि ब्रह्म अकर्त्ता है। सब कुछ करके भी वह कुछ नहीं करता। उसको कोई कर्म लिप्त नहीं होता। भगवान् ने गीता में बार-बार यह बात कही है कि मैंने सब काम किए लेकिन मुझको कोई काम लिप्त नहीं होता। क्योंकि *'न मे कर्मफले स्पृहा'* —मैं कर्तृत्व के अहंकार के बिना, कर्मफल की इच्छा के बिना काम करता हूँ तो *'न मां कर्माणि लिम्पन्ति'*। याद रखिए निष्काम होने का मतलब निकम्मा होना नहीं है। हाथ-पर-हाथ रखकर बैठना या लेटना भी कर्म है। निष्कर्मता कैसे आती है ? निकम्मेपन से निष्कर्मता नहीं आती। काम करने से काम का फल लिप्त होता है। हम काम करें और काम का फल लिप्त न हो, हम परमात्मा की तरह काम करें। हम ब्रह्मभाव के उपयुक्त हो जाएँ। कैसे होगा ? जैसे भगवान् काम करते हैं, वैसे हम काम करें। *'असक्त बुद्धिः सर्वत्र'* सब कामों में सर्वत्र अनासक्त होकर हम काम करें। चिपकें नहीं। जो काम भगवान् ने भेज दिया, वह हमने स्वीकार किया और उसमें अनासक्त, बिना चिपके काम करें। बिना चिपके काम कैसे होता है ? न चिपकने का, अनासक्ति का सबसे अच्छा उदाहरण दर्पण है। आप शीशे के सामने खड़े हो जाइए। जैसा आपका चेहरा है, वैसा प्रतिबिम्बित होता है। ज्यों-का-त्यों। आप वहाँ से हट जाएँ तो भी आपका चेहरा वहाँ नहीं

चिपकेगा। दूसरा आदमी आएगा। शीशा ज्यों-का-त्यों उसमें झलकाएगा। वह हट जाएगा, शीशा साफ हो जाएगा। जैसे दर्पण के सामने आए हुए व्यक्ति को दर्पण अच्छी तरह प्रतिफलित करता है लेकिन उस प्रतिफलन को दर्पण चिपकाता नहीं, वैसे ही जो कर्म सामने आया, उसमें चिपके बिना, उसमें स्वार्थ का संधान किए बिना, उसको हमने किया। दूसरा आया, दूसरा किया। तीसरा आया, तीसरा किया। हाय-हाय नहीं। जो छूट गया, छूट गया। हमारे गुरुजी कहते थे कि जो कर्म सामने आया है, वह परमात्मा के रूप में है। जो सामने है, वही सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है। जो कर्म अभी आपको मिला है, वह परमात्मा का उत्तरदायित्व है। उसको अनासक्त भाव से, बिना चिपके, बिना स्वार्थ के, बिना फल प्राप्ति की कामना के अच्छे-से अच्छे ढंग से करो।

'जितात्मा' —आत्मा के कई अर्थ हैं। जब हम कहते है कि मैं लंबा हूँ, चौड़ा हूँ, मोटा हूँ, तो यहाँ 'मैं' शरीर के लिए कहते हैं। जब हम कहते हैं कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ — तो यहाँ 'मैं' मन को कहा जा रहा है। जब कहा जाता है कि मैं बुद्धिमान हूँ, मैं अज्ञानी हूँ तो यहाँ 'मैं' बुद्धि है। पर शरीर-मन-बुद्धि के परे जब हम कहते हैं कि हम 'शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप' हैं तब हम अपने को आत्मा या ब्रह्म कहते हैं। यहाँ जितात्मा का मतलब है—अन्तःकरण या मन। अपने मन को जिसने जीत लिया है। *'विगतस्पृहः'* जिसने कामनाओं से मुक्ति पा ली है। कामना है अप्राप्त को प्राप्त करना और स्पृहा है—जो हमारे पास है वह बना रहे। जो वस्तु हमारे पास है, रहनी चाहिए। वह क्यों बनी रहनी चाहिए ? राम की इच्छा है, वे रखना चाहे तो रखें, लेना चाहें तो ले लें। *नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।* (१८/४८-२) जो भी सामने वस्तु, व्यक्ति या कर्म है, उसमें *'नैष्कर्म्यसिद्धि'* अनासक्ति है। तुमने अपने मन को जीत लिया है, अगर तुममें कोई कामना, स्पृहा नहीं है तब तुम जो काम करोगे वह कर्म निष्कर्म हो जाएगा। निकम्मे बैठना निष्कर्मता नहीं है। तो कर्म को अकर्म बना देने का क्या उपाय है ? ऐसा कुछ करो कि कर्म का फल चिपके नहीं। अकर्म उसको कहेंगे जो क्रिया आपको बाँध न सके। न कर्म का आपको अहंकार है, न कर्म का फल पाने की लालसा है। तब आपका वह कर्म निष्कर्म, अकर्म हो जाएगा। जो अपना फल न दे पाए वह कर्म, अकर्म हो जाता है, निष्कर्म हो जाता है। *'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति'* इसके अर्थ में थोड़ा विवाद है। कर्मत्याग का समर्थन करनेवाले शंकराचार्य आदि कहते हैं कि संन्यास का मतलब होता है सम्यक् न्यास, यानी सब त्याग। कर्मयोग संन्यास की पूर्व भूमिका है। कर्मफल त्याग करके तुमने कर्म किया तो तुमको निष्कर्मता प्राप्त हुई और फिर जब तुमने संन्यास लिया तो सब कर्मों का त्याग कर दिया। लेकिन जो लोग

कर्मयोगी हैं जैसे लोकमान्य तिलक या अरविन्द या अन्य लोग, वे कहते हैं कि निष्कर्मता यानी कर्म फल का भोग करने का जो त्याग है, वही संन्यास है। समस्त कर्म के फल को चाहे परमात्मा को निवेदित कर दो, चाहे समाज को दे दो। लोक-संग्रह के लिए करो।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।। (३/९-१)

यज्ञार्थ कर्म करोगे, लोकहित के लिए कर्म करोगे तो कर्म बंधन नहीं है। अपने हित के लिए, अपने लिए कर्म करोगे तो कर्म बंधन है। तो संन्यास के ऊपर थोड़ा विवाद है। एक अर्थ तो है — सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर देना संन्यास है। दूसरे मानते हैं कि अनासक्त कर्म करना उस संन्यास की भूमिका को प्राप्त करने की सीढ़ी है जिस को लाँघ कर आप संन्यास प्राप्त कर सकते हैं। कर्मयोगी के अनुसार कर्मफल त्याग, इस अहंकार का त्याग— यही संन्यास है। आगे कहा है—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।। (१८/५०)

इसमें कर्म और ज्ञान दोनों को मिला दिया गया है। पहले भी भगवान् ने कहा— *यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते* (५/५-१) कि जो ज्ञान से प्राप्त होता है, वह कर्मयोग से भी प्राप्त होता है। *'सिद्धिं'* —यानी इस तरह से निष्कर्मता की सिद्धि कर लेने पर अनासक्त भाव से, निस्पृह भाव से मन को जीत कर, अहंकार को छोड़ कर जो कर्म किया गया उस नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त कर लेने पर तुम ब्रह्म को प्राप्त करोगे। इसका तरीका बता रहे हैं, संक्षेप में। यही ज्ञान की परा निष्ठा है, यही ज्ञान की सबसे ऊँची कक्षा है। *निष्ठा* माने जिस स्थिति से विचलन न हो। मेरी राम जी के प्रति निष्ठा है। इसका मतलब हुआ कि राम जी को मैं किसी भी स्थिति में नहीं छोड़ूँगा। ज्ञान की सबसे बड़ी निष्ठा क्या है ? ज्ञान की सबसे बड़ी निष्ठा नैष्कर्म्य है। ब्रह्म ज्ञान कर लेने पर, ब्रह्म का अनुभव हो जाने पर सारे कर्म अकर्म हो जाते हैं— उसकी प्रक्रिया आगे के तीन श्लोकों में भगवान् बता रहे हैं।

ये आगे वाले तीन श्लोक (५१, ५२, ५३) *'ब्रह्म भूयाय कल्पते'* —ब्रह्म हो जाने की क्षमता को पहुँचाने वाले श्लोक हैं। अपने कर्मों से जो सर्वव्यापी परमात्मा है, जो अणु-अणु में, कण-कण में है, जो हमको आपको प्रेरणा देता है, उसकी पूजा हम करें तो हमको क्रमशः उच्चतर भूमिकाएँ प्राप्त होंगी और उस उच्चतर भूमिकाओं की परा निष्ठा, चरम स्थिति है कि आप ही ब्रह्म बन जाएँगे— यह संभावना है। यह एक बहुत बड़ी बात हमारी साधना कहती है। मरने के बाद क्या होगा— यह मरने वाले

जाने। गीता कहती है कि इसी जन्म में जीवन्मुक्ति हो सकती है, इसी जन्म में इसी शरीर से तुम ब्रह्म बन सकते हो। वह ब्रह्म हो जाने की पात्रता कैसे आएगी ?

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।। (१८/५१)

'बुद्धया विशुद्धया युक्तो' —विशुद्ध बुद्धि से युक्त, स्वार्थ-मुक्त बुद्धि से युक्त। विशुद्ध बुद्धि यानी सबके हित की, सबके कल्याण की, स्वार्थ के लेश मात्र से रहित, निर्मल बुद्धि। यानी जब आदमी की बुद्धि विशेष रूप से शुद्ध हो जाती है और *'धृत्यात्मानं नियम्य च'* —धृति, धीरज से हम *'आत्मानं'* अपने मन को नियमित कर लेते हैं। जो सुख में फूल कर कुप्पा होगा, वह दुःख में सूख कर छुहारा होगा ही। जब तुम सुख को भी झेल लोगे, जब तुम दुःख को भी झेल लोगे और तब तुम 'धृति' के द्वारा अपने मन को, अपने अन्तःकरण को नियमित कर सकोगे। *'शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा'* यानी 'शब्द' आदि इन्द्रिय विषयों का त्याग करके। कितनी कठिन बात है। एक-एक सीढ़ी देखिए। सारी सृष्टि पाँच विषयों में सीमित है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध— ये ही पाँच इन्द्रिय के विषय हैं। पहला है *'शब्द'*। इस सृष्टि में ध्वनियाँ सुनते हैं। कुछ ध्वनियाँ हमें प्रीतिकर लगती हैं, कुछ कर्णकटु लगती हैं। जो प्रीतिकर ध्वनियाँ हैं, उनको हम सुनना चाहते हैं। जो अप्रीतिकर ध्वनियाँ हैं, उनसे हम बचना चाहते हैं। दूसरा *'स्पर्श'* — किसी को छूकर कोमलता का अनुभव होता है। काँटा अगर चुभ जाए तो कष्ट होता है। तीसरा है *'रूप'* —किसी का सौन्दर्य, किसी की कुरूपता। चौथा है— *'रस'* यानी स्वाद और पाँचवाँ है— *'गंध'* यानी सूँघना। आप कोई छठी बात बता दीजिए। हमारे भोग के ये ही पाँच विषय हैं। हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध को भोगते हैं। ब्रह्म कैसे बनोगे? जब इन पाँचों विषयों से निरपेक्षता प्राप्त होगी। इनके भोग की आसक्ति नहीं रहेगी। जब तुम संसार के इन भोगों से ऊपर उठ जाओगे। सहज बात नहीं है ब्रह्म हो जाना। बहुत कठिन है। बुद्धि को विशुद्ध करो, मन के ऊपर नियंत्रण करो, संसार के समस्त भोगों के विषयों का त्याग कर दो। राग और द्वेष को भी परे हटा दो। इसके प्रति आसक्ति और इसके प्रति द्वेष— ये बाँधते हैं। *'प्रियं त्वां रोदष्यसि'* जिसको तुम प्यार करते हो, वह तुमको रुलायेगा—उपनिषद् का वाक्य है। क्योंकि यह प्रेम मृत के प्रति है, क्योंकि यह प्रेम अशाश्वत के प्रति है। भक्ति और लौकिक प्रेम में मौलिक अंतर क्या है ? भक्ति है— *'सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा अमृतस्वरूपा च'* —परमात्मा के प्रति परम प्रेम रूपा और अमृतस्वरूपा है भक्ति। एक रूप होता है, एक स्वरूप होता है। रूप होता है बाहरी, स्वरूप होता है भीतरी। रूप बदलता है। बहुरूपिया कितने

रूप बदलता है। उसका अपना स्वरूप नहीं बदलता। रामजी के रूप का वर्णन तुलसीदास ने सैकड़ों बार किया है और जब स्वरूप का वर्णन करने लगे तो—

राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह।। (मानस.३/१२६-०)

अर्थात् हे राम ! तुम्हारा जो स्वरूप है, वह वाणी का विषय नहीं है। वाणी, इन्द्रिय और बुद्धि के परे है। '*अबिगत*' —यानी नहीं जाना जा सकता। '*अकथ*' यानी नहीं कहा जा सकता और '*अपार*' यानी जिसकी थाह नहीं ली जा सकती। और '*नेति-नेति नित निगम कह*' —वेद नेति-नेति कह कर उसका निरूपण करते हैं यानी वह ऐसा नहीं है, वह ऐसा नहीं है। जो कुछ कहोगे, वह ऐसा नहीं है। स्वरूप आभ्यन्तर होता है। हम लोग लौकिक प्रेम करते हैं तो वह नश्वर के प्रति है अतः वह प्रेम भी नश्वर है। *बैठ के जोरत, तोरत ठाढ़े*' —आजके लोग ऐसा प्रेम करते हैं कि बैठते हैं तो प्रेम हो जाता है, खड़े होते हैं तो प्रेम टूट जाता है। नारायण ! यह नश्वर के प्रति किया गया नश्वर प्रेम है। भक्ति क्या है ? *सा 'त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा, अमृतस्वरूपा च*' — भक्ति का बाहरी रूप तो प्रेम है लेकिन उसका स्वरूप है अमृतत्व। वह जो अमृत के प्रति है, वह तुमको अमृत बना देगा। परमात्मा के प्रति किया गया, अमृत के प्रति किया गया प्रेम तुमको अमृतत्व प्रदान करता है; वह भक्ति है। तो '*शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च*' अगर तुमने परमात्मा से प्रेम कर लिया तो किसी के प्रति पक्षपात नहीं होगा। पक्षपात राग से होता है। किसी के प्रति अन्याय नहीं होगा। अन्याय द्वेष से होता है। परमात्मा किसी से राग-द्वेष नहीं करता। वह समस्त प्राणियों में सम है। न उनका कोई द्वेष्य है, न उनका कोई प्रिय है। '*रागद्वेषौ व्युदस्य च*' —राग-द्वेष से ऊपर उठकर, राग-द्वेष का त्याग कर।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।। (१८/५२)

'*विविक्तसेवी*' यानी एकांतसेवी। जितना भीड़ में रहेंगे, उतना मन चिन्तित रहेगा, बाधाएँ आएंगी, आकर्षण होंगे। हमलोग विभूति के उपासक हैं। गीता के दशम अध्याय में 'विभूति' का वर्णन किया गया है। विभूतियोग है। आजकल रामजी ने जहाँ मुझको भेज दिया है* वहीं भगवान् की विभूति का साक्षात्कार होता है। भगवान् ने गीता में कहा है कि मैं पर्वतों में हिमालय हूँ। तो हिमालय भगवान् की विभूति है। यह बात सत्य है कि संकीर्ण स्थानों में मन संकीर्ण होता है। व्यापक स्थानों में जाएं तो मन में

*देव भूमि हिमाचल प्रदेश का संकेत है जहाँ शास्त्रीजी राज्यपाल बनकर गए थे।

व्यापकता आती है। कलकत्ते के एक-एक इंच जमीन पर, कण-कण, चप्पे-चप्पे पर लोगों की लालसाएँ हैं। यहाँ रहेंगे तो हममें राग - द्वेष बढ़ेगा, संकीर्णताएँ आएँगी। यहाँ रहेंगे तो हममें स्वार्थ आएगा। आप कभी समुद्र के किनारे या हिमालय चले जाइए। मैं पुरी बहुत बार गया हूँ। वहाँ एक गीत मुझे बार-बार याद आता है -

'सम्मुखे शान्तिर पारावार भासाओ तरणी, हे कर्णधार'

यह रवीन्द्रनाथ का गीत है। मेरे सामने शांति का समुद्र है। ओ कर्णधार! इस शांति के समुद्र में मेरे जीवन की नौका को प्रवाहित कर दो। विराट के संपर्क में आने से मन में विराटता आती है। संकीर्ण के संपर्क में आने से मन में संकीर्णता आएगी। तो *'विविक्तसेवी'* यानी एकांत सेवी।

'लघ्वाशी' यानी कम भोजन करनेवाला। ज्यादा भोजन करोगे तो नींद आएगी, आलस्य आएगा। भोजन करने के चार नियम हैं - हित-भुक्, मित-भुक्, ऋत-भुक् और स्मित-भुक्। हितकर भोजन करो, पथ्य भोजन करो। पेट खराब है तो गरिष्ठ भोजन मत करो। तो हित भुक्। हितकर भोजन भी कम खाओ, परिमित खाओ। ईमानदारी की कमाई का खाओ— ऋत् भुक्। खाते समय मुस्कुरा कर खाओ, प्रेम से खाओ, हँसते हुए खाओ - *'स्मित भुक्'*। गरजते हुए, चिंघाड़ते हुए, भोजन में दोष निकालते हुए, डाँटते-फटकारते मत खाओ।

'यतवाक्कायमानसः' —यानी वाणी को, शरीर को और मन को नियंत्रित करो। आपने देखा होगा कि कुछ लोग बैठते हैं तो पैर हिलाते रहते हैं। आपने कभी सैनिक को चलते देखा है? सैनिक मेरुदण्ड सीधा करके चलता है। चाहे वह अपनी वर्दी में न हो, उसकी चाल बताएगी कि वह सैनिक है। वह सीधा होकर, तनकर चलता है। वाक् (वाणी), काय (शरीर), और मन पर नियंत्रण। सैनिक अपने शरीर पर नियंत्रण साधते हैं। बड़ी कठिन तपस्या होती है, उसकी। उसका प्रशिक्षण होता है। वाणी, शरीर, मन पर नियंत्रण होना चाहिए—

काहे को ऐ मन कहावत है मेरो।
जो रे मन मेरो, न मेरो कहो करै।।

अर्थात् अगर मेरी बात तू मानता ही नहीं तो तू मेरा मन कैसे है? मेरा मन है तो मेरी बात मान। बुद्धि के नियंत्रण से मन को चलना चाहिए। इंद्रिय-मन-बुद्धि का रास्ता पतन का रास्ता है। इंद्रियों ने कहा, मन ने मान लिया तो पतन। बुद्धि-मन-इंद्रिय का रास्ता उन्नति का रास्ता है। बुद्धि से मन को नियंत्रित करो कि हाँ - यह उचित है। मन को उसको स्वीकार करना चाहिए और इंद्रियों को उसके अनुसार काम करना चाहिए। बुद्धि

मन-इंद्रिय के द्वारा किया गया काम हमको-आपको उन्नति की ओर ले जाता है। इंद्रिय-मन-बुद्धि के अनुसार किया गया काम हमको-आपको पतन की ओर ले जाता है। तो वाणी, मन और शरीर पर नियंत्रण करो।

'ध्यानयोगपरा' — यानी ध्यान में मन की एकाग्रता हो। योग जीवात्मा को परमात्मा से मिला देने का नाम है। तो ध्यान भी हम कर सकें। जब भी आप ध्यान करने बैठेंगे आपको सब पुराने काम याद आएँगे। याद आएगा, किसने कब गाली दी, किसने अभी तक पैसा नहीं चुकाया। ध्यान में मन, विषय-रहित हो जाना चाहिए। योग में मन, आत्मा परमात्मा से मिल जाए।

'नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः' नित्य ध्यानयोगपरायण होकर लगातार परमात्मा से युक्त होने की भावना से जुड़ा हुआ हो। भगवान् के प्रति प्रेम संसार से वैराग्य का ही दूसरा नाम है। यह हो ही नहीं सकता कि संसार के प्रति भी आपको राग हो और आप भगवान् के करीब भी पहुँच जाएँ। ऐसा नहीं हो सकता। वैराग्य का आश्रय ग्रहण करने के बाद ही परमात्मा से जुड़ना होता है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। (१८/५३)

अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह - ये सब आसुरी संपदा हैं। *अहंकार*— यानी मैं बहुत बड़ा हूँ—

मैं-मैं बड़ी बलाय है, सकौ तौ निकसौ भागि।
कह कबीर कब लगि रहै, रुई लपेटी आगि।।

मैं बहुत शक्तिशाली हूँ। कब तक रहेगा *'बल'*? सेर पर सवा सेर है। तुमसे भी कोई बली मिल जाएगा तो बलहीन हो जाओगे। केवल बल का अहंकार किसी काम का नहीं। 'दर्प' - अन्याय करके तुमने प्राप्त किया है। दर्प होता है तो धर्म का अतिक्रमण होता है। *'कामं'* यानी लालसाएँ - यह प्राप्त हो जाए, वह प्राप्त हो जाए। *'क्रोधं'* यानी कामना जब खंडित होती है तो क्रोध होता है और कामना जब पूर्ण होती है तो लोभ हो जाता है। भगवान् ने गीता में कहा है–

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।। (१६/२१)

काम, क्रोध तथा लोभ - ये नरक के पथ हैं। लेकिन इसमें मूल काम ही है। काम ही खंडित होने पर क्रोध में रूपांतरित होता है। काम की पूर्ति होने पर लोभ में रूपांतरित होता है। *जिमि प्रति लाभ, लोभ अधिकाई ।* (मानस.१/१७९-२)

और-और की ध्वनि है केवल, तृप्ति प्रलय - पर्यन्त नहीं।

और .. और ... और कितना चाहोगे? *'परिग्रहम्'* माने और इकट्ठा करते रहना। इकट्ठा करके क्या छाती पर रख कर ऊपर ले जाओगे? कोई ले गया है क्या छाती पर रखकर? एक अच्छा श्लोक है–

द्रव्याणि भूमौ पशवश्च गोष्ठे, भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे कर्मानुगो गच्छति जीव एकः।।

जो कुछ भी तुमने कमाया है - ये बड़े-बड़े मकान, सारी संपदा— हीरा, मोती, जवाहरात— सब इसी भूमि पर छूट जाएँगे। मध्य युग का श्लोक है इसलिए उसमें पशु घोड़ा, हाथी, बैल है। आज के संदर्भ में - गाड़ी, हेलिकॉप्टर सब यहाँ पड़े रह जाएँगे। *'भार्या गृह द्वारि'* — मध्यकाल में पत्नियाँ दरवाजे तक आती थीं। नाते-रिश्तेदार श्मशान तक जाएँगे। शरीर चिता तक जाएगा। *'परलोक मार्गे कर्मानुगो गच्छति जीव एकः'* - परलोक के रास्ते में अपने कर्म का अनुगमन करते हुए जीवात्मा अकेला ही जाएगा। साथ में कुछ नहीं जाएगा, कोई नहीं जाएगा। तो यह 'परिग्रह' लोभ का रूप है। लोभ के दो बेटे हैं। लोभ का एक बेटा है - 'स्तेय' - चोरी। बेईमानी से चीजें जुटा लेना। जिस पर हमारा हक नहीं है, जो हमारी नहीं, दूसरे की चीज है, उसे बेईमानी से, लोभ के कारण ले लेना - यह है चोरी यानी 'स्तेय'। अपरिग्रही होना चाहिए।

'विमुच्य' माने इनका त्याग करो। अहंकार का त्याग, बल के दर्प का त्याग, काम-क्रोध, लोभ और परिग्रह का त्याग। *'निर्ममः'* - दो चीजें हैं। एक 'निरहं' और दूसरा 'निर्ममं'। - दो ही शब्द हैं एक है मम, एक है न मम। मेरा-मेरा— यह बाँधता है। जिसमें तुम्हारा मेरापन है वह बाँधेगा। और जब तुमने कहा - न मम, मेरा नहीं तो तुम बंधन से छूट गए। निर्मम का अर्थ आजकल हिन्दी में हो गया है कठोर। यह अर्थ नहीं है। ममत्व रहित - किसी में मेरा पन नहीं। इसीलिए भक्तिवादी कहते हैं कि ममत्व यदि रखना है तो भगवान् से करो। ममता की डोरी से हम बँधे हैं, ममता की डोरी दो प्रकार से टूटती है। पहला— बंधन से बड़े हो जाओ तो बंधन टूट जाएगा। यह ज्ञान का रास्ता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' - तो माया जो ममता के रूप में बाँधती है उसको तोड़ दो। ज्ञान से, हम ममता के बंधन से बचते हैं। दूसरा— बंधन से छोटे हो जाओ। हनुमान जी कैसे बंधन से छोटे हो गए? अति लघु रूप धारण कर लिया - यह भक्ति का रास्ता है। विनम्रता का रास्ता है।

'अहं तु नारायणं दास दासो। दासस्य दासस्य च दास दासो।।'

मैं तो नारायण के दास के दास के दास के दास के दास का दास हूँ। विनम्रता, भक्ति का रास्ता है। एक तीसरा रास्ता है— कि न तो मैं बड़ा हो सकता हूँ, न मैं छोटा

हो सकता हूँ तो क्या मैं बंधन में बँधा ही रहूँगा? यह शरणागति का रास्ता है। तुमने बाँधा है - तुम्हीं खोलो। *तुलसिदास यह मोह-शृंखला, छुटहि तुम्हारे छोरें।*

तुलसिदास यह जीव मोह-रजु जोइ बांध्यौ सोइ छोरै। इस जीव को अज्ञान के बंधन से जिसने बाँधा है - वही खोल दे। प्रभु! न मैं ज्ञानी हूँ, न मैं भक्त हूँ, न मैं कर्ममार्गी हूँ। तुम्हारी शरण में आ गया हूँ तुम्हीं इसको खोलो। *विमुच्य निर्ममः* तो यह ममत्व का त्याग।

'शान्तः' —सभी स्थितियों में शांत। कोई तुमको उद्विग्न नहीं कर सकता। जो घट रहा है, वह राम की इच्छा से घट रहा है। जो राम की इच्छा, वही मेरी इच्छा। यह स्थिति आते ही मन में शांति आती है।

इतने गुण होने पर *'ब्रह्म भूयाय कल्पते'* - तब ब्रह्म होने की क्षमता अर्जित होती है। ये सारे गुण तब आएँगे जब हम भगवान् की पूजा अपने कर्मों से करेंगे।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (१८/४६)

जिसके द्वारा इस सारी सृष्टि का विस्तार हुआ, जिसने सारी सृष्टि की रचना की, मेरी - आपकी सबकी रचना की, जिसने हमको-आपको कर्म की प्रेरणा दी, जो इसके कण-कण में ओत-प्रोत है। जो स्वयं स्रष्टा इस सृष्टि में रूपांतरित हो गया है - उस स्रष्टा की, उस परमात्मा की जब मैं अपने कर्मों के द्वारा पूजा आरम्भ करूँगा तो क्रमशः *'ब्रह्म भूयाय कल्पते'* ब्रह्म होने की क्षमता प्रभु की कृपा से मुझमें आएगी - यह गीता का उपदेश है। हम सब इस बात की चेष्टा करें कि हमारे कर्म केवल हमारे स्वार्थ की सिद्धि के लिए न हों, भगवान् की पूजा का रूप धारण कर लें। कर्म ही भगवान् की पूजा हो जाए। भगवान् की कृपा से हम सब ऐसा कर सकें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः। ●

प्रवचन-५३*

ब्रह्मभूत के लक्षण एवं ईश्वर-शरणागति

भगवान् की बहुत बड़ी कृपा है कि अनपेक्षित परिस्थितियों के बावजूद गीता-प्रवचन का क्रम चल रहा है। कौन जानता था कि मुझको यहाँ से अचानक हिमाचल-प्रदेश जाना पड़ेगा। पर भगवान् की कृपा से गीता का संकल्पित काम पूरा हो ही जाएगा क्योंकि अगले महीने के प्रवचन के साथ ही गीता-परिक्रमा पूरी हो जाएगी। भगवान् की वाणी को यथासंभव आत्मसात् करने के लिए श्रद्धा के साथ हम उस पर गंभीरता से विचार करें, मनन करें, उसके फलों को स्वीकार करें, और अपने जीवन में उतारें। पिछले प्रवचन में बताया गया था कि भगवान् की सबसे बड़ी पूजा अपने कर्मों यानी कार्यों के द्वारा की गयी पूजा ही है -

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (१८/४६)

अर्थात् जो परमात्मा सर्वव्यापी है, अणु-अणु, कण-कण में व्याप्त है उस परमात्मा का पूजन हम चन्दन, अक्षत, पुष्प, मालादि से करें — वह ठीक है। अपनी-अपनी श्रद्धा और क्षमता के अनुसार वह भी करना चाहिए। लेकिन वास्तविक पूजन *'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'* - अपने सहज-प्राप्त कर्त्तव्य कर्म से होता है। *'स्वकर्मणा'* - माने सहज प्राप्त कर्त्तव्य - कर्म, दुष्कर्म नहीं, निषिद्ध कर्म नहीं। अपने सहज प्राप्त कर्त्तव्य-कर्म के द्वारा *'तमभ्यर्च्य'* उसकी पूजा करके, *'सिद्धिं विन्दति मानवः'* - मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। सिद्ध का मतलब - नैष्कर्म्य कर्म में सिद्धि प्राप्त होती है। नैष्कर्म्य सिद्धि का मतलब क्या है? संन्यासी लोग कहते हैं कि संन्यास प्राप्त कर लेने के बाद चूँकि कुछ करणीय शेष नहीं रहता इसलिए कर्म का त्याग करते हैं। भक्त लोग कहते हैं कि जो कुछ हम करते हैं, वह भगवान् को अर्पित कर दें। कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। (९/२७)

* अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या ५४ से ६३

यानी जो कुछ तुम करते हो, पूजन-भजन-कर्त्तव्य-कर्म-उसका फल स्वयं मत चाहो, उसको मुझको अर्पित कर दो। निष्काम कर्मयोगी कहते हैं कि कर्तृत्व का अहंकार छोड़ कर, फलेच्छा का त्याग करके जो कर्म किया जाएगा, वह अकर्म हो जाएगा, निष्कर्म हो जाएगा तब उसमें कर्म की सबसे बड़ी क्षमता यानी बाँध लेने की क्षमता नष्ट हो जाएगी। कर्म क्या करता है? *'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'।*

हम जो अच्छे-बुरे काम करेंगे हमें उनका फल भोगना पड़ेगा। कर्म का फल भोग — यह कर्मों की बंधकता है, बाँध लेने की कर्मों की क्षमता है। अगर उनको इस क्षमता से रहित कर दें तो वे अकर्म हो जाएँगे, निष्कर्म हो जाएँगे। यह बाँध लेने की क्षमता कर्मों में कैसे आती है? क्योंकि हम अपने को कर्त्ता मानते हैं, करने वाला मानते हैं। क्योंकि हम जो कुछ करते हैं उसका फल पाना चाहते हैं। हम स्वयं कर्त्ता हैं और हम जो कुछ कर रहे हैं, उसका फल हमको मिले - यह वृत्ति कर्मों में वह शक्ति उत्पन्न करती है, जिससे वह हमको बाँध लेता है। अगर हम अपने को अकर्त्ता मानकर, अपने को प्रभु की प्रेरणा से स्व-कर्म करने वाला मानकर, फलेच्छा के बिना काम करेंगे तो कर्म अकर्म हो जाएगा, निष्कर्म हो जाएगा और जब निष्कर्म हो जाएगा तो उसका फल हमको नहीं लगेगा, तो हम मुक्त होंगे। *'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'* यह जो मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है - यह नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त होती है। उस नैष्कर्म सिद्धि प्राप्त करने से क्या हो जाता है? *'ब्रह्म भूयाय कल्पते'।* ठीक इसके पहले कहा गया है कि वह इस प्रकार से अहंकार छोड़ कर, बल छोड़ कर, काम-क्रोध छोड़ कर, निर्मम-ममता रहित होकर शांत भाव से अगर काम करेगा तो उसमें ब्रह्म होने की योग्यता आ जाएगी। हम सब लोग अपने को सीमित मानते हैं। हम सब लोग अपने को अल्प शक्ति-सम्पन्न मानते हैं, जीव मानते हैं। तो हममें ब्रह्म होने की क्षमता आ जाएगी, इसका मतलब यह है कि हम अपनी सीमा का अतिक्रमण करेंगे, हम अपने को सीमित, अभावग्रस्त नहीं मानेंगे, हम ब्रह्म होने की क्षमता प्राप्त कर लेंगे - *'ब्रह्म भूयाय कल्पते'।* आज का प्रवचन यहाँ से शुरू होता है। ब्रह्म होने की क्षमता प्राप्त हो जाती है तो क्या हो जाता है आदमी?

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।। (१८/५४)

अब इसमें ब्रह्मभूत शब्द पर काफी विवाद है। कुछ लोग मानते हैं कि ब्रह्मभूत का मतलब हुआ कि वह ब्रह्म ही हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि ब्रह्मभूत का मतलब यह हुआ कि वह अपने को प्रकृति से अलग तो मान लेता है; ब्रह्म होने की

क्षमता तो उसको प्राप्त हो गई; उसको *'अहं ब्रह्मास्मि'* होने का बोध तो हो गया है, लेकिन अब भी उसमें वह पूरी स्थिति नहीं आई है कि वह अपने को ब्रह्म मान ले क्योंकि इसमें बाद की जो पंक्तियाँ हैं वे बताती हैं कि ब्रह्मभूत होने का मतलब है ब्रह्म होने की क्षमता से युक्त। ब्रह्म होने की क्षमता से युक्त होकर वह अपने को ब्रह्म मान सकता है, मानने की स्थिति में आ गया है लेकिन अब भी वह अपने को ब्रह्म अनुभव नहीं करता, कुछ अभी कम अनुभव करता है। क्या अनुभव करता है - यह अभी आगे बता रहे हैं।

उपनिषद् में एक वाक्य आया है - *'तत्त्वमसि'* (तत्+त्वं+असि) - वह तू है, या तू वह है। तू मतलब जीवात्मा, त्वं पदार्थ। मेरे गुरु स्वामी अखंडानन्द जी बताते हैं कि ५३ से ५५— इन तीन श्लोकों में इन तीनों की एकता का निरूपण किया गया है। गीता की दृष्टि से *'तत्त्वमसि'* — सिद्धांत का प्रवचन है, निरूपण है। कैसे है? जो ब्रह्म होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, वह *'प्रसन्नात्मा न शोचति, न कांक्षति'* - यहाँ आत्मन् शब्द का अर्थ है - अंतःकरण। मैंने कई बार बताया कि आत्मन् शब्द का अर्थ कहीं-कहीं शरीर होता है, कहीं मन होता है, कहीं बुद्धि होता है और कहीं शुद्ध आत्मा होता है। *'प्रसन्नात्मा'* का मतलब हुआ कि उसका अंतःकरण निर्मल हो जाता है। 'प्रसाद' शब्द का अर्थ संस्कृत में निर्मलता है और प्रसन्न का मतलब हुआ निर्मल हो जाना। हिन्दी में प्रसन्न का मतलब होता है — बहुत खुश हो गया। यह अर्थ भी है लेकिन यहाँ प्रसन्नात्मा का मतलब हुआ कि उसका अंतःकरण, मन निर्मल हो जाता है। उसका मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार सीमित नहीं रहता। वह केवल काम करने के बाद उसका फल भोगना नहीं चाहता, वह अपने को कर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं करता। कर्त्ता के रूप में स्वीकार करना और फल-भोग की इच्छा - यह मल है, दोष है। इस मल से वह निर्मल हो जाता है, दूर हो जाता है। जब वह 'प्रसन्नात्मा' हो गया, निर्मल हो गया तो 'न शोचति, न कांक्षति' - एक तो वह किसी बात के लिए शोक नहीं करता, दूसरा वह किसी चीज की चाहना नहीं रखता। जिसको हम अपनी चीज मानते हैं, वह अगर खो जाए, दूर चली जाए तो शोक होता है। अगर अपना कोई प्रिय दिवंगत हो जाए तो शोक होता है। जो चीज हमारे पास नहीं है, उसको हम पाना चाहते हैं— उसकी आकांक्षा होती है। यह शोक, आकांक्षा क्यों होती है? क्योंकि हम अपने को सीमित मानते हैं। क्योंकि हम मानते हैं कि हम इस नाम-रूप से सीमाबद्ध हैं, क्योंकि हम अपने को अल्प मानते हैं, अभावग्रस्त मानते हैं। इसलिए जो है, वह अगर चला गया तो शोक होता है; और जो नहीं है, उसके लिए हाय-हाय होती है। यह शोक करना

और आकांक्षा करना - यह हमारी कटी-छँटी, सीमित, छोटी, परिच्छिन्न अवस्था का प्रमाण है। अगर हम ब्रह्मभूत हो गए तो क्या होना चाहिए? फिर हमको किसी चीज की आकांक्षा नहीं होनी चाहिए, किसी चीज का शोक नहीं होना चाहिए क्योंकि हम अगर सर्व-व्यापी हो गए तो हमारे अतिरिक्त तो कुछ और है ही नहीं। तो हमको क्या पाना बाकी रह गया? हमको जब तक लगता रहता है कि हमको कुछ पाना बाकी है, तब तक हम सीमित हैं। जब तक हमको लगता रहता है कि हाय वह चला गया तब तक हम सीमित हैं, तब तक हम ब्रह्मभूत नहीं हुए हैं, तब तक हममें ब्रह्म होने की योग्यता नहीं आई है। अगर हममें ब्रह्म होने की योग्यता आई है, तो उसका प्रमाण होना चाहिए। प्रमाण यह है कि फिर हमको किसी चीज का अभाव-बोध नहीं होगा - किसी चीज के लिए हम हाय-हाय नहीं करेंगे, किसी चीज की आकांक्षा नहीं करेंगे। गया था आया, सब बराबर है क्योंकि मैं सब में हूँ, सब मुझमें हैं। यह बात उसको अनुभव में आती है। ईशावास्य उपनिषद् में कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। (ईशोपनिषद् - ६)
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वं अनुपश्यतः।। (ईशोपनिषद् - ७)

कुछ है ही नहीं मेरे सिवाय तो काहे का मोह, काहे का शोक। यह केवल वाणी से बोलते हैं पर भीतर से अनुभव नहीं होता। जब ब्रह्म होने की योग्यता प्राप्त होती है, जब ब्रह्मभूत होता है व्यक्ति, जब उसका अंतः करण निर्मल हो जाता है तो उसको किसी प्रकार के अभाव का बोध नहीं होता। तब वह न तो चली गई चीज के लिए शोक करेगा, न अभाव का अनुभव करके आकांक्षा ही करेगा।

'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्'।

वह सब प्राणियों में समान होगा। *'समः सर्वेषु भूतेषु'* - अगर वह ब्रह्म होने की योग्यता प्राप्त कर चुका है तो उसको सबमें समान होना ही चाहिए।

'मद भक्तिं लभते परां' — देखिए! ब्रह्मभूत का मतलब ब्रह्म होना नहीं बताया गया क्योंकि इसमें बताया गया कि तब उसको मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है। अभी उसमें किसी चीज की कमी है, कोई चीज बाकी है। इसलिए 'ब्रह्मभूत' का मतलब ब्रह्म नहीं है। ब्रह्म होने की योग्यता प्राप्त व्यक्ति, लेकिन उसमें योग्यता के बावजूद कुछ अभाव है, कुछ कमी है। वह क्या है? वह है मेरी 'परा-भक्ति'। अब इसमें कई-कई बातें हैं।

जो ज्ञानमार्गी हैं वे कहते हैं— *'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति'* - यह

'त्वं' पदार्थ का शोधन है। जो जीवात्मा है, उसको शुद्ध किया गया है। जीवात्मा अपने को जब कटा-छँटा नहीं मानता और तब वह मेरी परा भक्ति को प्राप्त करता है। परा भक्ति का मतलब क्या हुआ। ज्ञानी लोग कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। (७/१६)
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रिय।। (७/१७)

आगे कहते हैं – *'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतं'* – ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है। तो वे कहते हैं कि परा भक्ति का मतलब यहाँ ज्ञान है। जो भक्त लोग हैं वे कहते हैं कि नहीं। इसका मतलब यह है कि जो ब्रह्मभूत हो गया, ब्रह्म होने की, भगवान् की कृपा पाने की योग्यता जिसको प्राप्त हो गई, जिसका अंतःकरण निर्मल हो गया, वह मुझे छोड़ कर न किसी बात का शोक करता है, न कुछ चाहता है। वह अगर शोक करता है तो इस बात का कि मुझे पूरी भक्ति नहीं मिली। अगर वह आकांक्षा करता है तो इस बात की कि मुझको भगवद्-दर्शन कैसे हो? मेरे अतिरिक्त वह न किसी के लिए शोक करता है, न किसी की आकांक्षा करता है – वह रामानुजाचार्य का मत है। लोकमान्य तिलक का मत है कि यह सब कर्मयोग के अंतर्गत है। इसलिए वे कहते हैं कि जो निष्काम कर्मयोगी है वह अगर अपने कर्त्तव्य कर्म का पालन करेगा तो उसके लिए न किसी का शोक करना है, न आकांक्षा करना है। डॉ. राधाकृष्णन कहते हैं कि चौवन, पचपन, छप्पन - इन तीनों श्लोकों में गीताकार ने कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग को समन्वित कर दिया है। बताया है कि इन तीनों योगों से एक ही वस्तु की प्राप्ति होती है। तो इस प्रकार का अन्तर है, लेकिन मूल बात क्या हुई?

भक्त कहते हैं कि मुझको छोड़ कर और सब प्राणियों की उपेक्षा करता है। ज्ञानी कहते हैं कि नहीं। किसी के प्रति कोई निरादर नहीं, किसी के प्रति कोई सम्मान नहीं, सबके प्रति उसकी बुद्धि सम होती है। जैसे सबके प्रति ईश्वर की बुद्धि सम है। समदर्शी। परमात्मा किसी के प्रति पक्षपात नहीं करता। *'न मे द्वेष्यति न प्रियः'* न कोई मेरा द्वेषी है, न कोई मेरा प्रिय है। ब्रह्मभूत हो जाने पर वह सब प्राणियों में सम दृष्टि से *'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः* - वह कुत्ते में भी, चाण्डाल में भी और वेद के ज्ञाता ब्राह्मण में भी एक ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इसलिए वह सबमें समान है। *'मद्भक्तिं लभते परां'* - मेरी परा भक्ति को लाभ करता है। 'परा भक्ति' का मतलब? एक अर्थ तो यही कि वह ज्ञान रूपी भक्ति को प्राप्त करता है। परा भक्ति का मतलब - *वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'* - उसको वह भक्ति प्राप्त हो जाती है

कि वह सर्वत्र प्रभु का साक्षात्कार करता है। सर्वत्र प्रभु का दर्शन करता है - वह परा भक्ति है। अपने इष्ट देव में, केवल अपनी पूज्य मूर्ति में ही नहीं, वह अणु-अणु में, कण-कण में प्रभु का दर्शन करता है।

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल।।

ऐसा महात्मा दुर्लभ है। परमात्मा तो सुलभ है, वह महात्मा दुर्लभ है, जो सर्वत्र भगवान् का साक्षात्कार कर सके। वह मेरी परा भक्ति को, श्रेष्ठ भक्ति को सर्वोत्तम भक्ति को प्राप्त करता है। फिर गीताकार एक बड़ी अद्‌भुत बात कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।। (१८/५५)

किसी को कैसे जाना जा सकता है? किसी से मिल कर, बातचीत करके, उसको हम कितना जान लेते हैं? *'भक्त्या मामभिजानाति'* – किसी को, विशेषकर भगवान् को भक्ति के द्वारा ही संपूर्णतः जाना जा सकता है। *'अभिजानाति'* – अभितः, पूर्णतः, सर्वतः जाना जा सकता है। जिससे हम प्रेम करते हैं और जितना घनिष्ठ प्रेम करते हैं, उसको हम उतना ही ज्यादा जानते हैं। अलग रह कर, तटस्थ रह कर जितना जानते हैं, उतना कम जानते हैं। उसकी रुचि, अरुचि, उसकी सारी स्थिति, उसकी मानसिकता का बोध हमको तब होता है जब हम उससे परा भक्ति, परम-प्रेम करते हैं। भक्ति यानी – *'सा त्वस्मिन् परम प्रेम रूपा अमृत - स्वरूपा च।'* भगवान् में परम प्रेम और अमृतत्व का अनुभव करने-कराने वाला प्रेम, यह भक्ति है। तो परा भक्ति के द्वारा हम भगवान् को पूर्णतः, समग्रतः जानते हैं। ज्ञानी लोग कहते हैं कि भक्ति मतलब यहाँ ज्ञान ही अभीष्ट है। परा भक्ति के द्वारा यहाँ ज्ञान की पराकाष्ठा को बताया गया है। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि ज्ञान की पराकाष्ठा भक्ति है और भक्ति की पराकाष्ठा ज्ञान है। इसीलिए भक्ति से जानते हैं। *'भक्त्या मामभिजानाति'* यानी भक्ति से ज्ञान प्राप्त करते हैं। यानी ज्ञान ही परम अभीष्ट है। इसलिए विवाद में गए बिना हम उतना कह सकते हैं कि भगवान् की पराभक्ति प्राप्त कर लेने के बाद परमात्मा को ठीक-ठीक समग्रतः जाना जा सकता है।

कैसे जाना जा सकता है? *'यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः'* – भक्ति के द्वारा, प्रेम के द्वारा जाना जा सकता है। 'तत्त्वतः' - सर्वतः जाना जाता है। 'तत्त्व' का क्या मतलब? वह और तुम एक ही हो। एक अर्थ यह भी है और तत्त्वतः जाना जाता है यानी जो जैसा है, वैसा जाना जाता है। क्या जाना जाता है? दो बातें – *'यावान् यश्चास्मि'* – जो

मैं हूँ। परमात्मा कहते हैं कि मैं उपाधि को स्वीकार कर लेने के बाद सारे ब्रह्मांड की जिस प्रकार सृष्टि करता हूँ, रचता हूँ – उस सारी सत्ता को वह परम प्रेम के द्वारा, भक्ति के द्वारा जानने का अधिकारी हो जाता है। *'यावान्'* माने मैं जितना हूँ जैसा कुछ हूँ। और *'यश्च'* माने जो हूँ। क्या हो? कितने हो? यह सारा जो विश्व-ब्रह्मांड है, यह परमात्मा का ही रूप है – यह जाना जाता है।

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत' इस सृष्टि के अणु-अणु, कण-कण में वही परमात्मा अपने को अभिव्यक्त कर रहा है। सबकुछ परमात्मा ही है। जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह परमात्मा ही है - यह वह परम भक्ति के द्वारा जान सकता है। वह देश-काल-वस्तु है और देश-काल-वस्तु के परे भी है। वही अपने को सबमें अभिव्यक्त करता है और अभिव्यक्त करने पर भी वह इन सबसे परे रहता है – यह बात कठिन है। हमलोग क्या जानते हैं? हमलोग सबको देश, काल और वस्तु में सीमित करके जानते हैं। किसी चीज को जानते हैं तो उसकी लंबाई - चौड़ाई को जान लेते हैं, उसके स्वभाव को जान लेते हैं। परमात्मा में तो यह सब कुछ है ही नहीं तो वह जो परिच्छिन्न, बिना कटा-छँटा, वह जो संपूर्ण, समग्र बनने वाला और सबके परे रहने वाला वह जैसा है, जो कुछ है, वह जो सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप है उसके उस स्वरूप को, उसके वास्तविक, अपने रूप को, उस तन को जान लेता है।

ऐसा जान लेने के बाद क्या होता है? *ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।* वह सर्वव्यापी हैः समान है, वह जैसा है, जितना है, जो है, उसको तत्त्वतः तुम-जान लोगे तो उसमें प्रवेश कर जाओगे, वही बन जाओगे। प्रवेश कर जाओगे— इसमें भी ज्ञानी लोग कहते हैं कि दो बातें होंगी। प्रवेश कर जाने का मतलब होता है कि पहले अलग था और फिर मिल गया। कोई चीज बाहर से भीतर चली गयी। ज्ञानी लोग कहते हैं कि ऐसा नहीं है। समझ लो, नीचे छोटा सा तालाब है - तलैया। तलैया के पानी में सूर्य का प्रतिबिम्ब चमक रहा है। अब वह पानी सूख गया तो सूर्य का प्रतिबिम्ब कहाँ गया? वह अपने बिम्ब में चला गया। वैसे ही जब तक तुम अपने को सीमाबद्ध, अल्प शक्ति-संपन्न जीव मान रहे थे तब तक तुम जीव थे और जैसे ही तुम्हारी वे सीमाएँ टूटीं तो तुम ब्रह्म में प्रवेश कर गए, वही हो गए। दूसरा उदाहरण– जैसे घड़ा है, घड़े की दीवार है। घड़े के पोलापन को हमलोग कहते हैं घटाकाश। घड़े की दीवार टूट गयी तो घटाकाश कहाँ गया? वह चिदाकाश में चला गया। महाकाश में चला गया। तो घटाकाश अलग नहीं था। वह उस घड़े की दीवार के कारण महाकाश से अपने को अलग मान रहा था। जैसे ही उसकी सीमा टूटी, वह महाकाश से एक हो

गया। वैसे ही जब तक हम अपने को नामरूप, सीमित मानते हैं तब तक हम अपने को अल्प शक्ति संपन्न अभावों से ग्रस्त, कुछ चाहने वाला, कुछ चला गया तो शोक करनेवाला मानते हैं। जैसे ही हमारी वह सीमा टूटी, सीमा के टूटते ही हम ब्रह्म हो गए, फिर हमको और कुछ पाना शेष नहीं रह गया। तो *'विशतं तदनन्तरम्'* – प्रसन्न, निर्मल अंतः करण वाला, न शोक करने वाला, न आकांक्षा करने वाला, ब्रह्म की पात्रता को उपलब्ध कर लेने वाला जीव है, वह जब जान लेता है कि परमात्मा सबके प्रति समान है, वह जब जान लेता है कि परमात्मा अपने को सबमें अभिव्यक्त करते हुए भी सबके परे रहता है, वह जब परमात्मा को सच्चिदानन्द - स्वरूप जान लेता है तो जानने के साथ-साथ उसको परा भक्ति की प्राप्ति होती है और परा भक्ति से ही वह जान पाता है, फिर उसके अनंतर वह उसमें प्रवेश कर जाता है, वह वही हो जाता है। श्लोक चौवन-पचपन में, गीता में *'तत्त्वमसि'* का निरूपण किया गया है - ऐसा ज्ञानमार्गी विचारकों का कहना है। परन्तु जो कर्ममार्गी विचारक हैं, वे कहते हैं–

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।। (१८/५६)

मेरा सहारा लेकर जो सब प्रकार के सांसारिक कर्त्तव्य, काम करता रहता है, वह भी *'मत्प्रसादात्'* – मेरे अनुग्रह से *'शाश्वतं अव्ययम् पदं अवाप्नोति'* – अव्यय पद को, शाश्वत पद को, विष्णु पद को प्राप्त कर लेता है। कैसे प्राप्त कर लेता है? सारा काम करते हुए कर लेता है। यानी कर्म का परित्याग तो उसने किया नहीं। तो ज्ञानी जैसे संन्यास या कर्मत्याग की बात करते हैं लेकिन भगवान् ने गीता में कर्मत्याग की बात नहीं कही है। इसमें भी एक बात है। यह जो सारे कर्म करते हुए 'अपि' (भी) शब्द जो आया है – इस पर ध्यान दीजिए। अगर काम न करे तब तो वह परमात्मा है ही। काम करते हुए भी वह प्राप्त कर सकता है। यानी अगर वह कर्म का त्याग कर दे? ज्ञानी लोग कहते हैं कि इस 'अपि' शब्द का अर्थ यह है कि जो कर्म संन्यासी है, कर्म-त्यागी है, वह तो परमात्मा को प्राप्त कर ही लेता है लेकिन जो अपनी प्रकृति के द्वारा विवश होकर कर्म करता ही रहे तो काम करते रहने पर भी *'सर्व कर्माणि अपि'* वह मेरे अनुग्रह से, मेरी कृपा से शाश्वत पद को, परम पद को प्राप्त कर लेता है। इसीलिए राधाकृष्णन ने कहा कि छप्पनवें श्लोक में कहा गया है कि अगर निष्काम कर्म करोगे तो भी तुम्हें परम पद प्राप्त होगा। भक्ति से भी तुम परम पद को प्राप्त करोगे। ज्ञान से भी तुम परम पद को प्राप्त करोगे। यानी गीता यहाँ ज्ञान-कर्म और भक्ति - इन तीनों मार्गों से परम पद की, सर्वोच्च पद की, परमात्मा की, परब्रह्म की प्राप्ति की बात कहती है। अपने-अपने मत

का आग्रह रखनेवाले अपने-अपने अर्थ में उसको घटाना चाहते हैं। लेकिन यह तो सच है कि गीता में भक्ति के बारे में कहा। इस के बाद अगले प्रवचन का जो विषय है, उसमें एकदम स्पष्ट कर देते है कि ज्ञान और कर्म का समन्वित रूप होने पर भी परम रहस्य की बात तो शायद ज्ञान और कर्म से भी कुछ ऊपर है – इसकी चर्चा अगले प्रवचन में। तो *'मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्'* जो निष्काम भाव से, भगवान् का आश्रय लेकर कर्म करता है, वह भी भगवान् की कृपा से परम पद को, शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है। ये तीनों श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण श्लोक हैं। इन पर बार-बार विचार किया जाना चाहिए। भगवान् आगे कहते हैं —

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।। (१८/५७)

ब्रह्म अगर हो ही गया होता तो यह सब नहीं बताते। ब्रह्म होने की योग्यता है, परा भक्ति अगर उसको प्राप्त होगी तो वह ब्रह्म हो जाएगा लेकिन कैसे उसको परा भक्ति प्राप्त होगी? पराभक्ति प्राप्त करने का उपाय भी बताते हैं। *'चेतसा सर्वं कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः'।*

अपने विवेक के द्वारा, *'चेतसा'* माने शुद्ध बुद्धि के द्वारा, सब कर्मों को मेरे प्रति निवेदित कर दो। *'संन्यस्य'* मतलब? ज्ञान मार्गी संन्यास का मतलब लेते हैं-कर्म का त्याग' एवं भक्ति मार्गी मानते हैं कि *'न्यास'* का मतलब है समर्पण। तो सारे कर्मों को मुझे अर्पित कर दो, मेरे प्रति निवेदित कर दो –

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्'। (९/२७)

जो करते हो, खाते-पीते हो, यज्ञ करते हो - सब मुझे समर्पित कर दो। *'मत्परः'* – मेरे परायण हो जाओ, मुझसे ही प्रेम करो। मुझे सबसे बड़ा मानो। परमात्मा से बड़ा और कुछ नहीं है। परमात्मा को खोकर और कुछ पाना नहीं चाहिए। सबको खोकर परमात्मा को पाना चाहिए। *'मत्परः'* – मेरे प्रति समर्पण हो, सबसे बड़ा मुझको मानो।

'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव'।

बुद्धियोग का आश्रय लेकर तुम अपने चित्त को मेरे चित्त से एक कर दो। बुद्धियोग का मतलब समत्व बुद्धि।

सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।। (२/३८)

सुख-दुःख, हानि-लाभ सबमें समान। सबमें समान हो जाने वाली शुद्ध बुद्धि

प्रभु को समर्पित कर देना। बुद्धियोग माने अपनी शुद्ध-बुद्धि प्रभु को समर्पित करना। उस शुद्ध बुद्धि का आश्रय लेकर तुम अपने चित्त को मेरे चित्त से एक कर दो।

'सततं भव' – हमेशा। जो तुम्हारी राय - वह मेरी राय। जो राम जी की इच्छा - वह मेरी इच्छा। मेरी इच्छा राम जी की इच्छा से भिन्न नहीं है। मेरे गुरुजी ने इस विषय में एक बहुत अच्छी बात बताई। अक्सर हमारी इच्छा पूरी नहीं होती तो दुःख होता है। मैंने अपने गुरुजी से यह बात कही तो उन्होंने कहा— कि अच्छा तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं हुई तो किसकी इच्छा पूरी हुई? फिर बोले— अच्छा! तुम किसी को प्यार करते हो? उनको मालूम था कि मेरी बेटी का नाम भारती है। वह भी उनकी शिष्या है। बोले- तुम भारती को प्यार करते हो? मैंने कहा— करता हूँ। बोले— तुम्हारी कुछ इच्छा हो और भारती की और कुछ इच्छा हो और तुम्हारी इच्छा पूरी न हो और भारती की इच्छा पूरी हो जाए तो तुम दुःखी होओगे कि सुखी होओगे? बड़ा कठिन सवाल! मैंने कहा कि बेटी की इच्छा पूरी हो तो खुश हो जाऊँगा, मेरी बेटी है। बोले— अच्छा! तुम बेटी को प्यार करते हो और रामजी को प्यार नहीं करते? भक्ति की बात करते हो। भक्ति का मतलब, भगवान् को प्यार करना। तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं हुई तो किसकी इच्छा पूरी हुई? राम जी की इच्छा पूरी हुई। राम जी तुम्हारे प्यारे हैं कि नहीं? मैं चुप हो गया। मैंने स्वीकार कर लिया कि मेरी इच्छा पूरी नहीं होती, भारती की इच्छा पूरी होती है तो मुझे खुश होना चाहिए। बोले— तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं हुई तो सोचना चाहिए कि तुम्हारे प्यारे की इच्छा पूरी हुई। तब तुमको दूना खुश होना चाहिए। बड़ी कठिन बात है! अगर तुम सच्चे भक्त हो तो राम जी की इच्छा पूरी होने पर तुम्हें दूनी खुशी होनी चाहिए। बुद्धियोग के सहारे मेरा आश्रय ग्रहण करके अपने चित्त को मेरे चित्त से मिला दो। *'मच्चित्तः'* – तुम्हारा चित्त अलग नहीं है। तुम्हारा चित्त रामजी का ही चित्त हो जाय। रामजी के चित्त में जो इच्छा, वही मेरी इच्छा। वह चाहे मेरी इच्छा के कितनी भी प्रतिकूल हो।

इसमें एक और मजे की बात है। दशम अध्याय में भगवान् ने कहा कि जो बराबर मेरा चिन्तन करते रहते हैं– *'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते'* (१०/१०-२) जो सदा मेरा चिन्तन करते रहते हैं उन्हें मैं बुद्धियोग देता हूँ। वहाँ *'मच्चित्तता'* के कारण बुद्धियोग मिलता है और यहाँ बुद्धियोग के कारण 'मच्चित्तता' मिलती है। तो भगवान् के चित्त से अपना चित्त मिला दें – यह पहले, कि बुद्धि शुद्ध हो जाय, समान हो जाय, बुद्धि-योग हो जाय — यह पहले। इसको संस्कृत में 'बीजांकुर न्याय' कहते हैं। बीज पहले हुआ कि फल। वृक्ष पहले हुआ कि फल। मुर्गी कि अण्डा? मुर्गी से

अंडा होगा और अण्डे से मुर्गी। उसी तरह बीज से वृक्ष होगा, वृक्ष से फल होगा और फिर फल से बीज होगा और बीज से वृक्ष होगा। इसको बीजांकुर-न्याय कहते हैं। हमारी बुद्धि शुद्ध होगी तो हम भगवान् से अपने चित्त को मिला सकते हैं। हम भगवान् से अपना चित्त मिला लेंगे तो हमारी बुद्धि शुद्ध हो जाएगी। हमें बुद्धियोग प्राप्त हो जाएगा। अब तुम्हारे लिए क्या सहज है? अगर मन से यह निर्णय कर लो कि जो रामजी की इच्छा, वही मेरी इच्छा। राम जी के चित्त से अपना चित्त मिला देंगे तो हमारी बुद्धि शुद्ध होगी, हमें बुद्धियोग प्राप्त होगा। और अगर हमारी बुद्धि शुद्ध हो गयी, सबको हमने समान मान लिया और समान मान कर बुद्धियोग का आश्रय ग्रहण किया तो राम जी के चित्त से हमारा चित्त मिल जाएगा। इसको 'बीजांकुर-न्याय' कहते हैं।

हम सबके जीवन में बहुत बार दुःख-कष्ट आता है। मेरे जीवन में भी बहुत बार आया है। वैसे दुनिया में कोई भी ऐसा नहीं हुआ जिसके जीवन में दुःख न आया हो। जब दुःख-कष्ट आए तो उसे कैसे पार किया जाए? दुःख-कष्ट से उबरने की, उसे पार कर जाने की क्या संभावना है?

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि। (१८/५८-१)

अगर तुमने अपना चित्त मेरे चित्त से मिला दिया, अगर तुमने मेरी इच्छा को अपनी इच्छा के रूप में स्वीकार कर लिया, अगर तुम्हारी कोई पृथक् स्वतंत्र इच्छा नहीं रही, जो राम जी का मन, वही मेरा मन। यह अगर हो गया तो जितने कठिन अवसर आएँगे, दुःख-कष्ट आएँगे, शोक के अवसर आएँगे तो राम जी की इच्छा। तुम राम जी की इच्छा को स्वीकार कर लो। तुम सारे दुःखों, शोकों, कष्टों को लाँघ जाओगे। एक बार रामजी के चित्त से अपने चित्त को मिला देने पर, राम जी की इच्छा को अपनी इच्छा के रूप में स्वीकार कर लेने पर दुनिया की नजर में जो अच्छी-बुरी बातें, जो अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियाँ आएँगी वे हमको दुःख नहीं देंगी। बुद्धियोग में समता होती है। बुद्धियोग का मतलब समत्व। *'सुख-दुःखे समे कृत्वा, लाभालाभौ जयाजयौ।* (२/३८) अपमान में, सम्मान में सम। हानि - लाभ, जय-पराजय में सम। कितनी कठिन बात है? भगवान् को प्राप्त करना आसान है क्या? समता अर्जित किए बिना अगर तुम चेष्टा करोगे तो दुःख पाओगे। अगर राम जी की इच्छा को स्वीकार कर लोगे तो किसी भी स्थिति में तुमको दुःख - कष्ट नहीं होगा। मेरे प्यारे की इच्छा है। मेरे प्यारे की इच्छा में मुझे दूनी खुशी होनी चाहिए। गुरुजी ऐसे समझाते थे। अगर यह मानसिकता हो जाएगी तो कोई परिस्थिति *'सर्वदुर्गाणि'* — बुरे से बुरे प्रसंग में भी, कष्ट से कष्ट में भी तुम बिना दुःखी हुए, बिना रोए-धोए उसे झेल लोगे। सारे दुःख, कष्ट, संकटों को तुम

भगवान् की कृपा से लाँघ जाओगे। यह भगवान् का आश्वासन है और अगर ऐसा नहीं करोगे, अगर अपनी डेढ़-पाव की खिचड़ी अलग पकाओगे तो—

अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि। (१८/५८-२)

'अथ चेत्त्वमहंकारान्' – अगर तुममें अहंकार आ गया; अगर तुम अपने पाण्डित्य के अभिमान में, अपने वीरत्व के अभिमान में मेरी बात नहीं सुनोगे तो– *'विनंक्ष्यसि'* – नष्ट हो जाओगे। क्यों नष्ट हो जाओगे? क्योंकि तुम सुन नहीं रहे हो। तुम इसलिए नहीं सुन रहे हो क्योंकि तुम अपने को बड़ा मान रहे हो, अपनी बात को सही मान रहे हो या सही बात को नहीं मान रहे हो। दोनों में अंतर है। अपनी बात को सही मानना और सही बात को मानना। मैं सबसे बुद्धिमान हूँ। क्यों? क्योंकि मैं, मैं हूँ। यह कोई तर्क हुआ? यह तो अहंकार है। अगर तुममें बड़प्पन का कोई आधार नहीं है तो आधार का निर्माण करो। केवल अहंकार के कारण नहीं सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे। (१८/५९-१)

आप लोगों को याद होगा कि दूसरे अध्याय में अर्जुन कैसी दुविधा की बात बोलता है–

कार्पण्य दोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं।। (२/७)

एक तरफ तो वह कहता है कि मैं तुम्हारा शरणागत शिष्य हूँ। मुझको बताओ कि मुझे क्या करना चाहिए? और दूसरी तरफ कहता है – *'न योत्स्य'* – मैं युद्ध नहीं करूँगा। निर्णय भी कर लिया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा क्योंकि इस युद्ध में मेरे पिता, पितामह, मेरे गुरुजन, मेरे आत्मीय नाते-रिश्तेदार दोनों पक्षों में हैं। युद्ध होगा तो दोनों पक्षों में नाते-रिश्तेदारों की हत्या होगी। अतः मैं युद्ध नहीं करूँगा। निर्णय तुमने कर लिया और अब तुम पूछ रहे हो कि मुझे बताओ। यानी तुम चाहते हो कि तुम्हारे निर्णय का समर्थन राम जी कर दें। तुम जिसको ठीक समझते हो, कृष्ण जी उस पर मोहर लगा दें। जो ठीक है, उसको तुम समझो - यह नहीं मानना चाहते। जो तुमने निर्णय किया है, वह ठीक है – कृष्ण जी इस पर मोहर लगा दें। यह क्या बात हुई? ऐसा नहीं होना चाहिए। यह नहीं कहता कि सत्य को स्वीकार करूँगा। अपने अहंकार को सत्य साबित नहीं करने की चेष्टा करूँगा। तो –

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे। (१८/५९-१)

तुमने घोषणा तो कर दी कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। ऐसा यदि करोगे तो क्या होगा?

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति। (१८/५९-२)

यहाँ व्यवसाय का मतलब व्यापार नहीं है। व्यवसाय का मतलब है निश्चय। मैंने आपको पहले बताया कि *'व्यवसायात्मिका: बुद्धिः समाधौ न विधीयते'* – व्यवसाय का मतलब है *'अवसान इति अवसायः'* – विशेष रूप से जो आरंभ से अंत तक जान ले वह है व्यवसाय। व्यवसाय का मतलब हुआ निश्चय। वह बुद्धि जो किसी काम को शुरू करने के पहले ही उसके आरंभ से अन्त तक को समझ जाती है। तो यह तुमने जो व्यवसाय किया, निश्चय किया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा – यह संगत निश्चय नहीं है। यह मिथ्या है, गलत है, झूठ है। अगर तुम ऐसा निश्चय करोगे कि तुम युद्ध नहीं करोगे तो क्या तुम युद्ध नहीं करोगे? *'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'* — तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारा स्वभाव तुमको युद्ध में नियुक्त करेगा। अभी तुम बड़ी-बड़ी बात कर रहे हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। सामने गुरु हैं, पितामह हैं। अभी कर्ण आए और तुमको ललकारे, अभी अगर दुर्योधन तुम्हें निकम्मा, भग्गू कहे – तो तुम युद्ध करने लगोगे क्योंकि यह तुम्हारा क्षत्रिय धर्म है। यह जो तुम्हारा क्षत्रिय स्वभाव है, यह तुम्हारी प्रकृति है। तुम्हारी प्रकृति तुमको युद्ध करने के लिए विवश करेगी। आगे देखिए–

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।। (१८/६०)

प्रत्येक व्यक्ति अपने भाव से, स्वभाव से अपने-अपने कर्मों से बँधा हुआ है। जो तुम मोह के कारण, अज्ञान के कारण अपने स्वभाव-सिद्ध कर्म को नहीं करना चाहते हो; तुम्हारा स्वभाव तुमको वह करने के लिए विवश कर देगा। इस पर ध्यान से सोचना चाहिए। स्वभाव का मतलब होता है - अपना भाव। हमारा - आपका स्वभाव कैसे बनता है ? आप या मैं भी कई बार चाहते हैं कि सब प्रपंच छोड़ दें। तुलसीदास भी कहते हैं–

तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब, नाउ राम पद-कमल माथ।
जनि डरपहु तो से अनेक, खल अपनाए जानकीनाथ।।

हे तुलसीदास! तू प्रपंच छोड़ कर राम की शरण में जा। हमलोग भी कहते हैं कि चलो! प्रपंच छोड़ दें। प्रपंच छूटता है? क्यों नहीं छूटता। हम सोचते हैं कि हमने प्रपंच छोड़ दिया लेकिन यह क्यों नहीं छूटता? शायद प्रपंच ने हमको पकड़ रखा है? प्रपंच ने हमको-तुमको नहीं पकड़ा है। एक बार एक महात्मा से राजा बोले – कि महाराज! मैं तो प्रपंच को छोड़ना चाहता हूँ लेकिन प्रपंच मुझे छोड़ता ही नहीं। बोले–ऐसा। ठीक है। राजा कल तू मेरे साथ घूमने चलना। राजा के साथ महात्मा घूमने

गए। एक जगह उन्होंने एक पेड़ को पकड़ लिया। बोले – राजा! इस पेड़ ने मुझको पकड़ लिया है, छोड़ता ही नहीं। बोले – महाराज! पेड़ ने कहाँ पकड़ रखा है? आपने पेड़ को पकड़ रखा है। प्रपंच ने तुझको कहाँ पकड़ रखा है? तूने प्रपंच को पकड़ रखा है, तू छोड़ता ही नहीं। सचमुच क्या प्रपंच को इतनी आसानी से छोड़ा जा सकता है? हमलोग जब प्रपंच को छोड़ने की बात कहते हैं तो कभी भक्ति के आवेग में, कभी वैराग्य के क्षणों में प्रपंच को छोड़ने की बात कहते हैं। लेकिन दूसरे क्षणों में, वास्तव में हम प्रपंच का सुख भोगना चाहते हैं। हम इस दुनिया का सुख भोगना चाहते हैं। हम यश, क्षमता चाहते हैं। हम इतना अर्थ चाहते हैं जिसमें हम शान से, सुख से रह सकें और फिर हम प्रपंच छोड़ना भी चाहते हैं। ये दोनों बातें कैसे हो सकती हैं? दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। जो प्रपंच छोड़ना चाहते हैं, उन्हें इन बातों की चिन्ता नहीं रहती। क्यों हम प्रपंच को नहीं छोड़ पाते? क्योंकि यह प्रपंच हमारे एक ही जन्म के कारण हमको प्रिय नहीं है। जो हमको बाँधे हुआ है। हमारा स्वभाव कैसे बनता है? हमारे जो असंख्य पूर्व जन्मों के कर्म हैं – उन कर्मों के समन्वित फल से हमारी वासना बनी है। उसी वासना के अनुसार हमको यह शरीर प्राप्त हुआ है। उसी वासना के अनुसार हम कर्म करते हैं। मेरे गुरु जी कहते थे कि वे बता सकते थे कि कौन स्वर्ग से आया है और कौन नरक से आया है? कौन पिछले जन्म में क्या था? क्योंकि जो पिछले जन्म में था वह इस जन्म में वैसा कर रहा है। जो हमें प्रिय है, जैसा हम व्यवहार कर रहे हैं – यह व्यवहार हम केवल इसी जन्म के अनुभव के आधार पर नहीं कर रहे हैं। असंख्य पूर्व जन्मों के कर्मों के द्वारा हमारी वासना बनी है।

बाँस पुरान साज सब अटपट, सरल तिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचँद, मंद मोल बिनु डोला रे।।

बाँस पुराने हैं। सड़ा हुआ तिकोना खटोला है। कर्मचन्द ने बिना मोल का हमको दे दिया है। बाँस पुराने - माने पूर्व जन्मों के कर्मों के कारण बनी वासना। '*साज सब अटपट*' – ये शरीर के जितने भी उपकरण है सब अटपट हैं। सब इन्द्रियाँ अलग-अलग जाती हैं। आँख किसी को देखना चाहती है। त्वचा किसी को छूना चाहती है। नाक किसी की सुगंध लेना चाहती है। रसना कुछ स्वाद पाना चाहती है। पाँचों इंद्रियाँ पाँच दिशाओं में ले जाती हैं। तिकोन – सत्व, रज, तम–इन तीन गुणों से बना हुआ तिकोन खटोला। किसने दिया? मेरे ही कुटिल कर्मों ने दिया। मेरे पूर्व जन्म के कुटिल कर्मों ने दिया। तुम खरीदने गए थे इसे? बिना मोल के यह निकृष्ट शरीर मेरे कर्मचंद ने मुझको दे दिया। याद रखो! साधन के रूप में यह शरीर असाधारण है। '*साधन धाम*

मोक्ष कर द्वारा' अद्वितीय है यह शरीर। *'नर तन सम नहिं, कवनेउँ देही।* मनुष्य शरीर के समान कोई शरीर नहीं है – साधन के रूप में और साध्य के रूप में? *'मंद मोल बिनु डोला रे'* – अगर तुम इसको साध्य बनाओगे कि इस शरीर को हम रँगेंगे, पोतेंगे, सुन्दर बनाएँगे, चिकना बनाएँगे, गद्दे पर सुलाएँगे। शरीर को अगर साध्य बनाया तो *'मंद मोल बिनु डोला रे'* यह निकृष्ट है। परंतु साधन के रूप में हमारा शरीर दुर्लभ है। *'नर तन सम नहिं कवनेउँ देही'* बहुमूल्य है। साध्य के रूप में यह निकृष्ट है।

इस तरह हमारा स्वभाव पूर्व जन्मों की वासना के कारण बना है। वह वासना की रस्सी हमको बाँधे हुए है। उस वासना की रस्सी से हम कैसे छूटें? या तो हम ज्ञान से उसको तोड़ दें। क्यों हमको वासना होती है? इसलिए वासना होती है कि जो नश्वर है, परिवर्तमान है, क्षणभंगुर है, मिथ्या है, – हम सत्य मान लेते हैं। इसलिए वासना होती है कि जो दुःखद है, दाहक है, पीड़क है, कष्टप्रद है, उसके बाहरी आकर्षक आवरण के कारण हम उसको सुखद और रमणीय मान लेते हैं। जैसे ही हम नश्वर, परिवर्तमान, क्षणभंगुर, मिथ्या, दाहक, पीड़क को सत्य सुखद, रमणीय मानते है, वैसे ही उसके प्रति भोग की हमारी वासना होती है। उसको पाना चाहते हैं। या तो हम ज्ञान से उसके वास्तविक स्वरूप को समझ लें तो वासना नष्ट होगी या हम भगवान् के सामने अपनी शरणागति के द्वारा भगवान् से कहें। बंधन दो ही प्रकार से टूटता है— पहला—बंधन से बड़े हो जाओ, चटाक् से तोड़ दो। अपने को ब्रह्म मान लो ज्ञान से तो माया का बंधन टूट जाएगा। दूसरा—बंधन से छोटे हो जाओ जैसे हनुमान जी हो गए। *अति लघु रूप पवन सुत लीन्हा* – तो एक भक्ति का रास्ता है यानी अपने को बहुत छोटा कर लो। और अगर तुम न बहुत बड़े हो सकते हो, न बहुत छोटे तो बंधन नहीं छूटेगा। बोले– एक रास्ता और है। वह क्या है?

तुलसिदास यह जीव मोह रजु, जोइ बाँध्यो सोइ छोरै।

इस अज्ञान की, वासना की रस्सी से जिसने हमको बाँधा है, वही खोल दे। *तुलसिदास यह मोह शृँखला, छुटिहिं तुम्हारे छोरे।* यह जो अज्ञान की शृँखला हमको बाँधे हुए है, तुमने बाँधा है। तुम इसको खोल दो। यह शरणागति का रास्ता है। यह अगली बार बताया जायगा। तो इसमें उन्होंने बताया है कि तुम्हारा जो स्वभाव है, वह तुमको प्रेरित करेगा कि तुम युद्ध करो। अगर हम-आप श्मशान वैराग्य के द्वारा, आलस्य के कारण काम से बचना चाहते हैं तो बचेंगे क्या? एक-दो दिन बचेंगे फिर हमारा स्वभाव हमको ठेल देगा। इसलिए जो सहज-प्राप्त कर्त्तव्य कर्म है स्वभाव के अनुसार, उसको अहंकार के कारण या श्मशान वैराग्य के कारण नहीं छोड़ना चाहिए।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।। (१८/६०)

अपने - अपने कर्म से हम स्वभाव के कारण बँधे हैं। *'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्'* – अज्ञान के कारण जिसको तुम करना नहीं चाहोगे जैसे तुम अभी युद्ध नहीं करना चाहते, *'करिष्यस्यवशोऽपि तत्'* – अवश होकर, पराधीन होकर, स्वभाव के द्वारा विवश कर दिए जाने के कारण तुम वह काम करोगे। यह जो तुम्हारे मुँह से–

'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह' – (२/९-२)

यह बात निकली है, यह विवेक-सम्मत नहीं है। यह अहंकार-सम्मत है। मोह-सम्मत है। अज्ञान के कारण तुम बोल रहे हो। अभी बोल रहे हो हमारे सामने, लेकिन अभी अगर दुर्योधन, कर्ण आकर तुम्हें गालियाँ देने लगें तो तुम लड़ने लग जाओगे। या तुम चले जाओगे जंगल में तो वहाँ पशुओं को मारना शुरू कर दोगे। तुम्हारा क्षत्रिय स्वभाव तुमको छोड़ेगा नहीं। स्वभाव 'दुरतिक्रम' है। स्वभाव का लंघन बहुत कठिन कर्म है। लेकिन *'स्वभाव विजयं शौर्यं'* – स्वभाव को जीत लेना – यही शौर्य है – यह भी कहा गया। एक बार हम अपने स्वभाव को भी चुनौती दे सकते हैं। हम अपने स्वभाव का भी अतिक्रमण कर सकते हैं। लेकिन स्वभाव का अतिक्रमण हम कैसे कर सकते हैं? देखो। भगवान् बता रहे हैं–

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा — मनुष्य अपने स्वभाव से लाचार होकर अपने - अपने कर्मों से बँधा हुआ है। अगर तुम अपने अहंकार के कारण कहोगे कि नहीं करेंगे, तो तुम्हारा स्वभाव तुमको वह काम करने के लिए विवश कर देगा। तो यह जो स्वभाव की परवशता है – इसको छोड़कर क्या कोई दूसरा विकल्प नहीं है? भगवान् कहते हैं – है। यह जो स्वभाव की विवशता का बंधन हम झेल रहे है – इसका एक विकल्प है। वह विकल्प क्या है? वह विकल्प है – भगवान् की वश्यता स्वीकार कर लेना। हम सब जो संसारी लोग हैं, वे स्वभाव की, वासना की पराधीनता को स्वीकार किए हुए हैं। अपनी प्रकृति के कारण। जिसकी जैसी प्रकृति है सत्त्व, रज, तम में। जिसमें जितना सत्त्व गुण, रजो गुण, तमो गुण है। इस त्रिगुणात्मक प्रकृति के कारण हम बँधे हुए हैं। इसका कोई विकल्प नहीं है? है। वह विकल्प क्या है? गीताकार कहते हैं कि वह विकल्प है – तुम अपनी वश्यता को स्वभाव से हटा कर ईश्वर की वश्यता को स्वीकार कर लो। तुम स्वभाव के अधीन हो, प्रकृति के अधीन हो। तुम ईश्वर की शरण में जाओ।

यह ब्रह्म होने की योग्यता के बावजूद, सब कह लेने के बाद भी, भगवान् को

लगा कि अर्जुन के मन में 'युद्ध नहीं करूँगा', यह भाव प्रबल है। इसलिए उन्होंने कहा कि अगर तुम युद्ध नहीं करोगे तो अपने स्वभाव के द्वारा लाचार कर दिए जाओगे – विवश होकर युद्ध करोगे। अगर तुम स्वभाव के द्वारा विवश होकर युद्ध करोगे तो तुम्हारा बंधन और कठोर हो जाएगा। तो और अधोगति को प्राप्त करोगे। तो क्या उपाय है? उन्होंने कहा - तब फिर तुम अपना अहंकार छोड़ो और अपने स्वभाव के अधीन न रह कर तुम मेरे अधीन हो जाओ। *'मच्चित्तः सततं भव'* – कहा कि अपने चित्त को मेरे चित्त से मिला दो – आगे इसी बात को दूसरे ढंग से कह रहे हैं–

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। (१८/६१)

यहाँ परोक्ष रूप से कह रहे हैं। *'सर्वभूतानां हृद्देशे'* – हे निष्पाप, सरल अर्जुन! सबके हृदय में परमात्मा जो सब पर शासन करता रहता है, वह समस्त प्राणियों को अपनी माया से यन्त्रारूढ़ की तरह घुमाता है। अब ईश्वर अगर सबके हृदय में रहता है, ईश्वर की प्रवृत्ति से हम सब काम करते हैं तो फिर हम बुरा काम क्यों करते हैं? ईश्वर क्या हमसे पाप कराना चाहता है? नहीं। *'यन्त्रा - रूढानि मायया'* – तुम जिस यंत्र पर आरूढ़ हो, उसको वह घुमाएगा। यंत्र के अनुरूप तुम्हारा व्यवहार होगा। हमारा शरीर एक यंत्र है। आपने कभी बिजली का झूला झूला है? बिजली का झूला चलने लगा तो आप ऊपर-नीचे, ऊपर-नीचे करते रहेंगे। घोड़ा है तो गोल-गोल घूमते रहेंगे। जिस पर आप बैठे हैं, वह घूमने लगा तो आप भी घूमने लगे। यन्त्र पर आरूढ़ की तरह हम-आप घूम रहे हैं, परमात्मा घुमा रहा है। इसका एक गंभीर अर्थ है। हम सब एक-एक यंत्र हैं और उस यंत्र को परमात्मा घुमा रहा है। परमात्मा तो सबको प्रेरणा दे रहा है लेकिन यह जो अलग-अलग व्यवहार हो रहा है, यह हमारे यंत्र की विशिष्टता है। जैसे बिजली जब पंखे में आती है तो पंखे को घुमाती है, हवा देती है। वही बिजली जब ट्यूब या बल्ब में आती है तो रोशनी देती है। वही बिजली जब ए.सी. में आती है तो ठंढक पहुँचाती है। फर्नेस में वही बिजली आग पहुँचाती है! वही बिजली ट्राम को चलाती है, ट्रेन को चलाती है। वही बिजली रोक देती है। यानी बिजली तो एक है लेकिन वह जिस यंत्र में जाकर काम कर रही है उस यंत्र के अनुरूप उसका व्यवहार है। इसलिए हम सब परमात्मा की प्रवृत्ति से काम करते हुए भी अपने - अपने स्वभाव के अनुरूप, अपने-अपने यंत्र के अनुरूप व्यवहार कर रहे हैं। इस यंत्र की पराधीनता से कैसे उठें? इससे वैसे ही उठ सकते हैं जब हम सब प्रकार से उसकी शरण में जाएँ।

उमा दारु जोषित की नाईं/सबहि नचावत रामु गोसाईं। (मानस.४/१०-७)

राम नचा रहे हैं, हम नाच रहे हैं। जैसा जिसका आकार है। जो राजा बना है, वह राजा की तरह नाचता है। जो रानी बना है, वह रानी की तरह नाचता है। अपने-अपने आकार या प्रकृत्ति के अनुसार नाच रहे हैं। इससे कैसे बचें ? तो कहते हैं उसी ईश्वर की शरण में जाओ—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। (१८/६२)

जो ईश्वर हमको तुमको प्रवृत्त कर रहा है जो हमको-तुमको प्रेरित करके नचा रहा है यन्त्रारूढ की तरह और फिर हम अपने अहंकार के कारण समझते हैं कि मैं कर रहा हूँ, मैं कर्त्ता हूँ – यह केवल अहंकार है। इस अहंकार को यदि हम त्याग दें, अगर हम विनम्र हो जाएँ, सब प्रकार से उसी की शरण में चले जाएँ और कहें कि जो तुमको स्वीकार है, वही मुझको स्वीकार है।

है मुझे स्वीकार सब कुछ, जो तुम्हें स्वीकार रघुवर।

हे राम जी ! आपको जो स्वीकार है, वही मुझको स्वीकार है। एक बार एक गुरु ने अपने पुत्र से कहा कि चबूतरा बनाओ। उसने बनाया। कहा— तोड़ दो। उसने तोड़ दिया। कहा— फिर से बनाओ। तो उनका बेटा बोला कि क्या यही करते रहेंगे। तो उन्होंने कहा कि अच्छा जाओ! छुट्टी। उनका शिष्य था अंदर। उससे दस बार बनवाया और दस बार तुड़वाया। वह बनाता गया और तोड़ता गया। बोले— क्या बात है? तुमको इसमें कोई विकलता नहीं है। वह बोला— महाराज! हमको तो आपकी आज्ञा का पालन करना है। आप कहेंगे तो बनाऊँगा। आप कहेंगे तो तोड़ूँगा। मुझे न बनाना है, न तोड़ना है। यह है शरणागति। मैं अपने अहंकार से निर्णय करने वाला हूँ – इस अहंकार का त्याग। राम जी जो हमको विवेकपूर्वक प्रेरणा दे रहे हैं, उस प्रेरणा के अनुसार मैं काम करूँगा। राम जी के हाथ में मेरी डोरी।

दीनबन्धु, दीना नाथ, मेरी डोरी तेरे हाथ।

अपनी डोरी मैंने राम जी को सौंप दी है। वे जो कराएँगे, करूँगा। *'तमेव शरणं गच्छ, सर्वभावेन भारत'।* एक बात याद रखो – दुनिया में किसी - किसी से एक ही भाव होता है। केवल राम जी हैं जिनसे सब भाव हो सकता है। आपने पढ़ा होगा –

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देवः।।

सर्वभावेन। *माता रामः मत्पिता रामचंद्रः।* और किसी को जानता ही नहीं। *सर्वभावेन भारत।*

गुरु पितु मातु बन्धु पति देवा।
सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा।। (मानस.३/१५-१०)

किसी दूसरे के लिए कोई अवकाश नहीं है। सब प्रकार का भाव परमात्मा के प्रति।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् (१८/६२-२)

एक बार अपना अहंकार त्याग कर सब प्रकार से भगवान् की शरण में चले जाएँ, उनकी कृपा प्राप्त कर लें तो परा शान्ति और शाश्वत स्थान की प्राप्ति होगी। वह शान्ति जो कभी हमको विचलित नहीं करेगी। हमलोगों को सामयिक, थोड़े समय के लिए शांति मिलती है फिर अभाव का बोध होता है, फिर हम अशांत हो जाते हैं। भगवान् की कृपा प्राप्त हो जाने पर कोई अभाव रहेगा ही नहीं। परा शांति प्राप्त होगी। जो स्थान प्राप्त होगा, वह शाश्वत होगा। वह न नष्ट होगा, न बदला जाएगा। यह वृत्ति रख कर अगर हम काम करते हैं तो हम भगवान् की शरण में जाते हैं। उस भगवान् की शरण में जाओ। और इसके बाद एक अद्‌भुत बात भगवान् ने कही है–

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। (१८/६३)

गुह्य से गुह्यतर, अत्यन्त गोपनीय से गोपनीय बात मैंने तुमको बता दी। मैंने बताया कि कैसे तुमको ब्रह्म होने की योग्यता प्राप्त होती है। मैंने तुमको बताया कि कैसे तुम ब्रह्म होकर सुख-शांति प्राप्त कर सकते हो। मैंने तुमको बताया कि अगर तुम सिद्ध नहीं हो सकते तो मेरी शरण में आजाओ। यह शरण में आना गुह्य से गुह्यतर है। और इसके बाद वे कहते हैं – *विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।* (१८/६३-२)

'विमृश्यैत् अशेषेण' जो मैंने तुमको बताया – इस पर गंभीर रूप से, पूर्णतः विचार करो। 'अशेषेण' माने? – कुछ शेष न रह जाए। पूरी तरह से विचार करके *'यथेच्छसि तथा कुरु'* जो तुम्हारी इच्छा हो वह तुम करो। अब 'जो तुम्हारी इच्छा हो, वह करो' – इस बात के लोगों ने कई अर्थ बताए हैं। उन्होंने कहा कि तुम्हारी इच्छा हो तो तुम वासना की शरण में जाओ। तुम्हारी इच्छा हो तो तुम मेरी, ईश्वर की शरण में जाओ। किसी ने बताया कि तुम्हारी इच्छा हो तो कर्मयोग करो। तुम्हारी इच्छा हो तो भक्तियोग की तरफ जाओ और तुम्हारी इच्छा हो तो ज्ञानयोग की तरफ़ जाओ। लेकिन तुमको स्वातंत्र्य दिया है। स्वातंत्र्य किस बात का है? अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करने के लिए तो हम करीब-करीब विवश हैं। लेकिन स्वातंत्र्य इस बात का है कि प्रकृति के अनुसार किए जाने वाले कर्मों को अहंकार का त्याग कर, फलेच्छा का त्याग

करके कर सकते हैं। याद रखो! हम कर्म करने में तो स्वतंत्र हैं पर फल भोगने में परतंत्र हैं। हमारा स्वातंत्र्य है। वेद, उपनिषद्, गीता – तीनों इस बात पर एकमत हैं कि एक सीमा तक हम स्वतंत्र हैं। कितना स्वातंत्र्य है हमारा? – इस पर विचार करो। आप लोगों ने ताश खेली होगी। ताश में जो पत्ते बँट कर आपके पास आए, इस पर आपका अधिकार था? ताश के पत्ते आपको मिले – इस पर आपका कोई अधिकार नहीं था। लेकिन ऐसा आपने देखा होगा कि लोग अच्छा पत्ता पाकर भी हार जाते हैं और कुछ लोग साधारण पत्ता पाकर भी जीत जाते हैं। जिस स्थिति में हम आज हैं -- यह स्थिति तो हमारी दी हुई नहीं है। यह तो हमको अपने कर्मों के फल के अनुसार मिली है। लेकिन इस स्थिति में हम अच्छा काम कर सकते हैं – इसका स्वातंत्र्य है। नाटककार ने नाटक लिख दिया। निर्देशक अपने ढंग से उस नाटक की परिचालना करता है। आपको एक भूमिका दे दी गई। भूमिका में क्या करना है – सब बँधा हुआ है। लेकिन क्या ऐसा नहीं होता कि साधारण भूमिका वाला भी अच्छा अभिनय करके सम्मान प्राप्त करता है और नायक की भूमिका वाला अच्छा अभिनय नहीं करके उपहासास्पद होता है। निलहे साहब की भूमिका कर रहा था एक बंगाली कलाकार 'नील दर्पण' नाटक में। देखने वालों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर भी थे। उसने इतना अच्छा अभिनय किया कि उनको गुस्सा आ गया और उन्होंने अपनी चप्पल उतार कर उसको मार दी। उस कलाकार ने अपने जीवन का सबसे बड़ा पुरस्कार विद्यासागर की मारी हुई चप्पल को माना। तो एक घृणित भूमिका में भी उसने इतना अच्छा अभिनय किया कि उसको पुरस्कार मिला। हम सब जिस किसी भूमिका में हैं, वह भूमिका हमारी चुनी हुई नहीं है। वह प्रदत्त भूमिका है। उस प्रदत्त भूमिका में हमारा स्वातंत्र्य यह है कि हम उसका अच्छी तरह से निर्वाह कर सकें। जितनी अच्छी तरह से, जितने समर्पण भाव से हम अपनी भूमिका का निर्वाह करेंगे, उतना स्वातंत्र्य है हमारा – इसको स्वीकार करो। भगवान् की शरण में जाओ।

भगवान् ने कहा है— *'यथेच्छसि तथा कुरु। विमृश्यैतदशेषेण'* अहंकार से काम मत करो, जिद्द से काम मत करो, ढोंग से काम मत करो। सोच-विचार करके, निर्णय करके प्रभु की इच्छा से अपनी इच्छा को मिला कर, प्रभु की शरण में जाकर, प्रभु की प्रेरणा का अनुभव जो तुम अपने निर्मल हृदय में कर रहे हो, उस प्रेरणा के अनुसार काम करो- यह स्वातंत्र्य है। नहीं तो, भगवान् क्यों कहते कि *'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु'* -जो तुम्हारा विचारपूर्वक निर्णय है, उस निर्णय के अनुसार तुम काम करो। लेकिन यह भी चरम बात नहीं है। गुह्यतम बात अगले प्रवचन के लिए सुरक्षित। ●

प्रवचन-५४*

प्रभु शरणागति

जब कुछ मित्रों एवं छात्र-छात्राओं के हठाग्रह के कारण मैंने गीता माता पर प्रवचन शुरू किया था, तब कल्पना भी नहीं की थी कि छः वर्ष एक महीने तक यह क्रम अबाध चलता रहेगा। आज जब श्रीमद्भगवत् गीता की परिक्रमा पूरी हो रही है तो मुझे स्वरचित एक चतुष्पदी याद आ रही है—

तुम्हीं काम देते हो स्वामी, तुम्हीं उन्हें पूरा करते हो।
असफलता के दारुण क्षण में, अश्रु पोंछ पीड़ा हरते हो।।
कभी-कभी अचरज होता है, इतना अगुणी होने पर भी।
कैसे क्योंकर तुम मुझपर यूँ, कृपा मेघ जैसे झरते हो।।
तुम्हीं काम देते हो स्वामी, तुम्हीं उन्हें पूरा करते हो।।

रामजी ने काम दिया, रामजी पूरा कर रहे हैं। अगुणी से अगुणी व्यक्ति को वे चुन सकते हैं और गुणहीन व्यक्ति के द्वारा भी बड़े से बड़ा काम पूरा करा सकते हैं। उनकी कृपा का स्मरण करके मैं गीता की पवित्र वाणी को यथासम्भव समझाने की चेष्टा करता रहा हूँ।

एक आश्चर्य की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ— तिरसठवें श्लोक में प्रभु कहते हैं—

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। (१८/६३)

मैंने गुह्य से गुह्य बात तुमको समझा दी है अब इस पर तुम पूरी तरह विचार करो। विचार करने के बाद जो तुम्हारी इच्छा हो वह करो। *'यथेच्छसि'* जैसी तुम्हारी इच्छा हो *'तथा कुरु'* वैसा करो। यानी कर्म करने की स्वतंत्रता प्रभु ने अर्जुन को दी थी, परन्तु ठीक उसके दूसरे श्लोक में फिर वे अपनी बात कहते हैं। ऐसा क्यों करते हैं? क्या यह बात जरा अटपटी नहीं लगती कि एक ही श्लोक के पहले उन्होंने *'यथेच्छसि*

* अष्टादश अध्याय (मोक्ष-संन्यास योग) : श्लोक संख्या ६३ से ७८

तथा कुरु' यानी 'जो तुम्हारी इच्छा हो वह करो' कहकर अर्जुन को कर्म की स्वतंत्रता दे दी परन्तु उसके बाद कहते हैं कि नहीं-नहीं अब मैं जो कह रहा हूँ यह अन्तिम बात है, अधिक गूढ़ रहस्य की बात है, इसके अनुसार तुम करो।

बात यह है कि प्रभु ने अर्जुन का मुख देखा होगा, और अर्जुन के मुख के भावों को पढ़ा होगा। यह मत समझिये कि सारी बात शब्दों से ही कही जाती है।

नैंकु कही बैननि, अनेक कही सैननि सौं।
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं।।

गोपिकाओं की मानसिकता का वर्णन करते हुए रत्नाकर ने कहा कि उन्होंने ऊधव से वाणी के द्वारा, शब्दों के द्वारा तो बहुत कम कहा *'नैंकु कही बैननि, अनेक कही सैननि सौं'* अपने संकेतों के द्वारा, अपनी मुख मुद्रा के द्वारा, अपनी चेष्टाओं के द्वारा बहुत कुछ कहा। *'रही सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं।'* जो बात बची थी वह हिचकियों द्वारा कही गयी। तो बात शब्दों के द्वारा कम कही जाती है। संकेतों के द्वारा मुख मुद्रा के द्वारा, चेष्टा के द्वारा बहुत कही जाती है।

भगवान् की बात सुनकर जिस प्रकार से अर्जुन ने चेष्टा की होगी, आप कल्पना कर सकते हैं। अर्जुन ने क्या भगवान् से यह कहा था कि तुम अन्तिम निर्णय मेरे ऊपर छोड़ दो? अर्जुन ने तो यह नहीं कहा था। अर्जुन ने तो बार-बार कहा था कि तुम निर्णय करके बतलाओ कि मेरे लिये उत्तम और कल्याणकर क्या है ? एक बार, दो बार नहीं चार-चार, पाँच-पाँच बार कहा है। आप याद कीजिए—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। (२/७)

मैं कार्पण्य के दोष से, कायरता के दोष से ग्रस्त हो गया हूँ। मैं निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ *'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'* जो मेरे लिये श्रेयष्कर है उसको तुम मुझे बताओ। *'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।'* मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, मेरा शासन करो, मैं तुम्हारा शरणागत हूँ। यह बात उन्होंने आरम्भ में कही। अर्जुन इस बात को दुहराते हैं—

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।। (३/२)

तुम मिश्रित सी बात क्यों करते हो? कभी तुम कहते हो कि बुद्धि श्रेष्ठ है, कभी तुम कहते हो कि कर्म श्रेष्ठ है। मिली-जुली बात मत कहो।

'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्'। तुम निश्चय करके बताओ कि

मेरे लिये यह करणीय है, जिससे कि मैं अपने श्रेय को प्राप्त कर सकूँ। कभी तुम कर्म की प्रशंसा करते हो कभी तुम योग की प्रशंसा करते हो। निश्चय करके बताओ। निश्चय करने की जिम्मेदारी तुम्हारी है। *यथेच्छसि तथा कुरु।* मेरी परीक्षा करने की बात छोड़ो। अगर मैं विकल्प रहित होकर क्या उचित है, क्या करणीय है, क्या कर्त्तव्य है क्या धर्म है—इसका फैसला कर पाता तो तुमसे पूछता ही क्यों ? इसलिये तुम निश्चय करके बतलाओ। और तुम क्या कह रहे हो ? तुम कह रहे हो कि— *'ईश्वरः सर्व भूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'।* सबके हृदय में ईश्वर है, मेरे हृदय में भी ईश्वर है। लेकिन हृदय के ईश्वर को मैंने कभी जाना नहीं, पहचाना नहीं। मैं हृदयस्थ ईश्वर की शरण में कैसे जाऊँ मुझको मालूम नहीं। ग्यारहवें अध्याय के अंत में कहा था—

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (११/५५)

अर्थात् जो अपने समस्त कर्मों को मुझे अर्पण कर देता है, मेरा भक्त है, आसक्ति से रहित है, सब प्राणियों के प्रति वैर भाव से रहित है, वही मुझे प्राप्त करता है, तो मैंने पूछा कि—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।। (१२/१)

और तुमने कहा—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।। (१२/२)

मैंने पूछा था तुम्हारी कही हुई बात के अनुसार जो तुम्हारे सगुण साकार रूप की उपासना करता है और जो निराकार अव्यक्त परमेश्वर की उपासना करता है, उनमें कौन श्रेष्ठ है ? तो तुमने स्पष्ट रूप से कहा था कि— जो मेरे में अपना मन लगाकर मेरा ध्यान कर मेरी उपासना करता है वह श्रेष्ठ है। हाँ तुमने यह जरूर कहा था *'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते'* (१२/३-१)

जो अव्यक्त अक्षर निराकार ईश्वर की उपासना करता है वह भी मुझको प्राप्त होता है लेकिन तुमने तो कहा था कि तुम्हारी उपासना करनेवाला तुमको अधिक प्रिय है और अब तुम हमको कहते हो कि ईश्वर की शरण में जाओ। यह क्या बात है ? तुमने बार-बार कहा—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।। (१२/८)

मुझमें अपना मन लगाओ, अपनी बुद्धि लगाओ। तब तुम मुझमें रहोगे ? मैं तो तुमको जानता हूँ। भीतर ईश्वर है मानता हूँ, किसके हृदय में ईश्वर नहीं है बताओ?

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी।
सकल जीव जग दीन दुखारी।। (मानस.१/२-७)

सबके हृदय में ईश्वर है कि नहीं ? और सबके हृदय में ईश्वर के होते हुए लोग दुःखी हैं कि नहीं ? दीन हैं कि नहीं? तो उस ईश्वर के रहते हुए भी जब हम दीन हैं, दुःखी हैं तो केवल अन्तस्थ ईश्वर, जिसको कि मैं जानता ही नहीं, जिसकी शरण में जा नहीं पाता, उसकी शरण में जाने की बात तुम कैसे कह रहे हो ? अभी तक तुमने कहा मेरी शरण में आओ, मेरी बात सुनो, मुझमें अपना मन लगाओ। मुझको निश्चित करके बताओ कि मुझे क्या करना है ? ये सारी बातें अर्जुन ने शब्दों में नहीं कही। ये सारी की सारी बातें अर्जुन के मुख पर प्रस्फुटित हुईं। जो तुमने कहा तुमने सारी जिम्मेदारी मेरे ऊपर डाल दी। मैंने तो तुमको अपना गुरु चुना है। तुम्हीं यह बताओ कि मुझे क्या करना है ? और ऐसा जब अर्जुन के मुख का भाव प्रभु ने ने पढ़ा, प्रभु ने अनुभव किया तो उन्होंने स्वयं अपनी बात को संशोधित किया। आप देखिये *'यथेच्छसि तथा कुरु'* के बाद वे कहते हैं— नहीं यह जो बात कही, गुह्य से गुह्यतर बात कही गई। गुह्य बात है निष्काम कर्म योग, गुह्यतर बात है ज्ञान से अप्रत्यक्ष ईश्वर की शरण में जाने की और गुह्यतम बात है, सबसे गोपनीय, सबसे रहस्य की बात कि मैं जो तुम्हारे सामने खड़ा हूँ, साकार, सगुण परमेश्वर—सीधे मेरी शरण में आ जाओ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।। (१८/६४)

यह परम वाणी है। अन्तिम वाणी है। इसके बाद और कुछ नहीं है। *'परमं'* सबसे शेष बात, अत्यन्त गुह्यतम रहस्य की बात मैं तुमको बता रहा हूँ। क्यों बता रहे हो भाई ? क्योंकि तुम *'इष्टोऽसि'।* तुम मेरे इष्ट हो। कैसी अद्भुत बात कही प्रभु ने। हमलोगों के इष्ट होते हैं प्रभु। हमारे आपके इष्टदेव हैं कि नहीं। तो इष्टदेव हमारे होते हैं रामजी। प्रभु हमारे हैं और प्रभु कहते हैं कि तुम मेरे इष्ट हो। यानी इस बात को आप समझिये कि भक्त भगवान् की भक्ति करता है तो भगवान् भक्त की भक्ति करता है। *भगवान्, भक्त, भक्तिमान।* अगर आपके इष्ट हैं रामजी, और रामजी हमारी भक्ति को अगर सच्ची मानते हैं तो हम उनके इष्ट हो जा सकते हैं।

'इष्टोऽसि मे' और कैसे इष्ट ? *दृढमति*—अत्यन्त दृढतापूर्वक, निश्चयपूर्वक कह रहा हूँ। इसलिए मैं तुम्हारे परम कल्याण की बात कहता हूँ—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। (१८/६५)
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (१८/६६)

अर्जुन के भाव को जिस प्रकार उन्होंने समझा और अर्जुन को सामने रखकर हम सबको जो उपदेश दिया, उस पर ध्यान दीजिए। यह जो श्लोक है, वह दोहराया गया श्लोक है। ठीक यही श्लोक आधे से अधिक नौवें अध्याय के ३४वें श्लोक में आया है। दूसरी चौपाई में थोड़ा बदल गया है। नौवें अध्याय के ३४वें श्लोक को देखिए—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। (९/३४)

क्यों कहा है ? क्यों कोई बात दोहराई जाती है ? उस बात पर बल देने के लिये। उस बात पर जोर देने के लिये। आपने कभी गाँठ बाँधी है ? एक गाँठ बाँधिये तो कमजोर होती है, खुल जाती है। दूसरी गाँठ बाँध दीजिए तो मजबूत होती है। कभी-कभी हमलोग तीसरी चौथी भी बाँध देते हैं, लेकिन दो बाँधना ही काफी है। *द्विबन्धो सुबन्धो भवति।* दो बार बाँधने से वह अच्छी तरह बँध जाती है। जो बात नवें अध्याय के चौंतीसवें श्लोक में कही गयी थी उसी बात को और विश्वसनीय बनाने के लिये कह रहे हैं। थोड़ा परिवर्तन क्यों है? इसलिए कि तुझमें इसके प्रति और अधिक विश्वास हो, जोर दे रहे हैं। *मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे।* तुम मुझको निश्चय ही प्राप्त होगे। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। प्रतिजाने माने, प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ, शपथपूर्वक कहता हूँ। विश्वास करो मेरी बात का। क्यों कह रहे हो तुम इतना शपथ लेकर। *'प्रियोसि मे'* क्योंकि तुम मुझे बहुत प्रिय हो। जो अत्यन्त प्रिय है उसके कल्याण की बात कह रहा हूँ और वह बात उसको समझ में आये इसकी चेष्टा कर रहा हूँ। उस बात पर वह विश्वास करे इसकी चेष्टा करो। कृष्णजी की बात पर भी अर्जुन कभी विश्वास न करे तो उसका कल्याण होगा ? और अब भगवान् कोई सम्भावना नहीं रहने देते इसलिये बलपूर्वक कहते हैं कि *'प्रतिजाने प्रियोऽसिमे'*। मैं सच्ची कसम खा रहा हूँ। झूठी कसम नहीं, क्योंकि ब्रजवासियों को झूठी कसम खाने की बहुत आदत है। *तेरी सौंह मेरी सुन मैया अबहीं व्याहन जैहौं।'* बात-बात में ब्रजवासी कसम खाते हैं। *'तेरी सौंह मेरी सौंह'* लेकिन इन्होंने कहा नहीं-नहीं भाई ये हँसी की बात नहीं है। *'प्रतिजाने प्रियोऽसिमे'* तू मुझको अत्यन्त प्रिय है। इसलिए मैं सच्ची कसम खा रहा हूँ। मेरी बात मान— *'मन्मना भव'* अपने मन को मुझसे लगा दे। अपने मन को मुझसे कैसे लगाओ भाई ? तुलसीबाबा ने एक अद्भुत पंक्ति कही है—

जौं मन लागै राम चरण अस।

देह गेह सुत वित कलत्र मय, मगन होत बिन जतन किये जस।।

अगर रामजी में मेरा मन वैसे ही लग जाय जैसे अपने शरीर में लगता है। किसी के जरा सा दाँत में दर्द हो तो? मन किधर जाता है? काँटा चुभ जाय तो? जहाँ तकलीफ होती है, मन बार-बार वहीं जाता है। देह, गेह, अपने घर में, अपने बेटे के प्रति, अपने पैसे के प्रति, अपनी संतान के प्रति मन लगाने की जरूरत होती है कि अपने आप लग जाता है बताइए ? जैसे बिना चेष्टा किये शरीर में, घर में, पुत्र-पुत्रियों में, व्यापार में मन लगता है, वैसे ही मेरा मन तुममें लग जाय।

'मन्मना भव' —अपने मन को उसी तरह से मुझमें लगा दो। अपने मन से मेरा चिन्तन करो। संसार का चिंतन मत करो। परिवार का चिन्तन मत करो। हानि-लाभ का चिन्तन मत करो। मेरा चिन्तन करो। भैया, रामजी का चिन्तन तो रावण भी करता था। करता था कि नहीं? करता था। तो मन तो लगा राम में। क्या रावण की तरह कंस की तरह? नहीं-नहीं रावण की तरह, कंस की तरह मत लगाओ। *'मन्मनाभव मद्भक्तो'।* मेरे भक्त बनो। मुझको प्यार करो। न केवल अपना मन मुझमें लगाओ। बल्कि अपना मन अनुकूलतापूर्वक लगाओ। प्रतिकूलतापूर्वक मत लगाओ।

अनुकूल का क्या मतलब होता है ? कूल का मतलब होता है 'किनारा' नदी के जिस किनारे प्रभु हैं, उसी किनारे। कूल मतलब किनारा। नदी के जिस तरफ रामजी हैं, उसी किनारे मैं हूँ। प्रतिकूल माने दूसरे किनारे। रामजी इधर हैं, मैं उधर हूँ। ऐसा न हो। प्रतिकूल चिन्तन मत करो। अनुकूल चिन्तन करो। *'मन्मनाभव मद्भक्तो'।* न केवल अपना मन मुझमें लगाओ बल्कि अपना मन प्रेमपूर्वक मुझमें लगाओ। भक्तिपूर्वक लगाओ। तुम्हारा भजनीय, तुम्हारा स्मरणीय, तुम्हारा उपास्य मैं बनूँ। *'मद्याजी'* न केवल अपना मन लगाओ, न केवल मुझसे प्रेम करो, बल्कि मेरा यजन भी करो, पूजन भी करो। प्रेम के साथ मन लगाकर मेरा यजन करो। हमलोग पूजन कैसे करते हैं? *'ओम्-ओम् ३३-३३'* करके जल्दी-जल्दी अपना चंदन, अक्षत् छोड़के चले गये। ऐसे मत करो भैया। पूजन करने में मन लगाना चाहिए। जब तक मन न लगे तब तक पूजन कैसे होगा? तब तो एक यांत्रिक प्रक्रिया हो गयी। भक्ति के साथ मन लगाकर मेरा पूजन करो। मेरा यजन करो। अच्छा, पूजन की सामग्री नहीं मिली। कोई बात नहीं। *'मां नमस्कुरु'* सिर झुका दो, नम्रतापूर्वक प्रणाम करो। नमस्कार करने का मतलब क्या होता है ? भक्ति में नमस्कार को कहते हैं *'न मम'* यह मेरा नहीं है, सब कुछ तुम्हारा है। मेरा नहीं है, तुम्हारा है विनम्र बनो। *'मामेवैष्यसि'* अगर तुम ऐसा करोगे तो तुम

मामको ही प्राप्त होंगे। *'माम् एव'* मुझको ही प्राप्त होंगे। अगर हम अपने प्रेम प्रभु को अर्पित कर दें, अगर हमारे यजन पूजन के केन्द्र में प्रभु हों, अगर हम अपना सब कुछ उनको मानकर उनके सामने झुक जायें तो प्रभु प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि तुम मुझको प्राप्त करोगे। प्रभु को प्राप्त करने के ये चरण हैं। क्रमशः हम प्रभु की ओर जायेंगे, प्रभु से मिल जायेंगे। इसके बाद जो मंत्र है उसे हमलोग चरम मंत्र कहते हैं। *'परमं वचः'* यानी चरम मंत्र। *'परमं वचः'* क्या है ? उन्होंने कहा है कि—

सर्वं धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (१८/६६)

आप देखिये यह शरण की जो बात है यह गीता में पहली बार नहीं आयी है। शरणागति की यह भावना प्राचीनकाल से साधकों का संबल रही है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऋषि की विनीत उक्ति है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धि प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।। (श्वेताश्वतर उप० ६.१८)

अर्थात् जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसे समस्त वेदों का ज्ञान प्रदान करता है, मैं मुमुक्षु आत्मज्ञान विषयक बुद्धि के प्रकाशक उसी देव की शरण में जाता हूँ।

उपनिषदों में बीज रूप में प्राप्त शरणागति-साधना का उत्तरोत्तर विकास होता चला गया। स्वयं प्रभु ने अनेक अवसरों पर इस साधना को सर्वोत्कृष्ट, सबसे सुरक्षित बताया है। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार श्रीराम ने विभीषण की शरणागति के प्रसंग में कहा था—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।। (वाल्मीकि रामायण ६.१८.३३)

अर्थात् मेरा यह व्रत है कि एक बार भी 'मैं तुम्हारा हूँ' यह कहने वाले प्रपन्न (शरणागत) को मैं सब प्राणियों से अभय दे देता हूँ। कोई उसका अनिष्ट नहीं कर सकता। तुलसीदास की पंक्तियाँ हैं—

को भरिहै हरि के रितये, रितये पुनि को हरि जो भरिहै
उथपै तेहि को जेहि राम थपै, थपिहै पुनि को हरि जो टरिहै।

रामजी अगर मेरी रक्षा करेंगे तो कौन मेरा बुरा कर सकता है।

है काके द्वै सीस ईस के जन की जो हठ सीम चरै।
तुलसिदास रघुवीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।।

किसीके कंधे पर दो सिर हैं क्या ? अगर दस सिर हो तो भी रामजी उसे काट दें। अगर रामजी मेरी रक्षा करेंगे तो कौन मेरा अकल्याण कर सकता है। यह विश्वास *'अभयं सर्व भूतेभ्यो'* समस्त प्राणियों में, समस्त प्राणियों से, मैं उसको अभय कर देता हूँ।

'ददामि एतद् व्रतं मम्'। यह मेरा व्रत है, यह मेरी प्रतिज्ञा है, यह मेरा निश्चय है, यह मेरा संकल्प है। यह वाल्मीकि रामायण का चरम मंत्र है। श्रीमद्भगवद् गीता का यानी महाभारत का भी चरम मंत्र है— *'अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।* मत शोक करो। चरम मंत्र है आश्वासन का। अभय मंत्र है। शरण का मतलब क्या होता है? *'शृणाति दुःखं अनेन'* शरण का मतलब होता है जो हमारे सारे दुःखों को नष्ट कर दे। अमरकोश के अनुसार शरण का मतलब होता है गृह या रक्षक— *'शरणं गृहरक्षित्रोः'।* हमने जिसकी शरण ले ली। किसकी शरण लेनी चाहिए ? जो आपके दुःखों का नाश कर सके। कहाँ नाश कर सके? केवल घर में ? कब नाश कर सके? केवल आज? कौन आपका सचमुच दुःख नाश कर सकता है ? माता-पिता, बन्धु-बान्धव, धनवान, मंत्री, नेता ? कोई नहीं कर सकता।

'कासो दीनता कहौं, जासों दीनता कहौं हौं देखौं दीन स्वरूप।'

जिससे मैं अपनी दीनता कहने जाता हूँ, देखता हूँ वही दीन है। सब बित्ते-बित्ते भर के लोग, उनके सामने क्या शरण लेना है। शरण का विषय एक मात्र प्रभु हैं। प्रभु को छोड़कर और कोई शरण्य नहीं हो सकता। शरण के योग्य वे ही हैं, जो सब समय हमारे साथ हैं। सर्वत्र हमारे साथ हैं। जिनसे बड़ा कोई नहीं है। जो अत्यन्त कृपालु हैं। जो सब समय सुलभ हैं।

राम सो बड़ो है कौन, मों सो कौन छोटो ?
राम सो खरो है कौन, मों सो कौन खोटो ?

राम से कोई बड़ा नहीं, राम से कोई खरा नहीं। *ठाकुर अतिहि बड़ो, शील, सरल सुठि, ध्यान अगम सिवहूँ, भेट्यो केवट उठि।* बहुत बड़ा है हमारा स्वामी। शिवजी अगर बलपूर्वक उसे ध्यान में प्राप्त करना चाहें तो उनके लिये अगम्य है। उसका शील स्वभाव बहुत सरल है। उसने नहीं प्रतीक्षा की कि केवट उसके पास आवे, उसने नहीं प्रतीक्षा की कि शबरी उसके पास आवे। वह स्वयं केवट के पास गया। जो सबसे दयालु है, कृपालु है शरण लेने का विषय एक मात्र वही है; और कोई शरण लेने योग्य नहीं है। और कोई शरण्य नहीं है।

शरणागति की विशेषता देखिये। किसी भी दूसरे साधन में— देश है, काल है,

पात्रता है, अधिकार है। किस देश में, किस समय कौन सा काम करना चाहिए। किसके लिये क्या काम करना चाहिए। उसमें आपका अधिकार है कि नहीं? शरणागति में कोई देश, काल बन्धन कुछ नहीं है। युद्ध में बताइये शरणागति ले रहा है अर्जुन, यह कोई गंगातट है ? यह कोई तीर्थयात्रा है ? कोई केदारधाम, बद्रीधाम है ? कहीं भी शरण ली जा सकती है। किसी भी समय शरण ली जा सकती है। किसी भी स्थिति में शरण ली जा सकती है। द्रौपदी अशौच में थी, मासिक धर्म था। शरण ले ली। कहीं भी किसी समय, कोई भी, जब उसके मन में प्रभु की श्रद्धा जागी, विश्वास हुआ— वह उस समय शरण ले सकता है। इसलिये तुमको फिर अपने किसी साधन का भरोसा नहीं रखना चाहिए।

'सर्व धर्मान्परित्यज्य'। इसका क्या मतलब हुआ? आप लोगों ने यह बार-बार सुना होगा कि अधर्म का परित्याग करो। अधर्म का परित्याग करो। परन्तु भगवान् यह क्या कह रहे हैं ? धर्म का परित्याग करो! इसकी बड़ी-बड़ी व्याख्याएँ हैं। लोगों ने कहा कि धर्म में अधर्म सम्मिलित है। जैसे दिन और रात। जैसे हानि और लाभ। जैसे हर्ष-शोक, वैसे धर्म और अधर्म दोनों साथ-साथ हैं। तो धर्म का मतलब है कि अधर्म का परित्याग कर दो। ज्ञानियों ने ऐसा अर्थ किया। भक्तों ने कहा कि नहीं, नहीं! यह बात नहीं है। उन्होंने कहा— 'सब प्रकार के धर्मों का त्याग कर दो' *'सर्व धर्मान्परित्यज्य'।* कौन-कौन धर्म हैं भाई ? अनेक अर्थ किये गये। इन्द्रियों के धर्म, मन के धर्म, बुद्धि के धर्म, जीव के धर्म, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ, संन्यास के धर्म, वर्णाश्रम के धर्म। जितने प्रकार के आप धर्मों की कल्पना कर सकते हैं उन सब धर्मों के त्याग का मतलब यह है कि तुम धर्म के ऊपर अवलम्बित मत रहो। यह मत भरोसा करो कि तुम अपने धर्म से उसको प्राप्त कर लोगे। इस बात पर ध्यान दीजिए। भगवान् से हमारे तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। *पहला संबंध यानी* निन्यानवे दशमलव नौ प्रतिशत लोगों का संबंध रामजी से कैसा है? हे रामजी मैं आपको प्रणाम करता हूँ, मुझको यह चीज मिल जाय, मुझको वह चीज मिल जाय। मेरे बेटे का ब्याह हो जाय, मेरी बेटी का ब्याह हो जाय। मैं व्यापार में सफल हो जाऊँ। मंत्री हो जाऊँ। यह रामजी से सम्बन्ध कैसा है भाई ? यह तो रामजी से व्यापार का सम्बन्ध है कि मैंने तुमको प्यार किया, मैंने तुम्हारी पूजा की, प्रणाम किया मुझको ये-ये दे दो। रामजी के बदले क्या माँग रहे हो ? रामजी से क्या माँग रहे हो? नौकरी, मंत्री का पद, व्यापार में सफलता। कल्पवृक्ष मिल जाय, उससे जाकर कहो कि हमें आप पाँच सेर कद्दू दे दीजिए। क्या यह कल्पवृक्ष से माँगने की बात है ? जो सब कुछ दे सकते हैं उससे तुम क्या माँग रहे हो ? लेकिन ९९ प्रतिशत लोगों का

रामजी से सम्बन्ध कि हम तुम्हारा स्मरण करते हैं तुम हमको ये दे दो। तुलसीदासजी ने कहा कि औरों से माँगने से सौगुना अच्छा है रामजी से माँगना—

जग जाँचिये कोउ न जाँचिये जौ, जिय जाँचिय जानकी जानिहि रे।
जेहि जाँचत जाचकता जरि जाय, जो जारत जोरि जहाँनहिं रे।।

किसी से मत माँगो लेकिन अगर माँगे बिना न रहा जाय तो बेईमानी मत करो। भीतर तो हाय-हाय और ऊपर से कहो कि नहीं चाहिए—नहीं चाहिए। झूठ मत बोलो। रामजी से माँग लो। रामजी से माँगने से क्या होगा? तुम्हारी याचकता जल जायगी। लेकिन रामजी से भी माँगना संसार की छोटी-छोटी बातों को? छिः छिः। यह सम्बन्ध अच्छा सम्बन्ध नहीं है।

दूसरा संबंध होता है रामजी से कि मैं रामजी को पाना चाहता हूँ, लेकिन रामजी को प्राप्त करूँगा अपने धर्म से; रामजी को प्राप्त करूँगा अपने ज्ञान से; रामजी को प्राप्त करूँगा अपने निष्काम कर्मयोग से; रामजी को प्राप्त करूँगा अपनी भक्ति से; रामजी को प्राप्त करूँगा अपनी योग साधना से। ठीक है जो प्राप्त कर सकते हैं, वे करें, हम उनको नमस्कार करते हैं। लेकिन आप सोचिये कि क्या आप अपनी साधना का इतना बड़ा बल आँकते हैं कि आप रामजी को प्राप्त कर लेंगे? हम सब सीमित लोग, हमारी शक्ति भी सीमित, हमारी साधना भी सीमित। सीमित साधनों का फल भी सीमित। उन सीमित साधनों के द्वारा हम असीम प्रभुको प्राप्त कर लेंगे? भाई ! जो प्राप्त कर सकते हैं वे करें, हमको उसमें कोई आपत्ति नहीं। जरूर कर सकते होंगे। लेकिन कुछ लोग ऐसे हैं, जो कहते हैं ऐसा नहीं होता।

तीसरा सम्बन्ध होता है रामजी से शरणागति का सम्बन्ध। पाना भी चाहते हैं रामजी को— प्राप्य भी राम और उसके साधन भी राम। साध्य भी राम और साधन भी राम। मैं अपने किसी धर्म के बल से तुझको प्राप्त नहीं कर सकता। मैंने समस्त धर्मों का अहंकार छोड़ दिया है। प्रभु यही सिखा रहे हैं— *'सर्व धर्मान्परित्यज्य'।* तुमको अपने धर्मों का गुमान नहीं होना चाहिए। तुम बड़े भक्त हो, तुम बड़े ज्ञानी हो, तुम बड़े निष्काम कर्मयोगी हो, तुम बड़े राजयोगी हो। इसलिये तुम राम को प्राप्त कर लोगे, भगवान् को प्राप्त कर लोगे, इस प्रकार का अहंकार मत करो। यह नहीं कि तुम धर्म ही छोड़ दो। यह नहीं कि धर्म का भरोसा छोड़ दो। यह अहंकार कि हम इस धर्म के द्वारा राम को प्राप्त कर लेंगे। कैसे जायें रामजी के सामने ? यामुनाचार्य की यह उक्ति बार-बार मननीय है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि, न चात्मवेदी, न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्य ! त्वपादमूलं शरणं प्रपद्ये।।

(आलवन्दार स्तोत्र-२२)

अर्थात् हे शरण्य ! हे प्रभु ! न मैं धर्मनिष्ठ हूँ, न आत्मवेत्ता, न आपके चरण कमलों में भक्तिमान ही हूँ। कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि समस्त साधनों से रहित अकिंचन होकर और सबका सहारा छोड़कर अनन्यगति होकर मैं तुम्हारे चरणों की शरण ग्रहण करता हूँ। तुम अपने समस्त धर्मों का अहंकार, गुमान छोड़ दो। तुम भगवान् के सामने अकिंचन बन जाओ, दीन बन जाओ। और दूसरी बात है *'अनन्य गतिः'* रामजी को छोड़कर और कोई दूसरा नहीं है, यह विश्वास। तुलसीबाबा कहते हैं—

बनै तो रघुवर सों बनै कै बिगरै भरपूर।
तुलसी बनै जो और तें ता बनिबे सिर धूर।।

मेरी बात बननेवाली हो तो रामजी से बने नहीं तो बिलकुल बिगड़ जाय। मेरी बात रामजी को छोड़कर किसी और से बने तो बनने की ऐसी की तैसी। *'अकिंचनोऽनन्य गतिः'*। मैं रामजी को छोड़कर और किसी का आश्रय नहीं लूँगा। रामजी को छोड़कर मेरा कोई दूसरा सहारा नहीं है। मैं अकिंचन भी हूँ और अनन्यगति भी हूँ। तुम्हीं एक मात्र मेरे शरण्य हो। ये शरणागति की दो बातें हैं। जैसे शरण्य के दो गुण हैं। शरण्य के दो गुण अभी मैंने बताये। जो सर्वोपरि हो, सबसे बड़ा हो और जो सर्व सुलभ हो। सबसे ज्यादा दयालु हो, सुलभ हो। उसी तरह से शरणागति के दो आधारबिन्दु हैं। तुम्हारे मन में किसी दूसरी क्षमता का अहंकार नहीं होना चाहिए। कोई धर्म तुम्हारा नहीं है। ऐसा सम्बल जिससे तुम रामजी को प्राप्त करो। अकिंचन हो, अनन्यगति हो। रामजी को छोड़कर तुम्हारा कोई दूसरा नहीं है। अकिंचनता और अनन्य गतित्व—इन दोनों के मिलने से शरणागति की पूर्णता होती है। यह जो बात है हम अकिंचन हैं, अनन्यगति हैं। *'मामेकं'* यह अनन्यगति *'सर्व धर्मान्परित्यज्य'* यह है अकिंचनता। सब धर्मों का आश्रय छोड़ दिया तो हम क्या हो गये? अकिंचन हो गये। *'मामेकं शरणं व्रज'* केवल मेरी शरण में आओ। कोई दूसरा तुम्हारा आश्रय नहीं हो। अनन्य गति। ये दो आधार हैं शरणागति के। शंकराचार्य का एक अद्भुत श्लोक है; शंकराचार्यजी ने कहा है—

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं यातिक्षयं यौवनम्।
प्रत्यायान्ति गता पुनर्नदिवसाः कालो जगत भक्षकः।।
लक्ष्मीस्तोय तरंग भंग चपला, विद्युत् चलं जीविताम्।
तस्मान् मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना।।

शंकराचार्यजी ने इसमें एक और बात जोड़ी। दो बातें तो इसमें कही हैं गीता में। एक अकिंचनता होनी चाहिए और दूसरी अनन्यता होनी चाहिए। शंकराचार्यजी ने कहा — ठीक ही बताई है आपने दो बातें लेकिन एक बात और भी है। वह है *'तात्कालिकता'*। *'आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं'*। देखिये प्रतिदिन आयु क्षीण हो रही है—

यह भी दिन बीत गया।
पता नहीं जीवन का यह घड़ा
एक बूँद भरा था कि एक बूँद रीत गया।
यह भी दिन बीत गया।

यह भी दिन चला गया मुझे मालूम नहीं कि मेरी जिन्दगी का यह घड़ा, उसमें एक बूँद भरी कि एक बूँद घटी। क्योंकि हमलोग मानते हैं कि जीवन का तो समय निश्चित् है। उसमें से एक दिन और कम हो गया। उम्र बढ़ गयी है, लेकिन आयु घट गयी। उम्र और आयु में अन्तर है। उम्र तो है, जब से पैदा हुए तब से अभी तक की स्थिति और आयु जब से पैदा हुए और जब मरेंगे उस गणना को हम कहते हैं आयु।

आयुर्नश्यति पश्यतां प्रतिदिनं यातिक्षयं यौवनम्।
प्रत्यायान्ति गता, पुनर्नदिवसाः कालो जगत् भक्षकः।।

जो दिन बीत गया, अरबों रुपया देकर क्या तुम पुनः ला सकते हो ? गया हुआ दिन कभी लौटेगा नहीं और काल सारे संसार को खा जायेगा।

इसीलिए तीसरी बात उन्होंने कही कि अकिंचनता और अनन्यता के साथ तात्कालिकता भी होनी चाहिए। जैसे ही समझ में आयी यह बात कि रामजी को पाना मेरे बलबूते की बात नहीं है, जैसे ही समझ में आयी बात कि मेरा कोई दूसरा सहारा नहीं है, वैसे ही, उसी समय उसी क्षण आप शरण लीजिए और प्रार्थना कीजिये कि प्रभु आपको अपना लें। शंकराचार्य कहते हैं—

'तस्मान् मां शरणागतं शरणद त्वं रक्ष रक्षाधुना'।

'अधुना' —अभी-अभी, तत्काल, तुरंत, बिलम्ब नहीं।

'कहें कबीर जान दे बही। जब से चेते तब से सही'।

जो बीत गयी सो बात गयी। अभी यह बात समझ में आयी तो अभी, तत्काल हम रामजी की शरण ग्रहण कर लें। *'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'*। इसके बाद कैसा आश्वासन चाहिए? *'अहं त्वाम् सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' 'यथेच्छसि तथा कुरु'*। किसके ऊपर जिम्मेदारी है ? जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा करो। उत्तरदायी कौन है? तुम हो। तुमने अपनी बुद्धि से निर्णय किया। गलत निर्णय किया तो गलत फल

पाओगे। परन्तु इस श्लोक में क्या कह रहे हैं प्रभु? कि तुम्हारी पूरी जिम्मेदारी मैं ले रहा हूँ। तुम्हारा पूरा उत्तरदायित्व मेरा है। मैं तुम्हें तुम्हारे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा। शोक मत करो।

यह जो शरणागति है, प्रभु का दृढ़ विश्वास लेकर प्रभु का हो जाना, यह चरम है। चरम मंत्र इसको कहते हैं। और इसके भी छः अंग बताये हैं भक्तों ने। इसकी अनेक विधायें बतायी हैं लेकिन तीन विधाओं की चर्चा मैं करूँगा—

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासः गोप्तृत्ववरणं तथा,
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये, षड्विधा शरणागतिः।।

शरणागति के छः प्रकार, छः अंग हैं। पहला मैंने बताया— *'आनुकूल्यस्य संकल्पः'*। अनुकूलता का संकल्प करना। मैं रामजी के अनुकूल होकर व्यवहार करूँगा। जो रामजी को प्रिय होगा वही करूँगा। अनुकूलता का संकल्प। और इसी को दूसरी पीठ है प्रतिकूलता का वर्जन। रामजी को जो प्रिय नहीं है वह काम नहीं करूँगा। रामजी के प्रतिकूल नहीं जाऊँगा। *'रक्षिष्यतीति विश्वासः'*। रामजी मेरी रक्षा करेंगे ही, इस प्रकार का दृढ़ विश्वास होना चाहिए। विश्वास पक्का होना चाहिए—

बाल्मीकि के जाप से निकला यह परिणाम।
श्रद्धा सच्ची चाहिए मरा कहो या राम।।

बाल्मीकि ने 'मरा-मरा' कहा तो भी उनका उद्धार हो गया। *'रक्षिष्यतीति विश्वासः'* दृढ़ विश्वास कि रामजी मेरी रक्षा करेंगे ही। *'गोप्तृत्ववरणं तथा'* यानी गोप्ता के रूप में, रक्षक के रूप में वरण। मेरे रक्षक रामजी हैं। पद्माकर का एक बढ़िया छंद है जिसमें एक नाव और एक नदी का रूपक है। बड़ी भयंकर नदी है—

प्रलय के पयोनिधि लौं लहरैं उठन लागीं
लहरा लग्यौ तौं होन पौन पुरवैया को।
भीर भरी झाँझरी विलोकि मँझधार परी,
धीर ना धरात पद्माकर खेवैया को।
कहां पार कहां वार, जान्यौ नहिं जात कछु,
दूसरो लखात ना रखैया और नैया को।
बहन न देहैं घेरि घाट ही लगैहैं
ऐसो अमित भरोसो मोहि मोरे रघुरैया को।।

फाल्गुन की नदी है। पूर्वा तूफान चल रहा है तो नदी की लहरों में प्रलय के

समुद्र की तरह उत्ताल तरंगें उठने लगीं। तरंग उठ रही थी तब तक जोर से तूफान भी आ गया। दस आदमियों को बैठाना था नाव में, मैंने लोभ से बीस आदमियों को बैठा लिया। बीच-बीच में इसके छोटे-छोटे छेद हैं जिससे पानी भर रहा है। मैं उठा-उठा के पानी फेंक रहा हूँ। केवट के मन में धीरज नहीं है। *'कहाँ पार, कहाँ बार, जान्यो नहिं जात कछु'* न तो आर दीखता है न पार दीखता है, समझ में ही नहीं आता इधर जाँय कि उधर जाँय। इस नैया का दूसरा कोई रक्षक भी नहीं है पर मन में दृढ़ विश्वास है। *'रक्षिष्यति इति'* इसके बाद आता है गोपत्व वर्णन— *'बहन न दैहे, धरि घाट ही लगैहै, ऐसो अमित भरोसो मोहि मोरे रघुरैया को'*। मुझे अपने रामजी पर अमिट भरोसा है। वे मेरी नाव को बहने नहीं देंगे। इस सारे संकट, उपद्रव के बावजूद वे मेरी नाव को ठीक घाट पर लगा देंगे।

शरणागति का जो चरम पक्ष है। सबसे ऊँचा जिसको हम कहते हैं *'अंगी'*। हाथ अंग हैं, पाँव अंग हैं, नाक यह अंग है, माथा यह अंग है, बाल ये अंग हैं। अंगी कौन है? यह अंगी आत्मा है। अंगी जो अंगों का स्वामी है, वह तो है आत्मा और हाथ-पाँव सब अंग है। शरणागति में ये सारे पक्ष हैं, ये सब अंग हैं। शरणागति का अंगीतत्व क्या है ? आत्म निक्षेप। आत्म निक्षेप माने ? आत्मसमर्पण। जब तक आपका अपना कुछ है रामके अलावा, तब तक शरणागति पूरी नहीं है। आपका कुछ भी नहीं है, अतः आत्म निक्षेप माने आत्म-समर्पण कर देना कि सब कुछ रामजी का है। कबीरदास का अति चर्चित दोहा है—

मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते क्या लगता है मेरा।।

सब कुछ रामजी का है। हमने रामजी की चीज को अपना मान रखा है, यही अपराध है। आत्मसमर्पण का अर्थ क्या है ? भगवान् ने नौवें अध्याय में बड़ी उदारता से समझाया है—

यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। (९/२७)

जो कुछ तू करता है, जो खाता है 'यदश्नासि', जो यज्ञ करता है, जो दान देता है सब मुझको दे दो। भक्त लोग इसको दूसरी तरह पढ़ते हैं—

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामियत्।
यत्तपस्यामि भगवन् तद् करोमि तदर्पणम्।।

यानी जो भी करता हूँ, जो भी खाता हूँ, जो यज्ञ करता हूँ, जो कुछ दान देता हूँ, वह सब तुझको ही अर्पित है।

क्यों तुमको अर्पित है ? क्योंकि सब तुम्हारा है। मैंने मूढ़ता के कारण मान लिया था कि यह मेरा शरीर, मेरा वस्त्र, मेरी पत्नी, मेरा पति, मेरा भाई, मेरा बेटा, मेरा मकान है। सब मूढ़ता है। सब भगवान् के हैं। सबै भूमि गोपाल की। लक्ष्मीपति तो नारायण हैं। तुमने अपने को लक्ष्मीपति मान लिया? यह मूढ़ता है। इस मूढ़ता का त्याग करना है। एक भक्त ने बहुत अच्छी बात कही—

प्राण तोर, मैं तोर, मन, बुधि, चित सब तोर प्रभु।
एक तुही तो मोर, काहि निवेदौं तोहि प्रभु।।

तुम बताओ मैं तुम्हें किसे निवेदित कर दूँ। महात्मा अंजनीनन्दन शरण का यह दोहा है। बड़ा अद्भुत दोहा है। तो जो कुछ तेरा है यह मैंने मूर्खता से अपना मान रखा है। इस मूर्खता का लोप हो। *आत्मनिक्षेप*— मैं, मेरे समस्त जो आश्रित, जिनको मानता हूँ, मेरी रक्षा का भार सब तुम्हारा है। और इसका रक्षा कवच है कार्पण्य— विनम्रता, दीनता। मैंने सब कुछ रामजी के लिये अर्पित कर दिया, इसका भी अहंकार होता है। इसका कभी अहंकार नहीं होना चाहिए। कबीर का एक प्रचलित दोहा है—

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे भुईं धरे, तब पैठे घर माहिं।।

अपना सिर काट कर तुम जमीन पर रख दो, तब तुम इस घर में प्रवेश करने के अधिकारी हो। तो सिर काटने का भी अहंकार होगा कि मैंने रामजी के लिये अपना सिर काट दिया है। रामजी के लिये मैंने सब त्याग कर दिया है। दूसरा दोहा कबीर ने लिखा—

सीस उतारे भुईं धरे तापर राखे पांव।
दास कबीरा यूँ कहै ऐसा होय तो आव।।

अपने सिर को काटकर जमीन पर रख दो और अपने पाँवों से उस कटे हुए सिर को कुचलते हुए आओ। मैंने सब कुछ राम को समर्पित कर दिया इसका भी अहंकार मत करो। अपने उस त्याग को, उस समर्पण को भी कुचलते हुए आओ। वह भी कुछ नहीं है। कार्पण्य, विनम्रता, दीनता से शरणागति की पुष्टि होती है। भगवान् के सामने दीन होकर जाना, निःसंबल होकर जाना चाहिए।

कमंठ कठमलिया कहँ, ज्ञानी ज्ञान विहीन।
तुलसी त्रिपथ विहायगां, राम दुआरे दीन।।

जो कर्मयोगी लोग हैं वे कहते हैं कि - यह तो कुछ करता ही नहीं है। खाली काठ की माला, तुलसी की माला खींचता रहता है। ज्ञानी लोग कहते हैं "महा मूर्ख है।" इसको कुछ आता ही नहीं। भक्त मैं हूँ नहीं। तो तीनों रास्तों को छोड़कर निःसम्बल होकर निःसाधन होकर, *'सर्व धर्मान्परित्यज्य'* साधन रहित होकर, निःसम्बल होकर मैं आपके सामने आ गया हूँ। आप मुझको स्वीकार कर लें। *राम दुआरे दीन।* इसलिये यह षड्विधा शरणागति है।

शरणागति की पूर्णता में शरणागति का अंगीतत्व है कि मेरा कुछ नहीं है। सब कुछ तुम्हारा है। और उसकी पुष्टि के लिये १) अनुकूलता का संकल्प, २) प्रतिकूलता का वर्जन, ३) रक्षा करेंगे इसका विश्वास, ४) रक्षक के रूप में वरण, ५) विनम्रता और ६) दीनता, इससे संपुटित होकर हमारा समर्पण, शरणागति का रूप धारण करता है। शरणागति के सम्बन्ध में मधुसूदन सरस्वती ने एक बहुत अच्छी बात कही। उन्होंने कहा देखो–

तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमितित्रिधा।
भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः।।

शरणागति की तीन अवस्थाएँ होती हैं। पहली अवस्था है *'तस्यैवाहम्'* मैं उसका हूँ। और घनिष्टता हुई तो *'ममैवासौ'* वह मेरा है। और अधिक घनिष्टता हुई *'स एवाहं'* जो वह है वही मैं हूँ। *'इतित्रिधा'* इस प्रकार की तीन भूमिकाएँ– *'भगवत् शरणत्वं स्यात् साधनाभ्यास - पाकतः'।* साधना का अभ्यास जैसे-जैसे परिपक्व होगा, साधना के अभ्यास के परिपाक के साथ-साथ ये तीनों स्थितियाँ क्रमशः उन्नति की ओर जाएँगी। पहली स्थिति क्या है? *'तत्स्याहम्'* मैं उसका हूँ। दूसरी स्थिति क्या है– *'ममैवासौ'* वह मेरा है। तीसरी स्थिति क्या है *'स एवाहं'*– जो वह है, वही मैं हूँ। इसके तीन बहुत अच्छे उदाहरण दिये उन्होंने। पहला उदाहरण दिया है शंकराचार्य का–

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं, न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः।।

प्रार्थना षट्पदी में शंकराचार्य कहते हैं *'सत्यपि भेदापगमे'* भेद का अपगमन हो जाने पर भी, मुझमें-तुममें कोई अन्तर नहीं है। हे रामजी! मैं आपका ही हूँ। यह कैसे कहूँ कि आप मेरे हैं।

'सामुद्रोहितरंग'– तरंग को क्या कहते हैं? सामुद्र कहते हैं। तरंग समुद्र की है, यही कहते हैं। कोई यह तो नहीं कहता कि समुद्र तरंग है। क्या कहते हैं कि समुद्र में हजार-हजार तरंगे हैं। यह समुद्र की एक तरंग है तो *'तस्याऽहम्'* मैं तुम्हारा हूँ। समुद्र

की तरंग है। यही कह कर मैं तुम्हारी शरण ले रहा हूँ। भेद के अपगमन के बावजूद मैं तुम्हारा हूँ। यही कह रहा हूँ। तो इसको मधुसूदन सरस्वती ने *'मृदु शरणागति'* कहा यानी आरम्भिक शरणागति। इससे आगे की शरणागति क्या है? मध्य शरणागति। उन्होंने बिल्वमंगल के श्लोक का उदाहरण दिया —

हस्तमुत्क्षिप्य यातोऽसि बलात्कृष्णकिमद्भुतम्।
हृदयाद्यदि निर्यासि पौरुषं गणयामिते।।

ओ कन्हैया! मेरा हाथ छुड़ा करके चला गया। बिल्वमंगल अन्धे थे सो गिर पड़े कुएँ में। कन्हैया को पुकारा। कन्हैया ने उनको हाथ पकड़ कर उठा लिया। उन्होंने स्पर्श से पहचान लिया कि कन्हैया है। उन्होंने कहा - कन्हैया हाथ छुड़ा के भाग गया। हाथ छुड़ाके तुम जा रहे हो, इसमें कौन सी बड़ी बात है। मेरे हृदय से तुम निकल जाओ कन्हैया, तो मैं समझूँगा कि तुम बड़े बहादुर हो।

हाथ छुड़ाए जात हौ निबल जानिकै मोंहि।
हिरदै सें जब जाओगे, मरद बदौंगो तोंहि।।

तुमको मर्द तब मानूँगा जब तुम मेरे हृदय से निकल जाओगे। गोपिकाओं ने क्या कहा - *'ब्याहौ लाख धरौ दस कुबरी अन्तहुँ कान्ह हमारे।* एक दो नहीं, सोलह हजार आठ नहीं, एक लाख ब्याह कर लो। एक कुबरी नहीं, दस कुबरी को रख लें, कन्हैया तो अन्ततोगत्वा हमारे हैं।

'तत्स्याहम्' मैं उसका हूँ— यह पहली भूमिका है। दूसरी भूमिका— *'ममैवासौ'* वह मेरा है और तीसरी भूमिका- *'स एवाहं'* विष्णु पुराण से उन्होंने उद्धृत किया है-

सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान्परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते ब्रज तान्विहाय दूरात्।।

यमराज अपने दूतों को उपदेश दे रहे हैं जिसके मन में यह अविचलित बुद्धि हो — *'सकलमिदमहं च वासुदेवः'* ये सब वासुदेव के हैं। भगवान् ने गीता में कहा है *'वासुदेवः सर्वमितिः स महात्मा सुदुर्लभः'* (गीता-७/१८) भगवान् तो सर्व सुलभ हैं। कौन से महात्मा दुर्लभ हैं ? जिस महात्मा का यह विवेक कभी विचलित नहीं होता कि सारी सृष्टि वासुदेवमय है, वासुदेव ही है। अन्तिम सत्य वही है। भगवान् के अलावा और है ही क्या ? शरणागति की तीव्रता कहाँ तक जा सकती है। ये तो भगवान् की कृपा पर निर्भर है। कहा है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। (१८/६६)

कर्त्तव्य मार्ग की सब उलझनों का परित्याग कर तू मेरी शरण में आ जा। तुझे सब पापों से मैं मुक्त कर दूंगा और फिर यह आश्वासन की बात कही— *'मा शुचः'* शोक मत करो। वह शोक से ग्रस्त हो गया था। इसलिये उसको यह आश्वासन दिया। आश्वासन देने के बाद यह गीता शास्त्र यहाँ समग्र पूरा हो गया। यह चरम मंत्र है। यह अन्तिम बात है। *'परमं वचः'* यह परम वाणी है, यह गुह्यतम् है। और इसके बाद फिर उन्होंने कहा कि यह जो मैंने तुमको बतायी है, यह सबको बताने की नहीं है।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।। (१८/६७)

अर्थात् मेरी इन गुह्य बातों को ऐसे व्यक्ति के आगे मत कहना जो सुनने की योग्यता नहीं रखता हो, तपहीन हो, भक्ति शून्य हो या फिर मेरे प्रति द्रोह रखता हो। अर्थात् उपरोक्त चार प्रकार के आदमियों को गीता का उपदेश नहीं देना चाहिए।

गीता शास्त्र का अधिकारी कौन है? गीता शास्त्र का अधिकारी वह है जो तपस्वी है, जो भगवान् से प्रेम करता है, जो इस विषय को जानना चाहता है। और जो भगवान पर श्रद्धा रखता है। उसको पूर्णता के साथ देखता है—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।। (१८/६८)
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।। (१८/६९)

यह भगवान् का आशीर्वाद है, उन लोगों के प्रति जो गीता का उपदेश कर रहे हैं। गीता जो दूसरों को सुनाते हैं। भगवान् कहते हैं कि जो मेरे इस परम् गुह्य उपदेश को मेरे भक्तों को प्रदान करेगा, जो इस गीता शास्त्र की व्याख्या करके मेरे भक्तों को समझाएगा, वह निश्चय ही मुझे प्राप्त करेगा। परन्तु पैसे के लिये जो गीता सुनायेगा, उसकी मुक्ति नहीं होगी। परमात्मा की परम वाणी मानकर जो गीता सुनायेगा वह बिना किसी संशय के मुझको प्राप्त करेगा।

देखो एक बात समझो। भगवान् श्रीकृष्ण गीता का संप्रदाय बढ़ाना चाहते हैं। आजकल संप्रदाय शब्द दूषित हो गया है। संप्रदाय तो बड़ा पवित्र शब्द है। *'दाय'* का मतलब होता है उत्तराधिकार। जो हमको बड़ों से उत्तराधिकार में मिला हुआ है वह है *'दाय'। 'प्र'* माने प्रकृष्ट। *'सम्'* माने सम्यक्। अर्थात् सम्यक् प्रकृष्ट जो उत्तराधिकार अपने गुरु से मुझको प्राप्त हुआ है, मैं उसके सम्प्रदाय में हूँ, जिससे मैंने ज्ञान प्राप्त किया है। शंकराचार्य जी से ज्ञान प्राप्त किया तो वह शांकर सम्प्रदाय का, रामानुज से

ज्ञान प्राप्त किया तो रामानुज सम्प्रदाय का, चैतन्य महाप्रभु से ज्ञान प्राप्त किया तो वह चैतन्य सम्प्रदाय का। सम्प्रदाय तो बड़ी बात है। सम्यक् प्रकृष्ट उत्तराधिकार, जो हमने ज्ञानियों से प्राप्त किया है वह हमारा सम्प्रदाय है। इसमें लज्जित होने की क्या बात है ? हम जिस सम्प्रदाय के हैं, उस सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए। बुरी बात तब है कि जब हम अपने सम्प्रदाय के भले के लिये दूसरों का अकल्याण करें। किसी का भी अकल्याण नहीं करना चाहिए। हमारा सम्प्रदाय, हमारा रास्ता हमारे लिये है। *'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।'* मैं अपने धर्म पर मर मिटूँगा। दूसरे का धर्म स्वीकार नहीं करूँगा। अपने सम्प्रदाय में हूँ, ठीक है। लेकिन हम दूसरे की राह भी नहीं रोकेंगे। दूसरा अपनी राह पर चले उसमें हमको कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन हम अपनी आत्मरक्षा भी करेंगे। यह जो भगवान् कहते हैं कि तुम मेरी बात को जनता तक पहुँचाओगे तो तुम मेरे प्यारे हो जाओगे।

भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।

लेकिन कैसे ? बड़ी भक्ति के साथ निःसंशय रूप से तुम मुझे प्राप्त होवोगे।

'न च तस्मान् मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रिय कृत्तमः'।

भगवान् को उससे बढ़कर और कोई प्यारा नहीं है। कोई और दूसरा काम ऐसा नहीं जो भगवान् को ज्यादा प्यारा लगता है।

भगवान् किसको अपना सबसे प्यारा बता रहे हैं ? उसको बता रहे हैं, जो बड़ी भक्ति के साथ, श्रद्धा के साथ गीता का उपदेश भक्तों को देता है। भक्तों तक गीता की वाणी को पहुँचाने वाला भगवान् को बहुत प्यारा है। आगे फिर कहते हैं—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।। (१८/७०)

'अध्येष्यते' — यानी पढ़ेगा, ज्ञान यज्ञ से मेरी पूजा करेगा। मेरे गुरुजी कहते थे कि गीता की बड़ी अद्भुत बात यह है कि रण में *अरण्य* की विद्या है। गीता शास्त्र क्या है ? आप प्रत्येक अध्याय के अंत में पढ़िये जैसे—

'ॐ तत्सद्इति श्रीमद्भगवत् गीतासूपनिषत्सु
ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे भक्तियोगोनाम् द्वादशोऽध्यायः।।'

श्रीमद्भगवद् गीता उपनिषद् है— *'गीतासूपनिषत्सु'*। ब्रह्म विद्या है, योग शास्त्र है। उपनिषद्, ब्रह्मविद्या, योगशास्त्र ये सब अरण्य के विषय हैं। सब तपोवनों में साधना के विषय हैं। कितनी बड़ी कृपा है श्रीकृष्ण की, कि उन्होंने अरण्य की विद्या को रण में उपस्थित कर दिया। कितनी बड़ी कृपा है प्रभु की कि उन्होंने कहा- *'मामनुस्मर युद्ध च'*

लगातार मेरा स्मरण करो और जीवन युद्ध में जुटे रहो। भागो मत, जीवन युद्ध से। तो इस महान् गीता को *'मावया अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवाद .....'*। हमारा यह जो संवाद है, यह धर्म का आधार है, धर्म्य है परमधर्म है। धर्म के योग्य है। *'ज्ञान यज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः'* अतः जो गीता का उपदेश करेगा, जो गीता को सुनेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञान-यज्ञ से पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा मत है।

देखिये दो प्रकार के यज्ञ होते हैं। एक द्रव्य यज्ञ होता है, एक ज्ञान यज्ञ होता है। जब समिधा प्रज्ज्वलित करके— *'इदम् इन्द्राय, इदं न मम्, इदं इन्द्राय स्वाहा'* ऐसे करके आहुति दी तो यह जो आहुति दी हमने घृत की, या तिल तन्दुल की इसमें समिधा दी यह द्रव्य-यज्ञ है। पहले समिधा जुटाओ, उसको प्रज्ज्वलित करो, स्रुवा हो, उसमें आहुति दो। और अगर इतनी सामग्री न हो तो यज्ञ नहीं कर सकते। यज्ञ में पराधीनता है। ज्ञानयज्ञ, जपयज्ञ ये स्वाधीन हैं। तो जो ज्ञानी भक्ति के साथ गीता का उपदेश करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित होऊँगा।

इसमें इष्ट शब्द की ओर भी ध्यान दीजिए। देखिये हमलोग कहते हैं कि इष्टदेव हैं। इष्ट शब्द दो धातुओं से बनता है। एक है *'इषि इच्छति'*, एक है *यज् यजति'*। इष्टदेव का साधारण अर्थ क्या है ? इष्टदेव का साधारण अर्थ है मेरा इच्छित देव, मेरा प्रिय देव, जो मुझको सबसे प्रिय है वह मुझको इष्ट है।

'इष्टोऽसि मे दृढमतिः ततोवक्ष्यामि ते हितं'

तुम मुझको बहुत प्रिय हो, अभी मैंने बताया वहाँ *'इषि'* (इच्छति) धातु है। लेकिन आपलोगों ने कभी अन्त्येष्टि संस्कार का नाम सुना है? अन्त्येष्टि माने ? जब हमारी मृत्यु होती है और चिता में हमारा दाह होता है तो कहते हैं अन्त्येष्टि संस्कार। अन्त्येष्टि का मतलब हुआ अन्तिम यज्ञ। 'अन्त्य' माने अन्तिम। 'इष्टि' माने यज्ञ। अन्त्येष्टि माने अन्तिम यज्ञ।

हमारा धर्म कहता है कि हमारा पूरा जीवन यज्ञमय होना चाहिए। अपने जीवनकाल में भी हम यज्ञ करें और मृत्यु के बाद भी चिता में अपने शरीर की आहुति दें वह भी यज्ञ है, अन्त्येष्टि। इष्टि में वही यज् धातु है और जैसे गीति और गीत दोनों शब्द का अर्थ होगा गीत, वैसे ही इष्टि और इष्ट दोनों शब्द का अर्थ होता है यज्ञ। तो इष्टदेव का गम्भीर अर्थ क्या है? इच्छित देव, प्रिय देव। इसका गम्भीर अर्थ है यज्ञदेव। इष्टदेव का मतलब हुआ कि जिस यज्ञ में साधक ने अपनी आहुति दे दी। आगे का श्लोक है—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।। (१८/७१)

अब यह बात आपलोगों के लिये है। श्रोताओं के लिये। पूर्व के श्लोक वक्ता के लिये थे। वक्ता के लिये कितना आशीर्वाद दिया प्रभु ने। अब श्रोताओं को आशीर्वाद दे रहे हैं। *'श्रद्धावाननसूयश्च'* जो गीता का उपदेश श्रद्धा के साथ सुनता है। *'अनुसूयश्च'* जो इसमें दोष दृष्टि नहीं करता, इसकी निन्दा नहीं करता *'शृणुयादपि'* भले न समझे। लेकिन अगर वह श्रद्धा से सुनता है, अगर वह निष्ठा से सुनता है, अगर उसकी निन्दा नहीं करता तो सुनने मात्र से *सोऽपि मुक्तःशुभाँल्लोकानन्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्* तो पुण्य कर्म करने वालों को जो लोक प्राप्त होता है, उस लोक को वह प्राप्त हो जाता है। जिसने यज्ञ किया, जिसने दान किया, जिसने बड़ी-बड़ी साधनाएँ की, उनको जो लोक प्राप्त होता है, वह लोक उस व्यक्ति को प्राप्त हो जायेगा, जो श्रद्धा के साथ, बिना निन्दा किये, बिना दोष निकाले गीता शास्त्र को सुनेगा और इसे समझने से तो परम कल्याण हो ही जावेगा। अब भगवान् अर्जुन से पूछते हैं कि क्या तुमने एकाग्र चित्त होकर मेरी बात सुनी ?

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय।। (१८/७२)

और धनंजय क्या तुम्हारे मोह का नाश हुआ ? सद्गुरु हैं श्रीकृष्ण और यह जानना चाहते हैं कि जो बात कही गयी है, उस बात का मर्म अर्जुन के हृदय में उतरा कि नहीं। मोहग्रस्त होकर अर्जुन जैसा योद्धा, जिसका धर्म ही है युद्ध करना, वह युद्ध से विमुख हो गया। तो उन्होंने कहा कि तुम्हारा मोह नष्ट हुआ कि नहीं? अर्जुन स्वीकृति देता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। (१८/७३)

'नष्टो मोहः' मेरा मोह नष्ट हुआ। मोह मतलब ? जब हमारा जो चित्त है वह उलट जाय। जो सही ज्ञान है, उससे उलटा हो जाय, तब मोह होता है। मोह के कारण उसको लगने लगा था कि मैं कैसे अपने आचार्य का, अपने गुरुजनों का वध करूँगा ? कैसे युद्ध करूँगा ? मोहग्रस्त होकर वह युद्ध विमुख हो रहा था। अब भगवान् ने उसको बताया कि न तो तुम शरीर हो, न तुम कर्त्ता हो जैसा तुम भ्रमवश समझ रहे थे। अर्जुन स्वीकार करता है कि मेरा मोह नष्ट हुआ। *'स्मृतिर्लब्धा'* यहाँ स्मृति का मतलब है परम ज्ञान। जब परम ज्ञान प्राप्त होता है तो सारी ग्रन्थियाँ छूट जाती हैं।

जड़ चेतनहिं ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।। (मानस.७/११६-४)

जड़ और चेतन की गाँठ पड़ गयी है। यह शरीर, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब जड़ हैं और इसके भीतर जो आत्म स्वरूप है, यह चैतन्य है। इस आत्मस्वरूप चैतन्य की इस शरीर के साथ गाँठ पड़ गयी है। अर्थात् हमने इस शरीर को ही अपना सब कुछ मान लिया है। हमने माना है कि मैं माने विष्णुकान्त; मैं माने यह साढ़े तीन हाथ का लम्बा-चौड़ा शरीर। यह सही नहीं है। लेकिन बड़ी कठिनाई से इससे छुटकारा मिलता है। तभी छुटकारा मिलता है जब हमारी वास्तविक स्मृति जगाकर ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वस्तुतः हम कौन हैं।

स्मृतिर्लब्धे सर्व ग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।

तो *'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'* मुझे स्मृति प्राप्त हुई। भक्त लोग कहते हैं कि अर्जुन को लगा कि मुझको स्मृति प्राप्त हुई कि प्रभु मेरे गुरु हैं, मैं उनका शिष्य हूँ। ज्ञानी लोग कहते हैं कि स्मृति प्राप्त हुई कि जो तुम हो, वही मैं हूँ। लेकिन गीता में जो शरणागति है, यह भक्ति की चरम भूमिका है। ज्ञानवाले के पक्ष में, निष्काम कर्मयोगी, निष्काम कर्मयोग के पक्ष में कहते हैं, लेकिन गीता ने तो शरणागति में समापन किया है। क्यों समापन किया है शरणागति में और किस शरणागति में समापन किया है ? अन्तस्थ ईश्वर की शरणागति में अगर गीता समाप्त होती तो ज्ञान की प्रधानता थी, लेकिन प्रत्यक्ष, सगुण साकार श्रीकृष्ण के प्रति शरणागति ही भक्ति की चरम सीमा है, पराकाष्ठा है। गीता के इन भावों को श्रीमद्भागवत में और भी विस्तृत रूप से समझाया गया है कि कर्म भी जब तक भगवान् को अर्पित नहीं होता तब तक शोभित नहीं होता। तो ज्ञान और कर्म दोनों की चरितार्थता गीता मानती है शरणागति में। इस शरणागति में जब तुम आओगे तो तुम अपने को क्या मानोगे ? भक्त लोग अपने को सेवक मानेंगे। मैं युद्ध नहीं करूँगा, यह निर्णय किया था अर्जुन ने।

'न योत्स्य इति गोविन्दं उक्त्वा तूष्णीं बभूव ह'। (२/९-२)

अठारहवें अध्याय में वह निर्णय पलटता है, और कहता है— *'करिष्ये वचनं तव।'* जो तुम कहोगे वही मैं करूँगा। मैं स्वतः अपनी इच्छा से कुछ नहीं करूँगा। मैं कर्त्ता नहीं हूँ। मैं प्रेरित कर्त्ता हूँ। बराबर इस बात को याद रखिए। प्रेरक कर्त्ता परमात्मा है। प्रेरित कर्त्ता हम हैं। वह करा रहा है, हम कर रहे हैं।

'यथायुक्तोऽस्मि तथा करोमि'। वे जो कुछ करा रहे हैं वह मैं कर रहा हूँ। इस वृत्ति में आकर गीता समाप्त होती है। *'करिष्ये वचनं तव'।* और इसके बाद संजय अपनी कृत-कृत्यता का अनुभव वर्णित करता है—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।। (१८/७४)
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।। (१८/७५)

यह मैंने वासुदेव और पार्थ, जो महात्मा हैं उनकी रोमांचित कर देनेवाली वाणी सुनी। कैसे सुनी ?

संजय ने अपनी शक्ति से सुनी ? नहीं। *'व्यास प्रसादात्'* व्यास की, गुरु की कृपा से सुनी। *'बिन गुरु होइ कि ज्ञान'* गुरु ने हमको यह शक्ति दी। हमको दूरदृष्टि दी। हमको श्रवण की शक्ति दी और हमने उस परम गुह्य गोपनीय तत्त्व को सुना। *'योगं योगेश्वरात्कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम्'* —साक्षात् कृष्ण जिस रहस्यमय परम ज्ञान को, योग को सुना रहे थे, उसको मैंने सुना। आगे कहा है—

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।। (१८/७६)

बार-बार मैं रोमांचित होता हूँ, हर्षित होता हूँ। हे राजन! हे धृतराष्ट्र! यह जो कृष्ण और अर्जुन के बीच का संवाद है, इसको सुनकर मैं पुनः-पुनः पुलकित होता हूँ।

तच्चसंस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।। (१८/७७)

आप देखिए कोई बड़ी चीज मिल जाय तो आदमी कैसे पुलकित होता है, उसका वर्णन है। भगवान् के इस विराट रूप का मैंने दर्शन किया। अर्जुन को जो विराट रूप भगवान् ने दिखाया, गुरु की कृपा से मैंने भी देखा। उस विराट रूप का दर्शन करके मैं बार-बार विस्मित होता हूँ, हर्षित होता हूँ। अपनी प्रसन्नता, अपनी कृतकृत्यता, अपनी कृतार्थता का वर्णन संजय बार-बार कर रहे हैं और अंत में अपना निर्णय देते हैं। जब धृतराष्ट्र ने पूछा था कि युद्ध में दोनों सेनाओं ने क्या किया ? उसका अभिप्राय था कि इसकी परिणति क्या होगी ? इसका परिणाम क्या होगा ? परिणाम का संकेत करते हुए संजय कहते हैं—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। (१८/७८)

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं, और उनकी आज्ञा के अनुसार काम करनेवाला धनुर्धर अर्जुन जहाँ है। दोनों बातें होनी चाहिए। दिव्यज्ञान भी होना चाहिए, और वह पौरुष भी होना चाहिए, जिस पौरुष से उस ज्ञान को रूपायित किया जा सके, चरितार्थ किया जा सके, आचरण में उतारा जा सके। तो— *'यत्र योगेश्वरः कृष्णो'* जहाँ योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण हैं, *'यत्र पार्थो धनुर्धरः'* जहाँ धनुर्धारी, परमवीर, परम महान् योद्धा अर्जुन हैं, *'तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम'*। मेरी यह बुद्धि है, मेरा यह निर्णय है कि वहीं लक्ष्मी होगी, वहीं विजय, वहीं विभूति और वहीं *'ध्रुवानीति'* यानी कभी चंचल होने वाली नीति नहीं। नीति वह है जो हमको आगे ले जाय। *'नी'* धातु से नय, ले जाने वाली नीति है। नेता भी इसी से बना है। जो हमको आगे ले जाय। आजकल के नेता कहाँ ले जा रहे हैं, यह तो अलग बात है। लेकिन *'नी'* या नय का अर्थ है आगे ले जाने वाले। आगे ले जाने वाली जो नीति है, वह अचल है। कभी विचलित नहीं होगी। ये चारों बातें समृद्धि, विजय-विभूति, ऐश्वर्य और *ध्रुवानीति* यानी अविचलित नीति वहीं होगी जहाँ श्रीकृष्ण होंगे, जहाँ अर्जुन होगा।

भगवान् की वाणी, वाङ्मयी जो उनकी आकृति है, वाङ्मय रूप में, अपने उपदेश में, भगवान् श्रीकृष्ण हमारे साथ हैं। हमारा यह गीता श्रवण-सफल हो। भगवान् की बहुत बड़ी कृपा है कि उन्होंने यह काम मुझे दिया और मुझसे यह काम करवा लिया। मैं सचमुच आश्चर्यचकित हूँ।

अपने गुरु स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती की अंगुली पकड़ कर मैंने गीताजी की परिक्रमा पूरी की है। जहाँ-जहाँ वे ले गये हैं, जो उन्होंने बताया है, उसको मैंने कहने की चेष्टा की है। गुरुजी की एक बात और कह कर आज के आखिरी प्रवचन पर विराम होगा।

समाप्ति का मतलब क्या होता है ? गुरुजी कहते थे समाप्ति का मतलब 'खतम' हो जाना, शेष हो जाना नहीं है। 'आप्ति' में सम् उपसर्ग लगा तो समाप्ति। और 'आप्ति' में 'प्र' लगा तो 'प्राप्ति'। प्राप्ति का मतलब क्या होता है ? प्राप्ति का मतलब होता है कुछ विशिष्ट चीजें मिलना, प्राप्त करना। इस प्रकार समाप्ति का मतलब क्या होना चाहिए ? अगर हमने कथा को ध्यान से सुना है, तो हमको कुछ 'सम्यक् आप्ति' होनी चाहिए। कुछ अच्छी चीजें, कुछ ऐसी विशिष्ट वस्तु हमको मिलनी चाहिए जो हमारे सारे जीवन का सम्बल बने। प्रभु कृपा से आज की यह समाप्ति मेरे लिये और आपके लिये सम्बल बने। श्रीराम, जय राम, जय-जय राम। ●

श्रीमद्भगवद्गीता मूल (संस्कृत) पाठ

तेरहवाँ अध्याय

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥३॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥४॥
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्त-देश-सेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥
प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥
कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥
उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥
यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजंगमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥
समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तंयः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३०॥
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

चौदहवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ।।१।।
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ।।२।।
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।३।।
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।४।।
सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।।५।।
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ।।६।।
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ।।७।।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।८।।
सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ।।९।।
रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।१०।।
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।११।।
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ।।१२।।
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ।।१३।।
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ।।१४।।
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसंगिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ।।१५।।
कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ।।१६।।
सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।।१७।।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥२२॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥२३॥
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥
मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

पन्द्रहवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥
निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥
न तद्भासयते सूर्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।७।।
शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ।।८।।
श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।।९।।
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।।१०।।
यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ।।११।।
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ।।१२।।
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।।१३।।
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।१४।।
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टोमत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्योवेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।।१५।।
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।१६।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।।१७।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।१८।।
यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ।।१९।।
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।२०।।

सोलहवां अध्याय

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।।१।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।।२।।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥
दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥५॥
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥१०॥
चिन्तामपरिमेयांच प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥१२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥१५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।।२२।।
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।२३।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।।२४।।

सत्तरहवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।। ।।१।।

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।२।।
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।३।।
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।४।।
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ।।५।।
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ।।६।।
आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ।।७।।
आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।८।।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।९।।
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।१०।।
अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ।।११।।
अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ।।१२।।
विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ।।१३।।
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।।१४।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ।।१५।।
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ।।१६।।
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ।।१७।।
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।१८।।
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।१९।।
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।२०।।
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।।२१।।
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।
ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।।२३।।
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।।२४।।
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ।।२५।।
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ।।२६।।
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ।।२७।।
अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ।।२८।।

अट्ठारहवां अध्याय

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ।।१।।

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्व कर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ।।२।।
त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ।।३।।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ।।४।।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ।।५।।
एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ।।६।।
नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।।७।।
दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ।।८।।
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।९।।
न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।।१०।।
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।।११।।
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।।१२।।
पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।१३।।
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।१४।।
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पंचैते तस्य हेतवः ।।१५।।
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ।।१६।।
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।१७।।
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ।।१८।।
ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ।।१९।।
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तंविभक्तेषुतज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।।२०।।
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।।२१।।
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ।।२२।।

नियतं संगरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।२३।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ।।२४।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ।।२५।।
मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्विक उच्यते ।।२६।।
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्ष शोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ।।२७।।
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ।।२८।।
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ।।२९।।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३०।।
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ।।३१।।
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ।।३२।।
धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ।।३३।।
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।।३४।।
यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुंचति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ।।३५।।
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ।।३६।।
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।३७।।
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।३८।।
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ।।३९।।
न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ।।४०।।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ।।४१।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।।४२।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ।।४३।।
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ।।४४।।
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ।।४५।।
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।४६।।
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ।।४७।।
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।
असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।४९।।
सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ।।५०।।
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ।।५२।।
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ।।५३।।
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ।।५४।।
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।।५५।।
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।।५६।।
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ।।५७।।
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ।।५८।।
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्येष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।।५९।।
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ।।६०।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।६१।।
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।६२।।
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ।।६३।।
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।।६४।।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।६५।।
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।६६।।
इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।।६७।।
य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ।।६८।।
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ।।६९।।
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।।७०।।
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।।७१।।
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ।।७२।।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।७३।।

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ।।७४।।
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ।।७५।।
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ।।७६।।
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।।७७।।
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।७८।।

गीता श्लोकानुक्रमणिका

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
अ	
अकर्मणश्च बोद्धव्यं	४/१७
अकीर्तिं चापि भूतानि	२/३४
अक्षरं ब्रह्म परमं	८/३
अक्षराणामकारोऽस्मि	१०/३३
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः	८/२४
अघायुरिन्द्रियारामो	३/१६
अच्छेद्योऽयमदाह्योयम्	२/२४
अजानता महिमानं तवेदं	११/४१
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं	२/२०
अजोऽपि सन्नव्ययात्मा	४/६
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च	४/४०
अज्ञानं चाभिजातस्य	१६/४
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं	५/१५
अतत्त्वार्थवदल्पं च	१८/२२
अत्येति तत्सर्वमिदंविदित्वा	८/२८
अत्र शूरा महेष्वासा	१/४
अतोऽस्मि लोके वेदे च	१५/१८
अथ केन प्रयुक्तोऽयं	३/३६
अथ चित्तं समाधातुं	१२/९
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं	२/३३
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्	१८/५८
अथ चैनं नित्यजातं	२/२६
अथैतदप्यशक्तोऽसि	१२/११
अथवा बहुनैतेन	१०/४२
अथवा योगिनामेव	६/४२
अव व्यवस्थितान्दृष्ट्वा	१/२०

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा	११/४५
अद्वेष्टा सर्वभूतानां	१२/१३
अदेशकाले यद्दानम्	१७/२२
अधर्मं धर्ममिति या	१८/३२
अधर्माभिभवात्कृष्ण	१/४१
अधश्च मूलान्यनुसंततानि	१५/२
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य	१५/२
अधिभूतं क्षरो भावः	८/४
अधिभूतं च किं प्रोक्तम्	८/१
अधियज्ञः कथं कोऽत्र	८/२
अधियज्ञोऽहमेवात्र	८/४
अधिष्ठानं तथा कर्ता	१८/१४
अधिष्ठाय मनश्चायं	१५/९
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं	१३/११
अध्यात्मविद्या विद्यानां	१०/३२
अध्येष्यते च य इमं	१८/७०
अनन्त देवेश जगन्निवास	११/३७
अनन्तविजयं राजा	१/१६
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं	११/४०
अनन्तश्चास्मि नागानां	१०/२९
अनन्यचेताः सततं यो	८/१४
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां	९/२२
अनन्येनैव योगेन	१२/६
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः	१२/१६
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे	६/६
अनादित्वान्निर्गुणत्वात्	१३/३१
अनादिमत्परं ब्रह्म	१३/१२

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक	श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यं	११/१९	अपाने जुह्वति प्राणं	४/२९
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम	२/२	अपि चेत्सुदुराचारो	९/३०
अनाशिनोऽप्रमेयस्य	२/१८	अपि चेदसि पापेभ्यः	४/३६
अनाश्रितः कर्मफलं	६/१	अपि त्रैलोक्यराज्यस्य	१/३५
अनिकेतः स्थिरमतिः	१२/१९	अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च	१४/१३
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय	३/३६	अप्रतिष्ठो महाबाहो	६/३८
अनित्यमसुखं लोकमिमं	९/३३	अप्राप्य मां निवर्तन्ते	९/३
अनिष्टमिष्टं मिश्रं च	१८/१२	अप्राप्य योगसंसिद्धिं	६/३७
अनुद्वेगकरं वाक्यं	१७/१५	अफलप्रेप्सुना कर्म	१८/२३
अनुबन्धं क्षयं हिंसाम्	१८/२५	अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो	१७/११
अनेकचित्तविभ्रान्ता	१६/१६	अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः	१७/१७
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो	६/४५	अभयं सत्त्वसंशुद्धिः	१६/१
अनेकवक्त्रनयनम्	११/१०	अभितो ब्रह्मनिर्वाणं	५/२६
अनेकदिव्याभरणं	११/१०	अभिसंधाय तु फलं	१७/१२
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं	११/१६	अभ्यासयोगयुक्तेन	८/८
अनेन प्रसविष्यध्वमेष	३/१०	अभ्यासाद्रमते यत्र	१८/३६
अन्तकाले च मामेव	८/५	अभ्यासेन तु कौन्तेय	६/३५
अन्तवत्तु फलं तेषां	७/२३	अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि	१२/१०
अन्तवन्त इमे देहा	२/१८	अभ्यासयोगेन ततो	१२/९
अन्नाद्भवन्ति भूतानि	३/१४	अभ्युत्थानमधर्मस्य	४/७
अन्ये च बहवः शूराः	१/९	अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा	१३/७
अन्ये त्वेवमजानन्तः	१३/२५	अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः	११/२६
अन्ये सांख्येन योगेन	१३/२४	अमी हि त्वां सुरसङ्घा	११/२१
अपरं भवतो जन्म	४/४	अमृतं चैव मृत्युश्च	९/१९
अपरस्परसम्भूतं	१६/८	अयतिः श्रद्धयोपेतो	६/३७
अपरे नियताहाराः	४/२९	अयथावत्प्रजानाति	१८/३१
अपरेयमितस्त्वन्यां	७/५	अयनेषु च सर्वेषु	१/११
अपर्याप्तं तदस्माकं	१/१०	अयुक्तः कामकारेण	५/१२
अपश्यदेवदेवस्य	११/१३	अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः	१८/२८

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
अवजानन्ति मां मूढा	९/११
अवाच्यवादांश्च बहून्	२/३६
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं	२/८
अविनाशि तु तद्विद्धि	२/१७
अविभक्तं च भूतेषु	१३/१६
अविभक्तं विभक्तेषु	१८/२०
अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं	७/२४
अव्यक्तनिधनान्येव	२/२८
अव्यक्तादीनि भूतानि	२/२८
अव्यक्तादुव्यक्तयः सर्वाः	८/१८
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं	१२/५
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्त	८/२१
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्	२/२५
अशास्त्रविहितं घोरं	१७/५
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं	२/११
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां	१०/२६
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्	१५/३
अश्वत्थामा विकर्णश्च	१/८
अश्रद्दधानाः पुरुषा	९/३
अश्रद्धया हुतं दत्तं	१७/२८
असंमूढः स मर्त्येषु	१०/३
असंयतात्मना योगो	६/३६
असंशयं महाबाहो	६/३५
असंशयं समग्रं मां	७/१
असक्तं सर्वभृच्चैव	१३/१४
असक्तबुद्धिः सर्वत्र	१८/४९
असक्तिरनभिष्वङ्गः	१३/९
असक्तो ह्याचरन्कर्म	३/१९
असत्कृतमवज्ञातं	१७/२२
असत्यमप्रतिष्टं ते	१६/८
असदित्युच्यते पार्थ	१७/२८
असौ मया हतः शत्रुः	१६/१४
असितो देवलो व्यासः	१०/१३
अस्माकं तु विशिष्टा ये	१/७
अहं कृत्स्नस्य जगतः	७/६
अहं क्रतुरहं यज्ञः	९/१६
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो	१८/६६
अहं वैश्वानरो भूत्वा	१५/१४
अहं सर्वस्य प्रभवो	१०/८
अहं हि सर्वयज्ञानां	९/२४
अहङ्कार इतीयं मे	७/४
अहङ्कारं बलं दर्पं	१६/१८
अहङ्कारं बलं दर्पं	१८/५३
अहङ्कारविमूढात्मा	३/२७
अहमात्मा गुडाकेश	१०/२०
अहमादिर्हि देवानां	१०/२
अहमादिश्च मध्यं च	१०/२०
अहमेवाक्षयः कालो	१०/३३
अहिंसा सत्यमक्रोधः	१६/२
अहिंसा समता तुष्टिः	१०/५
अहो बत महत्पापं	१/४५

आ

आख्याहि मे को भवान्	११/३१
आगमापायिनोऽनित्याः	२/१४
आचरत्यात्मनः श्रेयः	१६/२२
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्	१/२६
आचार्योपासनं शौचं	१३/७

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
आचार्यमुपसङ्गम्य	१/२
आचार्याः पितरः पुत्राः	१/३४
आढ्योऽभिजनवानस्मि	१६/१५
आत्मन्येव च संतुष्टः	३/१७
आत्मन्येवात्मना तुष्टः	२/५५
आत्मवन्तं न कर्माणि	४/४१
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा	२/६४
आत्मसंभाविताः स्तब्धा	१६/१७
आत्मसंयमयोगाग्नौ	४.२७
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा	६/२५
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः	६/५
आत्मौपम्येन सर्वत्र	६/३२
आदित्यानामहं विष्णुः	१०/२१
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय	५/२२
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं	२/७०
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः	८/१६
आयुधानामहं वज्रं	१०/२८
आयुःसत्त्वबलारोग्य	१७/८
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं	६/३
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी	७/१६
आवृतं ज्ञानमेतेन	३/३९
आशापाशशतैर्बद्धा	१६/१२
आश्चर्यवच्चैनमन्यः	२/२९
आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं	२/२९
आश्वासयामास च	११/५०
आसुरीं योनिमापन्ना	१६/२०
आस्थितः स हि युक्तात्मा	७/१८
आहारस्त्वपि सर्वस्य	१७/७
आहारा रजसस्येष्टा	१७/९

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
आहुस्त्वामृषयः सर्वे	१०/१३
इ	
इच्छाद्वेषसमुत्थेन	७/२७
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं	१३/६
इज्यते भरतश्रेष्ठ	१७/१२
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं	१३/१८
इति गुह्यतमं शास्त्रम्	१५/२०
इति ते ज्ञानमाख्यातं	१८/६३
इति मत्वा भजन्ते मां	१०/८
इति मां योऽभिजानाति	४/१४
इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा	११/५०
इत्यहं वासुदेवस्य	१८/७४
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य	१४/२
इदं तु ते गुह्यतमं	९/१
इदं ते नातपस्काय	१८/६७
इदं शरीरं कौन्तेय	१३/१
इदमद्य मया लब्धमिमं	१६/१३
इदमस्तीदमपि मे	१६/१३
इदानीमस्मि संवृत्तः	११/५१
इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे	३/३४
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि	१०/२२
इन्द्रियाणां हि चरतां	२/६७
इन्द्रियाणि दशैकं च	१३/५
इन्द्रियाणि पराण्याहुः	३/४२
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि	२/६०
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः	३/४०
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः	२/५८
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः	२/६८

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु	५/९
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा	३/६
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्	१३/८
इमं विवस्वते योगं	४/१
इष्टान्भोगान्हि वो देवा	३/१२
इष्टोऽसि मे दृढमिति	१८/६४
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि	२/४
इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं	११/७
इहैव तैर्जितः सर्गो	५/१९
ई	
ईक्षते योगयुक्तात्मा	६/२९
ईश्वरोऽहमहं भोगी	१६/१४
ईश्वरः सर्वभूतानां	१८/६१
ईहन्ते कामभोगार्थम्	१६/१२
उ	
उच्चैःश्रवसमश्वानां	१०/२७
उच्छिष्टमपि चामेध्यं	१७/१०
उत्क्रामन्तं स्थितं वापि	१५/१०
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः	१५/१७
उत्सन्नकुलधर्माणां	१/४४
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः	१/४३
उत्सीदेयुरिमे लोका	३/२४
उदाराः सर्व एवैते	७/१८
उदासीनवदासीनो	१४/२३
उदासीनवदासीनम्	९/९
उद्धरेदात्मनात्मानं	६/५
उपद्रष्टानुमन्ता च	१३/२२
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं	४/३४
उपविश्यासने युञ्ज्याद्	६/१२
उपैति शान्तरजसं	६/२७
उभयोरपि दृष्टोऽन्तः	२/१६
उभौ तौ न विजानीतो	२/१९
उवाच पार्थ पश्यैतान्	१/२५
ऊ	
ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था	१४/१८
ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्	१५/१
ऋ	
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति	११/३२
ऋषिभिर्बहुधा गीतं	१३/४
ए	
एकं साङ्ख्यं च योगं च	५/५
एकत्वेन पृथक्त्वेन	९/१५
एकमप्यास्थितः सम्यग्	५/४
एकया यात्यनावृत्तिम्	८/२६
एकाकी यतचित्तात्मा	६/१०
एकोऽथवाप्यच्युत तत्	११/४२
एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य	११/३५
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्	१३/११
एतत्क्षेत्रं समासेन	१३/६
एतद्धि दुर्लभतरं	६/४२
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्	१५/२०
एतद्योनीनि भूतानि	७/६
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः	१३/१

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
एतस्याहं न पश्यामि	६/३३
एतां दृष्टिमवष्टभ्य	१६/९
एतां विभूतिं योगं च	१०/७
एतान्न हन्तुमिच्छामि	१/३५
एतन्मे संशयं कृष्ण	६/३९
एतान्यपि तु कर्माणि	१८/६
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय	१६/२२
एतैर्विमोहयत्येष	३/४०
एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म	४/१५
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना	९/२१
एवं परम्पराप्राप्तं	४/२
एवं प्रवर्तितं चक्रं	३/१६
एवं बहुविधा यज्ञा	४/३२
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा	३/४३
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके	११/४८
एवं सततयुक्ता ये	१२/१
एवमुक्त्वा ततो राजन्	११/९
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये	१/४७
एवमुक्त्वा हृषीकेशं	२/९
एवमुक्तो हृषीकेशो	१/२४
एवमेतद्यथात्थ त्वं	११/३
एष तूद्देशतः प्रोक्तो	१०/४०
एषा तेऽभिहिता सांख्ये	२/३९
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ	२/७२
ऐ	
ऐरावतं गजेन्द्राणां	१०/२७
ओ	
ॐतत्सदिति निर्देशो	१७/२३
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	८/१३
क	
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ	१८/७२
कच्चिदज्ञानसंमोहः	१८/७२
कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः	६/३८
कट्वम्लवणात्युष्ण	१७/९
कथं न ज्ञेयमस्माभिः	१/३९
कथं भीष्ममहं संख्ये	२/४
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां	१०/१७
कथं स पुरुषः पार्थ	२/२१
कथमेतद्विजानीयां	४/४
कथयन्तश्च मां नित्यं	१०/९
करणं कर्म कर्तेति	१८/१८
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्	१८/६०
कर्तव्यानीति मे पार्थ	१८/६
कर्म चैव तदर्थीयं	१७/२७
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि	२/५१
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्	४/३२
कर्मणैव हि संसिद्धिम्	३/२०
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं	४/१७
कर्मणः सुकृतस्याहुः	१४/१६
कर्मण्यकर्म यः पश्येत्	४/१८
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि	४/२०
कर्मण्येवाधिकारस्ते	२/४७
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि	३/१५
कर्माणि प्रविभक्तानि	१८/४१

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी	६/४६
कर्मेन्द्रयाणि संयम्य	३/६
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम्	३/७
कल्पक्षये पुनस्तानि	९/७
कविं पुराणमनुशासितारम्	८/९
कर्षयन्तः शरीरस्थं	१७/६
कस्माच्च ते न नमेरन्	११/३७
काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं	४/१२
काम एष क्रोध एष	३/३७
कामक्रोधोद्भवं वेगं	५/२३
कामक्रोधवियुक्तानां	५/२६
कामात्मानः स्वर्गपरा	२/४३
काममाश्रित्य दुष्पूरं	१६/१०
कामरूपेण कौन्तेय	३/३९
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना	७/२०
कामोपभोगपरमा	१६/११
कामः क्रोधस्तथा लोभः	१६/२१
काम्यानां कर्मणां न्यासं	१८/२
कायेन मनसा बुद्धया	५/११
कारणं गुणसङ्गोऽस्य	१३/२१
कार्यकारणकर्तृत्वे	१३/२०
कार्यते ह्यवशः कर्म	३/५
कार्यमित्येव यत्कर्म	१८/९
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः	२/७
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो	११/३२
काश्यश्च परमेष्वासः	१/१७
किं कर्म किमकर्मेति	४/१६
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं	८/१
किं नो राज्येन गोविन्द	१/३२
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या	९/३३
किमाचारः कथं चैतान्	१४/२१
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्	११/४६
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च	११/१७
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां	१०/३४
कुतस्त्वा कश्मलमिदं	२/२
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तः	३/२५
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं	४/१५
कुलक्षयकृतं दोषं	१/३८
कुलक्षयकृतं दोषं	१/३९
कुलक्षये प्रणश्यन्ति	१/४०
कृपया परयाविष्टो	१/२८
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं	१८/४४
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु	११/२७
केशवार्जुनयोः पुण्यं	१८/७६
केषु केषु च भावेषु	१०/१७
कैर्मया सह योद्धव्यम्	१/२२
कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतान्	१४/२१
कौन्तेय प्रतिजानीहि	९/३१
क्रियते तदिह प्रोक्तं	१७/१८
क्रियते बहुलायासं	१८/२४
क्रियाविशेषबहुलां	२/४३
क्रोधाद्भवति संमोहः	२/६३
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ	२/३
क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्	१२/५

ग

गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं	५/१७
गतसङ्गस्य मुक्तस्य	४/२३

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
गतासूनगतासूंश्च	२/११
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी	९/१८
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा	११/२२
गन्धर्वाणां चित्ररथः	१०/२६
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्	१/३०
गामाविश्य च भूतानि	१५/१३
गुणा गुणेषु वर्तन्त	३/२८
गुणानेतानतीत्य त्रीन्	१४/२०
गुणा वर्तन्त इत्येव	१४/२३
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति	१४/१९
गुरूनहत्वा हि महानुभावान्	२/५
गृहीत्वैतानि संयाति	१५/८
च	
चञ्चलं हि मनः कृष्ण	६/३४
चतुर्विधा भजन्ते माम्	७/१६
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं	४/१३
चिन्तामपरिमेयां च	१६/११
चेतसा सर्वकर्माणि	१८/५७
छ	
छन्दांसि यस्य पर्णानि	१५/१
छित्त्वैनं संशयं योगम्	४/४२
छिन्नद्वैधा यतात्मानः	५/२५
ज	
जघन्यगुणवृत्तिस्था	१४/१८
जन्म कर्म च मे दिव्यम्	४/९
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः	२/५१
जन्ममृत्युजरादुःखैः	१४/२०
जन्ममृत्युजराव्याधि	१३/८
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि	१०/३६
जरामरणमोक्षाय	७/२९
जहि शत्रुं महाबाहो	३/४३
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः	२/२७
जिज्ञासुरपि योगस्य	६/४४
जितात्मनः प्रशान्तस्य	६/७
जीवनं सर्वभूतेषु	७/९
जीवभूतां महाबाहो	७/५
जोषयेत्सर्वकर्माणि	३/२६
ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते	३/१
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः	१३/१७
झ	
झषाणां मकरश्चास्मि	१०/३१
त	
तं तं नियममास्थाय	७/२०
तं तथा कृपयाविष्टम्	२/१
तं तमेवैति कौन्तेय	८/६
तं विद्याद्दुःख संयोग	६/२३
त इमेऽवस्थिता युद्धे	१/३३
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य	१८/७७
तत एव च विस्तारं	१३/३०
ततस्तो नियम्यैतद्	६/२६
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा	१८/५५
ततो युद्धाय युज्यस्व	२/३८
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं	१५/४

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च	१/१३
ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते	१/१४
ततः स विस्मयाविष्टो	११/१४
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च	२/३३
तत्किं कर्मणि घोरे मां	३/१
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च	१३/३
तत्तदेवावगच्छत्वं	१०/४१
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि	४/१६
तत्प्रसादात्परां शांतिं	१८/६२
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिः	८/२५
तत्र तं बुद्धिसंयोगं	६/४३
तत्र प्रयाता गच्छन्ति	८/२४
तत्र श्रीर्विजयो भूतिः	१८/७८
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्	१४/६
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः	१/२६
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा	६/१२
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं	११/१३
तत्रैवं सति कर्तारम्	१८/१६
तत्त्ववित्तु महाबहो	३/२८
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम्	१८/३७
तत्स्वयं योगसंसिद्धः	४/३८
तथा तवामी नरलोकवीरा	११/२८
तथा देहान्तरप्राप्तिः	२/१३
तथापि त्वं महाबाहो	२/२६
तथा प्रलीनस्तमसि	१४/१५
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि	२/२२
तथा सर्वाणि भूतानि	९/६
तथैव नाशाय विशन्ति लोकाः	११/२९
तदर्थं कर्म कौन्तेय	३/९
तदस्य हरति प्रज्ञां	२/६७
तदहं भक्त्युपहृतम्	९/२६
तदा गन्तासि निर्वेदं	२/५२
तदित्यनभिसंधाय	१७/२५
तदेकं वद निश्चित्य	३/२
तदेव मे दर्शय देव रूपं	११/४५
तदोत्तमविदां लोकान्	१४/१४
तद्बुद्धयस्तदात्मानः	५/१७
तद्भक्तकामा यं प्रविशन्ति सर्वे	२/७०
तद्विद्धि प्रणिपातेन	४/३४
तन्निबध्नाति कौन्तेय	१४/७
तपस्विभ्योऽधिको योगी	६/४६
तपाम्यहमहं वर्षं	९/१९
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि	१४/८
तमस्येतानि जायन्ते	१४/१३
तमुवाच हृषीकेशः	२/१०
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये	१५/४
तमेव शरणं गच्छ	१८/६२
तयोर्न वशमागच्छेत्	३/३४
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्	५/२
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते	१६/२४
तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ	३/४१
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो	११/३३
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय	११/४४
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म	३/१५
तस्मात्सर्वाणि भूतानि	२/३०
तस्मात्सर्वेषु कालेषु	८/७
तस्मात्सर्वेषु कालेषु	८/२७
तस्मादज्ञानसंभूतं	४ ४२

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
तस्मादपरिहार्येऽर्थे	२/२७
तस्मादसक्तः सततं	३/१९
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय	२/३७
तस्मादेवं विदित्वैनं	२/२५
तस्मादोमित्युदाहृत्य	१७/२४
तस्माद्यस्य महाबाहो	२/६८
तस्माद्योगाय युज्यस्व	२/५०
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं	१/३७
तस्य कर्तारमपि मां	४/१३
तस्य तस्याचलां श्रद्धां	७/२१
तस्य संजनयन्हर्षं	१/१२
तस्याहं न प्रणश्यामि	६/३०
तस्याहं निग्रहं मन्ये	६/३४
तस्याहं सुलभः पार्थ	८/१४
तानकृत्स्नविदो मन्दान्	३/२९
तानहं द्विषतः क्रूरान्	१६/१९
तानि सर्वाणि संयम्य	२/६१
तान्यहं वेद सर्वाणि	४/५
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः	१/२७
तावान्सर्वेषु वेदेषु	२/४६
तासां ब्रह्म महद्योनिः	१४/४
तुल्यप्रियाप्रियो धीरः	१४/२४
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी	१२/१९
तेऽपि चातितरन्त्येव	१३/२५
तेऽपि मामेव कौन्तेय	९/२३
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं	११/३०
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं	११/४७
तेजः क्षमा धृतिः शौचम्	१६/३
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं	९/२१

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः	१/२६
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता	७/२८
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन	११/४६
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्	९/२०
ते प्राप्नुवन्ति मामेव	१२/४
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नम्	७/२९
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त	७/१७
तेषां नित्याभियुक्तानाम्	९/२२
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण	१७/१
तेषां सततयुक्तानां	१०/१०
तेषामहं समुद्धर्ता	१२/७
तेषामादित्यवज्ज्ञानं	५/१६
तेषामेवानुकम्पार्थम्	१०/११
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो	३/१२
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं	४/२०
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म	४/९
त्यागस्य च हृषीकेश	१८/१
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो	१८/१०
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र	१८/४
त्याज्यं दोषवदित्येके	१८/३
त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः	७/१३
त्रैविद्या मां सोमपाः	९/२०
त्रिविधं नरकस्येदं	१६/२१
त्रिविधा भवति श्रद्धा	१७/२
त्रैगुण्यविषया वेदा	२/४५
त्वत्तः कमलपत्राक्ष	११/२
त्वदन्यः संशयस्यास्य	६/३९
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं	११/१८
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता	११/१८

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण	११/३८
द	
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि	११/२५
दण्डो दमयतामस्मि	१०/३८
ददामि बुद्धियोगं तं	१०/१०
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः	१७/५
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च	१६/४
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं	१६/२
दर्शयामास पार्थाय	११/९
दातव्यमिति यद्दानं	१७/२०
दानं दमश्च यज्ञश्च	१६/१
दानक्रियाश्च विविधाः	१७/२५
दानमीश्वरभावश्च	१८/४३
दिवि सूर्यसहस्रस्य	११/१२
दिव्यं ददामि ते चक्षुः	११/८
दिव्यमाल्याम्बरधरं	११/११
दिशो न जाने न लभे च	११/२५
दीयते च परिक्लिष्टं	१७/२१
दुःखमित्येव यत्कर्म	१८/८
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः	२/५६
दूरेण ह्यवरं कर्म	२/४९
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं	१/२
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं	११/२०
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं	११/५१
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा	११/२४
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण	१/२८
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्	११/३
देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं	१७/१४

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
देवा अप्यस्य रूपस्य	११/५२
देवान्भावयतानेन	३/११
देशे काले च पात्रे च	१७/२०
देवान्देवयजो यान्ति	७/२३
देहिनोऽस्मिन्यथा देहे	२/१३
देही नित्यमवध्योऽयं	२/३०
दैवमेवापरे यज्ञं	४/२५
दैवी संपद्विमोक्षाय	१६/५
दैवी ह्येषा गुणमयी	७/१४
दैवो विस्तरशः प्रोक्त	१६/६
दोषैरेतैः कुलघ्नानां	१/४३
द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि	११/२०
द्यूतं छलयतामस्मि	१०/३६
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा	४/२८
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च	१/१८
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च	११/३४
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै	१५/५
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	१५/१६
द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्	१६/६
ध	
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे	१/१
धर्मसंस्थापनार्थाय	४/८
धर्माविरुद्धो भूतेषु	७/११
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम्	१/४०
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयो	२/३१
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः	१/२३
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः	१/४६
धूमेनाव्रियते वह्निः	३/३८

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः	८/२५
धृत्या यया धारयते	१८/३३
धृष्टद्युम्नो विराटश्च	१/१७
धृष्टकेतुश्चेकितानः	१/५
ध्यानयोगपरो नित्यं	१८/५२
ध्यानात्कर्मफलत्यागः	१२/१२
ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति	१३/२४
ध्यायतो विषयान्पुसः	२/६२
न	
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण	१/३२
न कर्तृत्वं न कर्माणि	५/१४
न कर्मफलसंयोगं	५/१४
न कर्मणामनारम्भात्	३/४
नकुलः सहदेवश्च	१/१६
न च तस्मान्मनुष्येषु	१८/६९
न च मत्स्थानि भूतानि	९/५
न च मां तानि कर्माणि	९/९
न च शक्नोम्यवस्थातुं	१/३०
न च श्रेयोऽनुपश्यामि	१/३१
न च संन्यासनादेव	३/४
न चाति स्वप्नशीलस्य	६/१६
न चाभावयतः शान्तिः	२/६६
न चाशुश्रूषवे वाच्यं	१८/६७
न चास्य सर्वभूतेषु	३/१८
न चैतद्विद्मः कतरन्नो	२/६
न चैनं क्लेदयन्त्यापो	२/२३
न चैव न भविष्यामः	२/१२
न जायते म्रियते वा	२/२०

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
न तद्भासयते सूर्यो	१५/६
न तदस्ति पृथिव्यां वा	१८/४०
न तदस्ति विना यत्	१०/३९
न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्	११/८
न तु माभिजानन्ति	९/२४
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः	११/४३
न त्वेवाहं जातु नासं	२/१२
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि	१४/२२
न द्वेष्टयकुशलं कर्म	१८/१०
न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य	५/२०
न बुद्धिभेदं जनयेत्	३/२६
नभश्च पृथिवीं चैव	१/१९
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं	११/२४
नमस्कृत्वा भूय एवाह	११/३५
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या	९/१४
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते	११/४०
न मां कर्माणि लिम्पन्ति	४/१४
न मां दुष्कृतिनो मूढाः	७/१५
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं	३/२२
न मे विदुः सुरगणाः	१०/२
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः	११/३९
न योत्स्य इति गोविन्दम्	२/९
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्	६/४०
न हि कश्चित्क्षणमपि	३/५
नरकेऽनियतं वासो	१/४४
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते	१५/३
नवद्वारे पुरे देही	५/१३
न विमुञ्चति दुर्मेधा	१८/३५
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न	११/४८

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
न शौचं नापि चाचारो	१६/७
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा	१८/७३
न स सिद्धिमवाप्नोति	१६/२३
न हि ज्ञानेन सदृशं	४/३८
न हि ते भगवन्व्यक्तिं	१०/१४
न हि देहभृता शक्यं	१८/११
न हिनस्त्यात्मनात्मानं	१३/२८
न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या	२/८
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो	६/२
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति	६/१६
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं	६/११
नादत्ते कस्यचित्पापं	५/१५
नानवाप्तमवाप्तव्यं	३/२२
नानाविधानि दिव्यानि	११/५
नानाशस्त्रप्रहरणाः	१/९
नान्तं न मध्यं न पुनः	११/१६
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां	१०/४०
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं	१४/१९
नाप्नुवन्ति महात्मानः	८/१५
नाभिनन्दति न द्वेष्टि	२/५७
नायं लोकोऽस्ति न परो	४/४०
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य	४/३१
नायका मम सैन्यस्य	१/७
नाशयाम्यात्मभावस्थो	१०/११
नासतो विद्यते भावो	२/१६
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य	२/६६
नाहं प्रकाशः सर्वस्य	७/२५
नाहं वेदैर्न तपसा	११/५३
नित्यं च समचित्त्वम्	१३/९

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
नित्यः सर्वगतः स्थाणुः	२/२४
निद्रालस्यप्रमादोत्थं	१८/३९
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यम्	२/३६
निबध्नन्ति महाबाहो	१४/५
निमित्तानि च पश्यामि	१/३१
नियतं कुरु कर्मत्वम्	३/८
नियतं सङ्गरहितम्	१८/२३
नियतस्य तु संन्यासः	१८/७
निराशीर्निर्ममो भूत्वा	३/३०
निराशीर्यतचित्तात्मा	४/२१
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो	२/४५
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो	५/३
निर्दोषं हि समं ब्रह्म	५/१९
निर्ममो निरहंकारः	१२/१३
निर्ममो निरहंकारः स	२/७१
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा	१५/५
निर्वैरः सर्वभूतेषु	११/५५
निवसिष्यसि मय्येव	१२/८
निश्चयं शृणु मे तत्र	१८/४
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो	६/१८
निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः	१/३६
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति	२/४०
नैते सृती पार्थ जानन्	८/२७
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि	२/२३
नैव किंचित्करोमीति	५/८
नैव तस्य कृतेनार्थो	३/१८
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां	१८/४९
न्याय्यं वा विपरीतं वा	१८/१५

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
प	
पञ्चैतानि महाबाहो	१८/१३
पतन्ति पितरो ह्येषां	१/४२
पत्रं पुष्पं फलं तोयं	९/२६
परं ब्रह्म परं धाम	१०/१२
परं भावमजानन्तो	७/२४
परं भावमजानन्तो	९/११
परं भूयः प्रवक्ष्यामि	१४/१
परमं पुरुषं दिव्य	८/८
परमात्मेति चाप्युक्तो	१३/२२
परस्तस्मात्तु भावऽन्यो	८/२०
परस्परं भावयन्तः	३/११
परस्योत्सादनार्थं वा	१७/१९
परिचर्यात्मकं कर्म	१८/४४
परिणामे विषमिव	१८/३८
परित्राणाय साधूनां	४/८
पर्याप्तं त्विदमेतेषां	१/१०
पवनः पवतामस्मि	१०/३१
पश्यशृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्न	५/८
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात्	१८/१६
पश्य मे पार्थ रूपाणि	११/५
पश्यादित्यान्वसून्रुद्रान्	११/६
पश्यामि त्वां दीप्तहुताश	११/१९
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं	११/१७
पश्यामि देवांस्तव देव	११/१५
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम्	१/३
पाञ्चजन्यं हृषीकेशो	१/१५
पापमेवाश्रयेदस्मान्	१/३६
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं	३/४१
पार्थ नैवेह नामुत्र	६/४०
पिताहमस्य जगतो	९/१७
पितासि लोकस्य चराचरस्य	११/४३
पितेव पुत्रस्य सखेव	११/४४
पितृणामर्यमा चास्मि	१०/२९
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च	७/९
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च	१/५
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि	१३/२१
पुरुषं शाश्वतं दिव्यं	१०/१२
पुरुषः स परः पार्थ	८/२२
पुरुषः सुखदुःखानां	१३/२०
पुरोधसां च मुख्यं मां	१०/२४
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः	१५/१३
पूर्वाभ्यासेन तेनैव	६/४४
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं	१८/२१
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं	१/१५
प्रकाशं च प्रवृत्तिं च	१४/२२
प्रकृतिं पुरुषं चैव	१३/१९
प्रकृतिं यान्ति भूतानि	३/३३
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय	४/६
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य	९/८
प्रकृतेः क्रियमाणानि	३/२७
प्रकृतेर्गुणसंमूढाः	३/२९
प्रकृत्यैव च कर्माणि	१३/२९
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः	१०/२८
प्रजहाति यदा कामान्	२/५५
प्रणम्य शिरसा देवं	११/१४
प्रणवः सर्ववेदेषु	७/८
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं	९/२

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
प्रभवः प्रलयः स्थानं	९/१८
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः	१६/९
प्रमादमोहौ तमसो	१४/१७
प्रमादालस्यनिद्राभिः	१४/८
प्रयत्नाद्यतमानस्तु	६/४५
प्रयाणकालेऽपि च मां	७/३०
प्रयाणकाले च कथं	८/२
प्रयाणकाले मनसाचलेन	८/१०
प्रयाता यान्ति तं कालं	८/२३
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्	५/९
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः	१७/२४
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च	१६/७
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च	१८/३०
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते	१/२०
प्रशस्ते कर्मणि तथा	१७/२६
प्रशान्तमनसं ह्येनं	६/२७
प्रशान्तात्मा विगत भीः	६/१४
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी	१८/३४
प्रसन्नचेतसो ह्याशु	२/६५
प्रसक्ताः कामभोगेषु	१६/१६
प्रसादे सर्वदुःखानां	२/६५
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां	१०/३०
प्राणापानगती रुद्ध्वा	४/२९
प्राणापानौ समौ कृत्वा	५/२७
प्राणापानसमायुक्तः	१५/१४
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ	१०/१९
प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्	६/४१
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं	७/१७
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये	१७/४

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
प्रोच्यते गुणसंख्याने	१८/१९
प्रोच्यमानमशेषेण	१८/२९
ब	
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति	१८/३०
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य	६/६
बलं बलवतां चाहं	७/११
बहवो ज्ञानतपसा	४/१०
बहिरन्तश्च भूतानाम्	१३/१५
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च	२/४१
बहूदरं बहुदंष्ट्रा करालं	११/२३
बहूनां जन्मनामन्ते	७/१९
बहूनि मे व्यतीतानि	४/५
बह्वन्यदृष्टपूर्वाणि	११/६
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा	५/२१
बीजं मां सर्वभूतानां	७/१०
बुद्धया युक्तो या पार्थ	२/३९
बुद्धया विशुद्धया युक्तो	१८/५१
बुद्धियोगमुपाश्रित्य	१८/५७
बुद्धियुक्तो जहातीह	२/५०
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः	१०/४
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि	७/१०
बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव	१८/२९
बुद्धौ शरणमन्विच्छ	२/४९
बृहत्साम तथा साम्ना	१०/३५
ब्रह्मचर्यमहिंसा च	१७/१४
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्	१४/२७
ब्रह्मण्याधाय कर्माणि	५/१०
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा	१८/५४

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव	१३/४
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं	४/२५
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं	११/१५
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः	४/२४
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं	४/२४
ब्राह्मणक्षत्रियविशां	१८/४१
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च	१७/२३
भ	
भक्तिं मयि परां कृत्वा	१८/६८
भक्त्या त्वनन्यया	११/५४
भक्त्या मामभिजानाति	१८/५५
भक्तोऽसि मे सखा चेति	४/३
भजन्त्यनन्यमनसो	९/१३
भयाद्रणादुपरतम्	२/३५
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य	१८/१२
भवन्ति भावा भूतानां	१०/५
भवन्ति संपदं दैवीम्	१६/३
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च	१/८
भवाप्यौ हि भूतानां	११/२
भवामि नचिरात्पार्थ	१२/७
भविता न च मे तस्मात्	१८/६९
भविष्याणि च भूतानि	७/२६
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो	१७/१६
भीष्मद्रोणप्रमुखतः	१/२५
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः	११/२६
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु	१/११
भुञ्जते ते त्वघं पापा	३/१३
भूतग्राममिमं कृत्स्नम्	९/८
भूतग्रामः स एवायं	८/१९
भूतप्रकृतिमोक्षं च	१३/३४
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं	१३/१६
भूतभावन भूतेश	१०/१५
भूतभावोद्भवकरो	८/३
भूतभृन्न च भूतस्थो	९/५
भूतानि यान्ति भूतेज्या	९/२५
भूमिरापोऽनलो वायुः	७/४
भूय एव महाबाहो	१०/१
भूयः कथय तृप्तिर्हि	१०/१८
भोक्तारं यज्ञतपसां	५/२९
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां	२/४४
भ्रामयन्सर्वभूतानि	१८/६१
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य	८/१०
म	
मच्चित्ता मद्गतप्राणा	१०/९
मच्चितः सर्वदुर्गाणि	१५/५८
मत्कर्म कृन्मत्परमो	११/५५
मत्त एवेति तान्विद्धि	७/१२
मत्तः परतरं नान्यत्	७/७
मत्प्रसादादवाप्नोति	१८/५६
मत्स्थानि सर्वभूतानि	९/४
मदनुग्रहाय परमं	११/१
मदर्थमपि कर्माणि	१२/१०
मद्भक्त एतद्विज्ञाय	१३/१८
मद्भावा मानसा जाता	१०/६
मनःप्रसादः सौम्यत्वं	१७/१६
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि	१५/७

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
मनः संयम्य मच्चित्तो	६/१४
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो	३/४२
मनसैवेन्द्रियग्रामं	६/२४
मनुष्याणां सहस्रेषु	७/३
मन्त्रोऽहमेवाज्यम्	९/१६
मन्मना भव मद्भक्तो	९/३४
मन्मना भव मद्भक्तो	१८/६५
मन्यसे यदि तच्छक्यं	११/४
मम देहे गुडाकेश	११/७
मम योनिर्महद्ब्रह्म	१४/३
मम वर्त्मानुवर्तन्ते	३/२३
मम वर्त्मानुवर्तन्ते	४/११
ममैवांशो जीवलोके	१५/७
मया ततमिदं सर्वं	९/४
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः	९/१०
मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं	११/४७
मया हतांस्त्वं जहि मा	११/३४
मयि चानन्ययोगेन	१३/१०
मयि सर्वमिदं प्रोतं	७/७
मयि सर्वाणि कर्माणि	३/३०
मयैवैते निहताः पूर्वमेव	११/३३
मय्यर्पितमनोबुद्धिः	८/७
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो	१२/१४
मय्यावेश्य मनो ये मां	१२/२
मय्यासक्तमनाः पार्थ	७/१
मय्येव मन आधत्स्व	१२/८
मरीचिर्मरुतामस्मि	१०/२१
महर्षयः सप्त पूर्वे	१०/६
महर्षीणां भृगुरहं	१०/२५
महात्मानस्तु मां पार्थ	९/१३
महाभूतान्यहङ्कारो	१३/५
महाशनो महापाप्मा	३/३७
मां च योऽव्यभिचारेण	१४/२६
मां चैवान्तः शरीरस्थं	१७/६
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य	९/३२
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा	२/४७
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः	१/३४
मा ते व्यथा मा च	११/४९
मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय	२/१४
माधवः पाण्डवश्चैव	१/१४
मानापमानयोस्तुल्यो	१४/२५
मामकाः पाण्डवाश्चैव	१/१
मामप्राप्यैव कौन्तेय	१६/२०
मामात्मपरदेहेषु	१६/१८
मामुपेत्य पुनर्जन्म	८/१५
मामुपेत्य तु कौन्तेय	८/१६
मामेव ये प्रपद्यन्ते	७/१४
मामेवैष्यसि युक्त्वैवं	९/३४
मामेवैष्यसि सत्यं ते	१८/६५
माययापहृतज्ञाना	७/१५
मा शुचः सम्पदं दैवीम्	१६/५
मासानां मार्गशीर्षोऽहम्	१०/३५
मिथ्यैष व्यवसायस्ते	१८/५९
मुक्तसङ्गोऽनहंवादी	१८/२६
मुनीनामप्यहं व्यासः	१०/३७
मूढग्राहेणात्मनो यत्	१७/१९
मूढोऽयं नाभिजानाति	७/२५
मृत्योर्माऽमृतं गमय	८/१२

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं	१०/३०
मृत्युः सर्वहरश्चाहम्	१०/३४
मोघाशा मोघकर्माणो	९/१२
मोहात्तस्य परित्यागः	१८/७
मोहादृगृहीत्वासदग्राहान्	१६/१०
मोहादारभ्यते कर्म	१८/२५
मोहितं नाभिजानाति	७/१३
मौनं चैवास्मि गुह्यानां	१०/३८
य	
यं प्राप्य न निवर्तन्ते	८/२१
यं यं वापि स्मरन्भावं	८/६
यं लब्ध्वा चापरं लाभं	६/२२
यं संन्यासमिति	६/२
यं हि न व्यथयन्त्येते	२/१५
यः पश्यति तथात्मानम्	१३/२९
यः प्रयाति त्यजन्देहं	८/१३
यः प्रयाति स मद्भावम्	८/५
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१६/२३
यः सर्वत्रानभिस्नेहः	२/५७
यः स सर्वेषु भूतेषु	८/२०
य इदं परमं गुह्यं	१८/६८
य एनं वेत्ति हन्तारं	२/१९
य एवं वेत्ति पुरुषं	१३/२३
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य	१६/१५
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ	१५/१२
यच्चापि सर्वभूतानां	१०/३९
यच्चावहासार्थमसत्कृतः	११/४२
यच्छ्रेय एतयोरेकं	५/१

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं	२/७
यजन्ते नामयज्ञैस्ते	१६/१७
यजन्ते सात्त्विका देवान्	१७/४
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्	४/३५
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत्	७/२
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे	१४/१
यज्ञदानतपःकर्म	१८/५
यज्ञदानतपःकर्म	१८/३
यज्ञस्तपस्तथा दानं	१७/७
यज्ञशिष्टामृतभुजो	४/३०
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो	३/१३
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो	३/१४
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि	१०/२५
यज्ञायाचरतः कर्म	४/२३
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र	३/९
यज्ञे तपसी दाने च	१७/२७
यज्ञो दानं तपश्चैव	१८/५
यततामपि सिद्धानां	७/३
यतते च ततो भूयः	६/४३
यततो ह्यपि कौन्तेय	२/६०
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो	१५/११
यतन्तो योगिनश्चैनं	१५/११
यतेन्द्रियमनोबुद्धिः	५/२८
यतो यतो निश्चरति	६/२६
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां	१८/४६
यत्करोषि यदश्नासि	९/२७
यत्पुण्यफलं तत्सर्वं	८/२८
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते	५/५
यत्तदग्रे विषमिव	१८/३७

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक	श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
यत्तपस्यसि कौन्तेय	९/२७	यदि भाः सदृशी सा	११/१२
यत्तु प्रत्युपकारार्थं	१७/२१	यदि मामप्रतीकारम्	१/४६
यत्तु कामेप्सुना कर्म	१८/२४	यदि ह्यहं न वर्तेयं	३/२३
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्	१८/२२	यदृच्छया चोपपन्नं	२/३२
यत्तेऽहं प्रियमाणाय	१०/१	यदृच्छालाभसंतुष्टो	४/२२
यत्र चैवात्मनात्मानं	६/२०	यद्गत्त्वा न निवर्तन्ते	१५/६
यत्र योगेश्वरः कृष्णो	१८/७८	यद्यदाचरति श्रेष्ठः	३/२१
यत्रोपरमते चित्तं	६/२०	यद्यप्येते न पश्यन्ति	१/३८
यत्र काले त्वनावृत्तिम्	८/२३	यद्राज्यसुखलोभेन	१/४५
यथाकाशस्थितो नित्यं	९/६	यद्यद्विभूतिमात्सत्त्वं	१०/४१
यथा दीपो निवातस्थो	६/१९	यया तु धर्मकामार्थान्	१८/३४
यथा नदीनां बहवः	११/२८	यया धर्ममधर्मं च	१८/३१
यथा प्रकाशयत्येकः	१३/३३	यया स्वप्नं भयं शोकं	१८/३५
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं	११/२९	यष्टव्यमेवेति मनः	१७/११
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात्	१३/३२	यस्तु कर्मफलत्यागी	१८/११
यथैधांसि समिद्धोऽग्निः	४/३७	यस्त्वात्मरतिरेव स्याद्	३/१७
यथोल्बेनावृतो गर्भः	३/३८	यस्त्वन्द्रियाणि मनसा	३/७
यदक्षरं वेदविदो वदन्ति	८/११	यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्	१५/१८
यदग्रे चानुबन्धे च	१८/३९	यस्मान्नोद्विजते लोको	१२/१५
यदहङ्कारमाश्रित्य	१८/५९	यस्मिन्स्थितो न दुःखेन	६/२२
यदा ते मोहकलिलं	२/५२	यस्य नाहंकृतो भावो	१८/१७
यदादित्यगतं तेजो	१५/१२	यस्य सर्वे समारम्भाः	४/१९
यदा भूतपृथग्भावम्	१३/३०	यस्यां जाग्रति भूतानि	२/६९
यदा यदा हि धर्मस्य	४/७	यस्यान्तःस्थानि भूतानि	८/२२
यदा विनियतं चित्तं	६/१८	यातयामं गतरसं	१७/१०
यदा संहरते चायं	२/५८	यानेव हत्वा न जिजीविषाम	२/६
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु	१४/१४	या निशा सर्वभूतानां	२/६९
यदा हि नेन्द्रियार्थेषु	६/४	यान्ति देवव्रता देवान्	९/२५
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं	८/११	यामिमां पुष्पितां वाचं	२/४२
यदि भाः सदृशी सा	११/१२	यामिमां पुष्पितां वाचं	१०/१६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
यामिमां पुष्पितां वाचं	२/४२
यावत्संजायते किंचित्	१३/२६
यावदेतान्निरीक्षेऽहं	१/२१
यावानर्थ उदपाने	२/४६
युक्त इत्युच्यते योगी	६/८
युक्तस्वप्नावबोधस्य	६/१७
युक्ताहारविहारस्य	६/१७
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा	५/१२
युञ्जन्नेवं सदात्मानं	६/१५
युञ्जन्नेवं सदात्मानं	६/२८
युधामन्युश्च विक्रान्त	१/६
युयुधानो विराटश्च	१/४
येऽप्यन्यदेवता भक्ता	९/२३
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं	१२/१
ये चैव सात्त्विका भावा	७/१२
ये तु धर्म्यामृतमिदं	१२/२०
ये तु सर्वाणि कर्माणि	१२/६
ये त्वक्षरमनिर्देश्यं	१२/३
ये त्वेतदभ्यसूयन्तो	३/३२
ये भजन्ति तु मां	९/२९
ये मे मतमिदं नित्यं	३/३१
ये यथा मां प्रपद्यन्ते	४/११
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१७/१
ये हि संस्पर्शजा भोगा	५/२२
येन भूतान्यशेषेण	४/३५
येषां च त्वं बहुमतो	२/३५
येषां त्वन्तगतं पापं	७/२८
येषामर्थे काङ्क्षितं नो	१/३३
योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः	५/२४
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः	६/३३
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्	१८/७५
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म	५/६
योगयुक्तो विशुद्धात्मा	५/७
योगसंन्यस्तकर्माणं	४/४१
योगस्थः कुरु कर्माणि	२/४८
योगारूढस्य तस्यैव	६/३
योगी युञ्जीत सततम्	६/१०
योगिनामपि सर्वेषां	६/४७
योगेनाव्यभिचारिण्या	१८/३३
योगिनो यतचित्तस्य	६/१९
योगिनः कर्म कुर्वन्ति	५/११
योगेश्वर ततो मे त्वं	११/४
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं	१/२३
यो न हृष्यति न द्वेष्टि	१२/१७
यो मां पश्यति सर्वत्र	६/३०
यो मामजमनादिं च	१०/३
यो मामेवमसंमूढो	१५/१९
यो यो यां यां तनुं भक्तः	७/२१
यो लोकत्रयमाविश्य	१५/१७

र

रक्षांसि भीतानि दिशो	११/३६
रजसस्तु फलं दुःखम्	१४/१६
रजसि प्रलयं गत्वा	१४/१५
रजस्तमश्चाभिभूय	१४/१०
रजस्येतानि जायन्ते	१४/१२
रजो रागात्मकं विद्धि	१४/७
रजः सत्त्वं तमश्चैव	१४/१०

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
रसवर्जं रसोऽप्यस्य	२/५९
रसोऽहमप्सु कौन्तेय	७/८
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा	१७/८
राक्षसीमासुरीं चैव	९/१२
रागद्वेषवियुक्तैस्तु	२/६४
रागी कर्मफलप्रेप्सुः	१८/२७
राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य	१८/७६
राजविद्या राजगुह्यं	९/२
रात्रिं युगसहस्रान्तां	८/१७
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ	८/१९
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते	८/१८
रुद्राणां शंकरश्चास्मि	१०/२३
रुद्रादित्या वसवो ये च	११/२२
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं	११/२३
ल	
लभते च ततः कामान्	७/२२
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्	५/२५
लिप्यते न स पापेन	५/१०
लेलिह्यसे ग्रसमानः	११/३०
लोकसंग्रहमेवापि	३/२०
लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा	३/३
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः	१४/१२
व	
वक्तुमर्हस्यशेषेण	१०/१६
वक्त्राणि ते त्वरमाणा	११/२७
वशे हि यस्येन्द्रियाणि	२/६१
वश्यात्मना तु यतता	६/३६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
वसूनां पावकश्चास्मि	१०/२३
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः	११/३९
वासांसि जीर्णानि यथा	२/२२
वासुदेवः सर्वमिति	७/१९
विकारांश्च गुणांश्चैव	१३/१९
विगतेच्छाभयक्रोधो	५/२८
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तम्	११/३१
विद्याविनयसंपन्ने	५/१८
विधिहीनमसृष्टान्नं	१७/१३
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं	१३/२७
विनाशमव्ययस्यास्य	२/१७
विमुच्य निर्ममः शान्तो	१८/५३
विमूढा नानुपश्यन्ति	१५/१०
विमृश्यैतदशेषेण	१८/६३
विवस्वान्मनवे प्राह	४/१
विविक्तदेशसेवित्वम्	१३/१०
विविक्तसेवी लघ्वाशी	१८/५२
विविधाश्च पृथक्चेष्टा	१८/१४
विषया विनिवर्तन्ते	२/५९
विषयेन्द्रियसंयोगात्	१८/३८
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम	१०/४२
विषादी दीर्घसूत्री च	१८/२८
विषीदन्तमिदं वाक्यम्	२/१
विसृज्य सशरं चापं	१/४७
विस्मयो मे महान्राजन्	१८/७७
विस्तरेणात्मनो योगं	१०/१८
विहाय कामान्यः सर्वान्	२/७१
वीतरागभयक्रोधः	२/५६
वीतरागभयक्रोधा	४/१०

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि	१०/३७
वेत्ति यत्र न चैवायं	६/२१
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु	१८/२१
वेत्तासि वेद्यं च परं	११/३८
वेदवादरताः पार्थ	२/४२
वेदाहं समतीतानि	७/२६
वेदानां सामवेदोऽस्मि	१०/२२
वेदाविनाशिनं नित्यं	२/२१
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव	८/२८
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो	१५/२५
वेद्यं पवित्रमोंकार	९/१७
वेपथुश्च शरीरे मे	१/२९
व्यपेतभीः प्रीतमनाः	११/४९
व्यवसायात्मिका बुद्धिः	२/४१
व्यवसायात्मिका बुद्धिः	२/४४
व्यामिश्रेणेव वाक्येन	३/२
व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान्	१८/७५
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण	१/३

श

शक्नोतीहैव यः सोढुं	५/२३
शक्य एवंविधो द्रष्टुं	११/५३
शनैः शनैरूपरमेद्बुद्धया	६/२५
शब्दादीन्विषयानन्य	४/२६
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा	१८/५१
शमो दमस्तपः शौचं	१८/४२
शरीरं यदवाप्नोति	१५/८
शरीरयात्रापि च ते न	३/८
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्	१८/१५
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय	१३/३१
शान्तिं निर्वाणपरमां	६/१५
शीतोष्णसुख दुःखेषु	६/७
शीतोष्णसुखदुःखेषु	१२/१८
शारीरं केवलं कर्म	४/२१
शाश्वतस्य च धर्मस्य	१४/२७
शुक्लकृष्णे गती ह्येते	८/२६
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य	६/११
शुचीनां श्रीमतां गेहे	६/४१
शुनि चैव श्वपाके च	५/१८
शुभाशुभपरित्यागी	१२/१७
शुभाशुभफलैरेवं	९/२८
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं	१८/४३
श्वशुरान्सुहृदश्चैव	१/२७
श्रद्दधानां मत्परमा	१२/२०
श्रद्धया परया तप्तं	१७/१७
श्रद्धया परयोपेतास्ते	१२/२
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो	१७/३
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो	३/३१
श्रद्धावाननसूयश्च	१८/७१
श्रद्धावान्भजते यो मां	६/४७
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं	४/३९
श्रद्धाविरहितं यज्ञं	१७/१३
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते	२/५३
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात्	४/३३
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः	३/३५
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः	१८/४७
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्	१२/१२
श्रोतादीनीन्द्रियाण्यन्ये	४/२६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
श्रोत्रं चक्षुःस्पर्शनं च	१५/९
स	
संकरस्य च कर्ता	३/२४
संकरो नरकायैव	१/४२
संकल्पप्रभवान्कामान्	६/२४
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव	१८/९
सङ्गात्संजायते कामः	२/६२
संतुष्टः सततं योगी	१२/१४
संनियम्येन्द्रियग्रामं	१२/४
संन्यासं कर्मणां कृष्ण	५/१
संन्यासः कर्मयोगश्च	५/२
संन्यासयोगयुक्तात्मा	९/२८
संन्यासस्य महाबाहो	१८/१
संन्यासस्तु महाबाहो	५/६
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं	६/१३
संभवः सर्वभूतानां	१४/३
संभावितस्य चाकीर्तिः	२/३४
संवादमिममश्रौषम्	१८/७४
स एवायं मया तेऽद्य	४/३
स कालेनेह महता	४/२
स कृत्वा राजसं त्यागं	१८/८
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो	३/२५
सखेति मत्वा प्रसभं	११/४१
स गुणान्समतीत्यैतान्	१४/२६
स घोषो धार्तराष्ट्राणां	१/१९
स च यो यत्प्रभावश्च	१३/३
सततं कीर्तयन्तो मां	९/१४
स तया श्रद्धया युक्तः	७/२२

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
सत्कारमानपूजार्थं	१७/१८
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं	१८/४०
सत्त्व रजस्तम इति	१४/५
सत्त्वं सुखे संजयति	१४/९
सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्	१४/१७
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य	१७/३
सदृशं चेष्टते स्वस्याः	३/३३
सद्भावे साधुभावे च	१७/२६
स निश्चयेन योक्तव्यो	६/२४
स बुद्धिमान्मनुष्येषु	४/१८
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा	५/२१
समं कायशिरोग्रीवं	६/१३
समं सर्वेषु भूतेषु	१३/२७
समदुःखसुखं धीरं	२/१५
समदुःखसुखः स्वस्थः	१४/२४
समं पश्यन्हि सर्वत्र	१३/२८
समाधावचला बुद्धि	२/५३
समासेनैव कौन्तेय	१८/५०
समोऽहं सर्वभूतेषु	९/२९
समः शत्रौ च मित्रे च	१२/१८
समः सर्वेषु भूतेषु	१८/५४
समः सिद्धावसिद्धौ च	४/२२
स यत्प्रमाणं कुरुते	३/२१
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं	५/२४
स संन्यासी च योगी च	६/१
सर्गाणामादिरन्तश्च	१०/३२
सर्गेऽपि नोपजायन्ते	१४/२
सर्वं कर्माखिलं पार्थ	४/३३
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव	४/३६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक	श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
सर्वकर्मफलत्यागं	१२/११	सर्वारम्भपरित्यागी	१४/२५
सर्वकर्मफलत्यागं	१८/२	सर्वारम्भा हि दोषेण	१८/४८
सर्वकर्माणि मनसा	५/१३	सर्वाश्चर्यमयं देवम्	११/११
सर्वकर्माणयपि सदा	१८/५६	सर्वेऽप्येते यज्ञविदो	४/३०
सर्वगुह्यतमं भूयः	१८/६४	सर्वेन्द्रियगुणाभासं	१३/१४
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्	३/३२	स सर्वविद्भजति मां	१५/१९
सर्वतः पाणिपादं	१३/१३	सहजं कर्म कौन्तेय	१८/४८
सर्वतः श्रुतिमल्लोके	१३/१३	सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टवा	३/१०
सर्वत्रगमचिन्त्यं च	१२/३	सहसैवाभ्यहन्यन्त	१/१३
सर्वत्रावस्थितो देहे	१३/३२	सहस्रयुगपर्यन्तम्	८/१७
सर्वथा वर्तमानोऽपि	६/३१	सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि	१८/१३
सर्वथा वर्तमानोऽपि	१३/२३	साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः	५/४
सर्वद्वाराणि संयम्य	८/१२	सात्त्विकी राजसी चैव	१७/२
सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्	१४/११	साधिभूताधिदैवं मां	७/३०
सर्वधर्मान्परित्यज्य	१८/६६	साधुरेव स मन्तव्यः	९/३०
सर्वभूतस्थित यो मां	६/३१	साधुष्वपि च पापेषु	६/९
सर्वभूतस्थमात्मानं	६/२९	सिंहनादं विनद्योच्चैः	१/१२
सर्वभूतात्मभूतात्मा	५/७	सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म	१८/५०
सर्वभूतानि कौन्तेय	९/७	सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः	१८/२६
सर्वभूतानि संमोहं	७/२७	सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा	२/४८
सर्वभूतेषु येनैकं	१८/२०	सीदन्ति मम गात्राणि	१/२९
सर्वमेतदृतं मन्ये	१०/१४	सुखं त्विदानीं त्रिविधं	१८/३६
सर्वयोनिषु कौन्तेय	१४/४	सुखं दुःखं भवोऽभावो	१०/४
सर्वसंकल्पसंन्यासी	६/४	सुखं वा यदि वा दुःखं	६/३२
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो	१५/१५	सुखदुःखे समे कृत्वा	२/३८
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपम्	८/९	सुखमात्यन्तिकं यत्तद्	६/२१
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि	४/२७	सुखसङ्गेन बध्नाति	१४/६
सर्वार्थान्विपरीतांश्च	१८/३२	सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ	२/३२
सर्वारम्भापरित्यागी	१२/१६	सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शम्	६/२८

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
सुदुर्दर्शमिदं रूपं	११/५२
सुहृदं सर्वभूतानां	५/२९
सुहृन्मित्रार्युदासीन	६/९
सूक्ष्मत्वात्तद विज्ञेयं	१३/१५
सेनयोरुभयोर्मध्ये	१/२१
सेनयोरुभयोर्मध्ये	१/२४
सेनयोरुभयोर्मध्ये	२/१०
सेनानीनामहं स्कन्दः	१०/२४
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्	१८/७१
सोऽविकम्पेन योगेन	१०/७
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च	१/६
सौभद्रश्च महाबाहुः	१/१८
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः	९/३२
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय	१/४१
स्थाने हृषीकेश तव	११/३६
स्थितधीः किं प्रभाषेत	२/५४
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा	२/५४
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः	१८/७३
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि	२/७२
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो	५/२०
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्	५/२७
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो	२/६३
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य	१८/४६
स्वकर्मनिरतः सिद्धिम्	१८/४५
स्वजनं हि कथं हत्वा	१/३७
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य	२/३१
स्वधर्मे निधनं श्रेयः	३/३५
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च	४/२८
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव	१७/१५

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
स्वभावजेन कौन्तेय	१८/६०
स्वभावनियतं कर्म	१८/४७
स्वयमेवात्मनात्मानं	१०/१५
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य	२/४०
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घा	११/२१
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः	१८/४५

ह

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं	२/३७
हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्	१८/१७
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव	२/५
हन्त ते कथयिष्यामि	१०/१९
हर्षशोकान्वितः कर्ता	१८/२७
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो	१२/१५
हृषीकेशं तदा वाक्यम्	१/२०
हेतुनानेन कौन्तेय	९/१०

क्ष

क्षरः सर्वाणि भूतानि	१५/१६
क्षिपाम्यजस्रमशुभान्	१६/१९
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा	९/३१
क्षिप्रं हि मानुषे लोके	४/१२
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं	२/३
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं	१३/३३
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि	१३/२
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं	१३/२
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं	१३/३४
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात	१३/२६

श्लोकारंभ	अध्याय/श्लोक
ज्ञ	
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन	११/५४
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं	१६/२४
ज्ञानं कर्म च कर्ता च	१८/१९
ज्ञानं ज्ञेय ज्ञानगम्य	१३/१७
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता	१८/१८
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं	७/२
ज्ञानं यदा तदा विद्यात्	१४/११
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्	४/३९
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं	१८/४२
ज्ञानं विज्ञानसहितं	९/१
ज्ञानमावृत्य तु तमः	१४/९
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये	९/१५
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः	१८/७०
ज्ञानयोगेन सांख्यानां	३/३
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा	६/८
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं	४/१९
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि	४/३७
ज्ञानेन तु तदज्ञानं	५/१६
ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि	१३/१२
ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी	५/३

डॉ० नरेन्द्र कोहली

जन्म : ६ जनवरी १९४०

प्रख्यात कथाकार, व्यंग्य लेखक एवं नाटयकार। महाभारत तथा रामायण की कथाओं पर केन्द्रित उपन्यासों एवं स्वामी विवेकानन्द के जीवन पर आधारित उपन्यास 'तोड़ो कारा तोड़ो' कृति के लिए विशेष ख्याति। अनेक सामाजिक उपन्यासों एवं कहानियों के सर्जक।

कई विशिष्ट सम्मानों एवं पुरस्कारों से समादृत।

सम्पर्क : १७५, वैशाली, पीतमपुरा
दिल्ली - ११० ०३४
फोन (०११) २७३१-२६०५

●

डॉ० प्रेमशंकर त्रिपाठी

जन्म : ३ नवम्बर १९५४

प्राध्यापक एवं लेखक।

- सम्प्रति सुरेन्द्रनाथ सांध्य कॉलेज कोलकाता के हिन्दी विभाग में वरिष्ठ रीडर और विभागाध्यक्ष।
- प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कोलकाता के स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग में अतिथि प्राध्यापक।
- श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियों के सर्जक एवं सम्पादक।
- विविध सम्मानों से सम्मानित।

सम्पर्क : आशीर्वाद अपार्टमेण्ट्स
सी ए ५/१०, देशबन्धु नगर,
बागुईहाटी, कोलकाता - ७०० ०५९
फोन : (०३३) २५७६-१५२२

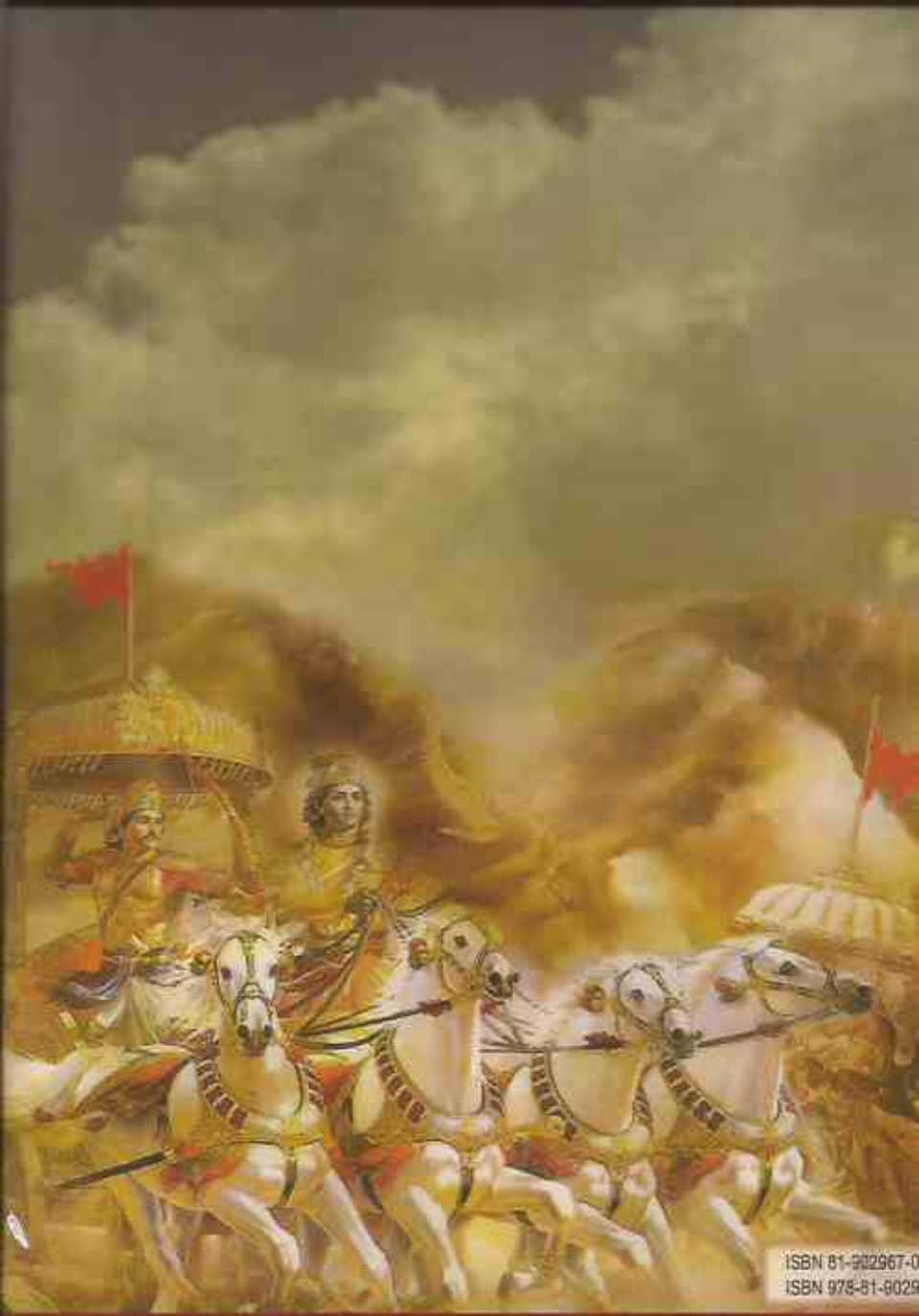

ISBN 81-902967-0
ISBN 978-81-9029

श्री बड़ाबाजार कुमारसभा पुस्तकालय
कोलकाता